IV

THE

# CHOWKHAMBÂ SANSKRIT SERIES.

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NOS. 147, 148, 149, 150, 153 & 184.

# वीरमित्रोदयः ।

आन्हिकप्रकाशः ।

महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः ।

पर्वतीयनीत्यानंदशर्मणा संशोधितः ।

VÎRAMITRODAYA,

AHNIKA PRAKÂSA,

BY

MAHÂMAHOPÂDHYÂYA PANDITA MITRA MIŚRA.

EDITED BY

Parvatiya Nityânanda Śarmâ.

VOL. II.

FASCICULUS I TO VI.

*PUBLISHED AND SOLD BY THE SECRETARY,*

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT BOOK-DEPÔT.

BENARES.

AGENTS:- OTTO HARRASSOWITZ LEIPZIG:
PANDITA JYESHTHÂRAMA MUKUNDAJI BOMBAY:
PROBSTHAIN & CO. BOOKSELLERS, LONDON

*Printed by Jai Krishna Dasa Gupta,*

AT THE VIDYÂ VILÂSA PRESS

BENARES.

*1913*

*Price Rupees six.*

*Registered According to Act XXV of 1867.*

## वीरमित्रोदयस्य आह्निकप्रकाशस्य शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
| --- | --- | --- | --- |
| एषां | एषा | ४ | ९ |
| द्रमस्य | द्रुमस्य | ६ | ८ |
| शिष्टायाम् । उ | शिष्टायाम् उ | १४ | ६ |
| वेदाभ्यसो | वेदाभ्यासो | १५ | १ |
| प्राहुस्त्यत्का | प्राहुस्त्यक्त्वा | १५ | ८ |
| पठित्वा च | पठित्वा वा | १६ | ९ |
| दाभ्यास | वेदाभ्यास | २० | २४ |
| शाङ्ख्यायन | साङ्ख्यायन | २७ | ५ |
| इत्याह । | इत्याह- | २७ | १० |
| वचने पू | वचने सङ्गवे पू | २९ | १७ |
| प्रागुक्तोदङ्मुख | प्रागुक्तोदङ्मुख | ३१ | ६ |
| त्रिषयं न | विषयम् । न | ३१ | १३ |
| वेगम् | वेगम् । | ३१ | १४ |
| विषयं | विषयम् । | ३१ | २१ |
| यज्ञानन्तरम् | यज्ञादनन्तरम् | ३२ | १० |
| रुढ्या | रूढ्या | ३४ | २५ |
| मेहेन | मेहन | ३६ | १५ |
| अपध्वस्तु | अपध्वस्तस्तु | ३७ | ३ |
| छाययां | छायायां | ३७ | ६ |
| मयः | मपः | ३७ | १३ |
| मयो | मपो | ३७ | २० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मान् | ब्राह्मणान् | ३७ | २३ |
| शांख्यायन | सांख्यायन | ३८ | २३ |
| न | न, | ३८ | २४ |
| मूत्रत्रपुरीषां | मूत्रपुरीषा | ४० | ६ |
| पार्श्वे | पार्श्वं | ४० | १५ |
| मादाय | मादाय । | ४० | २० |
| वगगात् | वगमात् | ४६ | १४ |
| गहात् | गेहात् | ५० | ८ |
| रुर्ध्वं | रूर्ध्वं | ५१ | १९ |
| क्षिणना | क्षिणेना | ५१ | २२ |
| मृतिकाः | मृत्तिकाः | ५३ | २ |
| गृदस्थ | गृहस्थ | ५३ | ३ |
| सम्वादि | संबादि | ५४ | १८ |
| मूत्रोत्सगार्थं | मूत्रोत्सर्गार्थं | ५७ | २० |
| लब्ध्वोदकं | लब्ध्वोदकं | ५८ | ४ |
| पित्र्य | पित्र्या | ५९ | १५ |
| लक्षमा | प्रक्षाल | ६० | २५ |
| तर्थिम् | तीर्थम् | ६१ | १५ |
| रुढेर्योगा | रूढेर्योगा | ६२ | ८ |
| सूत्रम् । | सूत्रम्, | ६३ | ४ |
| भृत्ति | वृत्ति | ६३ | ८ |
| आत्महृदयं | आत्महृदयम् । | ६४ | १० |
| न वाऽऽ | न त्वा | ६४ | १९ |
| द्रव्य | द्रव | ७५ | १ |
| नाराणः | नारायणः | ८२ | ६ |
| कुरुन्दन | कुरुनन्दन | ८३ | ६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| स्पृष्ठा | स्पृष्ट्वा | ८५ | ३ |
| म्युक्षण | भ्युक्षण | ८६ | २२ |
| १७ | १० | ९८ | १६ |
| विस्रस्य | विस्रंस्य | १०३ | ९ |
| विस्रस्य | विस्रंस्य | १०३ | १० |
| द्विगुणा | द्विगुणाः | १०८ | १७ |
| प्रासिद्धिः | प्रासिद्धः | ११२ | ७ |
| ाबन्दवः | बिन्दवः | ११२ | २२ |
| द्रव्य | द्रव्य | १२० | १५ |
| यादित्यर्थः | र्यादित्यर्थः | १३४ | ११ |
| प्रापत्ये | प्रायत्यं | १३४ | १३ |
| मलाषकर्षणं | मलापकर्षणं | १३५ | ७ |
| संभवेऽमि | संभवेऽपि | १४४ | ११ |
| नग्नः | मग्नः | १६३ | २२ |
| उद्घर्षणम् । | उद्घर्षणम् | १६७ | ११ |
| पुंस्येबान्धुः | पुंस्येवान्धुः | १७२ | १० |
| उद्धृतामि | उद्धृताभि | १७८ | २३ |
| तदेव | तदेवं | १८० | ७ |
| कश्चिद् | काश्चिद् | १८४ | १० |
| तद्भावे | तदभावे | १९० | १८ |
| सरासिचेत्यादिना | सरःस्वित्यादिना | १९० | १८ |
| स्यात् | स्यात् | २०३ | ८ |
| ग्रामयाचकं | ग्रामयाजकं | २०५ | १२ |
| श्वस्पर्शिन | श्वस्पर्शिन | २०६ | २ |
| लिख्यते | लिख्यन्ते | २१४ | १० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| वस्त्यूरू | वस्त्यूरु | २१४ | २४ |
| दर्भेण | दर्भैः | २१५ | ४ |
| द्विष | द्वेष्य | २१७ | १९ |
| शीर्षेत्याद्या | शीर्षेत्याद्या | २३० | ९ |
| षडभिः | षड्भिः | २३३ | २४ |
| ऽद्भिर्माजयति | ऽद्भिर्मार्जयति | २३७ | २० |
| द्रुपदां | द्रुपदां | २४० | २३ |
| पदां | द्रुपदां | २४१ | १२ |
| तावत्कालमव | तावत्कालमेव | २४२ | २ |
| गाभिलोऽपि | गोभिलोऽपि | २४२ | १६ |
| क्रीडार्थ | क्रीडार्थं | २४८ | ५ |
| कण्ठकूपक | कण्ठकूपके | २५० | १ |
| पुण्ड्रस्य | पुण्ड्रस्य | २५२ | ५ |
| घृष्टस्यापि | घृष्टस्यापि | २५२ | ८ |
| शूद्रवद् | शूद्रवद् | २५८ | २५ |
| आदर अनु | आदरः अनु | २५९ | ५ |
| पोर्णमासा | पौर्णमासा | २५९ | २२ |
| सन्ध्या | सन्ध्यां | २६२ | ११ |
| प्रातःसायंसन्ध्ययोर्मुख्य-योः प्रागुक्त | प्रातःसायंसंध्ययोर्मुख्य-कालातिक्रमे प्रातःप्रदोषौ गौणकालौ प्रागेवाभिहितौ। एवञ्च प्रातःसायंसंध्ययोः प्रागुक्त | २६३ | २३ |
| नियम्य स्तं | नियम्यामून् | २७१ | २२ |
| मार्जने। | मार्जने— | २८२ | ३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| मर्षणानतरं | मर्षणानन्तरं | २८२ | २३ |
| सवलं | सकलं | २८५ | ३ |
| छन्दः सूर्योपस्थाने | छन्दः सूर्योदेवतासूर्योपस्थाने | २८७ | ११ |
| वयवे | वायवे | २८७ | १९ |
| भूर्भूवःश्रोत्राभ्यां वौषट् | भूर्भूवःस्वःनेत्राभ्यां वौषट् | २८८ | १४ |
| केयूरवन्मक्कर | केयूरवान्मकर | २९० | ३ |
| जान्वास्तु | जान्वोस्तु | २९५ | १ |
| वकरं | बकारं | २९६ | ३ |
| नीलात्पल | नीलोत्पल | २९७ | १० |
| गच्छद् | गच्छेद् | २९७ | १५ |
| विस्तीणं | विस्तीर्णं | २९८ | १२ |
| यत्रोपाशु | यत्रोपांशु | ३१४ | १२ |
| ऋाचिप्रासिद्धे । | ऋचि प्रासिद्धे । इन्द्रशुद्धे सामनी एतेन्विन्द्रंस्तवामे-त्यस्यामृचि प्रसिद्धे । | ३२० | ४ |
| पुर्वका | पूर्विका | ३२१ | १ |
| ऽयऽव्ययाः | ऽव्ययाः | ३२१ | १ |
| फलसिङ्गिः | फलसिद्धिः | ३२५ | २ |
| सामुद्रौ | सामुद्रे | ३२५ | ९ |
| मध्ये वै वाऽर्धात्दृस्यन्त | मध्येनैवार्धात्दृस्यन्त | ३२६ | १८ |
| दृर्ध्वेण | दर्धेन | ३२७ | १२ |
| स्पर्शेन हि | स्पृशेन्न हि | ३२७ | १४ |
| रचनेन, | वचनात् । | ३२७ | २५ |
| रात्रसैश्चैव | पत्रासैश्चैव | ३२८ | १ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| दर्शनाच्च । देव | दर्शनाच्च । ततश्चदेव | ३३३ | ७ |
| यदाति | यद्ददाति | ३३३ | ११ |
| अपो | अयो | ३३३ | २१ |
| य एव | य एवं | ३३४ | १२ |
| दिस्यर्थः | दित्यर्थः | ३३४ | २२ |
| समीमप | समीप | ३३९ | १० |
| पुनदरुक | पुनरुदक | ३३९ | २१ |
| संमता | सर्वसंमता | ३४५ | ५ |
| पितृतीर्थन | पितृतीर्थेन | ३४६ | १६ |
| सवर्णे भोजनं | सवर्णेभ्यो जलं | ३४६ | २५ |
| पाबे | पापे | ३५५ | १ |
| तर्षणं | तर्पणं | ३५६ | ६ |
| रात्रिसंध्ये | रात्रिं संध्ये | ३५८ | १५ |
| प्रीतिनं | प्रतोनं | ३५८ | २० |
| पुरुषांश्चयोषित् | पुरुषश्चयोषाम् | ३६८ | २५ |
| स्तृप्यतु | स्तृप्यन्तु | ३७० | २१ |
| सुन्तु | सुमन्तु | ३७१ | ६ |
| पितामाहं | पितामहं | ३७१ | १८ |
| धर्मइ इत्यग्रे | धर्म इत्यग्रे | ३७४ | ५ |
| अत्र प्रकरणात्तस्य | अत्रप्रकरणत्तस्य | ३७६ | ११ |
| अत्र प्रकारः | अत्रप्रकरः | ३७६ | २० |
| तर्पणोतरं | तर्पणोत्तरं | ३७७ | ११ |
| अहश्यं | अहश्यं | ३७७ | २५ |
| मग्रजः | मग्रतः | ३७८ | १५ |
| ।श्रयस्थं | आश्रयस्थं | ३७९ | ५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| सुखं | मुख्यं | ३७९ | २० |
| यत्तुव्या | यत्तुव्यासेन | ३८० | १५ |
| मुदकादिन | मुदकादिना | ३८० | २१ |
| पादो | पादोदर्भे- | ३८३ | २ |
| परः | परः का- | ३८३ | ३ |
| गन्ध | गन्धश्च- | २८३ | ४ |
| इतर | इतरच्च | ३८३ | ५ |
| धृ | धृत्वा | ३८३ | ६ |
| आत्मा | आत्मानम- | ३८३ | ७ |
| दे | देव | ३८३ | ८ |
| च | चम | ३८३ | ९ |
| न | नग- | ३८३ | १० |
| ज | जप्त्वा | ३८३ | ११ |
| षोडशो | षोडशोप- | ३८३ | २० |
| त्रिक्षेपणम् । | विक्षेपणम् | ३९० | १ |
| ब्रीजादे | बीजादे | ३९० | १९ |
| कृतं | हुतं | ३९२ | २० |
| क्रमात् । विश्वेभ्य | क्रमात् । ब्रह्मणेचान्तरिक्षाय सूर्याय च यथाक्रमम् । विश्वेभ्य | ४०५ | १० |
| बहिंसकौ | वहिंसकौ | ४०७ | १४ |
| चिद्धामे | चिद्धोम | ४१० | २३ |
| मणि | मणि | ४११ | १३ |
| प्रतिपति | प्रतिपत्ति | ४१५ | २४ |
| ज्ञाततपो | ज्ञातातपो | ४१८ | ३ |
| ४२२ पृष्ठानन्तरं | ४२३ पृष्ठस्य उदधानेत्यादिदश | | |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| | म्यादिपङ्क्तित्रयं आरम्भे यो-<br>ज्यम् । अनन्तरंबलिर्भवती-<br>त्यादियोज्यम् । | ४२२ | २३ |
| तन्त्रोक्त | तत्रोक्त | ४२३ | २१ |
| पितृतीर्थन | पितृतीर्थेन | ४२४ | १ |
| द्विषतो | द्विषन् द्विषतो | ४४४ | ८ |
| पाप्पानं | पाप्मानं | ४४६ | ७ |
| ऽनर्चिता | ऽनर्चितो | ४५३ | ४ |
| मधुमर्केण | मधुपर्केण | ४५५ | ३ |
| स्ववासिन्योऽविवाहित | स्ववासिन्यो त्रिवाहित | ४५५ | १३ |
| घार्स | घासं | ४५९ | ५ |
| कृत्येति | कृत्वेति | ४६२ | १ |
| सगाने | समाने | ४७१ | ११ |
| शोथिते | शोधिते | ४७२ | १७ |
| स्ताम्रगयः | स्ताम्रमयः | ४७५ | १२ |
| अङ्कर | अङ्कुर | ५१६ | १३ |
| केशोपहतं कीटोपहतं | केशापहतंकीटापहतं | ५१७ | २० |
| भिधारित | ऽभिघारित | ५२१ | १५ |
| समृाद्धिमान् | समृद्धिमान् | ५३५ | ५ |
| शम्बु | शम्बुक | ५४७ | १२ |
| हारीतः, मत्स्याश्चाविकृताः । | हारीतः, सशल्कांश्चमत्स्या<br>न् न्यायोपपन्नान् भक्षये-<br>त् । भक्ष्या इत्यनुवृत्तौ<br>गौतमः, मत्स्याश्चाविकृताः। | ५४७ | २१ |
| सर्वाय सत्र | सर्पापसर्प | ५५७ | १७ |

इति शम् ।

# वीरमित्रोदयस्याह्निकप्रकाशः।

श्रीगणेशाय नमः।

सिन्दूरारुणगण्डमण्डलगलद्दानाम्भसां धारया
सिञ्चन्तं पदसक्तभक्तजनताविघ्नौघधूलीरिव ।
धम्मिल्लालिमिवालिवृन्दमनिशं मूर्ध्ना दधानं हर-
प्रेयांसं गिरिजाङ्गजं गजमुखं वन्दे ऽरविन्देक्षणम् ॥ १ ॥
दधानं भृङ्गालीरनिशममले गण्डयुगले
ददानं सर्वार्थान्निजचरणसेवासुकृतिने ।
दयाधारं सारं सकलनिगमानामपि परं
गजास्यं स्मेरास्यं तमिह कलये चित्तनिलये ॥ २ ॥
हृदयभुवि मुनीन्द्रैः सेविता नारदाद्यैः
तनुरुचिभिरजस्रं पारदाभां पिबन्ती ।
अतिविततगभीरग्रन्थसिन्धाविदानीं
प्रभवतु करुणातः शारदा पारदा नः ॥ ३ ॥
स्फूर्जद्धूर्जटिताण्डवे प्रतिदिशं वेगोच्छलज्जाह्नवी-
वीचीध्वाननिपीतभृङ्गिमुरजस्फारस्वनाडम्बरे ।
लालाटामृतरश्मिखण्डमसकृद्व्योमस्थितेऽर्द्धे विधो-
राघातादघसञ्चयं दलयतु प्रोत्तालतालायितम् ॥ ४ ॥
प्रातः काले प्रयातो दिशिदिशि विबुधैरर्चितः पुष्पवृष्ट्या
प्रेमार्द्रैर्दृष्टिपातैर्मनसि मनसिजं दीपयन्गोपिकानाम् ।
कृत्वाऽग्रे धेनुसङ्घं सजलजलधरश्यामलो वेत्रपाणिः
कालिन्दीकूलकेलिः प्रदिशतु भवतां वाञ्छितं नन्दसूनुः ॥५॥

श्रीकाशीराजवंशप्रबलजलनिधेर्मेदिनीमल्लनामा
पूर्णः पीयूषरश्मिः समजनि जनतानन्दसन्दोहसिन्धुः ।
बन्धुर्दीनद्विजानां तदनु च समभूद्र्जितैरर्ज्जुनाभो
गर्जत्प्रत्यर्थिसैन्यप्रमथननिपुणैरर्ज्जुनो भूमिपालः ॥ ६ ॥
बुन्देलक्षितिपालवंशविलसद्रत्नं प्रयत्नं विना
यः पृथ्वीं निखिलां विधाय वशगां राज्यं चकाराद्भुतम् ।
शौर्यौदार्यगुणैरगण्यमहिमा दाताऽवदाताशयः
श्रीमान्कीर्त्तिसुधासमुद्रलहरीनिर्द्धौतदिङ्मण्डलः ॥ ७ ॥
तस्मादभूद्विमलविष्णुपदावलम्बो
लम्बोदराङ्घ्रिकमलार्चनवीतविघ्नः ।
निघ्नन् रणे प्रतिभटान्प्रकटोग्रदर्पो
भूपालभालतिलको मलखाननामा ॥ ८ ॥
सदासमाराधनतुष्टरुद्रः प्रतापरुद्रस्तनयस्तदीयः ।
कृपासमुद्रः शरणागतानां बभूव राजा वसुधाधिपानाम् ॥९॥
ततोऽभूदुद्भूतप्रचुरगुणगाम्भीर्यमहिमा
हिमाद्रिस्थेमाऽसौ मधुकरनृपः शूरविकृपः ।
यमालिङ्ग्यालिङ्ग्य प्रणयरसिकं प्रेमतरला
न पूर्वेषामेषा स्मरति विरहं हन्त कमला ॥ १० ॥
सत्कीर्त्तिर्नृपवृन्दवन्दितपदः सङ्ग्रामयज्ञाङ्गणे
दीक्षावान्सकलं निपीय धवलैः सोमं यशोराशिभिः ।
शश्वत्प्रज्वलति प्रतापदहने खड्गस्रुगाकर्षिताः
यो वीरः प्रजुहाव वैरिनिवहप्राणाहुतीरन्वहम् ॥ ११ ॥
दिनकर इव विस्फुरत्प्रतापो
हिमकरवत्कमनीयकान्तिपूरः ।
करिकर इव यत्करः सदानो

मधुकरसाहमहीपतिर्महीयान् ॥ १२ ॥
एते दक्षिणभूमिभूमिपतयः प्राच्या उदीच्या इमे
राजानो नृपवृन्दवन्दितपदाम्भोज प्रतीच्या अमी ।
वन्दन्ते नतमौलिमध्यविलसद्रत्नाकुरास्त्वामिति
द्वाःस्था यस्य वदन्ति सम्भ्रमभरादद्धा निबद्धाञ्जलि ॥१३॥
दण्डेन क्षोणिचक्रं भ्रमयति निभृतं यत्प्रतापः कुलालो
येनाकृष्टाऽसिवल्ली दिशिदिशि तनुते हन्त हल्लीसकानि ।
उल्लङ्घ्याब्धीन्यदीया व्रजति दश दिशः कीर्त्तिवल्लीमतल्ली
तादृक् पुत्रस्तदीयः समजनि जगतीमण्डले वीरसिंहः ॥१४॥
अस्ति स्वास्तिलकायमानकरकानीहारहारप्रभा
प्रादुर्भावपराभवव्यसनिभिर्लिम्पन् यशोभिर्दिशः ।
मुष्णन् वैरिमहांसि विज्ञजनतां पुष्णन्समं बन्धुभि-
र्दिग्विख्यातबुंदेलवंशतिलकः श्रीवीरसिंहो नृपः ॥ १५ ॥
कस्तावद्बलिकर्णभार्गवमहादानप्रमाणस्तवः
कश्चासौ कुरुपाण्डुपाण्डुरयशःप्रस्तावनाविस्तरः ।
यावद्वर्षति वीरसिंहनृपतिर्वृष्टीरिमाः काञ्चनी-
र्धाराः प्रावृषि तावदञ्जनरुचिर्धारा न धाराधरः ॥ १६ ॥
वीरश्रीवीरसिंहक्षितिरमणमणिः पाणिना दानकाले
दर्भाम्भोहेमधारावितरणमकरोद्भागशः संविभज्य ।
अर्थिभ्यो हेमदर्भान्प्रति नृपतिमहासौधगर्भावनीभ्यः
प्रादादम्भःप्रवाहान्प्रतिनृपतिमृगीलोचनालोचनेभ्यः ॥१७॥
एते भाविनि वीरसिंहनृपतौ दानाद्द्वितीये भुवि
द्वेषेणैव हृदा द्विधा ननु भविष्यन्तीतिचिन्तावता ।
धात्रा कामगवी पशुर्विरचिता चिन्तामणिर्ग्रावतां
नीतो दुर्वहदारुदारुणतनुर्देवद्रुमोऽयं कृतः ॥ १८ ॥

नानादानविधानकौशलमयीमाकल्परम्यां महीं
दृप्यद्दर्पचयस्वरूपमचिरादारोप्य बीजं ततः।
तत्रासिच्य विविच्यमानविलसद्भक्तिद्रवैः कल्पितो
भूमौ कल्पमहीरुहोऽत्र विधिना श्रीवीरसिंहः कृती ॥ १९
पीतध्वान्तेन नित्यं प्रसृमरमहसा मुग्धदुग्धाब्धिभासा
वीरश्रीवीरसिंहक्षितितिलकलसत्कीर्त्तिसोमेन साकम्।
अद्धा स्पर्द्धां करिष्यत्ययमिति मिषतो लाञ्छनस्याञ्जना॰
वक्रं कृत्वा विधात्रा दिशिदिशि शनकैर्भ्राम्यते शीतरश्मिः॥२०
एषां शेषांशुशुभ्रैर्निजरुचिनिचयैर्निर्जितोन्निद्रचन्द्रा
सान्द्रा विक्षिप्य वीचीर्वहति शतमुखी यस्य सत्कीर्त्तिसिन्धुः
तस्याः काऽपि प्रणाली वहति सुरनदी नर्मदा काऽपि रेखा
कावेरी काऽपि काऽपि प्रसरति शरयूश्चन्द्रभागा च काऽपि॥२१
सेर्वामेवास्य राज्ञः कलय मलयजस्वच्छकीर्त्तेः पितॄणाम्
मार्गं मा गा निरागास्तनय भवतरां निष्कृपस्तत्कृपाणः।
इत्थं श्रीवीरसिंहक्षितिरमणमणेः सर्वतः पर्वतस्थाः
शिक्षां प्रत्यर्थिबाला निरवधि तनयं स्वंस्वमध्यापयन्ति॥२२।
सूनुस्तस्य गुणैस्त्रिलोकविदितैः श्रेष्ठः कनिष्ठीकृत-
प्रौढप्रौढनरेन्द्रचारुचरितश्चामीकराभो युवा।
धीरः श्रीलजुझारसिंहनृपतिः सङ्ग्रामसिंहो रण-
स्फूर्जत्स्फारकृपाणपाणिररिभिः मोद्ग्रीवमालोक्यते ॥ २३॥
गायन्ति यस्य चतुरर्णवतीरकुञ्ज-
गुञ्जन्मदोद्धतमधुव्रतकैतवेन।
नीहारहारहरिणाङ्कमयूखभांसि
भूयांसि दिङ्मृगदृशो बहुशो यशांसि ॥ २४ ॥
येनाकारि निजारिपार्थिववधूबाष्पाम्बुसिक्ता मही

रिक्ता येन कृताश्च कोषनिवहाः सत्यार्थिपृथ्वीभुजाम् ।
दानं यस्य निरस्यति क्षितिपतेः कर्णादिकानां यश-
स्तस्य श्रीलजुझारसिंहनृपतेः साम्यं कथं कथ्यताम् ॥२५॥
कैलासं गिरिशं हिमं हिमगिरिं शीतांशुमुक्तामणीन्
नीरं क्षीरपयोनिधेः करिवरं जातं च पाथोनिधेः
यत्कीर्त्तिर्महसा जिगाय धरणीधौरेयधुर्यः शतम्
वर्षाण्यत्र जुझारसिंहनृपतिर्ज्जीयात्स भर्त्ता भुवः ॥ २६ ॥
राज्यं प्राप जुझारसिंहनृपतिर्यस्याग्रतो भूपते-
स्तत्पुत्रोऽपि गुणार्णवः समजनि श्रीविक्रमार्को नृपः ।
तत्सूनुर्नरसिंहदेवनृपतिस्तं वीरसिंहं विना
लेभे राज्यपरम्परासुखमिदं मन्ये महेन्द्रोऽपि किम् ॥ २७ ॥
गोपाचलस्थधरणीसुरवंशपद्म-
चण्डांशुराविरभवद्द्विजजातिवन्द्यः ।
श्रीनन्दनन्दनपदद्वयचित्तवृत्तिः
श्रीहंसपण्डित इति प्रथमानकीर्तिः ॥ २८ ॥
यो दूरवारकुलभूरनुभूतसौख्यः
श्रीहंसपण्डित इति प्रथितः पृथिव्याम् ।
आसीद्विवेकचतुरश्चतुरः समग्र-
वेदानधीत्य कृतकर्मकलाकलापः ॥ २९ ॥
यज्ञादिकर्मकरणाय किलावतीर्णः
पूर्णः श्रिया निजकुलाभरणायमानः ।
मिश्रः परः परशुराम इति द्विजेन्द्र-
स्तस्याभवत्स तनयो विनयोदितश्रीः ॥ ३० ॥
यो दर्भाग्रसमानबुद्धिविभवः प्रख्यातकीर्त्तिर्गुणैः
श्रौतस्मार्त्तसमस्तकर्मकुशलाचण्डीश्वराख्याद् गुरोः

अध्यायान्तमधीत्य शास्त्रमखिलं मीमांसया मांसलः
शश्वत्खण्डितखण्डनः समभवत्संख्यावतामग्रणीः ॥ ३१ ॥
पुत्रस्तस्य विभाति सद्गुणनिधिर्दानाम्बुसृष्टाम्बुधि-
र्वीरश्रीयुतमित्रमिश्रसुकृती कल्याणकल्पद्रुमः ।
कीर्तिर्दिक्षु विदिक्षु यस्य रजनीजानिप्रभा भास्वराः
गायन्ति द्विजदारका हिमहरक्षीराब्धिशुभ्रा भुवि ॥ ३२ ॥
चातुर्यं चतुराननस्य निभृतं गाम्भीर्यमम्भोनिधे-
रौदार्यं विबुधद्रुमस्य मधुरां वाचं च वाचस्पतेः ।
धैर्यं धर्मसुतस्य शर्म सकलं देवाधिपस्याहरन्
श्रीमान्ख्यातनयः सदा सविनयः श्रीमित्रसेनस्सुधीः ॥३३॥
दाता दापयिता दयादमपरः श्रीमानमात्सर्यवान्
धीरोऽधीतसमस्तशास्त्रनिवहव्याख्यारसख्यातिमान् ।
नानानाटकसाटकप्रकरणग्रन्थौघतात्पर्यवि-
द्वादन्यक्कृतवावदूकनिचयो यो गीतकीर्त्तिर्बुधैः ॥ ३४ ॥
मन्त्रे यो रसनायितः प्रतिदिनं दाने च हस्तायितो
विश्वासे हृदयायितो नृपसभाभूमीषु भूषायितः ।
यो विद्वन्निकषायितः प्रविलसत्कीर्त्यालवालायितः
श्रीमद्वीरमहीपतेः प्रतिपदं प्रेमास्पदं योऽजनि ॥ ३५ ॥
तेनानेकनिबन्धसिन्धुमनिशं निर्मथ्य बुद्ध्या पुनं-
र्वेदान्साङ्गपदक्रमोपनिषदान्श्रुत्वाऽवधार्यापिच ।
धर्मार्थादिपुमर्थनिर्णयपरः श्रीवीरसिंहाज्ञया
ग्रन्थोऽयं रचितः परोपकृतये श्रीवीरमित्रोदयः ॥ ३६ ॥
मा कुर्वन्तु मुधा बुधाः परिचयं ग्रन्थेषु नानाविधे-
ष्वसन्तं नहि तेषु सर्वविषयः काश्चित्कचिद्वर्त्तते ।
पश्यन्तु प्रणयादनन्यमनसो ग्रन्थं मदीयं त्विमं

## निरूपणीयविषयाणां क्रमेण निर्देशः ।

धर्माधर्मसमस्तनिर्णयविधिर्यस्मिन्दरीदृश्यते ॥ ३७ ॥
आदौ ब्रह्ममुहूर्त्तादिकृत्यप्रस्तावना ततः ॥
तदोत्थाय स्वधर्मादिचिन्तनादिकमुच्यते ॥ १ ॥
मङ्गल्यालोकनं चाथ विण्मूत्रोत्सर्गयोर्विधिः ॥
विस्तरेण ततः प्रोक्तं शौचमाचमनं तथा ॥ २ ॥
निमित्तमथ तत्रोक्तं तद्द्विराचमने ततः ॥
अनुकल्पास्ततस्तस्य कथितास्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥
अपवादाश्च तस्याथ दन्तधावननिर्णयः ॥
प्रातः सङ्क्षेपतः स्नानमुक्तं सन्ध्यादिकं ततः ॥ ४ ॥
अनुकल्पास्ततस्तस्य कथितास्तदनन्तरम् ॥
अह्नःप्रथमभागीयकृत्येष्वेते निरूपिताः ॥ ५ ॥
द्वितीये च तथा भागे विद्याभ्यासो निरूपितः ॥
तृतीये च तथा भागेऽर्थार्थमीशोपसर्पणम् ॥ ६ ॥
ततश्चतुर्थभागे च मध्याह्नस्नानविस्तरः ॥
ततः स्नाननिमित्तानि प्रसङ्गात्कथितानि च ॥ ७ ॥
कात्यायनोक्तविधिना स्नानं चाथ निरूपितम् ॥
योगीशोक्तप्रकारेण ततस्तस्य प्रपञ्चनम् ॥ ८ ॥
गोभिलोक्तप्रकारेणाप्यथ तत्कथनं कृतम् ॥
अथ पद्मपुराणीयविधिना तन्निरूपणम् ॥ ९ ॥
वसिष्ठोक्तविधानेन तस्य चाथ निरूपणम् ॥
शङ्खेनोक्तं क्रियास्नानं कथितं तदनन्तरम् ॥ १० ॥
ततो बौधायनोक्तं तत्तथाऽऽपस्तम्बभाषितम् ॥
ततः शाङ्खायनस्नानं शौनकोक्तं ततः परम् ॥ ११ ॥
नरसिंहपुराणोक्तं स्नानमुक्तं ततः परम् ॥
ततो विष्णुपुराणोक्तमथ वासोविधारणम् ॥ १२ ॥

तिलकस्य क्रिया चाथ सन्ध्यारूपाभिधा ततः ॥
तदुपासाप्रकारोऽथ तद्देशादिनिरूपणम् ॥ १३ ॥
मार्जनं च ततः प्रोक्तं प्राणायामस्तदुत्तरम् ॥
ततोऽघमर्षणं प्रोक्तमर्घक्षेपादिकं ततः ॥ १४ ॥
नरसिंहपुराणोक्तसन्ध्याकल्पानुकीर्त्तनम् ॥
शौनकोक्तं च सन्ध्याया वन्दनं तदनन्तरम् ॥ १५ ॥
निरूपितं ततः प्रोक्तो जपस्य विधिविस्तरः ॥
निरूपितश्च कातीयो ब्रह्मयज्ञस्ततः परम् ॥ १६ ॥
बह्वृचानां ब्रह्मयज्ञस्ततः सम्यग्निरूपितः ॥
छन्दोगानां ततः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञविधिस्ततः ॥ १७ ॥
साङ्गस्य तर्पणस्याथ विधिः सम्यग्निरूपितः ॥
कातीयस्तत्प्रयोगश्च कथितस्तदनन्तरम् ॥ १८ ॥
शङ्खोक्तविधिना चाथ तत्प्रयोगो निरूपितः ॥
बौधायनोक्तविधिनाऽप्ययमुक्तस्ततः परम् ॥ १९ ॥
ततो विष्णुपुराणोक्तस्ततो योगीशभाषितः ॥
छन्दोगपरिशिष्टोक्तस्ततोऽसौ सुनिरूपितः ॥ २० ॥
आश्वलायनशाखोक्तोऽप्यथासौ विशदीकृतः ॥
गोभिलोक्तोऽप्यसावुक्त इति तर्पणविस्तरः ॥ २१ ॥
तर्पणोत्तरकृत्यानि कथितानि ततः परम् ॥
एतानि तुर्यभागीयकृत्यान्युक्तानि विस्तरात् ॥ २२ ॥
ततः पञ्चमभागीयकृत्यमत्र निरूपितम् ॥
वैश्वदेवेतिकर्त्तव्यतैवादौ तत्र भाषिता ॥ २३ ॥
आश्वलायनशाखीयस्तत्प्रयोगोऽथ भाषितः ॥
कातीयोऽपि ततः प्रोक्तस्तत्प्रयोगस्ततः परम् ॥ २४ ॥
छन्दोगपरिशिष्टोक्ता बलिदानोत्तरक्रिया ॥

कथिताऽथ ततो नित्यश्राद्धीयविधिविस्तरः ॥ २५ ॥
अथातिथ्यविधिः प्रोक्तो भोजनस्य विधिस्ततः ॥
भोज्याभोज्यान्नमर्यानां कथनं तदनन्तरम् ॥ २६ ॥
अभक्ष्यान्नस्य कथनमभक्ष्यक्षीरनिर्णयः ॥
अभक्ष्यमांसकथनं पशुहिंसाविधीतरौ ॥ २७ ॥
निरूपितौ निषिद्धाश्च पक्षिणः कथिता अथ ॥
अभक्ष्याः पशवः प्रोक्ता मत्स्या अपि तथा पुनः ॥ २८ ॥
अपेयान्यथ मद्यानि विस्तरेणेरितानि तु ॥
भोजनोत्तरकृत्यानि पुराणश्रवणे विधिः ॥ २९ ॥
निरूपितोऽथ कथितां सायंसन्ध्योत्तरक्रिया ॥
शयनस्य विधिः सम्यक् ततश्च सुनिरूपितः ॥ ३० ॥
इत्याह्निकप्रकाशेऽस्मिन्नर्था एते महाशयैः ॥
प्रसक्तानुप्रसक्तान्ये मित्रमिश्रैर्निरूपिताः ॥ ३१ ॥

अथ ब्राह्ममुहूर्त्तादिनियतकालिककृत्यप्रस्तावना ।

तत्र दक्षः,
उक्तं कर्म क्रमो नोक्तो न कालस्त्वत एवाहि ।
द्विजानां तु हितार्थाय दक्षस्तद्द्वयमब्रवीत् ॥
प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं यद् द्विजेन दिनेदिने ।
तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि द्विजानां परमं हितम् ॥
उदयास्तमयं यावन्न विप्रः क्षणिको भवेत् ।
नित्यनैमित्तिकैर्युक्तः काम्यैश्चान्यैरगर्हितैः ॥
स्वकं कर्म परित्यज्य यदन्यत्कुरुते द्विजः ।
अज्ञानादथवा लोभात्स तेन पतितो भवेत् ॥
दिवसस्याद्यभागे तु कृत्यन्तस्योपदिश्यते ।
द्वितीये च तृतीये च चतुर्थे पञ्चमे तथा ॥

२

षष्ठे च सप्तमे चैव अष्टमे च पृथक्पृथक् ।
विभागेष्वेषु यत्कर्म तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥

उक्तं कर्म मन्वादिभिः, क्रमकालौ तु नोक्तौ, अत एव एतस्मादेव कारणात् । द्विजानामित्युपलक्षणम् । तद्द्वयं क्रमं कालं चेत्यर्थः । प्रातरिति । प्रातःपदम् उषःकालपरं, विष्णुपुराणादौ तदैवोत्थानविधानात् । उदयास्तमयमित्यहोरात्रोपलक्षणम् । विप्र इति प्रधाननिर्देशः ।

निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।

इति कोषात्क्षणो व्यापारशून्यत्वम् । अत इनिठनाविति सूत्रेण मत्वर्थीयठन्प्रत्यये क्षणिको व्यापारशून्य इत्यर्थः । अत्र—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

इत्यादिना सर्वदैव सर्वस्य यत्किञ्चिद्व्यापारवत्त्वावगमात्तच्छून्यत्वस्याप्रसक्तेस्तन्निषेधानुपपत्तिमभिप्रेत्य क्षणिकः शास्त्रानुमतव्यापारशून्य इति कल्पतरुणा व्याख्यातम् । अत्र यद्यपि शास्त्रानुमतव्यापारान्तर्गतानां काम्यानां दृष्टार्थकानां च व्यापाराणामभावतः प्रत्यवायरूपमनिष्टमनुपपन्नं तथापि इष्टाभावरूपमेवानिष्टं तत इति प्रत्याय्यते । तथाचोपदेशपरमिदं वाक्यमिति तदाभिप्रायः ।

अन्ये तु क्षणिकोऽत्र लोकशास्त्रगर्हितव्यापारवान्, लोकगर्हितो व्यापारो जलताडनादिः, शास्त्रगर्हितः परस्वहरणादिः, द्वितीयार्धेन अगर्हितव्यापारवत्त्वं विधीयते, पूर्वार्धेन तु गर्हितव्यापारवत्त्वं निषिध्यतइत्याहुः । अन्यैर्दृष्टार्थैः, अगर्हितैः लोकशास्त्रानिन्दितैः ।

अत एव याज्ञवल्क्यः,

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्नतु ।

मनुरपि,

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेवच ॥ इति ।

स्वकं स्ववर्णाश्रमोक्तं, परित्यज्य चिरकालं त्यक्त्वा । आद्यभागेत्विति । अत्राद्यभागपदमाद्यभागान्तोषःकालादिकालपरम् । उषःकालादि-कर्त्तव्यानामुत्थानशौचादिकर्मणामप्याद्यभागकृत्येषु वक्ष्यमाण-त्वात् । कल्पतरुस्तु दिवसशब्दोऽत्राजहत्स्वार्थलक्षणयोषःकालादि प्रदोषपर्यन्तकालपरः । दक्षेणैव दिवसस्येत्याभिधायोषःकालोपक्र-मप्रदोषपर्यन्तकृत्याभिधानात् इत्याह ।

अत्रेदं चिन्त्यम्,

अष्टमे लोकयात्रा तु बहिःसन्ध्या ततः परम् ।

होमो भोजनकालश्च यदन्यद् गृहकृत्यकम् ॥

इत्यादिना दक्षेण दिवसाष्टमभागकृत्योत्तरमेव सायंसन्ध्या-प्रदोषरात्रियामकृत्याभिधानेन दिवसपदस्य प्रदोषपर्यन्तकालल-क्षणायां मानाभावः । किञ्च दिवसपदस्य उषःकालादिप्रदोषपर्य-न्तकाललक्षणायां तावत्कालस्यैव "समं स्यादश्रुतत्वात्" इति न्यायेन अष्टधा समविभागापत्तौ शिष्टैस्तत्तत्कालक्रियमाणानां तत्तद्भाग-विहितकर्म्मणां कालान्तरे करणप्रसङ्गः । विषयविभागेन आद्य-भागाष्टमभागयोराधिक्यकल्पने च मानाभावः । उत्थायेत्यादि । उत्थाय शयनीयात् । आवश्यकं रात्रिवासस्त्यागादिमूत्रपुरीषोत्स-र्गान्तम् । समाहितः संयतचित्तः । अपरां पश्चिमसन्ध्यां, चिरं नक्ष-त्रोदयादूर्ध्वमपि । एतच्च निरग्निविषयम् । साग्नेर्नक्षत्रोदयादर्वागेव होमविधिना सन्ध्याकर्मसमाप्तेरिति कल्पतरुः ।

अथ ब्राह्ममुहूर्त्ते धर्मादिचिन्तनम् ।

यथा विष्णुपुराणे,

ब्राह्मे मुहूर्त्ते स्वस्थे च मानसे मतिमान्नृप ।
विबुद्धश्चिन्तयेद्धर्ममर्थं चास्याविरोधिनम् ॥
अपीडया तयोः काममुभयोरपि चिन्तयेत् ।
दृष्टादृष्टाविनाशाय त्रिवर्गे समदर्शिता ॥
परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेवच ॥
ततः कल्यं समुत्थाय कुर्यान्मैत्रं नरेश्वर ।

ब्राह्ममुहूर्त्तोऽनुपदं वक्ष्यते। दृष्टादृष्टेति। दृष्टादृष्टयोरिष्टयोरविनाशाय त्रिवर्गे समदर्शिता कार्येत्यर्थः। असुखोदर्कम् ऐहिकोत्कटदुःखफलकम्, नत्वन्वये सति सर्वस्वदानादि। तस्यादेयप्रकरणपठितेन सर्वस्वं चान्वये सतीत्यनेन दक्षवचनेन निषिद्धत्वेन धर्मत्वाभावात्। लोकविक्रुष्टं लोकविगीतं मधुपर्कादौ गोवधादिकम्। कल्यम् उषसि।

प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि।

इति कोषात्। उषःकालश्च वक्ष्यते। मैत्रं मित्राधिष्ठितपायुसम्बन्धात्पुरीषोत्सर्गम्।

पायोर्मित्राधिष्ठानत्वमुक्तं भागवते। यथा आस्पदमित्यनुवृत्तौ,

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद। इति।

महाभारतेऽपि,

अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम्।

तत्र पायौ।

मार्कण्डेयपुराणे,

परस्परानुबद्धांश्च सर्वानेतान्विचिन्तयेत् ।
विपरीतानुबद्धांश्च धर्मादींस्तात वर्जयेत् ॥
एतान्धर्मार्थकामान् ।
विष्णुः,
गृहमेधिनि यत्प्रोक्तं स्वर्गसाधनमुत्तमम् ।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय तत्सर्वं सम्यगाचरेत् ॥
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं किमद्य सुकृतं कृतम् ।
दत्तं वा दापितं वाऽपि वाक् सत्या चापि भाषिता ॥
अत्र कृतसुकृतादिचिन्तनं तदविरोधेनाग्रिमकरणार्थम् ।
निष्ठा भविष्यदर्थिकेत्यपरे ।
मनुः,
ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेवच ॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥
ब्राह्मो मुहूर्त्तो रात्रेः पश्चिमो यामः । ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात् । मुहूर्त्तशब्दोऽत्र कालमात्रपरः ।
दक्षेणापि,
प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासरतो नयेत् ।
यामद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
इति वदता तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञात इति कुल्लूकभट्टः ।
स्मृतिचन्द्रिकायामपि,
"ब्राह्मो मुहूर्त्तो रात्रेः पश्चिमो यामः ।
रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्त्तो ब्राह्म उच्यते ।
इति पितामहस्मरणात्" इत्युक्तम् ।

यामिन्याः पश्चिमे यामे त्यक्तनिद्रो हरिं स्मरेत् ।
आलोक्य मङ्गलद्रव्यं कर्मावश्यकमाचरेत् ॥

इति व्यासवाक्यैकवाक्यतयापि ब्राह्ममुहूर्त्तशब्दस्य पश्चिमयामपरत्वं प्रतीयते ।

प्रयोगपारिजातधृता ऽऽश्वलायनस्मृतिरपि,

रात्र्यां त्रिभागशिष्टायाम् । उत्थाय शयनाद् बुधः ।
समाचम्य सदासीनः सिद्धिं त्रैवर्गिकीं स्मरेत् ॥

त्रिभागः चतुर्द्धा विभक्ताया रात्रेस्तृतीयो भागस्तृतीयप्रहरः ततः शिष्टायां चतुर्थयामात्मिकायामित्यर्थः । युक्तं चैतत् । प्रबोधोत्तरं वेदाभ्यासादिहरिस्मरणादिहोमान्तानां बहूनां विहितकर्मणां तावत्कालं विना कर्त्तुमशक्यत्वात् । निबन्धान्तरेषु तु उपान्त्यमुहूर्त्तस्य ब्रह्मदेवताकत्वात् उपान्त्यो मुहूर्त्तो ब्राह्मो मुहूर्त्त इति व्याख्यातम् । ब्रह्मदेवताकत्वं च तस्य कालमाधवीयधृतपुराणवचनात्सिद्धम् ।

यथा—

शङ्करश्चाजपादश्च तथाऽहिर्बुध्न्यमैत्रकौ ।
आश्विनौ याम्यवाह्नेयौ वैधात्रश्चान्द्र एवच ॥
आदितेयोऽथ जैवश्च वैष्णवः सौर एवच ।
ब्राह्मो नाभस्वतश्चैव मुहूर्त्ताः क्रमशो निशि ॥' इति ।

पठन्ति च,

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्त्तो यस्तृतीयकः ।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः सम्प्रबोधने ॥

इत्थं चोभयस्य शास्त्रार्थत्वे वेदाभ्यासादिबहुतरकर्मचिकीर्षुः पश्चिमयामस्याद्यमुहूर्त्ते बुध्येत इतरस्तु तृतीयमुहूर्त्ते इति व्यवस्था। सकृदुच्चरितस्य ब्राह्ममुहूर्त्तशब्दस्यापि सति तात्पर्येऽर्थ-

-द्वयबोधकत्वे बाधकाभावात्। इदमत्रावधेयम्। यदत्र रात्रिशेषे वेदाभ्यासो दक्षेणोक्तः स पूर्वदिवसीयरात्रिकृत्यान्तर्गतोऽवगन्तव्यः। दक्षेण रात्रिकृत्ये तस्याभिधानात्। यच्च रात्रेरुपान्त्यमुहूर्त्तमारभ्य कर्त्तव्यत्वेनोक्तं तदुत्तरदिवसीयाह्निककृत्यान्तर्गतं, दक्षेण उपान्त्यमुहूर्त्तकालीयकृत्यमारभ्याह्निकस्य विहितत्वात्। अत एव

ब्रह्मवैवर्त्ते,

उपान्त्यमुहूर्त्तादिकालस्यैव दिवसत्वमुक्तम्। यथा,

त्रियामां रजनीं प्राहुस्त्यक्त्वाऽऽद्यन्तचतुष्टयम्।

नाडीनां तदुभे सन्ध्ये दिवसाद्यन्तसंज्ञिते॥ इति।

अत्र नाडीनामाद्यन्तं चतुष्टयमित्यन्वयः। तन्मूलान्धर्मार्थहेतुक्रियानिमित्तकान्। तत्प्रयोजनं च यदि महाक्लेशोऽल्पश्च धर्मोऽर्थो वा तदा तं परिहरेदिति। वेदतत्त्वार्थमिति। अत्र तत्त्वपदमपन्यायप्रतीतार्थवारणार्थम्। यद्वा वेदतत्त्वार्थं ब्रह्म।

तदुक्तं कूर्मपुराणे,

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय धर्ममर्थं च चिन्तयेत्।

कायक्लेशं तदुद्भूतं ध्यायीत मनसेश्वरम्॥ इति।

याज्ञवल्क्यः,

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्। इति।

रात्रेः पश्चिमयामो ब्राह्मो मुहूर्त्तः। मुहूर्त्तशब्दोऽत्रौपचारिक इति शूलपाणिः। ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय पश्चिमेऽर्द्धप्रहरे प्रबुध्येति तु मिताक्षरा।

काशीखण्डे,

रजनीप्रान्तयामार्द्धं ब्राह्मः समय उच्यते।

स्वहितं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तस्मिंश्चोत्थाय सर्वदा॥

रजन्याः प्रान्तयामार्द्धमित्यर्थः।

वामनपुराणे,
ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्रथमं विबुध्येदनुस्मरेद्देववरान्मुनींश्च ।
प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यं यदुक्तवान्देवपतिस्त्रिनेत्रः ॥
सुकेश्युवाच,
किं तदुक्तं सुप्रभातं शङ्करेण महात्मना ।
प्रभाते यत्पठन् मर्त्यो मुच्यते पापबन्धनात् ॥
ऋषय ऊचुः,
श्रूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं सुरोदितम् ।
श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहस्सगौतमः ।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो रिभुश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ।
सप्त स्वराः सप्त रसातलाश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथाऽऽपः स्पर्शी च वायुर्ज्वलितं च तेजः ।
नभः सशब्दं महता सहैव कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त ।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत्स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या ।
दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं भवेच्च सर्वं भगवत्प्रसादात् ॥
ततः समुत्थाय विचिन्तयेद् बुधो
धर्मं तथाऽर्थं च विहाय शय्याम् ।
उत्थाय पश्चाद्धरिरित्युदीर्य
गच्छेत्तदोत्सर्गविधिं च कर्त्तुम् ॥

"अनुस्मरेदिति" । अत्रानुस्मरेदित्येव प्रधानविधिः । कथमित्याकाङ्क्षायामुक्तं "प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यमिति" । अत्र वाच्यमिति पाठवैकल्पिकयोः प्राभातिकमङ्गलस्मरणश्रवणयोरुपलक्षणम् । श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा वेति ऋषीणामुत्तरवाक्ये पठेत्स्मरेद्वा शृणयाच्चेत्युपसंहारवाक्ये च विकल्पेन त्रयाणामप्युपादानात् । इत्थं च प्राभातिकमङ्गलश्लोकानां वचनाद्यन्यतमेनैव देववरान्मुनींश्च स्मरेदिति वाक्यार्थः । अत एव मङ्गलमेवेत्यत्र एवकारोऽपि साधु सङ्गच्छते । ननु पाठादीनां सर्वपापैः प्रमुच्यत इत्यनेन दुःस्वप्ननाश इत्यनेन च फलवत्त्वावगमात्प्रधानत्वमेवोचितं, न त्वितिकर्त्तव्यतात्वमिति चेत्र । पाठादीनां देवादिस्मरणरूपदृष्टार्थकत्वे सम्भवति अदृष्टार्थकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वेनाङ्गत्वे सिद्धे अङ्गे फलश्रुतिरर्थवाद इति कल्प्यते। देवर्षिस्मरणादीनां फलं तु कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातमित्यादिमन्त्रप्रकाशितमेव । सूक्तवाकमन्त्रवर्णप्रकाशितायुरादिफलमिव प्रस्तरप्रहरणस्य मन्त्रप्रकाशितफलापेक्षया मन्त्रपाठाद्यर्थवादप्रकाशितफलस्य विप्रकृष्टत्वेन फलाप्रयोगः । " इत्थं प्रभात इति " । प्रभाते उषसि ।

प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि ।

प्रभातं चेत्यभिधानात् । उषःशब्दश्चारुणोदयपर्यायः । प्रातःस्नायी अरुणकिरणग्रस्तां प्राचीमवलोक्य स्नायादित्यनेन विष्णुवचनेनारुणोदयविहितस्नानस्य—

उषस्युषसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ ।

इत्यनेन दक्षेणोषःस्नानत्वेन कथनात् ।

अरुणोदयकालं चाह कालमाधवीये स्कन्दपुराणे नारदश्च,

उदयात्प्राक् चतस्रस्तु नाडिका अरुणोदयः । इति ।

यद्यपि,



4993

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।

इत्यनेन,

लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान् ।
अस्नात्वा नाचरेत्कर्म जपहोमादि किञ्चन ॥

इत्यनेन च वाक्येन दक्षेण,

अशुचिर्भवेदित्यनुवृत्तौ—

स्वप्नाद्वस्त्रविपर्यासात्क्षुताद्ध्वपरिश्रमात् ।

इति वाक्येन देवलेन च शयनोत्थितस्य अशुचित्वं बोध्यते । अशुचेश्च—

नाशुचिर्देवर्षिपितॄणां नामानि कीर्त्तयेत् ।

इति वाक्येन देवादिनामकीर्त्तनस्य, अशौचं प्रक्रम्य—

न कुर्याद्विहितं कर्म स्वाध्यायं मनसाऽपि च ।

इति कूर्मपुराणवाक्येन च विहितकर्ममात्रस्य निषेधोऽवगम्यते । तथापि वैधत्वान्नैतन्निषेधविषयः । अग्नीषोमीयहिंसावत् । "तत इति" । धर्मम् उदाहृतविष्णुपुराणस्वरसात्तदविरोधिनमर्थं तदुभयाविरोधिनं च कामं चिन्तयेत् । उदाहृतमनुकूर्मपुराणवाक्यस्वरसात्परमात्मानं च चिन्तयेत् । समुत्थाय शय्यां विहायेति प्रबोधोत्तरसर्वकर्मान्वयि । केचित्तु प्राभातिकमङ्गलपाठानन्तरमेवोत्थानकथनात् तत्पाठाद्यन्तं कर्म शयानेनैव कर्त्तव्यं तदुत्तरं शयनादुत्थाय शय्यायामुपविश्य कर्त्तव्यं तदनन्तरं शय्यात्यागविधानात् इति वदन्ति । ततः—

लोकेश चैतन्यमयादिदेव श्रीकान्त विष्णो भवदाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥

इत्यादि प्रार्थयेत् । अत्र—

द्वयः सुपर्णा इत्येतां जपन्वै विन्दते श्रियम् ।

इत्युपक्रम्य,

अक्षिणी प्रातरुत्थाय निमृजीतैतया सह ।

चक्षुष्मान्भवति श्रीमान्नालक्ष्मीः प्रतिबाधते ॥

इति ऋग्विधाने उक्तम् । एतया ऋचा अक्षिणी सहैकदा निमृजीतेत्यन्वयः । ऋक् च—

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।

अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धिचक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेवबद्धान् ॥

इत्थं च चक्षुष्मत्त्वादिकामोऽनया ऋचा अक्षिणी एकदा निमृजीतेति विद्याकरवाजपेयिनिबन्धे ।

नमोऽस्तु प्रियदत्तायै भुवे इति दिनेदिने ।

भूमिमाक्रमते प्रातः शयनादुत्थितश्च यः ॥

स सर्वकामहृष्टात्मा सुखं याति यमालयम् ।

अत्र चायं क्रमः। वेदाभ्यासार्थो रात्रेः पश्चिमयामारम्भे प्रबुध्य नमोऽस्तु प्रियदत्तायै भुवे इत्युक्त्वा भूमिमाक्रम्य शयनीयवासस्त्यक्त्वा वासोऽन्तरे धौते परिदध्यात् । शयनीयवासस्त्यागश्च महाभारतीयवचनस्वरससिद्धः ।

तद्यथा,

अन्यदेव भवेद्वासः शयनीये सदैवहि ।

अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेवहि ॥

अत्र शयनकालादिधृतवासःसु कालान्तरधृतवासोऽन्यत्वविधानात् कालान्तरेऽर्थाद्वासोऽन्तरधारणं नियम्यते ।

अङ्गिरोनाम्ना पठन्ति च,

उत्थाय पश्चिमे यामे रात्रिवासः परित्यजेत् ।

प्रक्षाल्य हस्तपादास्यान्युपस्पृश्य हरिं स्मरेत् ॥ इति ।

ततश्च पादौ हस्तौ मुखं नेत्रे च प्रक्षालयेत् । नेत्रप्रक्षालनं

चोक्तम्—

कात्यायनेन। यथा,

उत्थाय नेत्रे प्रक्षाल्य शुचिर्भूत्वा समाहितः।

परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

शुचिर्भूत्वा मूत्रपुरीषोत्सर्गान्ते कृताचमनेन शुचिर्भूत्वा। ततश्च प्रबोधनिमित्तकं वासोधारणनिमित्तं च तन्त्रेण द्विराचामेत्। प्रबोधनिमित्तकं चाचमनं वासोधारणात्पूर्वं सत्यपि निमित्तसन्निपाते न कार्यम्। अशुचिवस्त्रेण भृगुणा आचमननिषेधात्।

तथा—

विना यज्ञोपवीतेन तथाऽधौतेन वाससा।

मुक्त्वा शिखां वाऽप्याचामेत् कृतस्यैव पुनः क्रिया॥

इत्यनेनाचमनान्तरस्य कर्त्तव्यत्वं विदधता तथा कृतस्याचमनस्य व्यर्थत्वं बोध्यते। कर्माङ्गाचमन एव कुशधारणविधानात् अत्र कुशधारणं नाङ्गम्।

यथा स्मृत्यर्थसारे,

पवित्रकर आचामेच्छुचिः कर्मार्थमादरात्।

कुशमात्रकरो वापि दर्भमात्रकरोऽथवा॥ इति।

कुशदर्भयोर्भेदस्तु कुशप्रकरणे द्रष्टव्यः। शिष्टाचारोऽप्येवमेव। ततस्त्रैवर्णिकः कर्त्तव्यकर्माविरोधेन वेदानभ्यस्य शेषार्द्धयामरूपप्रभातोपक्रमेण देवादिस्मरणं विधाय यथोक्तरीत्या धर्मार्थादींश्च विचिन्त्य परमात्मानं ध्यात्वा उत्थाय हरिरित्युदीर्य्य श्रोत्रियसुभगादीनि मङ्गल्यानि विलोक्य वक्ष्यमाणरीत्या मूत्रपुरीषोत्सर्गादि कुर्यादिति। इतरस्तु रात्रेः पश्चिमयामस्य तृतीये मुहूर्त्ते प्रबुध्य वेदाभ्यासवर्ज्जं प्रागुक्तं प्राग्वत्कुर्यात् इति। उत्थानोत्तरं पठनीयाक्षरमुक्तं महाभारते,

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसेदिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नच कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
इमां भारत सावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

प्रातःपदमत्र प्रभातपरम् ।

प्रगे प्रातः प्रभाते इत्यमरकोशात् । अत एव—

यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः ।

इति वाक्ये अरुणोदयकाले प्रातःपदं कात्यायनः प्रयुक्तवान् ।

ब्राह्मे तु,

षट्पञ्चाशद्घटी प्रातस्ततस्त्वेकाधिकोऽरुणः ।
उषःकालोऽष्टपञ्चाशत् शेषः सूर्योदयः स्मृतः ॥

इति षट्पञ्चाशद्घटीमारभ्य । एवमग्रेऽपि ।

इदमत्र बोध्यम् । यत्प्रबोधोत्तरकालपाठ्यत्वेन विहितं तद्धर्मादिचिन्तनात्पूर्वमेव पाठ्यम् । यत्तु प्रातर्मात्रपाठ्यत्वेन सन्ध्याकालमात्रपाठ्यत्वेन वा विहितं तत्सर्वं कर्माङ्गस्नानसन्ध्योत्तरमेव पाठ्यमिति । ब्राह्मे मुहूर्ते निद्रायां दोषं प्रायश्चित्तं चाह—

विष्णुः,

ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी ।
तां करोति तु यो मोहात्पादकृच्छ्रेण शुध्यति ॥

अत्र पुण्यक्षयपदं पापपरं, प्रायश्चित्तोपदेशात् ।

अथ प्रातरुत्थानोत्तरं दर्शनीयानि ।

तत्र कात्यायनः,

श्रोत्रियं सुभगां गां च अग्निमग्निचितं तथा ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स प्रमुच्यते ॥

श्रोत्रियं जन्मसंस्कारविद्यायुक्तं ब्राह्मणम् । अग्निचितं कृताग्निचयनम् । एतेषां दर्शनस्य कालमाह—

व्यासः,

यामिन्याः पश्चिमे यामे त्यक्तनिद्रो हरिं स्मरेत् ।
आलोक्य मङ्गलद्रव्यं कर्मावश्यकमाचरेत् ॥

अथादर्शनीयान्यपि तत्रैव,

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम् ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ॥

नग्नो ऽवश्याच्छाद्यशरीरावयवे आच्छादनरहितः । यद्वा नग्नो वेदबाह्यः । तदुक्तं—

विष्णुपुराणे,

त्रयी समस्तवर्णानां विप्र संवरणं यतः ।
नग्नो भवत्युज्झितायामतस्तस्यां न संशयः ॥ इति ।

कलेः कलहस्य उपलक्षणं सूचकम् ।

अथ मूत्रपुरीषोत्सर्गः ।

तत्र विष्णुपुराणम्,

ततः कल्यं समुत्थाय कुर्यान्मैत्रं नरेश्वर ।
नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः ॥
दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषं च समाचरेत् ।

ततः धर्मादिचिन्तनोत्तरम् । भुवः शयनस्थानात् । नैर्ऋत्या-

मिषुविक्षेपम् क्षिप्तेषोः पतनयोग्यं देशम्। अभि लक्षीकृत्य। अधिकं ततोऽधिकमतीत्यातिक्रम्य मैत्रं कुर्यादिति पूर्वेणान्वयः। तद-सम्भवे रात्रौ वा स्वगृहात् किञ्चिद् दूरे मूत्राद्युत्सर्गं कुर्यादित्याह "दूरादिति"। आवसथो गृहम्।

आपस्तम्बः,

आराच्चावसथान्मूत्रपुरीषे कुर्याद्दक्षिणां दक्षिणापरां वा, गत्वेति शेषः। आराद् दूरे। दक्षिणापरां नैर्ऋतीम्।

पुनरापस्तम्बः,

अस्तमिते बहिर्ग्रामादाराच्चावसथान्मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत्।

अस्तमिते आदित्ये आराद् दूरे आवसथात् गृहात्। अन्तर्ग्रामेऽपि गृहाद् दूरतो न कुर्यादित्यर्थः। दृष्टार्थोऽयं प्रतिषेधः। तेन घोरव्याघ्रादिरहिते देशे रात्रौ बहिर्गमनेऽपि न दोषः।

मदनरत्ने पराशरः,

ततः प्रातः समुत्थाय कुर्याद्विण्मूत्रमेव च।
नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं बुधः॥
ग्रामात्क्रमशतं गच्छेन्नगराच्च चतुर्गुणम्।

क्रमशतं, क्रमु पादविक्षेपे इति धात्वनुसारात्पादविक्षेपशतम्। स्कन्दपुराणीयत्वेन देवलीयत्वेन च पठन्ति,

दशहस्तं समुत्सृज्य मूत्रं कुर्याज्जलाशयात्।
शतहस्तं पुरीषं च तीर्थे नद्यां चतुर्गुणम्॥ इति।

मनुः,

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्नं निषेकं च दूरादेव समाचरेत्॥

निषेकम् उच्छिष्टद्रव्यप्रक्षेप इति कल्पतरुः। तन्मते उच्छिष्टान्नम् उच्छिष्टान्नत्यागमित्यर्थः। कुल्लूकभट्टस्तु निषिच्यत इति निषेकं

रेतः समाचरेत्समुत्सृजेत् इति व्याख्यातवान् ।

याज्ञवल्क्यः,

दूरादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाम्भांसि समुत्सृजेत् ।

अत्र विण्मूत्रत्यागे दूरपदेन प्रागुदाहृतविष्णुपुराणवाक्योक्तो देशो ग्राह्यः । उच्छिष्टपादाम्भसोस्त्यागे तु गृहाङ्गणातिरिक्तो देशो ग्राह्यः ।

तदप्युक्तं विष्णुपुराणे,

पादावसेचनोच्छिष्टे न क्षिपेत्तु गृहाङ्गणे । इति ।

अङ्गिराः,

उत्थाय पश्चिमे यामे रात्रेराचम्य चोदकम् ।
अन्तर्द्धाय तृणैर्भूमिं शिरः प्रावृत्य वाससा ॥
वाचं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु शुचौ देशे समाहितः ॥

आचम्येति । अनेन यत्र स्वापादिना निमित्तेनाचमनप्राप्तिस्तत्राचम्यैव मूत्रपुरीषे कुर्यादित्युक्तम् । तृणैः शुष्कैरयज्ञियैः ।

तथाच यमः,

शिरः प्रावृत्य कुर्वीत शकृन्मूत्रविसर्जनम् ।
अयज्ञियैरनार्द्रैश्च तृणैः सञ्छाद्य मेदिनीम् ॥

इदं च अयज्ञियशुष्ककाष्ठस्य पत्रलोष्टवेणुदलमृन्मयभाजनानां चाप्युपलक्षणम् । बौधायनादिना तेषामपि संगृहीतत्वात् ।

तथाच बौधायनः,

शुष्कं तृणमयज्ञियकाष्ठं लोष्टं वा तिरस्कृत्याहोरात्रयोरुदग्दक्षिणामुखः प्रावृत्योच्चरेदवमेहेत वा ।

अयज्ञियं यज्ञप्रयोजनककुशपलाशादिभ्यातिरिक्तम् । इदं च तृणकाष्ठयोरुभयोरपि विशेषणं सान्निध्याविशेषात् । तिरस्कृत्य भूम्य-

न्तर्द्धानार्थं तिर्यक् स्थापयित्वा। उदग्दक्षिणामुख इत्यहोरात्रयोर्यथासंख्यमन्वेति। प्रावृत्य, शिर इति शेषः। उच्चरेत् पुरीषं कुर्यात्। अवमेहेत मूत्रं कुर्यात्। विण्मूत्रोत्सर्गं कुर्यादित्यनुवृत्तौ

वायुपुराणे च,

शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पत्रैर्वेणुदलेन वा।
मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुन्धराम्॥

वेणुर्वंशः तस्य दलं पाटितभागविशेषः। तत्पत्राणां पत्रैरित्यनेनैव लब्धत्वात्। "शिरः प्रावृत्येति"। इदं च द्विवस्त्रत्वे न त्वेकवस्त्रत्वे।

नोत्तरीयमधः कुर्यान्नोपर्यधस्समम्बरम्।

इति व्यासवाक्येन अधरीयवस्त्रस्योपरिधारणनिषेधात्। अत एव श्रीदत्तादिनिबन्धेषु द्विवासास्तूत्तरीयेन शिरो नासिकां च वेष्टयित्वेत्यादिमूत्रपुरीषोत्सर्गप्रकरणे सिद्धवदुक्तम्। अङ्गिरोवचने ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जित इत्यत्रोच्छ्वाससामान्यवर्जनस्याशक्यत्वाद्वस्त्रेण मुखनासिकवेष्टनेन साहजिकोच्छ्वासवर्जनमेव विधीयते।

तथाच हारीतः,

घ्राणास्ये वाससा वेष्टयित्वा मृद्धात्रीं ग्रीवायामासज्य दक्षिणबाहुपार्श्वे कमण्डलुमाधायोत्सृजेत्।

मृद्धात्री-मृद्धारणपात्री, कमण्डलुं शौचार्थजलपूर्णं पात्रम्। उत्सृजेत्, मूत्रपुरीषे इति शेषः। शुचौ मूत्रपुरीषान्तरादिकृताऽशुद्धिरहिते। समाहितः अनन्यमनस्कः।

मनुः,

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठं पत्रं लोष्टं तृणानि वा।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः॥

वाचं नियम्य मौनीत्यर्थः।

तथाच हारीतः,

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।

स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥

उच्चारे पुरीषोत्सर्गे प्रस्रावे मूत्रोत्सर्गे। मूत्रपुरीषोत्सर्गप्रकरणे विष्णुपुराणं च,

तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र न च किञ्चिदुदीरयेत् ।

प्रयतः यस्मिन्यस्मिन्नाशौचे मलमूत्रोत्सर्गो निषिद्धस्तत्तदाशौचशून्यः । तच्चाशौचं चण्डालस्पर्शतैलाभ्यङ्गादिजनितम् । तस्मिन्सति मूत्रपुरीषयोर्निषिद्धत्वं प्रायश्चित्ताम्नानादवसीयते ।

प्रायश्चित्तं तु,

चण्डालेन यदा स्पृष्टो विण्मूत्रं कुरुते द्विजः ।

इत्याद्युपक्रम्य प्रायश्चित्तं कथम्भवेदित्युक्त्वा ब्राह्मणस्य त्रिरात्रं रित्यादिना आपस्तम्ब उक्तवान् ।

तथा स एव,

तैलाभ्यक्तस्तथा वान्तः श्मश्रुकर्माणि मैथुने ।

मूत्रोच्चारं यदा कुर्यादहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥

"संवीताङ्ग" इति।संवीतं निवीतम् । निवीतं मनुष्याणामिति वाक्यान्तरसमानार्थिकायां संवीतं मानुषमिति तैत्तिरीयश्रुतौ निवीते संवीतपदप्रयोगदर्शनात् । मानुषं मनुष्याः सनकादयः तत्सम्बन्धि तदुद्देश्यकतर्पणाङ्गमिति यावत्। अत एव निवीतमापृष्ठदेशावलम्बि ग्राम्यधर्मेष्विति निगमपरिशिष्टे। बहुवचनं कडाराः कर्मधारये इत्यत्र सूत्रे कडारा इति बहुवचनवदाद्यर्थम् । तेन मूत्रपुरीषोत्सर्गसंग्रहः । ग्राम्यधर्मो मैथुनम् । तत्र संवीतमङ्गं यस्य स संवीताङ्गः। निवीतं च निवीती कण्ठसज्जने इति मनूक्तं कण्ठावलम्बितं यज्ञसूत्रं तच्च प्रकृते पृष्ठलम्बितं च । तदाह—

माधवीयादौ अङ्गिराः रत्नाकरादौ यमश्च,

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कण्ठलम्बितम्।

विण्मूत्रं तु गृही कुर्याद्यद्वा कर्णे समाहितः॥

कर्णे निधानं चैकवस्त्रत्वे।

तदुक्तं शाङ्ख्यायनगृह्ये, यद्येकवस्त्रो यज्ञोपवीतं कर्णे कृत्वेति।

अत्र मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यादिति प्रकरणाल्लभ्यते। कर्णश्चात्र दक्षिणो ग्राह्यः। दक्षिणं प्रतीयादनादेशे इत्याश्वलायनसूत्रात्। कुशधारिणा यदा मूत्रपुरीषोत्सर्गः क्रियते तदा ते कुशा दक्षिणकर्णे धार्या इत्याह।

हारीतः,

पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्। इति।

पवित्रं कुशः। यज्ञोपवीतं परमं पवित्रमिति मन्त्रलिङ्गात् पवित्रं यज्ञोपवीतमिति कश्चित्। संवीताङ्गो वस्त्राच्छादितदेह इति कुल्लूकभट्टस्मृतिचन्द्रिकाकारप्रयोगपारिजातकारादयः। अवगुण्ठितः प्रावृतशिराः।

मनुः,

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा॥

यथा दिवेति उदङ्मुख इत्यर्थः।

याज्ञवल्क्योऽपि,

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।

कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

अत्र पूर्वलिखितसांख्यायनाङ्गिरोवाक्यैकवाक्यतया एकवासांश्चेत्कर्णस्थब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यादित्येको विधिः।

मन्वादिवचनैकवाक्यतया दिवासन्ध्यासु उदङ्मुखः मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यादित्यपरः। तथा रात्रौ दक्षिणामुखः कुर्यादित्यपरः। दिवासन्ध्याधिकरणकमूत्रपुरीषोत्सर्गानुवादेन ब्रह्मसूत्रस्य कर्णस्थताविधाने च उद्देश्यविशेषणविवक्षायां वाक्यभेदः। अत्र पुरीषोत्सर्गादिषु दृष्टार्थेषु कर्मसु विधीयमानमुदङ्मुखत्वादि आदित्याभिमुख्यनिषेधादिकं च सर्वं पुरुषार्थं यथासम्भवं दृष्टादृष्टद्वारा।

तथाच वासिष्ठः,

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
रात्रौ तु दक्षिणा कुर्यादेवं ह्यायुर्न रिष्यते॥

दक्षिणा दक्षिणामुखः।

न रिष्यते न हिंसामापद्यते रिष हिंसायामिति धातोरूपमिदम्। अत्र तृतीयचरणे दक्षिणाभिमुखो रात्राविति दानधर्मेषु पठितम्।

बृहन्नारदीयेऽपि,

गृहस्थस्य सदाचारान् प्रवक्ष्ये मुनिसत्तम।
कुर्वतां सर्वपापानि नश्यन्त्येव न संशयः॥

इत्युपक्रम्य—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

इत्याद्यभिहितम्। नन्वयं दिङ्नियमः—

प्रत्यङ्मुखस्तु पूर्वाह्णेऽपराह्णे प्राङ्मुखस्तथा।
उदङ्मुखस्तु मध्याह्ने निशायां दक्षिणामुखः॥

इति मूत्रपुरीषोत्सर्गप्रकरणपठितयमवचनेन,

सदैवोदङ्मुखः प्रातः सायाह्ने दक्षिणामुखः।
विण्मूत्रमाचरेन्नित्यं सन्ध्यासु परिवर्जयेत्॥

इति देवलवचनेन च विरोधात्कथं व्यवतिष्ठते इति चेत्। प्र-

न्वादिवचनस्थितदिवापदस्य सामान्यशब्दस्य यमदेवलवचनैकवाक्यतया प्रातर्मध्याह्नरूपविशेषपरत्वेन विरोधपरिहारात् । सामान्यशब्दस्य सामान्यरूपेण विशेषपरत्वे लक्षणाया अप्यभावात् । ननु तथापि यमदेवलवचनयोर्विरोध एव यमेन पूर्वाह्णापराह्णयोः प्रत्यक्प्राङ्मुखत्वविधानात् देवलेन च तयोरेव सायम्प्रातःपदोपात्तयोरुदग्दक्षिणामुखत्वविधानात् इति चेत्,

प्रातः कालो मुहूर्त्तांस्त्रीन् सङ्गवस्तावदेव तु ।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादपराह्णस्ततः परम् ॥
सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यात् ।

इति मत्स्यपुराणवचनानुसारेण पञ्चधा विभक्तस्याह्नः पञ्चसु भागेषु यमदेवलाभ्यां तत्तद्दिङ्मुखत्वनियमनादविरोधः । तत्र यमवचने पूर्वाह्णपदं सङ्गवपरं सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादितिमत्स्यपुराणवचनानुसारेण अह्नः पूर्वो भाग इति योगेन पूर्वाह्णपदस्यानवरुद्धसङ्गवपरत्वात् ।

पूर्वाह्णे मातृकं श्राद्धमपराह्णे तु पैतृकम् ।
एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥

इति ब्रह्मपुराणवचने पूर्वाह्णपदप्रयोगाच्च । सम्मतोऽयमर्थः सर्वेषां गौडानां मैथिलानां च ।

कल्पतरुकृतस्तु देवलवचनानुसारात्प्रातःसायङ्कालयोस्त्रिमुहूर्त्तात्मकयोरुदग्दक्षिणामुखत्वमाप्तं च यमवचनं तदतिरिक्ते पूर्वाह्णे अपराह्णे च प्रत्यक्प्राङ्मुखताप्रापकमिति व्यवस्थापयन्ति । अत्र यमवचनं दिवसस्य त्रिधाविभागाभिप्रायकं, देवलवचनं च पञ्चधाविभागाभिप्रायकमिति तेषामाशयः ।

पराशरीये माधवाचार्यास्तु दिवासन्ध्यासुवति याज्ञवल्क्यवचनमुदाहृत्य ननूक्तोदिङ्नियमो न व्यवतिष्ठते अन्यैरन्यथा

स्मरणात् ।

तत्र यमः,

प्रत्यङ्मुखस्तु पूर्वाह्णेऽपराह्णे प्राङ्मुखस्तथा ।

उदङ्मुखस्तु मध्याह्ने निशायां दक्षिणामुखः ॥ इति ।

अत्र केचिद्विकल्पमाश्रित्य व्यवस्थापयन्ति, तदयुक्तं सामान्यविशेषशास्त्रयोर्विकल्पायोगात् । सामान्यशास्त्रं हि याज्ञवल्क्य वचनं दिवसे कृत्स्नेऽप्युदङ्मुखत्वाभिधानात्।यमवचनं तु विशेषशास्त्रम्। उदङ्मुखत्वस्य मध्याह्नविषयत्वेनात्र सङ्कोचप्रतीतेः। मास्तु तर्हि विकल्पः यमवचनोक्ता तु व्यवस्था भविष्यतीति चेत्, तदपि न युक्तं प्राक्प्रत्यङ्मुखत्वनिवारणायैव देवलेन सदैवेति विशेषितत्वात् ।

सदैवोदङ्मुखः प्रातः सायाह्ने दक्षिणामुखः । इति ।

अत्र प्रातःसायाह्नशब्दौ दिवारात्रिविषयौ ।

तथाच मनुः,

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥ इति ।

एवं तर्हि यमोक्तयोः प्राक्प्रत्यङ्मुखत्वयोः का गतिः सूर्याभिमुखत्वनिषेधपरा यमोक्तिरिति ब्रूमः ।

तदुक्तं महाभारते ।

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रतिगां च प्रतिद्विजम् ।

मेहन्ति ये च पथिषु ते भवन्ति गतायुषः ॥

इत्याहुः । अत्र विनैव लक्षणामस्मदुक्तप्रकारेण सर्वेषां वचनानां विरोधपरिहारे सम्भवति लक्षणामाश्रित्य विरोधपरिहरणं न न्याय इतीदमुपेक्षितम् ।

मनुः,

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।

यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥

रात्रौ छायायामन्धकारे वा अहनि छायायां नीहाराद्यन्धकारे वा प्राणबाधायां रोगादिकृतप्राणपीडायां भयेषु चौरव्याघ्रादिभयेषु। कुल्लूकभट्टेन तु प्राणबाधाभयेषु चेति पठित्वा चौरादिकृतप्राणविनाशभयेष्विति व्याख्यातम्। कुर्यात् मूत्रोच्चारसमुत्सर्गमित्यनुषङ्गः। अयं च प्रागुक्तोदङ्मुखत्वादिनियमापवादः। एवं चोदङ्मुखत्वादिनियमो दिवा प्रकाशे रात्रौ च ज्योत्स्नायामवतिष्ठते। अयं चार्थः कल्पतरुसंमतः। रात्रावहनीत्युपादानात्सन्ध्यायामुदङ्मुखत्वनियम एवेति श्रीदत्तादयः। पूर्वार्द्धं दिङ्मोहपरमिति स्मृतिचन्द्रिकाकारमाधवाचार्यकुल्लूकभट्टप्रभृतयः। अत्र मते वाशब्दादन्यावस्थायां दिङ्मोहस्यान्यत्रापि सम्भवात्। इदं च दिङ्मोहपरत्वे प्रमाणादर्शनादुपेक्षितम्। यत्तु सन्ध्यासु परिवर्जयेदिति देवलवचनं तदुपरुद्धेतरविषयं न वेगं धारयेन्नोपरुद्धः क्रियां कुर्यादिति; माधवाचार्यादिधृतवचनात्। वेगं मूत्रपुरीषवेगम् दृष्टार्थोऽपि चायं निषेधः।

मूत्रसन्धारणादन्धो बधिरो मलधारणात्।

इति वैद्यकात्। उपरुद्धः स्थानच्युतमूत्रपुरीषरोधकर्त्ता।

एवम्,

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।

पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥

इति मनुवचने मैत्रं पूर्वाह्ण एव कुर्वीतेति उपरुद्धेतरविषयकतेन न एवकारस्यानुपपत्तिः। एवं च सति उत्सर्गयोग्ये मले स्वस्थानादप्रच्युते मूत्रपुरीषोत्सर्गे पूर्वाह्णो नियम्यते। स्थानच्युतमूत्रपुरीषोत्सर्गस्य तु न वेगं धारयेदित्यादिना सर्वकालकर्त्तव्यतया बोधनात्। पूर्वाह्णपदं चाजहत्स्वार्थलक्षणया प्रत्यूषादिपूर्वाह्णपरं,

मैत्रदन्तधावनादीनां प्रत्यूष एव विधानात्। एवञ्च वाक्यान्तरैकवाक्यतयाऽत्र पूर्वाह्णपदं मैत्रादिषु नियमितपूर्वाह्णान्तर्वर्त्तितत्काळपरम्। तेन न मैत्रदन्तधावनप्रातःस्नानादेः सूर्योदयानन्तरं करणप्रसङ्गः। पूर्वाह्णश्चात्राष्टधाविभक्तस्य दिवसस्याद्यभागः। देवपूजानुरोधात्।

देवकार्यं ततः कृत्वा गुरुमङ्गलवीक्षणम्।

इति दक्षवचनेन तत्र देवपूजाविधानात्।

दिवसस्याद्यभागे तु सर्वमेतत्समापयेत्।

इत्यनेन तदग्रे दक्षेणोपसंहारात्। ततः प्रातर्होमानन्तरम्। अथवा पूर्वाह्णो वै देवानामित्यादिश्रुतिस्वरससिद्धत्रिधाविभक्तस्य दिवसस्याद्यभाग एव पूर्वाह्णः। एवं च देवकार्यं ततः कृत्वेति दक्षवचनेन,

विधाय देवतापूजां प्रातर्होमादनन्तरम्।

इति मरीचिवचनेन च प्रथमेऽर्द्धयामे आह्निकान्तर्गता या देवपूजा विहिता, या च कूर्मपुराणे तर्पणान्तं माध्याह्निकं स्नानमभिधाय

निष्पीडय स्नानवस्त्रं वै समारभ्य च वाग्यतः।
स्वैर्मन्त्रैरर्चयेद्देवान् पत्रैः पुष्पैस्तथाऽम्बुभिः॥

इत्यनेन,

कुर्वीत देवतापूजां जपयज्ञानन्तरम्।

इति हारीतवचनादिना च पञ्चमेऽर्द्धयामे देवपूजा विहिता, या च प्रदोषार्द्धरात्रादौ काळविशेषपुरस्कारेण पूजा विहिता तत्तत्पूजातिरिक्तपूजापरमत्र पूजनपदम्। एवमत्र प्रसाधनपदं उत्सवादिनिमित्तकेतरप्रसाधनपरम्। प्रसाधनं च केशसंस्कारः। स्नानपदं च मध्याह्नादिविहितस्नानादिभिन्नस्नानपरम्। दन्तधावनपदं च भोजनोत्तरविहितेतरदन्तधावनपरम्। अञ्जनपदं च भेषजोत्सवा-

दिनिमित्तकेतराञ्जनपरम्। अञ्जनं च सौवीराञ्जनादि। सौवीराञ्जनं मध्यदेशे सुरमेति प्रसिद्धः पाषाणविशेषः। तेन नैतेषु पूर्वोक्त-नियमानुपपत्तिरिति।

मनुः,

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां नच पर्वते॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।
न ससत्त्वेषु गर्तेषु।

मूत्रमिति पुरीषस्याप्युपलक्षणम्।

न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम्।

इत्युपसंहारात्। गोव्रजे गोष्ठे चित्यां इष्टकादिरचितश्येनचित्यादौ चितायामिति केचित्। न जीर्णदेवायतन इति देवायतनमात्रस्यैव वक्ष्यमाणयमादिस्मृत्या निषेधादत्र जीर्णपदं दृष्टार्थम्। तत्रेष्टकादिपातसम्भवात्। वल्मीके कृमिविशेषकृतमृत्तिकासमूहे ससत्त्वेषु प्राणिमत्सु।

तथा,

न नदीतीरमासाद्य नच पर्वतमस्तके।

नच पर्वते इत्यनेन पर्वतमस्तकनिषेधे सिद्धेऽपि पुनस्तन्निषेधो दोषभूयस्त्वार्थ इति कल्पतरुः। पर्वतनिषेधादेव पर्वतमस्तकनिषेधे सिद्धे पुनस्तन्निषेधः पर्वतस्याभ्यनुज्ञानार्थः। तेन यत्र पर्वतोऽशक्यपरीहारस्तत्र पर्वते न निषेध इति पारिजातकुल्लूकभट्टश्रीदत्तस्मृतिचान्द्रिकाकाराद्यभिप्रायः।

देवलः,

वापीकूपनदीगोष्ठचैत्याम्भःपथिभस्मसु।
अग्नौ काम्ये श्मशाने च विण्मूत्रं न समाचरेत्।

अत्र वाप्यादिपदत्रयं जलरहितवाप्यादिपरं अम्भसः पृथगुपादानात् । चैत्यो ग्रामप्रधानो वृक्षः । चैत्यमायतनं तुल्ये इति कोषाच्चैत्यमावासगृहमिति केचित् । काम्ये कमनीयप्रदेशे उद्यानादौ ।

विष्णुः, नाप्रच्छादितायां भूमौ न फालकृष्टायां न छायायां नोषरे न शाद्वले न ससत्वे गर्त्ते न वल्मीके न रथ्यायां न पराशुचौ नोद्याने नोद्यानोदकसमीपयोर्न भस्मनि नाङ्गारेषु न गोमये न गोव्रजे नाकाशे नोदके ।

पराशुचौ परेण मूत्रपुरीषोत्सर्गादिनाऽशुचिदेशे, आकाशे अट्टालिकादाविति कल्पतरुः ।

यदाकाशः स्मृतो भीमस्तस्मान्नासंवृते क्वचित् ।
कुर्यान्मूत्रं पुरीषं वा न भुञ्जीत पिबेन्नच ॥

इति वायुपुराणवचनस्वरसादाकाशे असंवृतदेशे इति श्रीदत्तादयः ।

वस्तुतस्तु वायुपुराणवचने योगादाकाशपदं प्रकाशपरम् । तथैवार्थसङ्गतेः । तस्य भीमत्वं च श्रीविनाशकत्वेन भयानकत्वम् ।

तथाच माधवाचार्यादिधृतहारीतवचनम्,

आहारं च रहः कुर्यान्निर्हारं चैव सर्वदा ।
गुप्ताभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात् प्रकाशे हीयते श्रिया ॥

युज्यते हि श्रिया गुप्ते इति कल्पतरौ मैथिलनिबन्धेषु च तृतीयचरणपाठः । निर्हारो मूत्रपुरीषोत्सर्गः ।

वशिष्ठोपि,

आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः ।

निर्हारः स्त्रीसम्भोगः, योगः समाधिः । विष्णुवचने च आकाशपदं रूढ्या कूर्मपुराणैकवाक्यतया चान्तरिक्षपरमेव ।

यथा कूर्मपुराणे,

नोद्यानोदसमीपे वा नोषरे न पराशुचौ।
न सोपानत्पादुको वा न छत्री नान्तरिक्षके॥

उपानच्चर्ममयी, पादुका काष्ठमयी।

यमः,

पल्वलानि तडागानि नदीप्रस्रवणानि च।
नगगोमयभस्मानि फालकृष्टानि वर्ज्जयेत्॥
तुषाङ्गारकपालानि देवतायतनानि च।
राजमार्गश्मशानानि क्षेत्राणि च खलानि च॥
उपरुद्धो न सेवेत छायां हृद्यं चतुष्पथम्।
उदकं चोदकान्तं च पन्थानं च विवर्जयेत्॥
वर्जयेत् वृक्षमूलानि चैत्यश्वभ्रबिलानि च।

पल्वलमल्पसरः। तडागं महासरः। प्रस्रवणं वारिप्रवाहः। पल्वलादिपदचतुष्टयं निरुदकतत्प्रदेशग्रहणार्थं अधिकदोषख्यापनार्थं वा उदकस्य पृथगुपादानात्। नगः पर्वतः। कपालं घटाद्येकदेशः शिरोस्थि वा। खलं सस्यमर्दनदेशः। मध्यदेशे खरिहानमिति प्रसिद्धम्। उपरुद्धो मूत्रपुरीषोत्सर्गकारी। छायां पथिकाद्युपजीव्याम्। हृद्यं शोभनम्। पन्थानं वर्जयेदित्यनेनैव राजमार्गचतुष्पथयोर्निषेधे सिद्धे पुनस्तयोरुपादानं दोषाधिक्यज्ञापनार्थमिति कल्पतरुः। दण्डविशेषरूपदृष्टदोषान्तरज्ञापनार्थमिति तु पारिजातश्रीदत्तादयः। हलायुधेन तु समीपलक्षणोक्ता। श्वभ्रं विदीर्णभूभागः। बिलं विवरम्।

हारीतः, न चत्वरोपद्वारयोर्मूत्रपुरीषे कुर्यात् न तीर्थे न सस्यपूर्णे न यज्ञभूमौ न यज्ञियानां वृक्षाणामधस्तात्।

चत्वरं नानाजनावस्थानदेशः। अङ्गणं चत्वराजिरे इति को-

षादङ्गणं वा । काकादिबलिस्थानमित्यपरे । उपद्वारं द्वारसमीपदेशः । तीर्थं पुण्यदेशः । तीर्थं जलावतरणमार्गं इति कल्पतरुः ।

वशिष्ठः, नोप्ते न शाद्वलोपजीव्यच्छायासु ।

उप्ते कृतबीजावापे । शाद्वलः नवतृणैर्हरिद्वर्णो भूभागः । उपजीव्यच्छाया पथिकाद्युपजीव्यच्छाया । मेघच्छाया तु उपजीव्यापि न निषिद्धा अवर्जनीयत्वात् ।

आपस्तम्बः, छायायां मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् स्वां तु छायामवमेहेत् ।

छायायां अनुपदोक्तवशिष्ठवाक्यैकवाक्यतया पथिकाद्युपजीव्यच्छायायाम् । स्वां तु छायामित्यस्य, प्रतीति शेषः । तेन स्वां छायां लक्ष्यीकृत्यावमेहेत मूत्रोत्सर्गं कुर्यादित्यर्थः । उपजीव्यच्छायाया एव निषेधान्नायं प्रतिप्रसवः । प्रातरादावुदङ्मुखत्वादिनियमात्तदाऽन्धकारादौ च यथासुखमुखत्वविधानेऽपि स्वच्छायायामवमेहनस्यासम्भवाच्च स्वच्छायाया नियमविधिः किं तु सति सम्भवे स्वच्छायायामवमेहनस्याभ्यनुज्ञामात्रम् । तेनानुपजीव्यापि परकीयच्छाया निषिध्यते ।

यत्तु विष्णुपुराणे,

आत्मच्छायां तरुच्छायां गोसूर्याग्न्यनिलांस्तथा ।
गुरुं द्विजातींश्च बुधो न मेहेत कदाचन ॥ इति ।

तत्रात्मपदं शरीरपरम् ।

आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।

इति कोशात् । तच्च शरीरं परकीयं स्वशरीरच्छायायामवमेहनस्यापस्तम्बेनाभ्यनुज्ञातत्वात् । गोसूर्येत्यादि अत्र प्रतीत्यध्याहार्यं तेन तदभिमुखो न मेहेदित्यर्थः ।

हारीतः,

रथ्याचत्वरतीर्थेषु श्मशानायतनेषु च ।
अपध्वंसमवाप्नोति आयुषा च वियुज्यते ॥
अपध्वस्तु धिक्कृत इति कोषादपध्वंसं धिक्कारम् ।
बृहन्नारदीये,
पथि गोष्ठे नदीतीरे तडागे कूपसन्निधौ ।
तथाच वृक्षच्छायायां कान्तारे वह्निसन्निधौ ॥
तथा-
ब्राह्मणानां समीपे तु तथा गोगुरुयोषिताम् ।
एवमादिषु देशेषु मलमूत्रं न कारयेत् ॥
मनुः,
न गच्छन्नापिच स्थितः ।
तथा-
वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥
स्थितः ऊर्ध्वः। पश्यन् सम्मुखमुपलभमानः। तेन वायोरचाक्षुषत्वेऽपि न क्षतिः।
शङ्खलिखितौ, नानन्तर्वासा न निर्वासाः कुर्यात् ।
मूत्रपुरीषे इति प्रकरणाल्लब्धम् ।
आपस्तम्बः, न सोपानत्को मूत्रपुरीषे कुर्यात् ।
तथा-अग्निमादित्यमपो ब्राह्मणं गोदेवताश्चाभिमुखो मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ।
मूत्रपुरीषयोः कर्म कुर्यादित्यनुवृत्तौ-
विष्णुः, न प्रत्यनिलानलार्केन्दुस्त्रीगुरुब्राह्मणांश्चैवानवगुण्ठितशिराः,
" लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये " इति ज्ञापकादत्र प्रतिरा-

भिमुख्ये ।

गौतमः, न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रतिपश्यन् वा मूत्रपुरीषामेध्यान्युदस्येत् ।

देवताः देवताधिष्ठानीभूताः प्रतिमादयः । प्रति अभिमुखम् । अमेध्यानि श्लेष्मादीनि ।

यमः,

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षेत गामग्निं ब्राह्मणं तथा ॥
प्रत्यादित्यं प्रत्यनिलं प्रतिगां च प्रतिद्विजम् ।
प्रतिसोमं प्रतिजलं प्रतिसन्ध्ये च निसशः ॥
हन्ति मेहयतः प्रज्ञां प्रतिपन्थानमेवं च ।
मेहयन्ति य एतांश्च ते भवन्ति गतायुषः ॥

न मेहेतेति । अत्र मेहनं पुरीषाद्युत्सर्गस्याप्युपलक्षणम् । पूर्वोदाहृतगौतमवचनैकवाक्यत्वात् । प्रतिसन्ध्ये इति । सन्ध्या चात्र उदयास्तवती दिक् । यद्यपि सन्ध्यायामुदङ्मुखत्वं नियमितं तथापि रागतः प्राप्तं सन्ध्याभिमुखत्वं निषिध्यते । एवं सूर्याभिमुखत्वादिकमपि । एतानादित्यादीन् प्रतीत्यनुषङ्गः । कुर्याद्विण्मूत्रस्य विसर्जनमित्यनुवृत्तौ–

कूर्मपुराणे,

नचैवाभिमुखं स्त्रीणां गुरुब्राह्मणयोर्गवाम् ।
न देवदेवालययोरपामपि कदाचन ॥
न ज्योतींषि निरीक्षन् वा नवाय्वभिमुखोऽथवा ।

शांख्यायनगृह्यम्, नादित्यमभिमुखो न जघनेनेति ।

जघनेनादित्याभिमुखो मूत्रपुरीषोत्सर्गं न कुर्यादित्यधिकाराल्लभ्यते । यद्यपि स्वस्यादित्यसाम्मुख्यनिषेधेनैव जघनसाम्मु-

यनिषेधोऽपि लब्धस्तथापि तिर्यङ्मुखत्वादिना स्वस्यादित्यसाम्मुख्यपरीहारेऽपि प्रसक्तं जघनसाम्मुख्यमत्र प्रतिषिध्यते। द्वाऽत्यन्तं नम्रतया स्वस्यैव प्रसक्तं जघनसाम्मुख्यमनेन निषिध्यते।

जाबालिः,

स्नानं कृत्वाऽऽर्द्रवासास्तु विण्मूत्रं कुरुते यदि।
प्राणायामत्रयं कृत्वा पुनः स्नानेन शुध्यति॥

आपस्तम्बः,

तैलाभ्यक्तस्तथा वान्तः श्मश्रुकर्मणि मैथुने।
मूत्रोच्चारं यदा कुर्यादहोरात्रेण शुध्यति॥

तथा वान्त इत्यत्र अनाचान्त इति श्मश्रुकर्मणीत्यत्र क्षुरकर्मणीति भवदेवनिबन्धे पाठो दृश्यते। अत्र तैलाभ्यक्तस्य वान्तस्य श्मश्रुकर्ममैथुनमूत्रपुरीषोत्सर्गा निषिद्धाः। कूर्मपुराणैकवाक्यत्वात्।

तथा कूर्मपुराणम्,

तैलाभ्यक्तोऽथवा कुर्याद्यदि मूत्रपुरीषके।
अहोरात्रेण शुध्येत श्मश्रुकर्म च मैथुनम्॥

श्मश्रुकर्म मैथुनं च यदि कुर्यादित्यन्वयः। एवं चण्डालादिस्पर्शवतोऽपि निषेधः प्रागुक्तः। अयं च निषेधस्तैलाभ्यङ्गादिजनिताशौचपर्यन्तम्।

स्मृतिचन्द्रिकायां आपस्तम्बः,

नोर्ध्वं नाधो न तिर्यक् च किञ्चिद्वीक्षेत बुद्धिमान्।
नभोभूम्यन्तरं पश्यन् कुर्यान्मूत्रपुरीषकम्॥

अत्र शिरोवेष्टनाद्यष्टसु क्रममाह तत्रैव आपस्तम्बः,

यथा शिरःपरिवेष्टनं प्रथमं निवीतं द्वितीयं दिशोऽवलोकनं तृतीयमन्तर्द्धानं चतुर्थं मौनं पञ्चमं पुरीषं षष्ठं मृत्तिकाग्रहणं सप्तममष्टकमष्टममिति।

दिशोऽवलोकनं उदङ्मुखत्वादिभवनम् । अन्तर्द्धानं तृणादिना भूमेः । मृत्तिकाग्रहणोदके वक्ष्येते ।

विष्णुपुराणे,

तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र नच किञ्चिदुदीरयेत् ।

तत्र प्रक्रान्तमूत्रपुरीषोत्सर्गस्थाने ।

मूत्रपुरीषाधिकारे शङ्खः, नानुदको नामृत्को नापरिवेष्टितशिराः ।

अनुदकः असन्निहितोदकः ।

करस्थोदकपात्रस्तु कुर्यान्मूत्रपुरीषके ।
तज्जलं मूत्रसदृशं सुरापानेन तत्समम् ॥
गृहीत्वा जलपात्रं तु विण्मूत्रं कुरुते यदि ।
तज्जलं मूत्रसदृशं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ।

इति शिष्टपरिगृहीतवचनाभ्यां मूत्रपुरीषकर्तुर्गृहीतजलपात्रस्थजलस्य मूत्रतुल्यत्वाभिधानात्पूर्वोदाहृतदक्षिणबाहुपार्श्वे कमण्डलुमाधायोत्सृजेदिति हारीतवाक्यस्यपार्श्वपदं समीपवर्त्तिभूभागपरम् । इदं तु जलपात्रधारणं सति जलपात्रे असति तु तस्मिन् शौचप्रकारः शौचप्रकरणे वक्ष्यते ।

यत्तु मूत्रपुरीषे कुर्वन् दक्षिणहस्ते गृह्णाति सव्य आचमनमिति कमण्डल्वधिकारपठितं बौधायनवचनं तच्छौचकालाभिप्रायम् । कुर्वन्निति शतृप्रत्ययस्तु स्थूलकालमादाय अथवा पात्रधारणयोग्यदेशासम्भवपरं बौधायनवचनम् । अत्राचमनं कुर्वन्निसनुषङ्गः । क्वचिदाचमनीयमिति पाठः । तत्राचमनीयमाचमनविधिं कुर्वन्नित्यर्थः । मैथिलास्तु बौधायनवचनमनुरुन्धाना दक्षिणकरधृतकमण्डलुर्मूत्रपुरीषे कुर्यादिति निबन्धेषु लिखितवन्तः । तन्मते रत्नाकरा-

दिधृतम्—

करे गृहीतपात्रस्तु कृत्वा मूत्रपुरीषके ।

तज्जलं मूत्रसदृशं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति वृद्धमनुवचनं तज्जलस्य मूत्रपुरीषनिमित्तकशौचातिरिक्तकर्मानर्हत्वपरमिति पर्यवस्यति । बौधायनेन मूत्रपुरीषोत्सर्गे तस्य विधानात् । हारीतवचनमपि बौधायनवचनाविरोधेन व्याख्येयम् । नामृत्कः, मृद्धात्रीं ग्रीवायामासज्येत्युदाहृतहारीतवचनैकवाक्यतया ग्रीवादेशधृतमृत्पात्रीकः । तदसम्भवेऽन्यत्रापि मृत्तिकां धारयन्ति पठन्ति च,

दक्षिणबाहुपार्श्वे कमण्डलुं निधाय सव्ये मृदं चोत्सृजेदिति ।

मृदं निधायेत्यनुषङ्गः । उत्सृजेत्, मूत्रपुरीषे इति शेषः । कच्छमोचनं विना मूत्राद्युत्सर्गे शिष्टा विगायन्ति पठन्ति च,

बद्धकच्छस्तु यो विप्रो मेहनं कुरुते यदि ।

वामभागे पितॄणां च दक्षिणे देवतामुखे ॥ इति ।

## अथ मूत्रपुरीषोत्सर्गानन्तरकालीनं कर्म ।

तत्र हारीतः, लोष्टेन प्रमृजीत शुष्ककाष्ठेन वा ।

लिङ्गगुदे इति शेषः । लोष्टेनेति शुष्ककाष्ठाद्यभावे । न पर्णलोष्ठाश्मभिर्मूत्रपुरीषापकर्षणं कुर्यादिति गौतमेन निषेधात् ।

पारस्करः, स्वयंप्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत ।

गुदमिति लिङ्गस्याप्युपलक्षणम् । कल्पतरुरत्नाकरादौ तु स्वयंप्रशीर्णेन काष्ठेन वा प्रमृजीतेति पाठः । तत्र स्वयम्प्रशीर्णेन पर्णादिनेत्यर्थः । गुदलिङ्गमिति शेषः । एवं च गौतमवचने पर्णपदं स्वयम्प्रशीर्णपर्णातिरिक्तपर्णपरम् ।

व्यासः,

नाश्ममूलफलाङ्गारैरुन्मृज्याच्चापि बर्हिषा ।

नार्द्रैस्तृणलतापत्रैर्नार्द्रगोमयभस्मना ॥

नापीत्यत्र नास्थीत्यपि क्वचित्पाठः ।

आपस्तम्बः, अश्मानं लोष्टमार्द्रानोषधिवनस्पतीनूर्ध्वाना-च्छिद्य मूत्रपुरीषयोः शुन्धनं वर्जयेत् ।

अश्मानं लोष्टमित्याच्छिद्येत्यस्य कर्म । क्वचित्तु अश्मना लो-ष्टेनेति पाठः ।

भरद्वाजः,

अथापकृष्य विण्मूत्रं लोष्टकाष्ठतृणादिना ।

उदस्तवासा उत्तिष्ठेत् दृढं विधृतमेहनः ॥

उदस्तवासाः कटिदेशादूर्ध्वधृतवस्त्रः । तृणादौ विशेषः स्मृ-तिचन्द्रिकाऽपरार्कधृतवाक्ये,

मार्जनं वामहस्तेन वीरणाद्यैरयज्ञिकैः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषाणामेवमायुर्न हीयते ॥ इति ।

देवलः,

आ शौचान्नोत्सृजेच्छिश्नं प्रस्रावोच्चारयोः स्वयम् ।

आशौचादित्याङ् मर्यादायाम् ।

## अथ शौचम् ।

तस्यावश्यकत्वमाह दक्षः,

शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः ।

शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

अशौचात्तु वरं बाह्यं तस्मादाभ्यन्तरं वरम् ।

उभाभ्यां तु शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचिः ॥

सदा कार्य इत्यनेन शौचस्य पुरुषार्थता शौचाचारेत्यादिना

च कर्मार्थता उक्ता । भावशुद्धिरन्तःकरणशुद्धिः ।

मृत्तिकानां सहस्रेण उदकुम्भशतेन च ।
न शुध्यन्ति दुरात्मानो येषां भावो न निर्मलः ॥
मुधाद्रव्येण शुद्धिः स्यान्न क्लेशो न धनव्ययः ।
यस्य शौचेऽपि शैथिल्यं वृत्तं तस्य परीक्षितम् ॥

मुधाद्रव्येण धनव्ययं विनापि सुलभेन द्रव्येण ।

बृहन्नारदीयेऽपि,

मृदां भारसहस्रैस्तु कोटिकुम्भजलैस्तथा ।
कृतशौचोऽपि दुष्टात्मा स चाण्डाल इति स्मृतः ॥
अन्तःशुद्धिविहीनश्च बहिःशुद्धिं करोति यः ।
अलं धौतं सुराभाण्डमिव भाति द्विजोत्तमः ॥

दुष्टात्मा दुष्टान्तःकरणः । तत्र बाह्यशौचकरणप्रकारे

याज्ञवल्क्यबौधायनौ,

गृहीतशिश्नश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ।

शिश्नग्रहणम् ऊर्वादौ मूत्रस्पर्शनिवृत्तिरूपदृष्टार्थम् । उत्थायेति शौचार्थं स्थलान्तरगमनाय उत्थाय शौचकरणासम्भवात् । तेन स्थलान्तरे गत्वोपविश्य शौचं कुर्यादिति सूचितं भवति ।

व्यासनाम्ना पठन्ति च,

उत्थायोद्धृतमृत्तोयैर्लिङ्गपायुकरान् क्रमात् ।
शोधयेदात्मनः शुद्धेस्तदन्यत्रोपविश्य च ॥

उद्धृतैरित्यम्भःसु शौचनिषेधार्थम् । तदाह

पैठीनसिः,

मूत्रोच्चारे कृते शौचं न स्यादन्तर्जलाशये ।
अन्यत्रोद्धृत्य कुर्यात्तु सर्वदैव समाहितः ॥

स्मृतिचन्द्रिकामाधवीयादौ दक्षोऽपि,

तीर्थे शौचं न कुर्वीत कुर्वीतोद्धृतवारिणा । इति ।

तीर्थे जले । यद्यपि

निदानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ ।

इति कोषात्तीर्थशब्दस्य जलविशेषवाचकत्वं तथाप्यत्र पैठीनस्येकवाक्यतया जलमात्रवाचकत्वम् । यदा तु जलाशयात्पात्रेण जलोद्धरणं न सम्भवति तदा हस्तेनाप्युद्धृत्य यथा शौचं कर्त्तव्यम् । तदाह

आदित्यपुराणम्,

रत्निमात्रं जलं त्यक्त्वा कुर्याच्छौचमनुद्धृते ।

पश्चात्तच्छोधयेत्तीर्थमन्यथा ह्यशुचिर्भवेत् ॥

जलं जलाशयस्थं तस्माद्रत्निमात्रं स्थलं सन्त्यजेदित्यर्थः । अनुद्धृते पात्रेण जलोद्धरणासम्भवे सतीत्यर्थः ।

यस्मिन् स्थाने कृतं शौचं वारिणा तत्तु शोधयेत् ।

इति ऋष्यशृङ्गवचनमप्येतत्परमेव । "गन्धलेपक्षयकरमिति"। गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं क्षालनम् अतन्द्रितोऽनलसः सन् कुर्यादित्यर्थः । अतन्द्रित इत्यनेन मन्वाद्युक्तसंख्यानियमः सूचितः । तेन गन्धलेपक्षयः संख्यानियमश्चेति द्वयमपि शुद्ध्यर्थमावश्यकम् । तत्र गन्धलेपक्षयस्य शुद्धिहेतुत्वमाह

मनुः,

यावन्नापैत्यमेध्याक्तात् गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।

तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥

पैठीनसिश्च,

मृत्तिका सङ्ख्यया एका लिङ्गे अपाने पञ्च एकस्मिन् हस्ते दश उभयोः सप्त मृत्तिकाः ।

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं च वनस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम् ॥
गन्धलेपक्षयाद्वा प्रक्षाल्याचम्य प्रयतो भवति ।

एकस्मिन् वामे। गन्धलेपक्षयाद्वेति वाकारः प्रागुक्तसंख्यासमुच्चये । असति विरोधे अदृष्टार्थानां विकल्पाभावात् । अत एव

लिङ्गे मृदेका दातव्या तिस्रो वामे द्वयोर्द्वयम् ।
अपाने पञ्च वामे तु दश सप्त तथोभयोः ॥
तिस्रस्तिस्रः प्रदातव्याः पादयोर्मृत्तिकाः पृथक् ।
एवं शौचं प्रकुर्वीत गन्धलेपापनुत्तये ॥
एतच्छौचं गृहस्थस्य द्विगुणं ब्रह्मचारिणः ।
त्रिगुणं तु वनस्थस्य यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥
स्वग्रामे पूर्णमाचारं पथ्यर्धं मुनिसत्तम ।
आतुरे नियमो नास्ति महापदि तथैवच ॥
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
स्त्रीणामनुपनीतानां गन्धलेपक्षयावधि ॥
व्रतस्थानां तु सर्वेषां यतिवच्छौचमिष्यते ।
विधवानां च विप्रेन्द्रा एवं शौचं प्रकीर्तितम् ॥

इति बृहन्नारदीयवाक्येन संख्यानियमगन्धलेपक्षययोर्द्वयोरप्यावश्यकत्वं प्रतीयते । वामे हस्ते । द्वयोर्हस्तयोः । एतावत्पर्यन्तं मूत्रशौचम् । पुरीषशौचमाह—अपान इत्यादिना । संख्यानियमस्य शुद्धिहेतुत्वमाह

मनुः,
विण्मूत्रोत्सर्गसिद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
अर्थवत् गन्धलेपक्षयरूपप्रयोजनसाधनम् ।
तथा,

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥

एकत्र वामे। क्वचित्तु वामकरे इति पाठ एव। उभयोः करयोः।

विष्णुपुराणेऽपि,

एका लिङ्गे गुदे तिस्रो दश वामकरे नृप।
हस्तद्वये च सप्तान्या मृदः शौचोपपादिकाः॥

अत्र शौचं शुद्धिः। एवं च गृहीतशिश्न इति याज्ञवल्क्यश्लोकव्याख्यायाम् "अत्र गन्धलेपयोः क्षयकरमिति सर्वाश्रमिणां साधारणमिदं शौचं मृत्सङ्ख्यानियमस्त्वदृष्टार्थ" इति मिताक्षरायां यदुक्तं तत्रादृष्टपदं शुद्धिपरतया व्याख्येयम्। अत एव पैठीनसिवाक्यात् गन्धलेपक्षयादेव शुद्धिः सङ्ख्यानियमस्त्वदृष्टार्थ इति केषाञ्चिद्व्यवस्थाऽनादेया। मन्वादिवाक्यादुभयोरेव शुद्धिहेतुत्वावगमात्। यत्तु

यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते।
प्रमाणं शौचसङ्ख्याया न शिष्टैरुपदिश्यते॥

इति देवलवचनम्। अत्र साध्विति गन्धलेपक्षयो जात इति, शौचं मृज्जलक्षालनरूपं, प्रमाणमियत्ता तत् अनुपनीतद्विजातिपरम्।

तथाच ब्रह्मपुराणम्,

न यावदुपनीयेत द्विजः शूद्रस्तथाङ्गना।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं तेषां विधीयते॥
प्रमाणं शौचसंख्या वा न शिष्टैरुपदिश्यते।
यावच्च शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत्॥

प्रमाणं मृत्प्रमाणम्।

पितामहोऽपि,

न यावदुपनीयन्ते द्विजाः शूद्रास्तथाङ्गनाः।
गन्धलेपक्षयकरं शौचमेषां विधीयते॥

अत्र स्त्रीशूद्रपदमजातोद्वाहाभिप्रायं अनुपनीतद्विजसाहचर्यात् इति माधवाचार्याः।

स्त्रीशूद्रयोरर्द्धमानं शौचं प्रोक्तं मनीषिभिः।
दिवाशौचस्य निश्यर्द्धं पथि पादो विधीयते॥
आर्त्तः कुर्याद्यथाशक्ति स्वस्थः कुर्याद्यथोदितम्।

इत्यपरार्कधृतब्रह्माण्डपुराणेन स्त्रीशूद्रयोः संख्याविशेषाभिधानादप्ययमर्थः सिध्यति। माधवीयमदनरत्नप्रदीपादिषु तु स्त्रीशूद्रयोरर्द्धमानमित्यादिवचनानि आदित्यपुराणीयत्वेन लिखितानि। पूर्वोदाहृत— स्त्रीणामनुपनीतानां गन्धलेपक्षयावधीति बृहन्नारदीयवचनादपि स्त्रीणामनुपनीतानां च मृत्संख्यानियमाभावः प्रतीयते। आश्रमिणामेव मृत्संख्याविधानादनाश्रमिविषयं उदकविषयं वा देवलवचनम्। अत एव

दातव्यमुदकं तावद्यावत्स्यान्मृत्तिकाक्षयः।

इति दक्षेणाप्युक्तमिति वर्द्धमानश्रीदत्तपारिजातवाचस्पतिमिश्रादयः।

कल्पतरुकृतस्तु यावत्साध्विति मन्येतेति देवलवचनानुसारान्मनूक्तमृत्सङ्ख्याधिकोत्तरमृत्सङ्ख्यानां गन्धलेपानुवृत्तिशङ्कया व्यवस्थेत्याहुः। तेषामयमाशयः देवलवचनस्थं प्रमाणपदं एका लिङ्गे इत्यादि मन्वाद्युक्तेयत्तापरं सा च नोपदिश्यते न नियम्यते मुन्यन्तरेण गन्धलेपशङ्कायामधिकसङ्ख्याया उक्तत्वात्। अत एव तत्रैव देवलेन यावत्साध्विति मन्येतेत्युक्तमिति। क्वचित्तु प्रमाणं द्रव्यसङ्ख्या चेति देवलवचने पाठः। तत्र प्रमाणं मृत्तिकापरिमाणं, द्रव्यसङ्ख्या मृत्तिकासङ्ख्या।

ब्रह्माण्डपुराणे,

उद्धृतोदकमादाय मृत्तिकां चैव वाग्यतः ।

उदङ्मुखो दिवा कुर्याद्रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥

प्रकरणाच्छौचमिति लभ्यते ।

तथा,

सुनिर्णिक्ते मृदं दद्यान्मृदन्ते त्वप एवच ।

सुनिर्णिक्ते जलेन सुप्रक्षालिते ।

तथाच गौतमः, गन्धलेपापकर्षणे शौचममेध्यस्य तदाद्भिः पूर्वं मृदा चेति ।

अमेध्यस्य गन्धलेपापकर्षणे सति शौचं तत्र गन्धलेपापकर्षणं पूर्वमद्भिः । अर्थादनन्तरं मृदा चकारात्तदन्ते जलेनापि ।

स्मृतिचन्द्रिकायां तु,

आद्यन्तयोस्तु शौचानामद्भिः प्रक्षालनं स्मृतम् ।

इति सुनिर्णिक्त इत्यस्य पूर्वार्द्धं पठितं तेनायमर्थः स्पष्ट एव । एवं च सुनिर्णिक्तपदं काष्ठादिप्रोञ्छितगुदाद्यनुवादकमिति हलायुधव्याख्यानमनादेयं व्यर्थत्वाच्च ।

आनुशासनिके,

शौचं कुर्याच्छनैर्धीरो बुद्धिपूर्वमसङ्करम् ।

विप्लुषश्च यथा न स्युर्यथा चोरू न संस्पृशेत् ॥

शौचयोग्यां मृत्तिकामाह यमः,

आहरेन्मृत्तिकां विप्रः कूलात्ससिकतां तथा ।

विप्र इति शौचकर्तृमात्रोपलक्षणं, कूलादिति शुचिदेशोपलक्षणम् ।

तथाच शातातपः,

शुचिदेशात्तु सङ्ग्राह्या मृत्तिकाऽश्मादिवर्जिता ।

बृहन्नारदीयेऽपि,

अनुच्छिष्टप्रदेशात्तु शौचार्थं मृत्तिकां हरेत् ।

दक्षोऽपि,

शुचौ देशे मृदो ग्राह्या यावदर्थप्रमाणतः ।

यावदर्थप्रमाणतः यावत्प्रयोजनपरिमाणाः ।

वर्णभेदेन विशेषमाह मरीचिः,

विप्रे शुक्ला तु मृच्छौचे रक्ता क्षत्रे विधीयते ।

हारिद्रवर्णा वैश्ये तु शूद्रे कृष्णेति निर्दिशेत् ॥

अत्र—

वैश्यस्य हरिता प्रोक्ता कृष्णा स्त्रीशूद्रयोस्तथा ।

इति काश्यपीये विशेषः । उक्तविशेषासम्भवे

यस्मिन्देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ।

सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकाकारमाधवाचार्यादिबहुनिबन्धधृतमनुवाक्याद्व्यवस्था ।

असम्भवे मृत्तिकाया वालुका द्विगुणा मता ।

इति पठन्ति । वर्ज्या मृत्तिका विष्णुपुराणे उक्ताः ।

वल्मीकमूषिकोत्खातां मृदमन्तर्ज्जलात्तथा ।

शौचावशिष्टां गेहाच्च नादद्याल्लेपसम्भवाम् ॥

अन्तःप्राण्यवपन्नां च हलोत्खातां च पार्थिव ।

परित्यजेन्मृदश्चैताः सकलाः शौचसाधने ॥

अन्तर्जलात् जलमध्यात् । इदं च वाप्यादिक्रियमाणशौचातिरिक्तशौचपरम् । तत्र जलान्तर्गतमृद्ग्रहणस्यैव विधानात् ।

यथा स्मृतिचन्द्रिकायां पराशरः,माधवीये स्मृतिमञ्जूषायां च यमः,

वापीकूपतडागेषु नाहरेद्बाह्यतो मृदम् ।
आहरेज्जलमध्यात्तु परतो मणिबन्धनात् ॥

वापी दीर्घिका बद्धसोपानः कूपश्च । बाह्यतो जलाद्बाह्यतः । मणिबन्धः पाणिप्रकोष्ठयोः सन्धिः तस्मात्परतस्तदधिकप्रमाणात् जलमध्यादित्यर्थः । अथवा अन्यत्र क्रियमाणशौचेनापि यदा वापीकूपतडागस्था मृदो गृह्यन्ते तदा मणिबन्धाधिकपरिमाणकजलमध्याद्ग्राह्याः । तेन तद्भिन्नजलमध्यवर्त्तिमृत्तिका निषिद्धेति पर्यवस्यति । गहात् गृहभित्यादितः, लेपसम्भवां चत्वरादिलेपसम्भवां, अन्तःप्राण्यवपन्नां अन्तर्मध्ये प्राणिभिरवपन्नां संबद्धां, शौचसाधने शुद्धिजनने ।

यमः,

नाखूत्कृष्टाद् न वल्मीकात्पांसुलान्नच कर्दमात् ।
न मार्गान्नोखराच्चैव शौचाशिष्टाः परस्य च ॥
एतास्तु वर्जयेद्विद्वान् वृथाशौचं हि तन्मतम् ।

आखुः मूषिकः ।

देवलोऽपि,

अङ्गारतुषकीटास्थिशर्कराशकलान्विताम् ।
वल्मीकोखरतोयान्तकुड्योत्खातश्मशानजाम् ॥
आहृतामन्यशौचार्थमाददीत न मृत्तिकाम् ।

शौचमृत्तिकानिषेधप्रकरणे कूर्मपुराणम्,

न देवायतनात् कूपादिति ।

मृत्तिकाग्रहणं च मूत्रपुरीषोत्सर्गात्पूर्वमेव कार्यम् । नानुदको नामृत्क इत्यादिपूर्वलिखितशङ्खलिखितवाक्यस्वरसात् ।

पठन्ति च,

उद्धृत्य मृज्जलं कुर्यात्मोत्सारं मेहनं द्विजः ।

द्वाभ्यां मूत्रपुरीषाभ्यामादौ गृह्णीत मृत्तिकाम् ॥
पश्चादुगृहीता सा येन सवासा जलमाविशेत् ।

मृत्तिकाग्रहणप्रकारप्रतिपादकान्यपि कानि चिद्वचनानि पठन्ति,

विना लोहं विना काष्ठं मृत्तिका येन चोद्धृता ।
विष्ठानुलेपनं तस्य पुनः शौचेन शुध्यति ॥
अष्टाङ्गुलं खनित्वा वा द्वादशाङ्गुलमेव वा ।
तदधो मृत्तिका ग्राह्या सर्वत्रैव विचक्षणैः ॥

मृत्सङ्ख्यायां दक्षः,

स्थाप्य देशे शुचौ दद्याद्वामदक्षिणपाणिना ।
एका लिङ्गे तु सव्ये त्रिरुभयोर्मृद्द्वयं स्मृतम् ॥
तिस्रोऽपाने दशैकस्मिन्नुभयोः सप्त मृत्तिकाः ।
गृहस्थशौचमाख्यातं त्रिष्वन्येषु यथाक्रमम् ॥
द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्थस्य चतुर्गुणम् ।

स्थाप्य स्थापयित्वा । ल्यबार्षः । दद्यात्, मृदमिति शेषः । वामदक्षिणपाणिना वामपाणिना दक्षिणपाणिना चेत्यर्थः । अत्र व्यवस्थामाह देवलः,

धर्मविद्दक्षिणं हस्तमधःशौचे न योजयेत् ।
तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥
प्रकृतिस्थितिरेषा स्यात्कारणादुभयक्रिया ।

कारणाद्रोगादेः । उभयक्रिया वामेनाप्यूर्ध्वकायशोधनं दक्षिणेनाप्यधःकायशोधनमित्यर्थः । एकेत्यादौ मृत्तिका प्रकरणाल्लभ्यते । सव्ये उभयोरिति च हस्ताभिप्रायेणेति कल्पतरुः । क्वचित्तु उभयोर्हस्तयोर्द्वयमिति पाठः । एकेत्याद्यर्द्धश्लोको मूत्रशौचाभिप्रायकः । तिस्र इत्यादिना पुरीषशौचस्य कथनात् । स्पष्टमाह

शातातपः,

एका लिङ्गे करे सव्ये तिस्रो द्वे हस्तयोर्द्वयोः ।
मूत्रशौचं समाख्यातं शुक्रे तु द्विगुणं स्मृतम् ॥

अत्र शुक्रशौचे यन्मूत्रशौचाद् द्वैगुण्यमुक्तं तल्लेपानुवृत्तौ। बौधायनेन मूत्रे मृदाऽद्भिः प्रक्षालनं त्रिः पाणेर्मूत्रवद्रेतसः समुत्सर्गे इत्यनेन मूत्ररेतसोः शौचसाम्याभिधानात् । अत्र मूत्रे मृदाद्भिरित्यादि शातातपाद्युक्तमूत्रशौचोपलक्षणम् । यत्र तु मूत्रपुरीषयोः समुच्चयस्तत्राधिकसङ्ख्याकपुरीषोत्सर्गविहितहस्तादिशौचे कृते न्यूनसङ्ख्याकस्य मूत्रोत्सर्गविहितस्य हस्तादिशौचस्य प्रसङ्गेन सिद्धिरिति न पृथक् तदनुष्ठानम् । अत एव समुच्चिततदुभयशौचं वदता मनुना एका लिङ्गेत्यादिवचने शोध्यभेदाभिप्रायेण मूत्रशौचान्तःपातिलिङ्गशौचमात्रमुक्तमिति । पुरीषशौचमाह तिस्र इति। एकस्मिन् वामकरे, उभयोः हस्तयोः। अत्र यद्यपि प्रागुक्तमन्वादिवाक्येषु पादशौचं नोक्तं तथापि वक्ष्यमाणमुन्यन्तरवचनानुसारात्तदप्यत्र समुच्चेयम् ।

हस्तपादयोः प्रक्षालने विशेषमाह मरीचिः,

तिसृभिश्चातलात्पादौ शोध्यौ गुल्फात्तथैव च ।
हस्तौ त्वामणिबन्धाच्च लेपगन्धापकर्षणात् ॥

अन्येषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतिषु। एका लिंगे गुदे तिस्र इत्याद्युक्त्वा मनुर्विष्णुपुराणं च,

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥

इदञ्च द्वैगुण्यादिकं संख्यामात्रे तदन्तरमेव सर्वैर्मुनिभिराभिधानात् । ननु संख्यायामाधिक्यमन्यत्र दृश्यते

यथा यमः,

शिश्ने त्वेका गुदे तिस्रो वामे पाणौ चतुर्दश।
ततः पुनरुभाभ्यां च दातव्याः सप्त मृत्तिकाः॥
शौचमेतद्गृहस्थस्य द्विगुणं ब्रह्मचारिणः।
त्रिगुणं तु वनस्थस्य भिक्षोरेतच्चतुर्गुणम्॥

शाङ्खः,

मेहने मृत्तिकाः सप्त लिङ्गे द्वे परिकीर्त्तिते।
एकस्मिन् विंशतिर्हस्ते द्वयोर्देयाश्चतुर्दश॥

मेहनं अपानम्।

तथा,

तिस्रस्तु मृत्तिका देयाः कृत्वा तु नखशोधनम्।

अत्र हस्तस्य प्रकृतत्वाद्धस्तयोरिति ज्ञेयम्। यत्तु स्मृतिचन्द्रिकामाधवीयमदनरत्नादिधृतेन

षडन्या नखशुद्धौ तु देयाः शौचेप्सुना मृदः।

इति दक्षवचनेन नखशुद्ध्यनन्तरं षण्मृत्तिकादानमुक्तं तत् लेपाधिक्ये। नखशोधनं तु तृणादिना मृत्तिकापसारणेन।

तथा,

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शौचकामस्य नित्यशः।
शौचमेतद्गृहस्थानां तथा गुरुनिवासिनाम्॥
द्विगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां त्रिगुणं भवेत्।

गुरुनिवासिनां ब्रह्मचारिणाम्। पैठीनसिवाक्यं च मृत्तिकां संगृह्येत्यादि अधिकसंख्याप्रतिपादकं प्रागुदाहृतम्।

हारीतः,

एकामुपक्रम्य एका लिङ्गे तिस्रो मृदोऽपाने दद्यात् नवाद्योदोषात् पाणिं प्रक्षाल्य दश सव्ये षट् पृष्ठे सप्तोभाभ्यां द्विगुणं ब्रह्मचारिणां त्रिगुणं वानप्रस्थानां चतुर्गुणं भिक्षूणाम्।

एकान्तं विजनम्। उत्क्रम्य मूत्रपुरीषोत्सर्गस्थानादुत्थाय गत्वा अर्शोदोषादर्शोरोगात् पृष्ठे सन्निहितत्वात्सव्यस्य पृष्ठे एतच्छौचं ब्रह्मचार्याद्यतिरिक्तस्य ब्रह्मचार्य्यादीनां द्वैगुण्यादिविधानात्। तेन विधुरस्यापीदं शौचं सिध्यति।

ब्रह्मपुराणे,

द्वे लिङ्गे मृत्तिके देये गुदे सप्त यथाक्रमम्।
द्वात्रिंशद्वामहस्ते च तथा देयास्तु मृत्तिकाः॥
द्वयोस्तु षोडशान्यास्तु पुनस्सप्त च सर्वदा।
पादयोर्द्वे गृहीत्वा च सुप्रक्षालितपाणिना॥
द्विराचम्य ततः शुद्धः स्मृत्वा विष्णुं सनातनम्।

पुनः सप्त चेति नखशोधनादनन्तरमिति श्रीदत्तादयः। पादयोर्द्वे एकैकस्मिन्नेकैकेत्यर्थः। एवं मूत्रशौचेपि स्मृतिचन्द्रिकादिधृतविवस्वद्वाक्यादधिकसङ्ख्या प्रतीयते

यथा,

तिस्रो मृदो लिङ्गशौचे ग्राह्याः सान्तरमृत्तिकाः।
वामपाणौ मृदः पञ्च तिस्रः पाण्योर्द्वयोरपि॥

सान्तरा जलेन व्यवहिताः। इति चेत्, सत्यम्। एता अधिकाधिकसङ्ख्या बहुसम्बादिमनूक्तसङ्ख्यानुष्ठाने कृतेपि अधिकाधिकगन्धलेपानुवृत्तौ व्यवस्थितविकल्पेन बोद्धव्याः। किन्तु पादशौचं वामपाणिपृष्ठशौचं नखशोधनानन्तरशौचं च मनूक्तशौचानुष्ठानेपि कर्त्तव्यं दृष्टार्थत्वादविरोधाच्च। तत्र पादशौचे प्रत्येकं तिस्रः, पुरीषशौचे प्रत्येकमेकैका, मूत्रशौचे औचित्यादिति बहवः। उभयत्र शौचे प्रतिपादमेकैका तिस्र इति तु लेपशङ्कायामिति श्रीदत्तादयः। एतेष्वपि कल्पेषु सङ्ख्यानियमः शुद्ध्यर्थ एव अदृष्टार्थकत्वकल्पने गौरवात्। यत्तु मेहने मृत्तिकाः सप्तेत्यादि प्रागुदाहृतं

शङ्खवचनं मनूक्तसङ्ख्यातो द्विगुणसंख्याभिधायकतया ब्रह्मचारि-परतयाऽपरार्केण व्याख्यातं तत् शौचमेतद्गृहस्थानामिति तदुत्तरशङ्खवचनादर्शनेन ।

अत्र मृत्तिकापरिमाणे दक्षः,

अर्द्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका स्मृता ।
द्वितीया च तृतीया च तदर्द्धार्द्धा प्रकीर्त्तिता ॥
लिङ्गेऽप्यत्र समाख्याता त्रिपर्व्वी पूर्यते यया ।
दातव्यमुदकं तावद्यावत्स्यान्मृत्तिकाक्षयः ॥

तदर्धार्द्धेति द्वितीयार्द्धप्रसृत्यर्द्धा तृतीया तदर्द्धेत्यर्थः । अयं च पाठः कल्पतरुप्रभृतिषु दृश्यते । बहुनिबन्धेषु तु तदर्द्धा परिकीर्त्तितेति पाठो दृश्यते तत्र च द्वितीया तृतीया च प्रत्येकं प्रसृतिचतुर्थांशमितैवेत्यर्थः । यत्तु

स्मृतिचन्द्रिकामाधवीयादौ,

प्रथमा प्रसृतिर्ज्ञेया द्वितीया तु तदर्द्धिका ।
तृतीया मृत्तिका ज्ञेया त्रिभागकरपूरणी ॥

इत्यङ्गिरोवचनं तत् लेपाधिक्यविषयम् । गुदे पञ्चमृत्तिकादाने तु मृत्परिमाणमाह स्मृतिचन्द्रिकादौ

वृद्धवसिष्ठः,

अर्द्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका भवेत् ।
पूर्वपूर्वार्द्धमात्रास्तु चतस्रोऽन्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

लिङ्गेपीति अपिना हस्तादिपरिग्रहः । क्वचित्तु मृदोऽन्यत्रेति पाठः ।

शङ्खोऽपि,

मृत्तिका तु समुद्दिष्टा त्रिपर्वी पूर्यते यया । इति ।

यत्तु

आर्द्रामलकमात्रास्तु ग्रासा इन्दुव्रते स्मृताः ।
तथैवाहुतयः सर्वाः शौचार्थे याश्च मृत्तिकाः ॥

इति शातातपवचनं, यदपि

आर्द्रामलकमानेन कुर्याद्धोमहविर्बलीन् ।
प्राणाहुतिबलिं चैव मृदं गात्रविशोधनीम् ॥

इति व्यासवचनं तदत्यन्तलेपशङ्कादिशून्यपादाद्यभिप्रायम् ।

दक्षः,

अन्यदेव दिवाशौचमन्यद्रात्रौ विधीयते ।
अन्यदापत्सु विप्राणामन्यदेव त्वनापदि ॥
यथोक्तं तु दिवाशौचमर्द्धं रात्रौ विधीयते ।
आतुरस्य तदर्द्धं स्यात्तदर्द्धं तु पथि स्मृतम् ॥
न्यूनाधिकं न कर्त्तव्यं शौचशुद्धिमभीप्सता ।
प्रायश्चित्तेन युज्येत विहितातिक्रमे कृते ॥

विप्राणामित्युपलक्षणं अन्यदेव कथयति यथोक्तमित्यादिना पथि स्मृतमित्यन्तेन। अत्र अर्द्धत्वं संख्यया परिमाणेन च बोध्यम्। संख्यापरिमाणोभयमुक्त्वा दक्षेणार्द्धाभिधानात् । एका लिङ्गे इत्यत्र तु परिमाणार्द्धमेव ग्राह्यं एकसंख्याया अर्द्धासम्भवात् एकानुष्ठानं विना अर्द्धानुष्ठानासम्भवाच्च । आदिसंख्यायां तु संख्यार्द्धं त्र्यादिकमेव ग्राह्यं सार्द्धादिसंख्याग्रहणासम्भवात् त्र्यादिसंख्यानुष्ठानं विना सार्द्धादिसंख्यानुष्ठानासम्भवाच्च । अत एव न्यूनाधिकं न कर्तव्यमिति वचनं नात्र प्रवर्त्तते । अत एव

देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।
उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ।

इति बौधायनवाक्ये उपपत्तिमित्युक्तम्। अत्रापि गन्धलेपक्षयस्त्वावश्यकः। "न्यूनाधिकमिति" इदमपि संख्यापरिमाणोभयविषयकं

ुभयमुक्ता दक्षेणाभिधानात् । विहितसंख्यादितो न्यूनसंख्याद्य-
ष्ठाने कृते गन्धलेपक्षये जातेपि शुद्ध्यर्थं विहितसंख्या पूरणीयैव,
ाहितसंख्याद्यनुष्ठाने कृतेऽपि गन्धलेपानुवृत्तौ अविहितमधिकं न
र्त्तव्यं द्वितीयार्द्धेन विहितातिक्रम एव प्रायश्चित्ताभिधानात् ।
ान्तु विहिता सैव संख्या वा आवर्त्तनीया मुन्यन्तरोक्ता तदधि-
संख्या वा पूरणीया विहितत्वाविशेषात् ।

आपस्तम्बः,

अह्नि शौचं यथा प्रोक्तं निश्यर्द्धं तु तादृष्यते ।
पथि पादस्तु विज्ञेय आर्त्तः कुर्याद्यथाबलम् ॥

अत्र पथि चतुर्थांशविधानात्प्रागुदाहृतदक्षवचनोक्तेः पथ्यष्ट-
ांशोभयाधिक्ये रात्रावपि पथि पाद एव नतु तदर्द्धं तद्विधायक-
चनाभावात् । निश्यर्द्धमित्यनेन यथोक्तशौचस्यैवार्द्धविधानात् ।

बृहन्नारदीये,

स्वग्रामे पूर्णमाचारं पथ्यर्द्धं मुनिसत्तमाः ।
आतुरे नियमो नास्ति महापदि तथैव च ॥

तथा,

स्त्रीणामनुपनीतानां गन्धलेपक्षयावधि ।
व्रतस्थानां तु सर्वेषां यतिवच्छौचमिष्यते ॥
विधवानां च विप्रेन्द्रा एवं शौचं प्रकीर्त्तितम् ।

अत्र पथ्यर्द्धविधानं भयाभावे । विण्मूत्रोत्सर्गार्थं
प्रवृत्तस्य विण्मूत्रोत्सर्गाभावेऽपि शौचमाह

वृद्धपराशरः,

उपविष्टस्तु विण्मूत्रं कर्त्तुं यस्तु न विन्दति ।
स कुर्यादर्द्धशौचं तु स्वस्य शौचस्य सर्वदा ॥

माधवीयादौ दक्षः,

न शौचं वर्षधाराभिराचरेत्तु कदाचन ।

संवर्त्ताङ्गिरसौ,

कृते मूत्रे पुरीषे वै यदा नैवोदकं भवेत् ।
स्नात्वा लब्ध्वोदकं पश्चात्सचैलः स विशुद्ध्यति ॥

उदकं लब्ध्वेत्यनेन यथोक्तं शौचमुपलक्षितम् । अन्यथा वैयर्थ्यात् । तेन यथोक्तं शौचं कृत्वा सचैलं स्नात्वा विशुध्यतीत्यर्थः । अत्र मूत्रादिशौचे क्रमापेक्षायां मूत्रस्य रेतसश्च शौचे

एका लिङ्गे तु सव्ये त्रिरुभयोर्मृद्द्वयं स्मृतम् ।

इति दक्षपाठक्रम आदरणीयः । मूत्रपुरीषोभयशौचे तु एका लिङ्गे गुदे तिस्र इत्यादिमनुपाठक्रम आदरणीयः ।

अत्र यद्यपि

मेहने मृत्तिकाः सप्त लिङ्गे द्वे परिकीर्त्तिते ।

इति शङ्खवचने लिङ्गगुदशौचयोर्व्युत्क्रमो दृश्यते तथापि मनुस्मृतेर्बलवत्त्वात् बहुसंवादाच्च मानवक्रम एवादरणीय इति ।

मन्वादिनाऽनुक्तमपि हारीतोक्तं वामपाणिपृष्ठे यत् षट्कृत्वो मृत्तिकादानं तद्वामपाणिशौचानन्तरमुभयपाणिशौचात्पूर्वं कार्यम् । तथैव दश सव्ये षट् पृष्ठे सप्तोभाभ्यामिति पूर्वोदाहृतहारीतवाक्येनाभिधानात् । नखशौचं तूभयपाणिशौचानन्तरम् । तदनन्तरमुभयोर्हस्तयोस्तिसृणां मृत्तिकानां दानं लेपाधिक्ये षण्णां सप्तानां वा । तदनन्तरं पादशौचम् । प्राग्लिखितशङ्खादिवाक्यतस्तथाक्रमप्रतीतेः । केवलपुरीषशौचे तु लिङ्गशौचं विना अयमेव क्रम आदरणीयः । केवलपुरीषशौचे कुतश्चिदपि मुनिवाक्यात् पादशौचं न प्रतीयते । पादयो द्वे गृहीत्वा त्वित्यादि ब्रह्मपुराणीयमपि

द्वे लिङ्गे मृत्तिके देये गुदे सप्त यथाक्रमम् ।

इत्युपक्रम्याभिधानान्मूत्रपुरीषोभयोत्सर्गपरमेव । तथापि आ-

चाराचमापि पादयोरेकैकां मृत्तिकां गृह्णाति।

अत्र—

उद्धृतोदकमादाय मृत्तिकां चैव वाग्यतः।
उदङ्मुखो दिवा कुर्याद्रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

इति मूत्रपुरीषशौचप्रकरणस्थब्रह्माण्डपुराणीयवाक्यात् तच्छौचान्तःपातिपादप्रक्षालनमपि दिवा उदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणामुखः कुर्यात्।

केचित्तु

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत उच्चरेद्दक्षिणामुखः।
उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यात् प्रत्यक् पादावनेजनम्॥

इत्यापस्तम्बवाक्यादिदमपि पादप्रक्षालनं प्रत्यङ्मुखेन कार्यम्। अत्र दक्षिणामुख इत्यस्य, रात्रौ सायाह्ने चेति शेषः। यमदेवलवचनैकवाक्यत्वात्। उदङ्मुख इत्यस्य, सन्ध्याद्वयप्रातर्मध्याह्नेष्विति शेषः। मनुयमदेवलवचनैकवाक्यत्वात्। प्रत्यक् पश्चिमाभिमुखं यथा भवति तथा। पादावनेजनं पादप्रक्षालनम्। इदं दैवपित्र्यर्थकाचमनार्थकपादप्रक्षालनातिरिक्तपादप्रक्षालनपरम्। तदर्थकाचमनार्थकपादप्रक्षालने तु आचमनप्रकरणवक्ष्यमाणदेवलवचनेन तदन्यादिगभिधानात्। ब्रह्माण्डपुराणीयस्य शौचदिङ्नियमस्य पादप्रक्षालनातिरिक्तशौचपरता, पादप्रक्षालने आपस्तम्बेन विशेषाभिधानात् इत्याहुः।

अत्रेदं चिन्त्यम्। शौचान्तःपातिपादप्रक्षालनातिरिक्तपादप्रक्षालनपरत्वेनैवापस्तम्बीयवाक्यस्योपपत्तौ तस्य न ब्रह्माण्डपुराणीयवाक्यसङ्कोचकत्वम्। प्रत्युत शौचप्रकरणानुगृहीतेन ब्रह्माण्डपुराणीयवाक्येनैवानारभ्याधीतस्यापस्तम्बीयवचनस्य सङ्कोचो युक्त इति।

अथैवं प्राग्लिखित– पादयोर्द्वे गृहीत्वेत्यादिब्रह्मपुराणीयादिवाक्येनाचमनस्यापि शौचत्वकथनाद्रात्रौ तदाचमनस्यापि दक्षिणाभिमुखेन कर्त्तव्यत्वं प्रसज्येतेति चेन्न, पुरीषादिशौचप्रकरणपठितबृहन्नारदीयवाक्येनैव तत्र दिग्विशेषाभिधानात् ।

यथा,

एवं शौचं तु निर्वर्त्य पश्चाद्वै सुसमाहितः ।

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि आचामेत् प्रयतेन्द्रियः ॥

प्राङ्मुखः उदङ्मुखः इति पदच्छेदः । सन्धिरार्षः । पादप्रक्षालने क्रमाकाङ्क्षायां स्वस्वशाखीयमधुपर्कप्रकरणोक्त एव क्रमस्तत्तच्छाखीयैरादरणीयः "एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽन्यत्रापीति" न्यायात् सकलदेशीयशिष्टाचाराच्च । यत्तु प्रकरणान्तरीयक्रमान्वये तप्रसो मन्त्रान्वयोऽपि स्यादिति तन्न, मन्त्राकाङ्क्षाविरहात् । प्रकृते तु प्रक्षाल्य चरणे पृथगिति देवलवचनात् क्रमाकाङ्क्षासत्वात् । स च क्रमो मधुपर्कप्रकरणे पारस्करादिभिरुक्तः ।

यथा पारस्करः,

सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथममिति ।

अत्र वामं चरणं प्रक्षाल्येतरं प्रक्षालयति क्षत्रियादिरर्घ्यः । यदि ब्राह्मणोऽर्घ्यःस्यात्तदा प्रथमं दक्षिणं प्रक्षाल्य वामं प्रक्षालयति इति हरिहरः ।

अर्हणीय इत्यनुवृत्तौ ब्राह्मणत्वादिविशेषम् पुरस्कृत्य

गोभिलः, सव्यं पादमवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् दक्षिणं पादमवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।

अत्र छन्दोगानां सर्वेषामेव पाठक्रमाद्वामोपक्रमं पादप्रक्षालनं प्रतीयते । आश्वलायनेन तु अर्हणीयातिरिक्तस्य पादक्षाल-

कर्त्तव्यं तत्र विशेष उक्तः।

यथा तत्सूत्रम्, पादौ प्रक्षालयीत दक्षिणमग्रे ब्राह्मणाय प्रयच्छेत् सव्यं शूद्रायेति।

यदि क्षत्रियवैश्यौ पादप्रक्षालयितारौ तदा दक्षिणं वा पूर्वं सव्यं वा पूर्वमिति नास्ति नियमः। तेन वाजसनेयिनां ब्राह्मणानां दक्षिणोपक्रममन्येषां वामोपक्रमं छन्दोगानां सर्वेषां वामोपक्रमम्। आश्वलायनानां ब्राह्मणकर्त्तृकपादप्रक्षालने दक्षिणोपक्रमं शूद्रकर्त्तृकपादप्रक्षालने वामोपक्रमं क्षत्रियवैश्यकर्त्तृकपादप्रक्षालनेऽनियतोपक्रमं पादप्रक्षालनमिति व्यवस्थितम्। एवमन्येषां स्वस्वसूत्रानुसारेण बोध्यम्।

ऋष्यशृङ्गः,

यस्मिन् स्थाने कृतं शौचं वारिणा तत्तु शोधयेत्।

न शुद्धिस्तु भवेत्तस्य मृत्तिकां यो न शोधयेत्॥

इदं

पश्चात्तच्छोधयेत्तीर्थम्।

इत्यादिसपुराणैकवाक्यतया जलाशयशौचपरमिति वदन्ति।

श्रीदत्तमदनरत्नादिषु बहुषु निबन्धेषु तु शौचसामान्यानन्तरमेवेदं वाक्यं लिखितम्।

हारीतः,

तिसृभिः पादौ प्रक्षाल्य गोमयेन मृदा वा कमण्डलुं परिमृज्य पूर्ववदुपस्पृश्यादित्यं सोममग्निं वीक्षेत।

अत्र दिवा आदित्यमग्निं वा, रात्रौ सोममग्निं वा पश्येदित्यर्थः। चन्द्रसूर्ययोरभावेऽग्निमित्यन्ये।

शङ्खलिखितौ,

कमण्डलुमुपस्पृश्य प्रक्षाल्य पाणिपादौ चाचम्येशानं मनसा

ध्यायेत् ।

उपस्पृश्य परिमृज्य, प्रक्षाल्य पाणिपादाविति आचमनार्थं पाणिपादप्रक्षालनानुवादः । ईशानं महादेवम् ।

पादयोर्द्वे गृहीत्वा तु सुप्रक्षालितपाणिना ।
द्विराचम्य ततः शुद्धः स्मृत्वा विष्णुं सनातनम् ॥

इति प्राग्लिखितब्रह्मपुराणीयवाक्येन विष्णुस्मरणमुक्तं तदनयोरदृष्टार्थत्वात्समुच्चयः । ईशानपदं योगाद्विष्णुपरमिति केचित् तन्न, रूढेर्योगापहारित्वात् विष्णुपदेपि योगसम्भवाच्च ।

अथ गण्डूषकरणम् ।

तत्र प्रयोगपारिजाते आश्वलायनः,

कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् पुरीषोत्सर्जने द्विजः ।
मूत्रोत्सर्गे तु चतुरो भोजनान्ते तु षोडश ॥
भक्ष्यभोज्यावसाने तु गण्डूषाष्टकमादरात् ।

गण्डूषनिक्षेपस्थलमाह

मार्कण्डेयः,

पुरतः सर्वदेवाश्च दक्षिणे पितरस्तथा ।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमुत्सृजेत् ॥

अथाचमनम् ।

तच्च पाणिपादप्रक्षालनानन्तरमेव कार्यम् ।

अनेनैव विधानेन आचान्तः शुचितामियात् ।
प्रक्षाल्य पादौ पाणी च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ॥

इत्यादिना तथा दक्षेणाभिधानात् । अनेन वक्ष्यमाणेन । अत्र हि वक्ष्यमाणविधानमध्ये पाणिपादप्रक्षालनस्य उक्तत्वात् पाणिपादप्रक्षालनमाचमनार्थकमिति प्रतीयते ।

अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ।

इति व्यासवाक्यादप्ययमर्थः सिध्यति । परन्तु शुद्धिद्वारा एतस्याचमनोपकारकत्वात् सत्यां शुद्धौ नैतस्य प्रत्याचमनमावृत्तिः । अत्र आचान्तान् कृतपच्छौचानिति श्राद्धप्रकरणस्थमाश्वलायनसूत्रम् । प्रक्षाल्य पादौ पाणी चेति आचमनाङ्गत्वेन विहितं यत् पच्छौचं तच्छुद्धपादस्य नित्यमिति ज्ञापनार्थम् । कृतपच्छौचवचनं शुद्धपात्त्वेऽप्यत्र नियमेन पच्छौचं कार्यमित्यर्थ इति व्याकुर्वतो वृत्तिकृतो नारायणस्यापि संमतिः । अत्र शौचान्तर्गताचमनोपकारस्य शौचान्तर्गतपादादिप्रक्षालनेनैव सिद्धत्वान्न तदर्थं पृथक्पादादिप्रक्षालनानुष्ठानम् । पित्र्यकर्मार्थिकाचमनाङ्गपादप्रक्षालने देवलेन दक्षिणाभिमुखत्वादिनियमनात्तदर्थकाचमने पृथक्पादप्रक्षालनमनुष्ठेयमेव शौचार्थपादप्रक्षालनस्य उदङ्मुखादिनैव कृतत्वात् । तत्र दैवपित्र्याङ्गाचमनार्थपादप्रक्षालने दिङ्नियममाहाचमनप्रकरणे

देवलः,

प्रथमं प्राङ्मुखः स्थित्वा पादौ प्रक्षालयेच्छनैः ।
उदङ्मुखो वा दैवत्ये पैतृके दक्षिणामुखः ॥

शनैः त्वरारहितः । एवं च प्रत्यक् पादावनेजनमित्यापस्तम्बवाक्यं विशेषविधानाभावे द्रष्टव्यम् । आचमनसामान्यार्थकपादप्रक्षालनेतिकर्तव्यतामाह

स एव,

शिखां बध्वा वसित्वा द्वे निर्णिक्ते वाससी शुभे ।
तूष्णींभूत्वा समाधाय नोर्ध्वं च्छन्न विलोकयन् ॥
न गच्छन् शयानश्च न हलन्न परान् स्पृशन् ।
न हसन्नैव सञ्जल्पन्नात्मानं चैव वीक्षयन् ॥
केशानीवीमधःकायमस्पृशन् धरणीमपि ।

यदि स्पृशति चैतानि भूयः प्रक्षालयेत् करम् ॥
इत्येवमङ्घ्रिराजानु प्रक्षाल्य चरणौ पृथक् ।
हस्तौ चामणिबन्धाभ्यां पश्चादासीत संयतः ॥

शिखां बध्वेति सशिखपुरुषाभिप्रायम् । तेन यस्य सशिखं वपनं विहितं तस्य शिखाबन्धनाभावेऽपि न क्षतिः । एवं यस्य एकवस्त्रत्वमवस्त्रत्वं वा विहितं तस्य द्विवस्त्रत्वाभावेऽपि न क्षतिः । निर्णिक्ते शुद्धे शुभे अनिषिद्धे तूष्णीम्भूत्वा मौनीभूत्वा समाधाय स्थिरीकृत्य, मन इति शेषः । उदूगच्छन्नुत्तिष्ठन् कचिन्न क्रुध्यन्निति पाठः । विलोकयन्, दिश इति शेषः । दिशश्चानवलोकयन्निति शङ्खोक्तेरिति कल्पतरुः । ह्वलन् कम्पमानः । आत्मानं आत्महृदयं वीक्षयन्निति चुरादिबहुलनिदर्शनात्स्वार्थे णिच् । अधःकायं नाभेरधःप्रदेशम् । अस्पृशन्, करेणेति शेषः । भूयः प्रक्षालयेत्करमित्यग्रे दर्शनात् । अविहितस्पर्शनिषेधोऽयम् । आजान्विति अध्वभ्रमणादिना तत्पर्यन्तमशौचे । आजङ्घाभ्यां पादाविति हारीतोक्तेरिति श्रीदत्तादयः । मणिबन्धः ब्राह्मतीर्थमूलमित्यपरार्कः । करबाहुसन्धिरिति कल्पतरुः । आसीत संयत इत्यत्र संयमनमात्रं विधीयते आसीनत्वस्य प्राक्सिद्धत्वात् । अत्रोपक्रमोपसंहारयोः पादप्रक्षालनश्रवणेन पादप्रक्षालनप्रकरणान्नोदूगच्छन्नित्यादिना विहिता धर्मा वाक्यप्रकरणाभ्यां पादप्रक्षालनाङ्गानि न वाऽऽचमनाङ्गानि एतदग्रे एव अथाम्बुप्रथमात्तीर्थादित्यादिना सेतिकर्त्तव्यताकाचमनादित्यवगम्यते । हेमाद्रिश्रीदत्तादिबहुषु निबन्धेषु तु न गच्छन्नित्यादि देवलवाक्यमाचमनेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादकप्रकरणे लिखितं तदाशयः सुधीभिश्चिन्तनीयः । अस्तु

हेमाद्रिधृते, अथ प्रथमः कल्पः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोपविश्यान्तर्जान्वोर्हस्तौ कृत्वा शुद्धा अपः संगृह्याऽऽमणिबन्धनात् पाणी

प्रक्षाल्याभिमुखं ब्रह्मद्वारं मनुष्याणां प्राचीनं देवानां पितॄणां दक्षिणं स्मृतम् इति पैठीनसिवाक्ये मनुष्यदेवपितृसम्बन्धित्वेन दिग्विशेषाभिधानं, तत्र प्रथमं प्राङ्मुखः स्थित्वेत्यादिदेवलवचनैकवाक्यतया पाणिपादप्रक्षालनविषयकं न तु तस्य हेमाद्र्युक्ताचमनीयदिग्विषयकत्वम् । प्राङ्मुख उदङ्मुखो वेत्यनेन पैठीनसिनैव तत्र पृथग् दिग्विशेषाभिधानात् । अनेकश्रुतिकल्पनापत्तेश्च । वचनार्थस्तु प्रथमः कल्प इत्यनुकल्पापेक्षया । अपः संगृह्याचामेदिति प्रकरणाल्लभ्यते । आचमनपूर्वाङ्गमाह पाणी प्रक्षाल्येत्यादि । पाणी इति पादयोरप्युपलक्षणम् । ब्रह्मद्वारं ध्रुवमण्डलम् ।

मण्डलस्यास्य पुच्छे तु शिशुमाराकृतिर्ध्रुवः ।
मध्ये नारायणश्चेति ब्रह्मद्वारमिदं जगुः ॥

इति गारुडात् । ध्रुवमण्डलं चात्राधिष्ठानलक्षणया उत्तरा दिगिति । पादप्रक्षालनानन्तरं पादाभ्युक्षणमुक्तं —

**विष्णुपुराणे,**

निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य वै पुनः ।
त्रिः पिबेत्सलिलं चैव तथा द्विः परिमार्जयेत् ॥

**मार्कण्डेयपुराणेऽपि,**

प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च समभ्युक्ष्य समाहितः ।
अन्तर्जानुः सदाऽऽचामेत्त्रिश्चतुर्वा पिबेदपः ॥

अत्र अभ्युक्षयेदित्यस्य पादावित्यनेनान्वयः । विष्णुपुराणैकवाक्यत्वात् । चतुर्वेति अपां वक्ष्यमाणवचनप्राप्तद्वात्रिंशत्वाद्यभावे भावशुद्ध्यपेक्षयेति "त्रिश्चतुर्वेति" गौतमवाक्यव्याख्यानावसरे कल्पतरुः । कामनाविशेषेण पाणिपादप्रक्षालनानन्तरं कर्मविशेषमाह

**कल्पतरौ हारीतः,**

आमणिबन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य आजङ्घाभ्यां पादौ, प्रातिश्रे-

ऽन्नकामोऽन्नाद्यकामो वा दक्षिणे चरणाङ्गुष्ठे पाणिमवस्राव्य प्राणानालभ्य नाभिमुपस्पृशेदिति ।

हेमाद्रौ तु आचमनानन्तरं इन्द्रियस्पर्शात्पूर्वमिदमुक्तम् । आचमनोदकान्याह—

मनुः,

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।

शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदासीनः प्रागुदङ्मुखः ॥

अनुष्णाभिरित्यत्राग्निसंयोगजमौष्ण्यं प्रतिषिध्यते ।

तथा च विष्णुः, अनग्न्युष्णाभिरफेनाभिरशूद्रैककरावर्जिताभिरक्षाराभिरद्भिः शुचौ देशे स्वासीनोऽन्तर्जानुः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा तन्मनाः सुमना आचामेदिति ।

अत्र एककरपदमाचमनकर्तृभिन्नैककरपरम् । आचमनकर्तुर्वामपाण्यावर्जितेन जलेनाचमनस्य बौधायनादिना विधानादित्यग्रे वक्ष्यते ।

शङ्खोऽपि,

अद्भिः समुद्धृताभिश्च हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ।

वह्निना चाप्यतप्ताभिरक्षाराभिरुपस्पृशेत् ॥

इदं च रोगिव्यतिरिक्तपरम् ।

तथा चापस्तम्बः, न तप्ताभिश्चाकारणात् ।

अकारणात् व्याध्यादिव्यतिरेकेण तप्ताभिर्नाचामेदित्यर्थः ।

यमोऽपि,

रात्रावर्वीक्षितेनापि शुद्धिरुक्ता मनीषिणाम् ।

उदकेनातुराणां च तथोष्णेनोष्णपायिनाम् ॥

उष्णपायिनामातुराणामित्यन्वयः । उष्णपायिनो दीक्षिता इत्यपरार्कः । तीर्थेनेति । ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेनेत्यनेन पूर्वोक्तस्य

तीर्थस्य पुनर्वचनं तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभावं प्रदर्शयितुमिति कुल्लूकभट्टः ।

आपस्तम्बः, भूमिगतास्वप्स्वाचम्य प्रयतो भवति यं वा प्रयत आचामयेदिति ।

प्रायस्यार्थमाचमनं भूमिगतास्वप्सु कर्त्तव्यमिति उज्ज्वलायां हरदत्तः । उद्धृतपरिपूताभिरिति शङ्खलिखितस्मरणात् । ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेनेति मन्वादिवाक्येन तीर्थविधानाच्चात्राप्युद्धरणमावश्यकम् । यदा तु पात्रस्थेनोदकेनाचामति तदा वक्ष्यमाणं प्रयतपरावर्जितत्वादिकमपेक्षितम् । यं वा प्रयत इति । प्रयतः परो यं वक्ष्यमाणपात्राद्यावर्जितजलेनाचामयति सोऽपि प्रयतो भवति । अत्र विशेषमाहुः आचामेदित्यनुवृत्तौ—

शङ्खलिखितौ गौतमश्च, न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जिताभिरिति ।

शूद्रेण, अशुचिना अस्पृश्यस्पर्शादिदूषितेन द्विजेनापि, एकेन च पाणिना यदावर्जितं प्रक्षिप्तं तेनोदकेन नाचामेदित्यर्थः । आचामेदित्यनुवृत्तौ—

कूर्मपुराणेपि,

शूद्राशुचिकरोन्मुक्तैर्न क्षाराभिस्तथैव च । इति ।

तथा,

नैकहस्तार्पितजलैरिति ।

संवर्त्तोपि,

शूद्राशुच्येकहस्तैश्च दत्ताद्भिर्न कदाचन ।

आचामेदिति शेषः । अत्र कल्पतरुः, न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जिताभिरिति सामान्येनैकपाण्यावर्जितेनाचमननिषेधात् यं वा प्रयत आचामयेदित्यापस्तम्बवचनेनावर्जने प्रयतपरानियमनाच्च स्वयमाव-

र्जितेनाचमनं न शुचित्वे हेतुरित्युक्तं भवतीत्याह । अथैवं "मूत्रपुरीषे कुर्वन्दक्षिणहस्ते गृह्णाति सव्ये आचमनम्" इति कमण्डल्वधिकारस्थ-बौधायनवचनविरोधः । तस्य हि आचमनं कुर्वन् सव्यहस्ते कमण्डलुं गृह्णातीत्यर्थः । तत्कमण्डलुग्रहणं च आचमनोपयोगिजलावर्जनरूप-दृष्टप्रयोजनार्थम् । अन्यथाऽदृष्टार्थत्वापत्तेरितिचेन्न । आपस्तम्ब-वचनस्वरसात् शुद्ध्यर्थाचमनोदके एव प्रयतपरावर्जितत्वनियम एकपाण्यावर्जितत्वनिषेधश्च, तदतिरिक्ताचमनोदके तु स्वीयैकपा-ण्यावर्जितत्वं बौधायनानुमतमिति तदभिप्रायात् । गौडमै-थिलादिनिबन्धेषु च शङ्खलिखितादिवाक्ये अशुचिपदम् आच-मनकर्तृव्यतिरिक्तपरं, शूद्रसाहचर्यात् । बौधायनेन सामान्यतः स्वीयवामपाण्यावर्जितोदकेनाचमनाभ्यनुज्ञानाच्च । अत एवात्रत्यैक-पाणिपदम् एकपाण्यावर्जितेन नाचामेदित्यापस्तम्बसूत्रस्थैकपाणि-पदं चाचमनकर्तृव्यतिरिक्तैकपाणिपरम् । तेनाशुचेरपि स्वस्य वाम-पाण्यावर्जनमप्यविरुद्धम् । तथाचोद्धृतोदकाचमनपक्षे स्वयमशुचि-ना शुचिना वा वामपाण्यावर्जनं प्रयतपरोभयपाण्यावर्जनम् आचमनकर्तृव्यतिरिक्तशूद्रानावर्जनं चानुमतमिति शङ्खलिखितगौ-तमापस्तम्बबौधायनवाक्यपर्यालोचनयाऽवगम्यतइति ।

स्मृत्यर्थसारे तु,

वामेन पात्रमुद्धृत्य न पिबेद्दक्षिणेन तु ।

इत्युक्त्वा—

वामेनोद्धृत्य चाचामेदन्यदातुरसम्भवे ।

इत्युक्तम् । आचामेदित्यनुवृत्तौ—

शङ्खलिखितौ, उद्धृतपरिपूताभिरद्भिरवेक्षिताभिरक्षाराभि-रनभिश्रिताभिरफेनाभिरबुद्बुदाभिरिति ।

परिपूताभिः निरस्तापद्रव्याभिः । वीक्षिताभिरिति दिवैव ।

रात्रावनीक्षिताभिरपि ।

रात्रावनीक्षितेनापि शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ।

इति भट्टभाष्यादिधृतयमवचनात् । अक्षाराभिरिति । यत्र समुद्रादौ स्नानं विहितं तत्र स्नानाङ्गाचमनं क्षाराभिरपि कर्त्तव्यम्। साङ्गस्नानस्य विहितत्वात् । अनधिश्रिताभिरवह्नितप्ताभिः ।

प्रचेताः,

अनुष्णाभिरफेनाभिः पूताभिर्वस्त्रचक्षुषा ।

हृद्गताभिरशब्दाभिस्त्रिश्चतुर्वा द्विराचमेत् ॥

वस्त्रपूतत्वं कीटादिसम्भावनायाम् । अशब्दाभिरोष्ठाद्यभिघातजन्यशब्दशून्याभिः । यत्र तु देशे क्षारादिदोषयुक्ता एवापस्तत्राह —

देवलः,

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः ।

येषु देशेषु यत्तोयं याश्च यत्रैव मृत्तिकाः ॥

येषु स्थलेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।

तत्र तन्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥

यमः,

तावन्नोपस्पृशेद्विद्वान्यावद्वामेन न स्पृशेत् ।

वामे हि द्वादशादित्या वरुणश्च जलेश्वरः ॥

अत्र न स्पृशेज्जलमिति शेष इति अपरार्कः । एतच्चोदकं यावद्वामेन न स्पृशति तावन्नाचामेदित्याह यम इत्युक्त्वेमं श्लोकमवतारितवतोर्हेमाद्रिस्मृतिचन्द्रिकाकारयोरप्ययमर्थः सम्मतः । पठन्ति च,

दक्षिणे संस्थितं तोयं तर्जन्या सव्यपाणिना ।

तत्तोयं स्पृशते यस्तु सोमपानफलं लभेत् ॥

मदनरत्नादौ तु वामकरस्पृष्टेन दक्षिणकरेणाचामेदित्याह यम इत्युक्त्वा तावन्नोपस्पृशेदिति वचनमवतारितम् । एषामयमभिप्रायः ।

अपः करनखस्पृष्टा य आचामति वै द्विजः ।
सुरां पिबति सुव्यक्तं यमस्य वचनं यथा ॥

इति यमवचने करपदं वामकरपरम् । दक्षिणकरस्पर्शस्याव-र्जनीयत्वात् । अत एव बहुषु निबन्धेषु आचमनीयजलेषु वामक-रास्पृष्टत्वं विशेषणमुक्तम्। पठ्यमानवचनं तु सन्दिग्धमूलमिति य-मवचने स्पृशेदित्यस्य दक्षिणं पाणिमिति शेषपूरणमुचितम् । आ-चारश्चैवमेव शिष्टानाम् ।

अथ आचमने निषिद्धानि जलानि ।

तत्र हारीतः, नाविलोकिताभिरग्निर्नोष्णाभिः कलुषा-भिः । आचामेदिति शेषः ।

तथा,

विवर्णं गन्धवत्तोयं फेनिलं च विवर्जयेत् ।

आपस्तम्बः, न वर्षधारास्वाचामेत्तथा प्रदरोदके इति ।

अभीममम्भो विसृजन्ति मेघाः पूतं पवित्रं परमं सुगन्धि ।

इति हरिवंशवाक्याद्वर्षधाराजलस्य पवित्रत्वेऽप्याचमने वच-नान्निषेधः । प्रदरः स्वयंविदीर्णभूभागः ।

प्रदरापवादमाह वसिष्ठः, अप आचामेदित्यनुवृत्तौ प्रदराद-पि या गोस्तर्पणसमर्थाः स्युः न वर्णरसदुष्टाभिर्याश्च स्युरशुभागमाः ।

अशुभागमाः निन्दितदेशकालागताः। कालस्य निन्दितत्वं च रात्र्यादिरूपत्वेन ।

तथाह पराशरः,

अपो रात्रौ न गृह्णीयात्प्रविष्टा वरुणालयम् ।
आवश्यकेऽथ मन्त्रेण भाम्नो भाम्न इति स्वयम् ॥ इति ।

आवश्यके आवश्यककार्ये सति ।

पुनरापस्तम्बः, वाग्भ्युदकघोषेण द्दवा कर्माणि कुर्वीताचा-

यद्वा पाणिसंक्षुब्धोदकेनैकपाण्याहृतेन नाचामेत् ।

अग्न्युदकशेषेण अग्निपर्युक्षणाद्यर्थोपात्तोदकशेषेण तथा य-तोऽतः कर्माणि न कुर्वीतेत्यर्थः इति कल्पतरुः । यद्वा अग्निपरि-समूहने परिषेचने च यदुपयुक्तमुदकं तच्छेषेण तथाकर्माणि अदृष्ट-प्रयोजनरहितानि पादप्रक्षालनादीनि न कुर्वीत नाचामेच्च । अतथा-कर्मत्वादाचमनस्य पृथग् निषेधः । पाणिक्षुब्धेन पाणिनाऽऽलोडितेन ।

बौधायनः, पादप्रक्षालनोच्छेषेण नाचामेत् यद्याचामेद् भूमौ स्रावयित्वाऽऽचामेत् ।

उच्छेषेण शेषेण ।

व्यासः,

अपः पाणिनखाग्रेण आचामेद्यस्तु वै द्विजः ।

सुरापानेन तत्तुल्यमित्येवमृषिरब्रवीत् ॥

प्रयोगपारिजाते पराशरः,

शूद्राहृतैस्तु नाचामेदेकपाण्याहृतैस्तथा ।

नचैवाव्रतहस्तेन नापरिज्ञातहस्ततः ॥

पूर्वार्द्धे जलैरिति शेषः । उत्तरार्द्धे आहृतैरिति शेषः । एक-पाण्याहृतैरित्यत्रैकपाणिः सव्यपाणिः । वामपाणिनैव जलपात्र-धारणनिषेधात् ।

यथा प्रायश्चित्तविवेकादौ—

पुलस्त्यः,

शङ्खशुक्तितरङ्गाश्च यच्चान्यत्पानभाजनम् ।

दक्षिणेनैव गृह्णीयान्न वामेन कदाचन ॥

तरङ्गः काचपात्रम् । न वामेन केवलेनेत्यर्थः । आचारोद्द्योतादौ—

आपस्तम्बः,

सन्ध्यार्थे भोजनार्थे वा पित्र्यार्थे वा तथैव च ।

शूद्राहृतेन नाचामेज्जपाग्निहवनेषु च ॥
उद्धृतोदकेनाचमनपक्षे पात्राण्याह स्मृतिचन्द्रिकादौ—
स्मृत्यन्तरम्,
अलाबूताम्रपात्रस्थं करकस्थं च यत्पयः ।
गृहीत्वा स्वयमाचामेन्नरो नाप्रयतो भवेत् ॥
तत्रैव स्मृत्यन्तरं,
करकालाबुपात्रेण ताम्रचर्मपुटेन च ।
स्वहस्ताचमनं कार्यं स्नेहलेपांश्च वर्जयेत् ॥
करकपात्रे यत्तोयं यत्तोयं ताम्रभाजने ।
सौवर्णे राजते चैव नैवाशुद्धं तु कर्हिचित् ॥
आह्निकतत्त्वादौ उशना ।
कांस्यायसेन पात्रेण त्रपुसीसकपित्तलैः ।
आचान्तः शतकृत्वोऽपि न कदाचिच्छुचिर्भवेत् ॥
स्मृत्यर्थसारे,
सौवर्णरौप्यपात्रैश्च वेणुबिल्वाश्मचर्मभिः ।
अलाबुदारुपात्रैश्च नालिकेरैः कपित्थकैः ॥
तृणकाष्ठैर्जलाधारैरन्यान्तरितमृन्मयैः ।
वामेनोद्धृत्य चाचामेदन्यदातुरसम्भवे ॥
चर्मपुटकेऽपवादं संवर्त्तनाम्ना पठन्ति,
सन्ध्याकार्ये पितृश्राद्धे वैश्वदेवे शिवार्चने ।
यतीन्द्रो ब्रह्मचारी च नाचामेच्चर्मवारिणा ॥
शङ्खः,
पीतावशेषितं पीत्वा पानीयं ब्राह्मणः क्वचित् ।
त्रिरात्रं च व्रतं कुर्यात् वामहस्तेन वा पुनः ॥
वामहस्तेन जलं जलपात्रं वोद्धृत्येत्यर्थः ।

तथाच शातातपः,

उद्धृत्य वामहस्तेन यत्तोयं पिबति द्विजः ।

सुरापानेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः ॥

अत्र पानस्य निषेधात्तद्विशेषस्यापि निषेधः । एवञ्च वामहस्तेनाचमनोदकावर्जनपक्षे वामहस्तेन जलपात्रं नोद्धर्त्तव्यम् ।

तथाच प्रयोगपारिजाते सङ्ग्रहः,

करकालाबुपात्रेण ताम्रचर्मपुटेन च ।

गृहीत्वा स्वयमाचामेद्भूमिलग्नेन नान्यथा ॥ इति ।

चर्मपात्रोदकेनाचमनं तु आपत्काले चर्मपुटोदकं भूमिगतं कृत्वा तत उद्धृत्य कर्त्तव्यम् । अनापदि तत्पाननिषेधात् ।

यथा प्रायश्चित्तविवेके लघुहारीतः,

प्रपाजलं नीरघटस्य चैव द्रोणीजलं कोशविनिर्गतं च ।

पीत्वाऽवगाहेत जलं सवासा उपोषितः शुद्धिमवाप्यते च ॥

प्रपा पानीयशालिकेति कोषः । नीरघटस्य सर्वसाधारण्येन कूपादितो जलोद्धरणार्थं स्थापितपात्रस्य, जलमित्यनुषङ्गः । द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी । कोशः चर्मपुटकः । आपदि तु—

यमः,

प्रपामरण्ये घटके च कूपे द्रोण्यां जलं कोशगतास्तथाऽऽपः ।

ऋतेऽपि शूद्रात्तदपेयमाहुरापद्गतो भूमिगताः पिबेच्च ॥

अरण्ये प्रपाम् अरण्यप्रपाजलम् । कूपे घटके कूपसमीपवर्त्तिघटे कूपजलाहरणार्थं स्थापिते इति यावत् । जलमित्यग्रेतनमत्रान्वेति । ऋतेऽपि शूद्रात् तदुदके शूद्रसम्बन्धं विनाऽपीत्यर्थः । एवं परकीयपात्रेणापि आचमनं न कार्यम् । तस्य स्वं प्रत्यशुचित्वात् । तदाह,

आसनं वसनं शय्या जाया ऽपत्यं कमण्डलुः ।

शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥

आचमनजलपरिमाणमाह याज्ञवल्क्यः,

अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ।
हृत्कण्ठतालुगाभिश्च यथासंख्यं द्विजातयः ॥
शुद्ध्येरन् स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ।

प्रकृतिस्थाभिः गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः । द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः । शूद्रश्चेति चकारादनुपनीतोऽपीति मिताक्षरा । सकृत् एकवारम् । अन्ततः आस्यान्तरावयवे । अनेन चाभक्षणं विवक्षितम् ।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रं तु सकृत्सकृत् ॥

इति स्मृतिमहार्णवलिखितमनुवचनादिति कल्पतरुः । वस्तुतस्तु

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिश्च शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥

इति मनुवाक्ये लिखितवचनादिति । याज्ञवल्क्यवाक्ये च स्पृष्टाभिरित्यनेन पानव्यावृत्तिः प्रतीयते । अत एव शूद्र इत्यनुवृत्तौ—

ब्रह्मपुराणम्,

स्त्री शूद्रो वाऽथ नित्याम्भःक्षालनाच्च करोष्ठयोः ।

इति हलायुधनिबन्धधृतशङ्खलिखितवाक्यादप्ययमर्थः प्रतीयते । यथा हृदयगाभिरद्भिर्ब्राह्मणः शुचिः, कण्ठगाभिः क्षत्रियः, तालुगाभिर्वैश्यः, स्त्री शूद्रश्चौष्ठप्रान्तगाभिरिति । श्रीदत्तादयोऽपि उत्तरोत्तरमपकर्षादन्ततो मुखान्ते ओष्ठप्रदेशे इति यावदिति व्याख्यातवन्तः । एवञ्च महार्णवधृतमनुवाक्ये आचामेदित्यस्य विहिततत्तत्स्थाने संयोजयेदित्यर्थः । हृद्गाभिरित्यादिमनुवचने प्राशिताभिरित्यस्य तालुपर्यन्तमन्तरास्यं प्रवेशिताभिरित्यर्थः । शूद्र

इति स्त्रिया अप्युपलक्षणम् । अत्र द्रव्यत्वादुदकस्यापरिहार्य्यो-ऽवध्यतिक्रमः । अवध्यमाप्तौ त्वशुद्धिरिति मेधातिथिः। मिताक्षराकारस्तु अन्ततः प्रागुक्तानामन्तेन तालुना स्पृष्टाभिः सकृदिसनेन वैश्याद्विशेष इति व्याख्यातवान्। स्मृतिचन्द्रिकायामेतदर्थोपष्टम्भककत्वेन स्मृतिवाक्यमपि लिखितम् ।

यथा—

अप्सु प्राप्तासु हृदयं ब्राह्मणः शुद्धिमाप्नुयात् ।

राजन्यः कण्ठतालू च वैश्यशूद्रस्त्रियोऽपि च ॥ इति ।

अत्र राजन्यः कण्ठं प्राप्तासु वैश्यादयस्तालुप्राप्तास्विति अन्वयः । हेमाद्रौ तु अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः।समीपवचनश्चान्तशब्दः । स च सम्बन्ध्यन्तरमपेक्षते । ततश्च यत्र स्थाने वैश्यस्याचमनं विहितं तत्समीपवर्त्तिना स्थानेन स्पृष्टाभिरद्भिः शूद्रः पूयते वैश्यस्य च स्थानं तालु तत्समीपवर्त्तिस्थानं दन्ता एवेति व्याख्यातम् ।·अन्ततो जिह्वाग्रेणेति मेधातिथिः । हृदयङ्गमानां परिमाणमाह—

उशना, माषमज्जनमात्रा हृदयङ्गमा भवन्तीति । हेमाद्रौ तु हृदयङ्गमादीनां परिमाणमाहेत्यवतार्य एतद्वाक्यस्य शेषोऽपि लिखितः ।

यथा, माषमज्जनमात्रा हृदयङ्गमा भवन्ति तदेकैकपादहान्या कण्ठतालुदन्तगाः ताभिस्त्रैवर्णिकाः स्त्रीशूद्रौ चाचामेरन्निति ।

उदकस्य ग्रहणप्रकारं परिमाणं चाह माधवीयादौ—

भरद्वाजः,

आयतं पर्वतः कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्करम् ।

संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः ॥

मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत् ।

माषमज्जनमात्रास्तु सङ्गृह्य त्रिः पिबेदपः ॥ इति ।

मुक्ते अङ्गुष्ठकनिष्ठे यस्मै तेन शेषेण जलशेषेणेत्यर्थः । तथा-चाङ्गुष्ठकनिष्ठे मुक्त्वा किञ्चिदुदकं त्यक्त्वा अवशिष्टेनोदकेनाचमनं कर्त्तव्यमिति प्रतीयते । क्वचित्तु मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठे त्विति पाठः, तत्राप्ययमेवार्थः । अत्र पाणिर्दक्षिणो ज्ञेयः ।

दक्षिणं तु करं कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्पुनः ।
त्रिः पिबेदीक्षितं तोयमास्यं द्विः परिमार्जयेत् ॥

इति नृसिंहपुराणवचनात् । पुनर्ग्रहणात् पूर्वं गोकर्णाकृतिना हस्तेनोदकं गृहीत्वा ततोऽङ्गुष्ठकनिष्ठे बहिः कृत्वा पुनरपि गोक-र्णाकृतिहस्तं कुर्यादिति गम्यते इति एतत्समानार्थकभविष्यपुराण-वाक्यव्याख्यायां हेमाद्रिः ।

## आचमनतीर्थम् ।

तत्र मनुः,

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥

ब्राह्मादितीर्थं वक्ष्यते। अत्र विप्रग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरप्युपल-क्षणार्थम् ।

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ।

इति याज्ञवल्क्यैकवाक्यत्वात् इति हेमाद्रिः। तच्चिन्त्यम्। याज्ञ-वल्क्यवाक्यस्थद्विजपदस्य सामान्यशब्दस्य मनुवाक्यैकवाक्यतया विप्रपरत्वौचित्यात् । न तु मनुवाक्यस्थविप्रपदस्य द्विजपरत्वं, ल-क्षणापत्तेः । मेधातिथिस्तु विप्रग्रहणमविवक्षितं, यतः कण्ठगाभिस्तु भूमिप इत्यादिना क्षत्रियादीनां विशेषं वक्ष्यति । नच असत्यां सामान्यतः प्राप्तौ विशेषविधानमुपपद्यते इत्यादि । एतदपि विचार-णीयम्। नहीदम् आचमनविधायकं वाक्यम्। आचमनविधायकस्य

हृद्गाभिः पूयते विप्र इत्येतस्मात्पूर्वतनस्य—

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥

इत्यस्य मनुवाक्यान्तरस्य सत्त्वात् । किन्तु विप्रस्य तीर्थविशेषनियामकम् । आचारादर्शादिनिबन्धेषु तु विप्र इति आचमनकर्तृमात्रोपलक्षणम् । आचमनोद्देशेन तीर्थविधानादित्युक्तम् । अत्रापि विप्रपदार्थाविवक्षायां युक्तिश्चिन्त्या । प्रत्युत सप्तदशवैश्यस्येत्यत्र वैश्ये निमित्ते सप्तदशत्ववत् ब्राह्मणे निमित्ते ब्राह्मादित्रयाणां विकल्पेन विधानमेव युक्तम् । अत एव अद्भिस्तीर्थेन धर्मविदित्यत्र तीर्थेनेति विप्रातिरिक्तानामपि तीर्थप्रापकत्वेन सार्थकम् । नित्यकालं सर्वदा । तेन शुद्ध्यर्थे कर्माङ्गे नैमित्तिके च सर्वत्राचमने ब्राह्मादितीर्थत्रयान्यतमस्य ऐच्छिकविकल्पेन करणत्वेनान्वयः । तुल्यवद्विकल्पश्रवणात् । मेधातिथिस्वरसोऽप्येवम् । बहुषु निबन्धेषु तु सम्भवे ब्राह्मतीर्थेनैवाचमनं, नित्यकालमिति श्रवणात् । व्रणादिना ब्राह्मतीर्थावरोधे कायत्रैदशिकाभ्यामिति व्यवस्थितो विकल्प इत्युक्तम् । कायं प्राजापत्यं, त्रैदशकं दैवम् । अविधानादेव पित्र्यस्याप्राप्तौ व्रणादिना ब्राह्मादितीर्थावरोधे प्रतिनिधित्वेन प्राप्तेषु तीर्थान्तरेषु पित्र्यस्य निषेधार्थं "न पित्र्येणे"त्युक्तम् । तेन ब्राह्मादितीर्थावरोधे आग्नेयादितीर्थेनाप्याचमनमनुज्ञातं भवति ।

ब्राह्मादिलक्षणमाह स एव,

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥

अङ्गुष्ठमूलम् अधोभागः । तस्य तलप्रदेशो ब्राह्मं तीर्थम् ।
हस्ताभ्यन्तरं तलमाह, महारेखान्तमाभिमुख्यम् आत्मनो ब्राह्मं,

हस्तमध्ये अङ्गुलीमूले दण्डरेखाया ऊर्द्ध्वं कायम्, अग्रे अङ्गुलीनां दैवम् ।

उपसर्जनीभूतो मूले अङ्गुलिशब्दः सापेक्षत्वादग्रशब्दस्य सम्बध्यते । पित्र्यं तयोरधः । अत्रापि गुणभूतस्याङ्गुलिशब्दस्य अङ्गुष्ठस्य च सम्बन्धः । प्रदेशिनी चात्राङ्गुलिर्विवक्षिता । तयोरधः अन्तरं पित्र्यम् । स्मृत्यन्तरशिष्टप्रसिद्धिसामर्थ्यादेवं व्याख्यायते । यथाश्रुतान्वयासम्भवात् ।

तथाच शङ्खः, अङ्गुष्ठस्याधरतः प्रागग्रायाश्च लेखाया ब्राह्मं तीर्थं, प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तरा पित्र्यं, कनिष्ठातलयोरन्तरा कायं, पूर्वेण पर्वणा अग्रमङ्गुलीनां दैवमिति ।

इति मेधातिथिः । स्त्रीशूद्रयोस्तीर्थमाह आह्निकतत्त्वादौ—

स्मृतिः,

स्त्रियास्त्वैदशकं तीर्थं शूद्रजातेस्तथैवच ।
सकृदाचमनाच्छुद्धिरेतयोरेव चोभयोः ॥

सर्वतीर्थावरोधे तु विहितपात्रेणाचमनं कर्त्तव्यम् । स्वयमसामर्थ्ये अन्येन कारणीयम् । गुणलोपे प्रधानलोपानौचित्यात् ।

नियमानाह याज्ञवल्क्यः,

अन्तर्जानु शुचौ देशउपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥

अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये बाहू कृत्वा । आचमनप्रकरणे—

बाहू जान्वन्तरा कृत्वा ।

इति व्यासवाक्यात् । तदसम्भवे दक्षिणबाहुमात्रं जानुनो र्मध्ये कृत्वा । शुचौ देशे आसीनो दक्षिणबाहुं जान्वन्तरा कृत्वेति आचमनप्रकरणस्थगौतमबौधायनवाक्यात् । उपविष्टः आसीनः । जानूर्ध्वजले तु तिष्ठन्नपि ।

जान्वोरूर्ध्वं जले तिष्ठन्नाचान्तः शुचितामियात्।

इति विष्णुवाक्यात्। प्राक् प्राङ्मुखः। इदम् ऐशान्यभिमुखस्योपलक्षणम्।

यथा कल्पतरौ ब्रह्मचारिकाण्डे हारीतः, प्राङ्मुखः प्रागुदङ्मुखो वोपविश्य अन्तर्जान्वोररत्नी कृत्वा त्रिरपो हार्दं पिबेत्।

हार्दं हृदयगामि यथा स्यात्।

हेमाद्रौ श्लोकहारीतो रत्नाकरे मरीचिश्च,

ऐशान्यभिमुखो भूत्वोपस्पृशेत्तु यथाविधि। इति।

एतेन उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वेति दिगन्तरनिवृत्तिरिति मिताक्षराव्याख्यानमपास्तम्। द्विजो न शूद्रादिरिति मिताक्षरा। नित्यं सर्वकालम्।

मनुः,

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।

शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥

एकान्ते जनैरनाकीर्णे। तत्र हि मनः स्थिरं भवति। अत एव

विष्णुः, तन्मनाः सुमनाश्चाचामेत् इति।

तन्मनाः आचमनमना इति कल्पतरुः। प्रागुदङ्मुखः ऐशान्यभिमुखः। प्रागुदक्शब्दस्यैशानीपरत्वं प्राग्लिखितहारीतवाक्ये तथा दर्शनात्। श्रुतौ च प्रागुदीचीशब्दस्यैशानीपरत्वं दृश्यते।

यथा, पलाशशाखामधिकृत्य प्राचीमाहरति उदीचीमाहरति प्रागुदीचीमाहरतीति।

लाट्यायनसूत्रेऽपि, प्रागुदक्प्रवणं देवयजनमिति

प्रागुदक्शब्दस्यैशानीपरत्वम्। एतेन प्रागुदक्शब्दस्य ऐशान्यां प्रयोगादर्शनान्नैवं व्याख्येयमिति मेधातिथिप्रोक्तमनादेयम्। मेधातिथिस्तु प्रागुदङ् मुखं यस्येति त्रिपदबहुव्रीहिमाह। तथाच

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वेति फलितम् ।

शङ्खः,

अन्तर्जानु शुचौ देशउपविश्यैन्द्रदिङ्मुखः ।
उदङ्मुखो वा प्रयतो दिशश्चानवलोकयन् ॥

गौतमः, शुचौ देशआसीनो दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा यज्ञोपवीत्यामणिबन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य वाग्यतो हृदयस्पृशस्त्रिश्चतुर्वाऽप आचामेत् पादौ चाभ्युक्षेत् खानि चोपस्पृशेत् शीर्षण्यानि मूर्द्धनि च दद्यात् इति ।

हृदयस्पृशः हृदयान्तर्गमनयोग्याः। इदं च ब्राह्मणाभिप्रायेण। त्रिश्चतुर्वेति भावशुद्ध्यपेक्षया विकल्पः । एवञ्च चतुर्वेति फलभूमार्थमिति व्याख्यानमनादेयम् । कल्पनाप्रसङ्गात् । यत्र मन्त्रवदाचमनं विहितं तत्र तेन सह चतुरन्यत्र त्रिरिति विकल्प इति गौतमभाष्ये हरदत्तः । खानि इन्द्रियाणि शीर्षण्यानि उपस्पृशेत्, अद्भिरिति शेषः । खानि चैव स्पृशेदद्भिरिति मनुवचनैकवाक्यत्वात् । मूर्द्धनि च चकारात् नाभौ मूर्द्धनि च दद्यात्स्पृशेदित्यर्थ इति गौतमभाष्ये हरदत्तः । वस्तुतस्तु सर्वाभिस्तु शिरः पश्चादिति दक्षवचनैकवाक्यतया दद्यादित्यस्याङ्गुलीरित्यध्याहारो युक्तः। हेमाद्रौ तु दद्यादित्यस्याप इति शेष इति व्याख्यातम् ।

तन्मूलं च—

ततः कृत्वाऽङ्गुलिस्पर्शं दृग्घ्राणश्रोत्रनाभिषु ।
भूर्ध्नं चरणौ चाद्भिः सम्प्रोक्ष्याथ शुचिर्भवेत् ॥

इति देवलवचनम् ।पादौ चेति चकारात्पूर्वं सव्यपाणेरुत्तरं मूर्ध्नोऽभ्युक्षणं समुचितम्। दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्येत्यादिवक्ष्यमाणापस्तम्बवचनस्वरसात् । इदं चौष्ठमार्जनानन्तरं बोध्यम्,

तदुक्तम् अपरार्कधृतनृसिंहपुराणे,

दक्षिणं तु करं कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्पुनः ।
त्रिः पिबेदीक्षितं तोयमास्यं द्विः परिमार्जयेत् ॥
पादौ शिरस्तथाऽभ्युक्ष्य तिसृभिर्मुखमालभेत् ।
यथोक्तविधिना खानि ततः स्पृष्ट्वा च शुद्ध्यति ॥ इति ।

आपस्तम्बः, आसीनः त्रिराचामेत् हृदयङ्गमाभिरद्भिः त्रिरोष्ठौ परिमृजेत् द्विरित्येके सकृदुपस्पृशेत् द्विरित्येके दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्य पादौ शिरश्चेन्द्रियाण्युपस्पृशेत् चक्षुषी नासिके श्रोत्रे चाथाप उपस्पृशेद्भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेदद्भिः परिमृजेत्सकृदुपस्पृशेत् इति ।

सकृदुपस्पृशेत् द्विरित्येके ओष्ठाविति सम्बन्धः । सव्यं, पाणिमिति शेषः। अतसव्यं पाणिं पादौ प्रोक्षतीति तैत्तिरीयकश्रुतेः । पादौ शिरश्च प्रोक्ष्येति सम्बन्ध इति कल्पतरुः । अत्र पाठक्रमादोष्ठोपस्पर्शनानन्तरं सव्यपाणिपादशिरसामभ्युक्षणं यद्यपि प्रतीयते तथापि प्राग्लिखितनृसिंहपुराणोक्तश्रौतक्रमेण पाठक्रमो बाध्यते । तेनास्योपस्पर्शनात्पूर्वं मार्जनं सिध्यति । यत्त्वाचारचिन्तामणौ आस्योपस्पर्शात्पूर्वं वामपाण्याद्यभ्युक्षणं छन्दोगानां गोभिलसंवादात्, अन्येषां तु आस्योपस्पर्शानन्तरं तदित्युक्तम्। तदनादेयम् । प्रोक्षणे आस्योपस्पर्शानन्तर्यबोधकप्रमाणाभावात् । न वा गोभिलसंवादोऽपि । तेनास्योपस्पर्शस्यैवानभिधानात् ।

यथाह गोभिलः, प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेत् द्विः परिमृजीत पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् अक्षिणी नासिके कर्णाविति यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तदद्भिः संस्पृशेत् इति ।

परिमृजीतेति । स्वस्य मुखमिति शेषः ।

त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य मुखमेतान्युपस्पृशेत् ।

आस्यनासाक्षिकर्णांश्च नाभिवक्षःशिरोंऽसकान् ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनात् । अत्र "एतानि वक्ष्यमाणानि उप समीपे स्पृशेत्, न तु रन्ध्रस्थाने।समलत्वात्।आस्यादीनां समासेनैकपदेनोपादानं तेषां सोपसर्गस्पृशतिसम्बन्धार्थम् । नाभ्यादीनां पृथक्समासेनोपादानं स्पृशतिमात्रसम्बन्धार्थम्" इति परिशिष्टटीकाकृन्नारायणः । पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेदित्यत्र विसमासकरणं पादाभ्युक्षणोदकशेषेण शिरसोऽभ्युक्षणनिषेधार्थम् इति भट्टभाष्यम्।अक्षिणी नासिके कर्णाविति सूत्रं न क्रमतात्पर्यकं,तत्परिशिष्टकृता आस्यनासाक्षीत्यादिना अक्षिनासिकयोरन्यथाक्रमाभिधानात् इति । अत एवाक्षिस्पर्शानन्तरं नासास्पर्श इत्यपि पक्षान्तरमिति छन्दोगाह्निकाद्युक्तं हेयम् ।

अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुःश्रोत्रे पुनः पुनः ॥

इति दक्षवचनीयश्रौतक्रमविरोधेन गोभिलीयपाठक्रमस्यानादेयत्वाच्च । इतिकरणं परिशिष्टोक्तानां बाह्वादीनामुपलक्षणार्थम् । मीमांस्यं दूषिकादिमलयुक्तत्वेन सम्भाव्यमानं तत्तदङ्गम् । अद्भिः सम्प्रक्षाल्यैव स्पृशेदित्यर्थः ।

व्यासोऽपि प्रकारान्तरमाह,

त्रिः प्राशयेदपः पूर्वं द्विरुन्मृज्यात्ततो मुखम् ।
पादावभ्युक्ष्य मूर्द्धानमभ्युक्षेत्तदनन्तरम् ॥
अक्षिणी नासिके कर्णावोष्ठौ च तदनन्तरम् ।
ततः स्पृशेन्नाभिदेशं पुनरापश्च संस्पृशेत् ॥
बाहू जान्वन्तरा कृत्वा तीर्थेन च शुचिर्भवेत् ।

प्रकारान्तरं भविष्यपुराणेऽपि,

समौ च चरणौ कृत्वा तथा बद्धशिखो नृप ।

अत्यन्तसुखितां चापि सत्का राजन्सुदूरतः ।
तथा,
घनाङ्गुलिं करं कृत्वा एकाग्रः सुमना द्विजः ।
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या चालभेदक्षिणी नृप ॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च नासिकामालभेत्ततः ।
मध्यमाभिर्मुखं नित्यं संस्पृशेत्कुरुनन्दन ॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाभ्यां च कर्णावालभते ततः ।
अङ्गुलीभिस्तथा बाहू अङ्गुष्ठेन तु मण्डलम् ।
नाभेः कुरुकुलश्रेष्ठ शिरः सर्वाभिरेव तु ।
वृद्धशङ्खः प्रकारान्तरमाह,
ततोऽङ्गुलिचतुष्केण स्पृशेन्मूर्द्धानमादितः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नेत्रद्वयं पृथक् ॥
मध्यमानामिकाभ्यां तु स्पृशेन्नासापुटे क्रमात् ।
अङ्गुष्ठेन कनीयस्या कर्णौ संयोगतः स्पृशेत् ॥
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन नाभिं हृदि तले न्यसेत् ।
शङ्खस्तु अन्यथाह,
अतः परं प्रवक्ष्यामि शुभामाचमनक्रियाम् ।
कायं कनीनिकामूले तीर्थमुक्तं द्विजस्य तु ॥
अङ्गुष्ठमूले च तथा प्राजापत्यं प्रकीर्तितम् ।
अङ्गुल्यग्रे स्मृतं दिव्यं पित्र्यं तर्जनिमूलके ॥
प्राजापत्येन तीर्थेन त्रिः प्राश्नीयाज्जलं द्विजः ।
द्विः प्रमृज्य मुखं पश्चात् खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ॥
तथा,
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयम् ।
मध्यमाङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नेत्रद्वयं ततः ॥

अङ्गुष्ठस्यानामिकया योगेन श्रवणे स्पृशेत् ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेत्स्कन्धद्वयं ततः ॥
सर्वासामेव योगेन नाभिं च हृदयं तथा ।
संस्पृशेत्तु तथा शीर्षमयमाचमने विधिः ॥

दक्षः प्रकारान्तरमाह,

अनेनैव विधानेन आचान्तः शुचितामियात् ।
प्रक्षाल्य पादौ पाणी च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ॥
संहृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
संहृत्य तिसृभिः पूर्वमास्यमेवमुपस्पृशेत् ॥
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुःश्रोत्रे पुनः पुनः ॥
नाभिं कनिष्ठाङ्गुष्ठेन हृदयं तु तलेन वै ।
सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद् बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ।

अनेन वक्ष्यमाणेन । पूर्वमाचमनविधानाकथनात् । मुखं संहृत्येत्यन्वयः । मुखमत्रौष्ठद्वयम् । तद् अलोमकप्रदेशे संहृत्य अर्थात्सलोमभागे द्विः प्रमृज्यादित्यर्थः । अत एव त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्येत्यादि छन्दोगपरिशिष्टवचनं तट्टीकाकृन्नारायणेनेत्थं व्याख्यातम् । यथा, एवमपो भक्षयित्वा मुखं वारद्वयमुत् ऊर्ध्वं सलोमस्थाने मार्जयेत् नत्वलोमके । पुनराचमनापत्त्याऽनवस्थाप्रसङ्गात् ।

तथाच वसिष्ठः, आचान्तः पुनराचामेत् वासश्च परिधायौष्ठौ संस्पृश्य यत्रालोमकाविति ।

आपस्तम्बोऽपि, श्यावान्तपर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याचामेत् ।

दन्तमूलात्प्रभृति औष्ठौ । तत्रालोमकः प्रदेशः श्यावः । तस्यान्तः सलोमकः । तत्पर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याचामेत् इति हरदत्तः । श्यावान्तपर्यन्तौ विलोमकाविति कल्पतरुरपि ।

शातातपोऽपि,

आचामेच्चर्वणे नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम्।
औष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च॥

एतेन—

आचामेद् ब्राह्मतीर्थेन ब्रह्मसूत्री ह्युदङ्मुखः।
तदन्तरान्तरा पाणिमाप्लाव्याप्लाव्य चाम्भसा॥

इति शिवधर्मोत्तरवाक्यमुपन्यस्य इदञ्चौष्ठसंसर्गजाशुद्धिनिवर्त्तकमाप्लवनमुक्तम् अत आचमने ओष्ठसंसर्गोऽभ्यनुज्ञात इति यत्कैश्चिद्व्याख्यातं, तद् अनादेयम्। एतद्वाक्यस्य प्रसिद्धनिबन्धेषु कुत्राप्यदर्शनेन निर्मूलत्वाच्च। समूलत्वेऽपि एतद्वाक्यप्रतिपादिताप्लावनस्याचमनावशिष्टरूपपीतशेषोदकक्षालकत्वेनाप्युपपत्तिरिति। एतच्च परिमार्जनं क्षालितपाणिना कर्त्तव्यम्।

तथाच पैठीनसिः, अङ्गुष्ठमूलेन द्विः परिमृजेत् निर्लेपपाणिः कृतशौच इति।

निर्लेपपाणिः क्षालनादपनीताचमनोदकलेपपाणिरिति हेमाद्रिः। संहृत्य एकीकृत्य। तिसृभिः तर्जनीमध्यमानामिकाभिः।

मध्यमाभिर्मुखं नित्यं संस्पृशेत्कुरुनन्दन।

इत्युदाहृतभविष्यपुराणैकवाक्यत्वात्। पूर्वं प्रथमतः। एवमिति। मुखं संहृत्येत्यर्थः। प्रदेशिनी तर्जनी। पूर्वमास्यं पश्चाद् घ्राणमनन्तरं चक्षुषी पुनः श्रोत्रे पुनर्नाभिं संस्पृशेदित्यन्वय इति कल्पतरुः। घ्राणं नासापुटद्वयम्।

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयम्।

इति शङ्खैकवाक्यत्वात्। केचित्तु पुनः पुनरिति स्वरसाच्चक्षुषी श्रोत्रे प्रत्येकं द्विः स्पृशन्ति। तत्र कल्पतरुकृतव्याख्यानुसारेण गोलकद्वयाभिप्रायेण च पुनः पुनरित्यस्योपपत्तौ अदृष्टार्थकल्प-

शावृत्तिकल्पनानौचित्यात्।गोलकद्वयस्पर्शश्च गोभिलादिसम्मतः।

यथाह गोभिलः, अक्षिणी नासिके कर्णाविति।

पैठीनसिश्च, अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां नेत्रे कनीनिकाङ्गुष्ठाभ्यां श्रोत्रे इति।

परे तु अक्षिणी नासिके श्रोत्रे च सकृदुपस्पृशेत् द्विरित्येके इति कामधेनुलिखितापस्तम्बवाक्यात्प्रत्येकं द्विरुपस्पर्शनमप्येकेषां पक्ष इति तदेकवाक्यतापन्नं पुनः पुनरितिदक्षवाक्यमिति वदन्ति। तलेन पाणितलेन।

सजलेन हृदयं चैव स्पृशेत्पाणितलेन तु।

इति शङ्खवाक्यात्। खान्यद्भिर्मूर्द्धानं हृदयं च स्पृशेदिति विष्णुवाक्याच्च। सर्वाभिः प्रकरणादङ्गुलीभिः। अग्रेण अङ्गुल्यग्रेण। बाहुस्पर्शश्च अंसप्रदेशे। नाभिवक्षःशिरोंसकानिति छन्दोगपरिशिष्टवचनात्। अंसौ स्पृष्ट्वा कराग्रेणेति वैयाघ्रपादवचनाच्च। अत्रौष्ठमार्जनानन्तरम् आस्योपस्पर्शनानन्तरं च हस्तप्रक्षालनं बहुषु निबन्धेष्वाचमनप्रयोगे लिखितम्।

पठन्ति च,

मुखं स्पृष्ट्वा तथा नाभिं पश्चात्प्रक्षालयेत्करम्। इति।

सर्वेषामेवेन्द्रियाणां सजलाभ्यां तत्तदङ्गुलिभ्यां स्पर्शः इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् इति गोभिलसूत्रात्।खानि चोपस्पृशेदद्भिरिति मनुस्मरणाच्च। कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां सजलाभ्यां नाभिं स्पृष्ट्वा तौ प्रक्षालयेदिति छन्दोगाह्निकम्। इन्द्रियादिस्पर्शनानन्तरं शिरसः पादयोश्चाभ्युक्षणमाह—

देवलः,

अथाम्बु प्रथमात्तीर्थात् दक्षिणात् त्रिः पिबेत् समम्।
अशब्दमनवस्रावमबहिर्जान्वबुद्बुदम्॥

प्रथमाद् ब्राह्मात्। मन्वादिभिराचमनार्हतीर्थेषु प्रथमतो ब्राह्मस्यैवाभिधानात्। दक्षिणात्, करात् इति शेषः। समं समकालम्। अव्यवधानेनेत्यर्थः। अशब्दं पानकाले यथा शब्दो न भवति। अनवस्रावं पानकाले यथा न स्रवति तथा।

द्विस्तथाऽङ्गुष्ठमूलेन परिमृज्यात्पुनर्मुखम्।
नाग्राङ्गुल्या न पृष्ठैर्वा परिमृज्यात्कथञ्चन॥
ततः कृत्वाऽङ्गुलिस्पर्शं दृग्घ्राणश्रोत्रनाभिषु।
मूर्द्धानं चरणौ चाद्भिः सम्प्रोक्ष्याथ शुचिर्भवेत्॥

नाग्राङ्गुल्येति। विहिताङ्गुष्ठमूलावरोधे प्रतिनिधित्वेन प्राप्तस्य पर्युदासः। तेन विहिताङ्गुष्ठमूलावरोधे प्रतिनिधित्वेनाङ्गुलिमध्यादिना मार्जनं मध्येऽनुज्ञातं भवति इति प्रतीयते। प्रकारान्तरेणेन्द्रियस्पर्शनमुक्त्वा पादप्रोक्षणानन्तरं प्रोक्षणावशिष्टानामपां सव्यपाणौ निनयनमाह—

पैठीनसिः, अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या नासिके संस्पृशेत् अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च नेत्रे कनीनिकाङ्गुष्ठाभ्यां श्रोत्रे मध्यमिकया मुखमङ्गुष्ठेन नाभिं सर्वाभिः शिरः, प्रदेशिनी वायुः अनामिका सूर्यः कनीनिका मघवा मध्यमिका प्रजापतिः अग्निः अङ्गुष्ठस्तस्मात्तेनैव सह सर्वाणि स्थितानि स्पृशति वायुः सूर्य इन्द्रः प्रजापतिरग्निरित्येता देवता एनं पुनीयुरिति।

तथा,

नासिकां चक्षुषी श्रोत्रे मुखं नाभिं ततः शिरः।
स्पृष्ट्वा प्राणान् यथासंख्यं पादौ प्रोक्ष्य ततः शुचिः॥
सव्ये च पाणौ शेषा अपो निनयेत् इति।

प्राणानिन्द्रियाणि। यथासंख्यं यस्येन्द्रियस्य यावती संख्या तामनतिक्रम्येत्यर्थः।

बौधायनोऽपि, खान्यद्भिः संस्पृश्य पादौ नाभिं शिरः सव्यपाणिमन्ततः ।

अन्ततः शेषे । अत्र प्रोक्षयेदिति शेष इति हेमाद्रिः ।

वसिष्ठोऽपि, खान्यद्भिः संस्पृशेन्मूर्द्धन्यपो निनयेत्सव्ये-पाणौ चेति ।

हारीतोऽपि प्रकारान्तरमाह, प्राङ्मुखः प्रागुदङ्मुखो वोपविश्यान्तरूर्वोररत्नी कृत्वा त्रिरपो हार्दं पिबेद् द्विः प्रमृज्योष्ठौ सकृन्मूर्द्धानं चक्षुःश्रोत्रे नाभिं हृदयं पादौ चाभ्युक्ष्योपस्पृश्य प्रयतो भवति ।

तैत्तिरीयश्रुतिश्च, हस्ताववनिज्य त्रिराचामेद् द्विः परि-मृज्य सकृदुपस्पृश्य सव्यं पाणिं पादौ प्रोक्षति शिरश्चक्षुषी नासिके श्रोत्रे हृदयमालभ्य यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति यद् द्विः परिमृजति तेन यजूंषि यत्सकृदुपस्पृशति तेन सामानि यत्सव्यं पाणिं पादौ प्रोक्षति यच्छिरश्चक्षुषी नासिके श्रोत्रे हृदय-मालभते तेनाथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः प्रीणातीति ।

एतेषां च विरुद्धानां प्रकाराणां स्वशाखायामनुक्तौ विक-ल्पेनानुष्ठानमित्यविरोधः ।

शङ्खः,

त्रिः प्राश्नीयाद्यदम्भस्तु प्रीतास्तेनास्य देवताः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च भवन्तीत्यनुशुश्रुम ॥
गङ्गा च यमुना चैव प्रीयेते परिमार्जनात् ।
नासत्यदस्रौ प्रीयेते स्पृष्टे नासापुटद्वये ॥
स्पृष्टे लोचनयुग्मे तु प्रीयेते शशिभास्करौ ।
कर्णयुग्मे तथा स्पृष्टे प्रीयेते अनिलानलौ ॥

स्कन्धयोः स्पर्शनादेव प्रीयन्ते सर्वपर्वताः ।
नाभेः संस्पर्शनान्नागाः प्रीयन्ते चास्य नित्यशः ॥
संस्पृष्टे हृदये चास्य प्रीयन्ते सर्वदेवताः ।
मूर्ध्नः संस्पर्शनादस्य प्रीतस्तु पुरुषो भवेत् ॥

इन्द्रियस्पर्शानन्तरं भविष्यत्पुराणे,

यद् भूमावुदकं वीर समुत्सृजति मानवः ।
वासुकिप्रमुखान्नागांस्तेन प्रीणाति भारत ॥

शूद्राधिकारे गौतमः, आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवेत्येके।

आचमनार्थे आचमनरूपे प्रयोजने इति कल्पतरुः । एवं च सकृत्स्पृष्टाभिरन्तत इत्यादिना विहितसेतिकर्तव्यताकाचमनस्थाने पाणिपादप्रक्षालनमेवैकेषां मतम् । मन्वादिमते तु सर्वोऽप्याचमनकल्पोऽस्ति ।

यथा बौधायनः, त्रिरपो हृदयङ्गमाः पिबेत्त्रिः परिमृजेद् द्विरित्येके सकृदुभयं शूद्रस्य स्त्रियाश्चेति ।

उभयं पानं मार्जनं च । स्त्रीशूद्रयोस्तदुभयं सकृदिति विधातुं पूर्वार्द्धेनानूद्यते इति । अन्यथास्योपस्पर्शादिकं वर्णान्तरवदेव शूद्रस्य । आचमनप्रापकवचनेन तेषामपि प्राप्तत्वात् । "स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्तत" इतिवचनव्याख्यायां सकृदिति वैश्याद्व्यावृत्तिरिति वदतो मिताक्षराकारस्यापि सम्मतोऽयमर्थः । आचमनार्थे आचमनेतिकर्त्तव्यतायां पाणिपादप्रक्षालनमेवेत्येवकारान्मुखादिस्पर्शनिवृत्तिः । एकेतिवचनाद्गौतममते मुखादिस्पर्शोऽस्तीति रत्नाकरः॥ श्रीदत्तादिनिबन्धेषु तु आचमनार्हजलाभावे इति गौतमवाक्ये योजितम् । तेषां मते पाणिपादप्रक्षालनमेव शूद्राणां साक्षाचमनानुकल्प इत्येकेषां मुनीनां मतमिति सिध्यति । आर्याश्रितानां तदभ्रसंस्कर्तॄणां शूद्राणां तदार्यवदेवाचमनकल्पः ।

यथा आपस्तम्बः, आर्याः प्रयता वैश्वदेवेऽन्नसंस्कर्त्तारः स्युरित्युपक्रम्य आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युस्तेषां स एवाचमनकल्प इति ।

आर्यास्त्रैवर्णिकाः । तदधिष्ठिताः शूद्रा इत्युत्तरत्र दर्शनात् । वैश्वदेवे गृहमेधिनो भोजनार्थे पाके शूद्राः संस्कर्त्तारः, प्रकृतत्वाद्-न्नस्येति गम्यते । तेषाम् अन्नसंस्कर्तृशूद्राणां स एव तत्तदार्यीय एव यथा ब्राह्मणाश्रितस्य ब्राह्मणान्नसंस्कर्त्तुः शूद्रस्य ब्राह्मणव-दित्यादि । एतेन यद्रत्नाकरेणोक्तम्, "आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालन-मेवेति गौतमसूत्रमसच्छूद्रपरम् । मन्वाद्युक्तो मुखादिस्पर्श आर्या-धिष्ठितशूद्रविषयः ।

तथाच बौधायनः, शूद्राणामार्याधिष्ठितानामर्द्धमासि मासि वा वपनमार्यवदाचमनकल्प,, इति,

तच्चिन्त्यम् । आपस्तम्बवाक्यैकवाक्यतया बौधायनेन आर्याधि-ष्ठितानां तदन्नसंस्कर्तॄणां तदार्यवदाचमनकल्पविधानात् । मन्वादि-ना तु आर्यकल्पातिरिक्तस्यैव आचमनकल्पस्य शूद्रं प्रति विधा-नात् । सच्छूद्राणां वैश्यवदाचमनकल्पः ।

यदाह मनुः,

मासिकं वपनं कार्यं शूद्राणां न्यायवर्त्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं तु भोजनम् ॥

न्यायवर्त्तिनां द्विजशुश्रूषा पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठायिनां शौच-कल्पः सूतकादावाचमनं चेति मेधातिथिः ।

अनुपनीतस्याचमने विशेषमाह गौतमः, यथा प्रागुपनयना त्कामचारकामवादकामभक्षा इत्युपक्रम्य नास्याचमनकल्पो विद्यते ।

आचमनकल्प आचमनेतिकर्त्तव्यता । इतिकर्त्तव्यतानिषेधमु-खेन मुख्यमाचमनमनुज्ञातं भवतीति । द्विराचमने तु पाणिपादप्रक्षा-

लनवर्जं सर्वमङ्गजातमावर्त्तते । आचान्तः पुनराचामेदित्यनेन साङ्गस्यैवाचमनस्यावृत्तिमाप्तेः । पाणिपादप्रक्षालनफलस्य शौचस्य दृष्टफलस्य सकृदनुष्ठानेनैव सिद्धत्वात् तन्मात्रं नावर्त्तते । यत्तु छन्दोगाह्निके द्विजातीनामपि पुनराचमने हृद्गामित्यादिस्थाने ओष्ठस्पर्शमात्रं शास्त्रार्थः । अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवतीति गोभिलसूत्रादिति । तच्चिन्त्यम् । न हीदं गोभिलवाक्यं द्विराचमनेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादकं, किं तु इन्द्रियोपस्पर्शनानन्तरम्—

अंसौ स्पृष्ट्वा कराग्रेण तोयं स्पृष्ट्वा समाहितः ।
संस्पृश्य पद्मनाभं च विप्रः सम्यग्विशुद्ध्यति ॥

इतिभृगुवाक्यैकवाक्यतया उदकस्पर्शनपरम् । तथाच तत्सूत्रव्याख्यायां भट्टभाष्यम्,अन्तत उपस्पर्शनान्ते एवमेव पाणिनोदकस्पर्शनं कृत्वा शुचिर्भवति अक्षादिस्पर्शसहितमाचमनं कृत्वोदकस्पर्शनं कृत्वा शुचिर्भवेत् ।

## अथाचमनकर्तृधर्माः ।

भविष्यपुराणे,

विना यज्ञोपवीतेन तथा मुक्तशिखो द्विजः ।
अप्रक्षालितपादस्तु आचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥
बहिर्जानुरुपस्पृश्य एकहस्तार्पितैर्जलैः ।
सोपानत्कस्तथा तिष्ठन्नैव शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

देवलः,

सोपानत्को जलस्थोऽपि मुक्तकेशोऽपि वा पुनः ।
उष्णीषी वापि नाचामेद् वस्त्रेणावेष्ट्य वा शिरः ॥
न शौचं वर्षधाराभिराचरेद्वेदतत्त्ववित् ।

अत्रोष्णीषं किरीटम् ।

उष्णीषं शिरोवेष्टकिरीटयोः ।

इत्यमरकोशात् । श्मश्रुदेशेऽपि वेष्टनवानुष्णीषीति हेमाद्रिस्मृतिचन्द्रिकाकारौ। उष्णीषवेष्टनस्याधिकानिन्दार्थं पृथगभिधानमित्यपरे ।

गोभिलः,

जानुभ्यामूर्ध्वमाचम्य जले तिष्ठन्न दुष्यति ।

विष्णुः,

जान्वोरूर्ध्वं जले तिष्ठन्नाचान्तः शुचितामियात् ।
अधस्ताच्छतकृत्वोऽपि समाचान्तो न शुध्यति ॥

जान्वोरधस्ताज्जले तिष्ठत आचमननिषेधाज्जानुमात्रे जले तिष्ठत आचमनमनुमतं भवतीति प्रतीयते ।

अत एव जातूकर्ण्यः,

जानुमात्रे जले तिष्ठन्नासीनः प्राङ्मुखः स्थले ।
सर्वतः शुचिराचान्तस्तयोस्तु युगपत्स्थितः ॥

तयोर्जलस्थलयोर्युगपत्स्थितो विद्यमानः समाचान्तः सर्वत उभयत्रापि शुचिर्भवतीत्यर्थः ।

पैठीनसिः, अन्तरुदकमाचान्तोऽन्तरेव शुद्धो भवति बहिरुदकमाचान्तो बहिरेव शुद्धो भवति तस्मादन्तरेकं पादं बहिरेकं पादं कृत्वाऽऽचामेत्सर्वत्र शुद्धो भवति ।

हारीतोपि,

जलस्थो वा स्थलस्थो वा द्वयोर्वा समवस्थितः ।
जलस्थो जलकृत्येषु स्थलस्थः स्थलकर्मसु ॥
उभयोस्तूभयस्थस्तु कर्मस्वधिकृतो भवेत् ।

हेमाद्यादिषु दक्षः,

स्नात्वाऽऽचामेद्यदा विप्रः पादौ कृत्वा जले स्थले ।
उभयोरप्यसौ शुद्धस्ततः कार्यक्षमो भवेत् ॥

हारीतः,

आर्द्रवासा जले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ।
शुष्कवासाः स्थले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ॥
आर्द्रवासाः स्थलस्थस्तु यद्याचामेन्नराधमः ।
वस्त्रनिश्चोतनं तस्य प्रेतास्तत्र पिबन्ति हि ॥

व्यासः,

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ।
अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥

अशुचिर्भवेत् शुचिर्न भवेदित्यर्थः ।

ब्रह्माण्डपुराणे,

कण्ठं शिरो वा प्रावृत्य रथ्याऽऽपणगतोऽपि वा ।
अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥

आपणः क्रयविक्रयभूमिः ।

प्रचेताः, नानन्तर्वासाः न निर्वासा नाश्रु कुर्वन्नचामेध्यं कुर्वन् नासनपाद आचामेत् ।

अनन्तर्वासाः अधोवस्त्रशून्यः । अमेध्यं श्लेष्मादि ।

गोभिलः, नोपस्पृशेद्व्रजन्, न तिष्ठन्, न हसन्, न विलोकयन्, नाप्रणतो, नाङ्गुलीभिः, नातीर्थेन, न सशब्दं, तथा न वाह्यांसो, नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयतां, नोष्णाभिः, न सफेनाभिः, तथा नच सोपानत्कः क्वचित्, न कासक्तिको, न गलेबद्धः, चरणौ न प्रसार्य चेति ।

अस्यार्थः । न विलोकयन् नेतस्ततश्च वीक्षणं कुर्वन् । नाप्रणतः प्रणतस्योच्छिष्टोदकमङ्गेषु यतः पतति अतो न प्रणत इत्युक्तम् । अनेनोच्छिष्टोदकसंबन्धविरोधिनी ईषत्प्रह्वताऽनुमता । तेन न तिष्ठन्नाचामेत् प्रह्वो वेति नापस्तम्बवचनविरोधः । नाङ्गुलीभिः-अङ्गुलीभिरुदकमूर्ध्वमुत्क्षिप्य नेत्यर्थः । नातीर्थेन विहिततीर्थान्येन पित्र्यादिना

नेत्यर्थः । न सशब्दं न मुखशब्दं कुर्वन्नित्यर्थः । आचामेदित्यनुवृत्तौ न मुखशब्दं कुर्वन्निति शङ्खलिखितैकवाक्यत्वात् । बाह्यांसः जानुभ्यां बाह्यौ बहिर्भूतौ अंसौ यस्य स बाह्यांसः । नान्तरीयैकेति । अन्तरीयम् अधरीयवासस्तदेकदेशस्तदञ्चलं तस्योत्तरीयतां कल्पयित्वा नेत्यर्थः । नच सोपानत्कः क्वचित् उपानहौ प्रसिद्धे ताभ्यां सह वर्त्तत इति सोपानत्कः तथा नेत्यर्थः । क्वचिदपि कस्यांचिदप्यवस्थायाम् । अस्यापवादकं गोभिलीयभट्टभाष्यधृतं पुराणवचनम्,

राज्ञां गुरूणां देवानां न दुष्येदन्तिके चरन् ।
आजानुपत्रचरणस्तथाऽऽचमनकर्मणि ॥ इति ।

पत्त्रं पादत्राणम् । तथाच जानुपर्यन्ताच्छादकपादत्राणवानित्यर्थः । कासक्तिकः के शिरसि आसक्तिका आवेष्टिका कृता येन स कासक्तिकः । अथवा के शरीरे आसक्तिर्वाससा आसङ्गः कृतो येन स कासक्तिकः बद्धपरिकर इति यावत् । अन्ये तु प्रयुक्तकञ्चुकं कासक्तिकं मन्यन्ते । एतदयुक्तम् । न स्यात्कर्मणि कञ्चुकीति वचनात्कर्मण्येव सकञ्चुकस्य आचमनप्रतिषेधो नान्यत्रेति भट्टभाष्यात् । न गलेबद्धः न गलावलम्बितवासाः । चरणौ न प्रसार्य च चरणौ प्रसार्य वितत्य चशब्दादासनस्थौ च पादौ कृत्वा नेत्यर्थः ।

तथाचोक्तं,

नासनारूढचरण आचामेन्न जपेत् क्वचित् । इति ।

बौधायनोऽपि, न हसन्न जल्पन्नतिष्ठन्नावलोकयन्न प्रह्वो न प्रणतो न मुक्तशिखो न प्रावृतकण्ठो न वेष्टितशिरा नायज्ञोपवीती न प्रसारितपादो नाबद्धकच्छो न बहिर्जानु न त्वरमाणः शब्दमकुर्वन्नित्यरूपो हृदयङ्गमाः पिबेत् इति ।

प्रणतो नमस्कुर्वन् । नाबद्धकच्छ इति ।

वामे पृष्ठे तथा नाभौ कच्छात्रयमुदाहृतम् ।

इत्युक्तकच्छात्रयबन्धनरहितः ।

**विष्णुः**,

न गच्छन्न शयानश्च न स्थितः प्रह्व एववा ।

न स्पृशन्न हसन् जल्पन्न श्वचाण्डालदर्शनम् ॥

न स्पृशन्, परानिति शेषः । न परान्स्पृशन्निति देवलसंवादात् ।

**मरीचिः**,

न बहिर्जानु त्वरया नासनस्थो नचोत्थितः ।

न पादुकास्थो नाचित्तः शुचिः प्रयतमानसः ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यं शुद्धः पूतो भवेन्नरः ।

भुक्त्वाऽऽसनस्थोऽप्याचामेन्नान्यकाले कदाचन ॥

वसिष्ठः, व्रजंस्तिष्ठन् शयानः प्रणतो वा नाचामेत् ।

**भृगुः**,

विना यज्ञोपवीतेन तथा ऽधौतेन वाससा ।

मुक्त्वा शिखां वाऽऽचान्तस्य कृतस्यैव पुनः क्रिया ॥

सोष्णीषो बद्धपर्यङ्कः प्रौढपादश्च यानगः ।

दुर्देशे प्रपदस्थश्च नाचामञ्छुद्धिमाप्नुयात् ॥

कृतस्य, आचमनस्येति शेषः । बद्धपर्यङ्कः वस्त्रादिना वेष्टितजघनभाग इति हेमाद्रिः । प्रौढपादलक्षणमाह—

**शाट्यायनः**,

आसनारूढपादश्च जानुनोर्वाऽथ जङ्घयोः ।

कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढपादः स उच्यते ॥ इति ।

जानुनोर्जङ्घयोर्वा आरूढपाद इत्युनुषज्यते । योगपट्टाकृतिना

वस्त्रेणावेष्टितपृष्ठजानुद्वयमवस्थानमवसक्थिकेति हेमाद्रिः । अत्र तु-शब्दद्वयवाशब्दाथशब्दैः प्रौढपादस्य चतुर्विधत्वं प्रतीयते । अत्र चानेकोद्धाखे दारुशिले भूमिसमे इष्टकाश्च सङ्कीर्णीभूता इति बौधायनस्वरसात्तथाविधे आरूढपादोऽप्याचमनं कुर्यादिति वदन्ति ।

हेमाद्रौ कौशिकः,

अपवित्रकरः कश्चिद् ब्राह्मणोऽप उपस्पृशेत् ।
अपूतं तस्य तत्सर्वं भवत्याचमनं तथा ॥

इदं च कर्मार्थाचमनपरम् ।

पवित्रकर आचामेच्छुचिः कर्मार्थमादरात् ।
कुशमात्रकरो वापि दर्भमात्रकरोऽथवा ॥

इतिस्मृत्यर्थसारधृतवचनस्वरसात् ।

एवं च—

सपवित्रेण हस्तेन कुर्यादाचमनक्रियाम् ।
नोच्छिष्टं तत्पवित्रं तु भुक्तोच्छिष्टं तु वर्जयेत् ॥

इति मार्कण्डेयवाक्यमपि कर्मार्थाचमनपरम् । नोच्छिष्टम् आचमनावशिष्टरूपोच्छिष्टोदकसंबन्धेनापि नोच्छिष्टं भवतीत्यर्थः । भुक्तोच्छिष्टं भोजनावशिष्टरूपोच्छिष्टान्नसंबन्धेनोच्छिष्टम् । एवं सार्थवादं गोभिलवाक्यमप्येतत्परमेव ।

यथा गोभिलः,

उभयत्र स्थितैर्दर्भैः समाचामति यो द्विजः ।
सोमपानफलं तस्य भुक्त्वा यज्ञफलं लभेत् ॥

यत्तु,

वामहस्ते कुशान्कृत्वा समाचामति यो द्विजः ।
उपस्पृष्टं भवेत्तेन रुधिरेण मलेन वा ॥

इति हारीतवचनं, तद् वामहस्तमात्रधृतकुशपरम् । पवित्रे विशेष-

माह मदनरत्नप्रदीपमदनपारिजातयोः,—

हारीतः,

सव्यापसव्यौ कुर्वीत सपवित्रौ करौ द्विजः ।
ग्रन्थिर्यस्य पवित्रस्य न तेनाचमनं चरेत् ॥
पूर्वार्द्धे पवित्रपदं कुशमात्रपरम् ।
सव्यः सोपग्रहः कार्यो दक्षिणः सपवित्रकः ।

इति छन्दोगपरिशिष्टस्वरसात् । समन्त्रकाचमनप्रतिपादकानि वाक्यानि दाक्षिणात्यनिबन्धे कुत्रचिद् दृश्यन्ते ।

यथा स्मृत्यर्थसारे,

तदोङ्कारेणाचमनं यद्वा व्याहृतिभिर्भवेत् ।
सावित्र्या वापि कर्त्तव्यं यद्वा कार्यममन्त्रकम् ॥

प्रयोगपारिजाते भरद्वाजः,

देव्याः पादैस्त्रिभिः पीत्वा अब्लिङ्गैर्नवधा स्पृशेत् ।
पुनर्व्याहृतिगायत्र्या शिरो मन्त्रैर्द्विधा स्पृशेत् ॥

देवी गायत्री । अब्लिङ्गैरापोहिष्ठामयोभुव इत्यादिनवभिर्मन्त्रैः ।

तत्र व्याघ्रपादः,

केशवादित्रिभिः पीत्वा चतुर्थेन मृजेत्करम् ।
पञ्चमेन च षष्ठेन द्विरोष्ठावुन्मृजेत्क्रमात् ॥
तौ सप्तमेन च मृजेदेकवारं तु मन्त्रवित् ।
अष्टमेन तु मन्त्रेण अभिमन्त्र्य जलं शुचि ॥
वामं सम्प्रोक्षयेत्पाणिं मनुना नवमेन च ।
दक्षिणं दशमेनाङ्घ्रिं वाममेकादशेन वै ॥
मूर्द्धानं द्वादशेनाथ स्पृशेदूर्ध्वोष्ठपृष्ठकम् ।
सङ्कर्षणाय नम इत्यनेनाङ्गुलिमूर्द्धभिः ॥
अङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां संश्लिष्टाभ्यां जलैः सह ।

नासारन्ध्रे वासुदेवप्रद्युम्नाभ्यां स्पृशेत्‌ शुभे ॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु संश्लिष्टाभ्यां जलैः सह ।
अनिरुद्धाय नम इति संस्पृशेदक्षि दक्षिणम्‌ ॥
पुरुषोत्तममन्त्रेण ताभ्यां वामां स्पृशेद्‌ दृशम्‌ ।
तथाऽङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां श्लिष्टाग्राभ्यां जलैः सह ॥
अधोक्षजनृसिंहाभ्यां श्रोत्रे द्वे संस्पृशेत्क्रमात्‌ ।
नाभिमच्युतमन्त्रेण ताभ्यामेव स्पृशेद्‌ बुधः ॥
श्रीजनार्दनमन्त्रेण तलेन हृदयं स्पृशेत्‌ ।
उपेन्द्रायेति मूर्द्धानं स्पृशेत्‌ सकलपाणिना ॥
सर्वाङ्गुल्यग्रभागैश्च समाश्लिष्टैर्जलैः सह ।
भुजौ तु हरिकृष्णाभ्यां संस्पृशेद्दक्षिणोत्तरौ ॥
आचामेदेवमेवं यो भगवन्नामभिः क्रमात्‌ ।
सद्यः पूतः स विहितेषूत्तरेष्वधिकारवान्‌ ॥ इति ।

नामानि तु, केशव १ नारायण २ माधव ३ गोविन्द ४ विष्णु ५ मधुसूदन ६ त्रिविक्रम ७ वामन ८ श्रीधर ९ हृषीकेश १० पद्मनाभ ११ दामोदर १२ सङ्कर्षण १३ वासुदेव १४ प्रद्युम्न १५ अनिरुद्ध १६ पुरुषोत्तम १७ अधोक्षज १८ नृसिंह १९ अच्युत २० जनार्दन २१ उपेन्द्र २२ हरि २३ कृष्ण २४ इति । एतेषां चतुर्विंशतिनाम्नामाद्यैस्त्रिभिः क्रमेण त्रीणि पानानि चतुर्थेन पञ्चमेन च करौ मार्जयेत्‌ इति क्रमेण कुर्यात्‌ ।

**तत्रैवाश्वलायनः,**

ततः प्राङ्मुख आचम्य प्रागुदङ्मुख एव वा ।
प्रक्षालयेत्करौ मृद्भिरदुष्टैरद्भिराचमेत्‌ ॥
…नबुद्बुदपङ्कात्करागगन्धादिवर्जितैः ।
जलैः शुद्धैः पिबेद्दैश्चतुर्धाऽम्बु शनैर्द्विजः ॥

हृद्गाभिभिर्जलैर्विप्रः क्षत्रियः कण्ठगामिभिः ।
तौ पिबेत्तालुगाभिश्च विट्शूद्रौ चाङ्गना पुनः ॥
प्रमृजेत् द्विरथर्वेण पुराणैश्चेतिहासकैः ।
मुखमङ्गुष्ठमूलेन पृथक्काय उपस्पृशेत् ॥
पाणिना ऽधोऽग्निमन्त्रेण अत्रमृज्याथ संस्पृशेत् ।
विप्रस्तु नेतराणां तु तन्मुखालम्भनं स्मृतम् ॥
सूर्याय दक्षिणे नेत्रे वामे सोमाय वायवे ।
नसोर्दिग्भ्यः श्रवणयोर्बाह्वोरिन्द्राय संस्पृशेत् ॥
पृथिव्यौ पादयोर्जान्वोरन्तरिक्षाय गुह्यके ।
दिवे नाभ्यां ब्रह्मणे च विष्णवे हृदये तथा ॥
शिवायेति शिरस्यन्ते हस्तं प्रक्षालयेत्ततः ।
अङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां नेत्रयोराचमन् स्पृशेत् ॥
अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च नासाश्रवणयोस्ततः ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां सकनिष्ठाभ्यां च बाहुके ॥
साङ्गुष्ठैरखिलैरेव स्थानेष्वन्येषु संस्पृशेत् ।
प्रक्षिपेद् ब्रह्मतीर्थेन जलमाचमनं चरन् ॥
पीत्वाऽन्येन भवेत्पाप्मा तीर्थेनेति मतिर्मम ।

आचमनविध्यनन्तरं देवलः,

रेतोमूत्रशकृन्मोक्षे भोजनेऽध्वपरिश्रमे ।
शौचमेवंविधं प्रोक्तमीषच्चान्यत्र वर्त्तते ॥

भोजने कृते करिष्यमाणे च । अत्र अध्वपरिश्रमे वर्षासु ग्रामसङ्करादिदूषिताध्वसञ्चरणे इति वदन्ति ।

तत्र च यमोक्तशौचानन्तरमाचान्तव्यम् ।

यथा यमः,

सकर्दमे तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसङ्करम् ।

जङ्घाभ्यां मृत्तिकास्तिस्रः पद्भ्यां तु द्विगुणाः स्मृताः ॥ इति ।

एवंविधं प्रागुक्तम्। ईषच्च ईषदपि। अन्यत्र रेतस्त्यागादिभ्योऽन्यत्र । एवञ्च रेतस्त्यागादौ कृत्स्न एवाचमनविधिः, अन्यत्र किञ्चिन्निमित्तवशात्किञ्चिदङ्गत्यागेऽप्याचमनं सिध्यति । निषिद्धं तु वर्जनीयमेव । कल्पतरुस्तु यैराचमनाङ्गैर्विना आचान्तोऽथ शुचिर्भवेदित्युक्तं तदितराङ्गत्यागेनापि रेतोमूत्रेत्याद्युक्तनिमित्तादन्यत्राचमने किञ्चिदङ्गत्यागेनापि कृतं सम्पद्यते इत्युक्तमीषच्चान्यत्र वर्त्तत इत्याह ।

## अथाचमननिमित्तानि ।

तत्र मन्वङ्गिरोबृहस्पतयः,

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च ।

पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥

वायुपुराणे,

निष्ठीविते तथाऽभ्यङ्गे तथा पादावसेचने ।

उच्छिष्टस्य च सम्भाषादशुच्युपहतस्य च ॥

सन्देहेषु च सर्वेषु शिखां मुक्त्वा तथैवच ।

सन्देहेषु आचमनतन्निमित्तविषयकेष्विति कल्पतरुः । शिखां मुक्त्वेति । शिखामोचननिमित्तं त्वाचमनं पुनः शिखां बध्वैव कार्यम् । शिखाबन्धनस्य सर्वकर्माङ्गत्वात् ।

तथा,

विना यज्ञोपवीतेन नित्यमेवमुपस्पृशेत् ।

उच्छिष्टस्यापि संस्पर्शे दर्शने चान्त्यजन्मनाम् ॥

विना यज्ञोपवीतेनेति यज्ञोपवीतत्यागो निमित्तम्। एतदपि यज्ञोपवीतधारणानन्तरं कार्यं, यज्ञोपवीतस्यापि सर्वकर्माङ्गत्वात् ।

ब्रह्मपुराणे,

क्षुते श्लेष्मपरित्यागे धीते वा भक्षिते सति।
अववर्णस्य सम्भाषे सुप्ते वा दन्तधावने॥
आचम्य प्रयतो भूत्वा ततः शुद्धो भवेन्नरः।

धीते पीते। धेट् पाने इत्यस्य निष्ठायां रूपम्। अववर्णः चाण्डालादिः। संलापः परस्परसम्भाषणम्। संलापो भाषणं मिथ इत्यमरकोषात्।

संवर्त्तः,
चर्मारं रजकं वैणं धीवरं नटमेवच।
एतान्स्पृष्ट्वा नरो मोहादाचामेत्प्रयतोऽपि सन्॥
रजको वस्त्ररञ्जनकर्त्ता।

कूर्मपुराणे,
चाण्डालम्लेच्छसम्भाषे स्त्रीशूद्रोच्छिष्टभाषणे।
उच्छिष्टं पुरुषं स्पृष्ट्वा भोज्यं चापि तथाविधम्॥
आचामेदश्रुपाते वा लोहितस्य तथैवच।

तथा,
अग्नेर्गवामथालम्भे स्पृष्ट्वा प्रयतमेववा।
स्त्रीणामथात्मनः स्पर्शे नीवीं वा परिधाय च॥
उपस्पृशेज्जलं वाऽऽर्द्रतृणं वा भूमिमेववा।
केशानां चात्मनः स्पर्शे वाससोऽक्षालितस्य च॥

आपस्तम्बः,
मूत्रं कृत्वा पुरीषं वा मूत्रपुरीषलेपानन्नलेपानुच्छेषलेपान् रेतसश्च ये लेपास्तान् प्रक्षाल्य पादौ चाचम्य प्रयतो भवति।

अन्नलेपोऽन्नमयोद्वर्त्तनादिलेपः। उच्छेष उच्छिष्टम्।

पैठीनसिः, उच्छिष्टरेतोविण्मूत्रं संस्पृश्योन्मृज्याचम्य प्रयतो भवति त्रिः प्रक्षाल्य च तं देशम्।

अत्राचमनप्रक्षालनयोरार्थक्रमेण पाठक्रमबाधः ।

हेमाद्रौ आचमनप्रकरणे हारीतः,

रथ्यामाक्रम्य सुषुप्सुः कृतमूत्रपुरीषो भक्षित्वा ।

सुषुप्सुः निद्रां करिष्यन् ।

**बृहस्पतिः,**

अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे ।

मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे ॥

निमित्तेष्वेषु धर्मार्थं कर्म कुर्वन्नुपस्पृशेत् ।

उपस्पर्शनमाचमनम् ।

**आपस्तम्बः**, स्वप्ने क्षवथौ सिङ्घाणिकाऽश्र्वालम्भे लोहितस्य केशानामग्नेर्गवां ब्राह्मणस्य स्त्रियाश्चालम्भे महापथं गत्वा ऽमेध्यं चोपस्पृश्याप्रयतं च मानुषं नीवीं च परिधायाप उपस्पृशेदार्द्रं वा शकृदोषधीर्भूमिं वा इति ।

स्वप्नो निद्रा । क्षवथुः छिक्का। सिङ्घाणिका नासिकातो निर्गतः श्लेष्मा । अश्रु नेत्रनिर्गतं जलम् । अनयोरालम्भे स्पर्शे । लोहितस्य रुधिरस्य। केशानां शिरोगतानां भूगतानां चेति हरदत्तः । प्रच्युतानामिति स्मृत्यर्थसारे । अत्राग्निगोब्राह्मणानां स्पर्शे यदाचमनं विहितं तद् विहितस्पर्शेतरतत्स्पर्शमात्रनिमित्तकं न तु तत्स्पर्शजन्याप्रायत्यनिमित्तकमिति कल्पतरुः । वस्तुतस्तु गोपृष्ठस्पर्शस्याचमनानुकल्पत्वेनाभिधानान्माऽस्तु आचमनानुकल्पत्वेनानुष्ठितस्य गोपृष्ठस्पर्शस्याचमनानिमित्तत्वम् । अनवस्थावैयर्थ्यान्यतरप्रसङ्गात् । अन्येषां तु विहितानामपि तत्स्पर्शानां विहितस्नानादीनामिवाचमननिमित्तत्वे बाधकं न पश्यामः । विहितगवादिस्पर्श एवाचमननिमित्तमिति तु मदनरत्ने। तदपि चिन्त्यम् । सङ्कोचे प्रमाणाभावात् । आचमनानुकल्पत्वेन विहितगोस्पर्शस्या-

चमननिमित्तत्वे विधानवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। अथाश्रमतिग्रहेष्वधिक-रणन्यायेन विहितस्यैव निमित्तत्वमिति चेत्। तर्हि आचमननि-मित्तत्वेनोक्तानां स्नानादीनां विहितानामेवाचमननिमित्तत्वं स्यात्। अग्निगोब्राह्मणस्पर्शाः कर्मकालीना एवाचमननिमित्तानीतितु स्मृत्यर्थसारे। अत्र येषामाचमननिमित्तत्वेनोक्तानां नामायत्य-निमित्तत्वं तेषां निमित्तानां कर्मकाले उपनिपाते सति तन्निमित्त-काचमनाकरणेऽपि कृतं कर्माविगुणमेव। महापथो राजमार्गः। अमे-ध्यं वक्ष्यमाणम्। नीवी अधोवस्त्रपरिधानग्रन्थिः। परिधाय कृत्वेत्यर्थः। नीवीं विस्रस्य परिधायोपस्पृशेत् आर्द्रगोमयं तृणं भूमिं वा सं-स्पृशेत् इति बौधायनस्वरसोऽप्येवम्। विस्रस्य मुक्त्वा। नीवी अधो-वासग्रन्थिः। तद्योगादधोवासो लक्ष्यते इति हेमाद्र्युज्ज्वलाकारौ। अप उपस्पृशेत् आचामेत्। अनुकल्पमाह आर्द्रमित्यादि। आर्द्रमिति सर्वान्वयि इति हेमाद्रौ।

शकृद् गोमयम् आर्द्रगोमयमिति बौधायनवाक्यात्।

अमेध्यान्याह मनुः,

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः॥

खानि छिद्राणि। स्त्रीपुंसोपस्थभेदादुत्तरार्द्धे यानीति बहु-वचनम्। देहच्युता मला अमेध्या इत्यर्थः।

मलानाह स एव,

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविण्नखाः।
श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदा द्वादशैते नृणां मलाः॥

वसा कायस्नेहः। असृक् रक्तम्। मज्जा शिरोमध्यस्थितपि-ण्डितस्नेहः। दूषिका नेत्रमलः। कर्णविट् कर्णमलः। अत्र नृपदं कृत्वा मनुष्यमात्रपरम्। न तु नॄ गताविति धात्वनुसारात्प्राणिमात्रप-

रम् । स्त्रेर्बलवत्वात् नृपदवैयर्थ्याच्च । अत एव—

रामायणे,

ददर्श च वने तस्मिन्महतः सञ्चयान् कृतान् ।

मृगाणां महिषाणां च करीषान् वह्निकारणात् ॥

इति मुनीनां महिषादिपुरीषसङ्ग्रहः श्रूयते इति । एतेषां च मलानां स्पर्शे सति पूर्वषट्के मृज्जलाभ्यामुत्तरषट्के केवलेन जलेन प्रक्षालनोत्तरमाचमनम् । यथा उक्तद्वादशमलानधिकृत्य—

बौधायनः,

आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये ।

उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति ॥

यद्यपि,

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।

दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥

इति मनुवाक्येन द्वादशस्वपि मृज्जलाभ्यां शुद्धिरित्यापाततः प्रतीयते, तथापि उदाहृतबौधायनवाक्यैकवाक्यतया कुत्रचिन्मृज्जलयोरुभयोः कुत्रचित्केवलजलस्यैवान्वये मनोस्तात्पर्यमुन्नेयम् ।

केचित्तु उत्तरषट्के मृद्वारिणोः केवलवारिणा सह विकल्पः स च व्यवस्थित उपघाताद्यपेक्षयेति वदन्ति । विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थमिति । विण्मूत्रे उत्सृज्येते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिः । उत्सर्गनिमित्तिका पाय्वादीनां शुद्धिः पूर्वार्धेन लेपनिमित्तिका शुद्धिरुत्तरार्द्धेन प्रतिपाद्यते ।

देवलः,

उच्छिष्टं मानवं स्पृष्ट्वा भोज्यं वापि तथाविधम् ।

तत्रैव हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचम्य शुध्यति ॥

तथाविधम् उच्छिष्टम् ।

तथा,

यदम्भः शौचनिर्मुक्तं क्षितिं प्राप्य विनश्यति ।
प्रक्षाल्याशुचिलिप्तं च तत्स्पृष्ट्वा ऽऽचम्य शुध्यति ॥

शौचजलार्द्रितभूभागं संस्पृश्याशुचिलिप्तमङ्गं प्रक्षाल्याचम्य शुध्यतीत्यर्थः ।

हारीतः, स्त्रीशूद्रोच्छिष्टाभिभाषणे मूत्रपुरीषोत्सर्गदर्शने देवतामभिगन्तुकाम आचामेत् । तथा जलमित्यनुवृत्तौ, नोत्तरेदनुपस्पृश्य । उत्तरेत् सन्तरेत् ।

यमः,

उत्तीर्योदकमाचम्य अवतीर्य उपस्पृशेत् ।
एवं स्याच्छ्रेयसा युक्तो वरुणश्चैव पूजितः ॥

आचम्यावतीर्योत्तीर्य चोपस्पृशेदित्यन्वयः । अवतीर्य प्रविश्य । उत्तीर्य निर्गत्य । तॄ प्लवनतरणयोरितिधात्वनुसारात् तॄधातोरेकस्यैव च हारीतवाक्ये प्लवनार्थकत्वं यमवाक्ये ऽवतरणार्थकत्वमिति कल्पतरुसम्मतोऽर्थः ।

आपस्तम्बः, रिक्तपाणिर्वयसउद्यम्याप उपस्पृशेच्छक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतः स्यान्नग्नो वा नाप्सु सतः प्रयमणं विद्यते उत्तीर्य त्वाचामेत् ।

रिक्तपाणि॰ लोष्टादिशून्यहस्तः वयसे पक्षिणे उद्यम्य उत्क्षिप्य, प्रक्रमात्पाणिमिति शेषः । अप उपस्पृशेत् आचामेत् । शक्तिविषये शक्तौ सत्याम् । नग्नो वेत्यत्र शक्तिविषयइति संबध्यते । अप्सु सतः अप्सु वर्त्तमानस्य । प्रयमणं प्रायत्यकारणमाचमनादि । करणे ल्युट् इत्युज्ज्वलाकारः । तच्चिन्त्यम् ।

जानोरूर्ध्वजले तिष्ठन्नाचान्तः शुचितामियात् ।

इति विष्णुवाक्येन जलस्थस्याप्याचमनविधानात् । यतो

जानुन्यूनजलस्थितस्य प्रयमणं मात्रल्युटा प्रायत्यं तत्र भवति अत उत्तीर्याचामेदिति हेमाद्र्यादिसंमतोऽर्थः । कल्पतरुरप्येवमेव । यच्च हेमाद्रौ पयसइति पठित्वा रिक्तपाणिः जलपात्रशून्यपाणिः पयसे जलार्थम् उद्यम्य उद्यमं कृत्वेति व्याख्यातं,तत् कल्पतरुतद्भाष्यादिनानादेशीयनिबन्धव्याख्याविरोधादुपेक्षितम् ।

विष्णुः, क्षुत्वा सुप्त्वा भोजनाध्ययनेप्सुः पीत्वा स्नात्वा निष्ठीव्य वासो विपरिधाय रथ्यामाक्रम्य कृतमूत्रपुरीषः पञ्चनखास्थ्यस्नेहं स्पृष्ट्वाऽऽचामेत् ।

चाण्डालम्लेच्छसम्भाषणे च शङ्खः,
कृत्वा मूत्रं पुरीषं च स्नात्वा भोक्तुमनास्तथा ।
भुक्त्वा क्षुत्वा तथा सुप्त्वा पीत्वा चाम्भोऽवगाह्य च ॥
रथ्यामाक्रम्य चाचामेद्वासो विपरिधाय च ।
मार्कण्डेयपुराणे,
देवार्चनादिकार्याणि तथा गुर्वभिवादनम् ।
कुर्वीत सम्यगाचम्य तद्वदेव भुजिक्रियाम् ॥
प्रजापतिः,
उपक्रमे विशिष्टस्य कर्मणः प्रयतोऽपि सन् ।
कृत्वा च पितृकर्माणि सकृदाचम्य शुद्ध्यति ॥
विशिष्टस्य विहितस्येत्यपरार्कः ।
पद्मपुराणे,
चाण्डालादीन् जपे होमे दृष्ट्वा ऽऽचामेद्द्विजोत्तमः ।
श्वादीन् दृष्ट्वा तथैवापि कर्णं वा दक्षिणं स्पृशेत् ॥
मनुः,
सुप्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतमाशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥

विरिक्तः प्रकृताधिकविरेकवान्।

भुक्त्वाऽन्नं वान्तो विरिक्त आचामेदेव। न स्नानादि कुर्यात्।

देवलः,

मानुषास्थि वसां विष्ठामार्त्तवं मूत्ररेतसी।

मज्जानं शोणितं वापि परस्य यदि संस्पृशेत्॥

स्नात्वाऽपमृज्य लेपादीनाचम्य शुचितामियात्।

तान्येव स्वानि संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात्॥

परिमार्जनात्क्षालनात्। तथा,

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते।

तत्र स्नानमधस्तात्तु प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति॥

शातातपः,

रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजालोपजीविनौ।

चेलनिर्णेजकश्चैव नटः शैलूषकस्तथा॥

मुखेभगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा।

चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्रामकुक्कुटशूकरौ॥

एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्जं द्विजातिषु।

तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात्॥

रजको वस्त्ररञ्जनकर्त्ता, चक्री तैलिकः, ध्वजी शौण्डिकः।

देवलः,

उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः।

हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुध्यति॥

तृतीयम् अशुचिस्पृष्टस्पृष्टम्।

## अथ द्विराचमननिमित्तानि।

आपस्तम्बः, भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेत् द्विः परिमृजेत् सकृदुपस्पृशेत्।

द्विः परिमृजेदित्यादिविशेषो भोक्ष्यमाणस्यैव । द्विरित्यनेन स्वयमुक्तस्य वैकल्पिकस्य त्रिरित्यस्य निवृत्तिः । सकृदित्यनेन स्वोक्तस्य वैकल्पिकस्य द्विरित्यस्य निवृत्तिः ।

**व्यासः**,

प्रक्षाल्य पाणिपादौ च भुञ्जानो द्विरुपस्पृशेत् ।

भुञ्जानो भोक्ष्यमाणः ।

**याज्ञवल्क्यः**,

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥

**पैठीनसिः**, कलिलकासश्वासागमे च रथ्याचत्वरश्मशानक्रान्तेष्वाचान्तः पुनराचामेत् ।

कलिलं कठिनः श्लेष्मा । श्वासोऽत्र विकृतो व्यायामादिकृतः, प्राकृतस्य सदातनत्वात् । चत्वरं भूतादिबलिस्थानमिति कल्पतरुः ।

**यमः**,

सकर्दमे तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसङ्करम् ।
जङ्घाभ्यां मृत्तिकास्तिस्रः पद्भ्यां तु द्विगुणा स्मृताः ॥

एतत्क्षालनं रथ्याक्रमणनिमित्ताचमनात्प्राक् । ग्रामसङ्करं ग्रामावकरस्थानम् ।

"संमार्जनी शोधनी स्यात्सङ्करोऽवकरस्तथा ।
क्षिप्ते" इति त्रिकाण्डीस्मरणात् ।

**शङ्खलिखितौ**, मूत्रपुरीषष्ठीवनादिषु शुक्तवाक्याभिधानेषु च पुनरुपस्पृशेत् ।

शुक्तं परुषमिति कल्पतरुः ।

**वसिष्ठः**, सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा रुदित्वा पीत्वा च आचान्तः

पुनराचामेद्वासो विपरिधाय चौष्ठौ च संस्पृश्य यत्रालोमकौ ।

**बौधायनः,**

भोजने हवने दाने उपहारे प्रतिग्रहे ।
हविर्भक्षणकाले च तत्र द्विराचमनं स्मृतम् ॥

**माधवीये षट्त्रिंशन्मतम्,**

होमे भोजनकाले च सन्ध्ययोरुभयोरपि ।
आचान्तः पुनराचामेज्जपहोमार्चनेषु च ॥

सर्वेषां च निमित्तानां ज्ञातानामेव नैमित्तिकाचमनादिप्रयोजकत्वं यथासम्भवमशुद्धिप्रयोजकत्वं च ।

द्रप्साविद्धां तनुं लक्ष्य दृष्ट्वा वाप्यशुचिर्भवेत् ।

इति देवलवचने एकत्र दृष्टत्वात् । व्यवहारोऽप्येवम् । द्रप्सा घनीभूतश्लेष्मा । लक्ष्य प्रकारान्तरेण ज्ञात्वा। लक्ष्येति ल्यबार्षः ।

## अथाचमनानुकल्पाः ।

**तत्र पराशरः,**

क्षुते निष्ठीविते चैव दन्तश्लिष्टे तथाऽनृते ।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा ।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सन्तीति मनुरब्रवीत् ॥
आदित्यो वरुणः सोमो वह्निर्वायुस्तथैवच ।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः ॥

अत्र विप्रकर्णस्यैवार्थवादात्कर्णे स्पर्शो विप्रस्यैवाचमनानुकल्पः इति वदन्ति । युक्तं चैतत् । अर्थवादानुरोधेनापि सामान्यप्रवृत्तस्य विधेर्विशेषपरत्वदर्शनात् । यथा अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यत्राक्तपदं तेजो वै घृतमित्यर्थवादानुरोधाद् घृताक्तपरम् । इदं च मुख्याचमनासम्भवे ।

तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे,

क्षुतेऽवलीढे वान्ते च तथा निष्ठीवनादिषु ।
कुर्यादाचमनं स्पर्शं गोपृष्ठस्यार्कदर्शनम् ॥
क्षुत्वा निष्ठीव्य वासश्च परिधायाचमेद् बुधः ।
कुर्वीतालम्भनं वापि दक्षिणश्रवणस्य वै ॥
यथाविभवतो ह्येतत्पूर्वाभावे ततः परम् ।
न विद्यमाने पूर्वोक्ते उत्तरप्राप्तिरिष्यते ॥

आचमनमुक्त्वा बौधायनः,

आर्द्रं तृणं गोमयं भूमिं वा संस्पृशेदिति ।

आपस्तम्बोऽपि, आर्द्रं वा शकृदोषधीर्भूमिं वेति ।

शकृत् गोमयम् ।

## अथाचमनापवादः ।

तत्र मनुः,

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्लुषोऽङ्गं न यन्ति याः ।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥

मुख्याः मुखे भवाः विप्लुषो बिन्दवः । यन्ति गच्छन्ति । श्मश्रूणि मुखलोमानि । आस्यं गतानि मुखं गतानि । दन्तान्तः दन्तमध्ये । अधिष्ठितं प्रविष्टम् अन्नादि । अत्रोभयत्रापि उच्छिष्टं कुर्वत इत्यस्यान्वयः । एवञ्च मुखच्युता जलबिन्दवो भूम्यादिपतिताः स्पृष्टा नाशुचित्वहेतवः, अङ्गलग्नास्तु अशुचित्वहेतवः । ता अपि लोमद्वयक्लेदसमर्था एव आचमननिमित्तानि ।

यथा पैठीनसिः, भूमिगता बिन्दवः परामृष्टाः पूता विप्लुषः शुद्धा द्विरोमक्लिन्नेष्वाचामेत् ।

बिन्दवोऽत्राचमनबिन्दवः, तथाऽऽचमनबिन्दव इति याज्ञवल्क्यवचनैकवाक्यत्वात् । परामृष्टाः स्पृष्टाः, पूताः नाशौचमापादय-

न्ति । विप्लुषश्च मन्वेकवाक्यतया मुख्या भूमिगताः शुद्धा नामापत्यहेतवः । ताश्च अङ्गपतिता अपि रोमद्वयार्द्रीभावमापादयितुं समर्था एवाचमननिमित्तम्। द्विरोमक्लिन्नेष्विति । रोमद्वयपर्यन्तं तैः क्लिन्नेष्वङ्गेषु सत्स्वित्यर्थः ।

आस्यगतश्मश्रुषु विशेषमाहापस्तम्बः, न श्मश्रुभिरुच्छिष्टो भवति अन्तरास्ये सद्भिर्यावन्न हस्तेन स्पृशति ।

हस्तेनेत्यङ्गान्तरस्याप्युपलक्षणमिति स्मृतिचन्द्रिकाहेमाद्री ।

वसिष्ठः, न श्मश्रुगतो लेपः । अशुचिरिति शेषः ।

दन्तश्लिष्टे विशेषमाह गौतमः, दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात् प्राक् च्युतेरित्येके। च्युतेष्वास्रावविद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ।

अन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात् । दन्तलग्नानि यावज्जिह्वया दन्तेभ्यो भेदेन नोपलभ्यन्ते तावद्दन्तवदशुचीनीत्यर्थः । तान्यप्युपलभ्यमानरसानि चेदशुचीन्येव ।

यथाऽऽह शङ्खः, दन्तवद्दन्तलग्नेषु रसवर्जमन्यत्र जिह्वाभिमर्शनादिति ।

रस्यतइति रसः आस्वाद्यमान इति । भेदेनोपलभ्यमानान्यपि यदि जिह्वाभिमर्शनादिना न च्यवन्ते, तथापि शुचीन्यवेत्येके मन्यन्ते । तदुद्धरणार्थं भूयान् यत्नोऽपि न कार्यः ।

यथाऽऽह देवलः,

भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्याचमनं चरेत् ।
दन्तलग्नमसंहार्यं लेपं मन्येत दन्तवत् ॥
न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नमुद्धरणे पुनः ।
भवेदशौचमत्यर्थं तृणवेधाद् व्रणे कृते ॥

निर्हृत्येति । जिह्वाश्लिष्टमास्वाद्यमानरसं च निर्हृत्येत्यर्थः ।

दन्तलग्नं जिह्वास्पृष्टदन्तलग्नम्। तदस्पृष्टस्य तु संहार्यस्यापि नाचमननिमित्तता। अन्यथा गौतमवाक्येऽन्यत्र जिह्वाभिमर्शनादितिं व्यर्थमेव स्यात्। च्युतेष्विति। तेषु च्युतेषु आस्रावबल्लालावत्तानि-निगिरन्नेव गिलन्नेव शुध्यतीत्यर्थः। निगिरन् त्यजन्निति रत्नाकरः। तस्यायमाशयः। दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिरिति याज्ञवल्क्यैकवाक्यतया निगिरन्नित्यस्य त्यजन्नित्यर्थः समुचितोऽन्यथा विकल्पापत्तिरिति। तच्चिन्त्यम्। निगिरणशब्दस्य गिलनएव प्रसिद्धिः। अत एव कल्पतरुणा निगिरन्नेव तच्छुचिरिति वसिष्ठवाक्ये निगिरन् गिलन्निति व्याख्यातम्। निगरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योक्तेन त्यागेन विकल्पत इति मिताक्षराकारेणाप्यभिहितम्। निगिरणं त्यागो वेति विकल्पइति दीपकलिकायां शूलपाणिरपि। निगिरन् अन्तः प्रवेशयन्निति हेमाद्रिस्मृतिचन्द्रिकाकाराभ्यामपि व्याख्यातम्। एवमेव चास्रावबदिति दृष्टान्तोऽपि साधु सङ्गच्छते। नहि आस्रावस्य त्यागे शुचिः किं तु गिलनएवेति।

**वसिष्ठः,**

दन्तवद्दन्तलग्नेषु यच्चाप्यन्तर्मुखे भवेत्।
आचान्तस्यावशिष्टं स्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः॥

यच्चापीति। दन्तलग्नादन्यदप्यन्नकरणादि यत्प्रमादावशिष्टमाचमनोत्तरमुपलभ्यते तदपि निगिरन्नेव गिलन्नेव शुचिः स्यादित्यर्थः। आचमनापवादोऽयम्। निगरणवैकल्पिकं त्यागमाह—

**याज्ञवल्क्यः,**

मुखजा विप्लुषो मेध्यास्तथाऽऽचमनबिन्दवः।
श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिः॥

दन्तसक्तं प्रागुक्तम्। ततः त्यागात्। तेनाचमनव्यावृत्तिः।

अत एव हेमाद्रौ बौधायनः,

स्रस्तेषु तेषु नाचामेत्तेषां संस्रावणाच्छुचिः । इति ।

संस्रावणं मुखाद्वहिर्निरसनम् । एतेन दन्तसक्तं त्यक्त्वाऽऽचम्य शुचिरिति केषाञ्चिद्व्याख्यानमनादेयम् । गौतमवसिष्ठवाक्ययोर्निगिरन्नेवेत्येवकारस्तु—

चर्वणे त्वाचमेन्नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम् ।
ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥

इतिविष्णूक्ताचमननिषेधार्थ इति मिताक्षरा ।

भक्षितचर्वितलिप्तमत्यवसितगिलितखादितप्सातम् ।
अभ्यवहृतान्नजग्धग्रस्तग्लस्ताशितं भुक्ते ॥

इत्यमरकोषाच्चर्वणगिलनयोः पर्यायतया निगरणे प्रसक्तमाचमनमेवकारेण व्यवच्छिद्यतइति तदभिप्रायः ।

हेमाद्रौ तु "आस्रावो मुखप्रभवमुदकं, तद् यथा च्युतमप्यशुचि न भवति तद्वदित्यर्थः । निगिरन्नेवेत्येवकाराच्चर्वणक्रियायाम् आचामेच्चर्वणे नित्यमिति विष्णुनोक्तमाचमनं कर्त्तव्यमेवे"त्युक्तम् । तदभिप्रायस्तु चर्वणनिगरणयोर्भेदस्य लोकव्यवहारसिद्धतया चर्वणव्यावृत्त्यर्थमेवकारः । अन्यथा एवकारवैयर्थ्यं प्रसज्येतेति । एवञ्च चर्वणं विना तद्गिलनं तत्त्यागश्च नाचमननिमित्तमिति सिद्धम् । भूमिगतानामाचमनबिन्दूनां पूतत्वं भूमिगता बिन्दवः परामृष्टाः पूता इति पैठीनसिनोक्तम् ।

अन्यत्र विशेषमाह मनुः,

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ यआचामयतः परान् ।
भूमिगैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥

परानाचामयत इति सम्बन्धः । भूमिगैः भूमिगताचमनबिन्दुभिः । अत्र आचामयत इत्यभिधानादन्येषामाचमनाबिन्दुसंस्पर्शो भवत्येवाप्रायत्यमिति । अत्र पादावित्यङ्गान्तरस्याप्युपलक्षणार्थम् ।

तथाच यमः,

प्रयान्त्याचामतो याश्च शरीरे विप्लुषो नृणाम्।

उच्छिष्टदोषो नास्त्यत्र भूमितुल्यास्तु ताः स्मृताः ॥ इति।

विप्लुषः आचमनबिन्दवः। नृणां शरीरे इत्यन्वयः इति वदन्ति। वस्तुतस्तु शरीरपदं पादपरमेव, अत एव पादग्रहणाच्च जङ्घाद्यङ्गान्तरस्पर्शो दुष्ट एवेति मेधातिथिः। पादौ न जङ्घादिरिति कुल्लूकभट्टोऽपि। हेमाद्रिस्तु "भूमिगैः अनुपहतभूमिसंस्थोदकैरित्यर्थः। एते च भूम्यभिघातोत्थिता एव स्पृष्टाः शुद्धाः नान्तरालस्पृष्टाः।

यदाह पैठीनसिः, भूमिगता बिन्दवः परामृष्टाः पूता इती"त्याह। मेधातिथिरप्येवम्।

अत्र्यङ्गिरसौ,

मधुपर्के च सोमे च अप्सु प्राणाहुतीषु च।

नोच्छिष्टस्तु भवेद्विप्रो यथाऽत्रेर्वचनं तथा ॥

"अप्स्विति प्राणाहुतिसाहचर्यप्राप्तापोशानविषयम्, आचमनोदकपानविषयं वा। अन्यत्रोदकपाने पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्चेत्याचमनविधेरिति" कल्पतरुः। हेमाद्रिरपि अप्स्विति प्राणाहुतिसन्निधानादमृतापिधानमसीत्यादिनोदकपाने कर्त्तव्ये भुक्तवानपि मन्त्रोच्चारणं प्रति नोच्छिष्ट इत्यर्थः।

शातातपः,

दन्तलग्ने फले मूले भक्ष्ये स्नेहे तथैवच।

ताम्बूले चेक्षुदण्डे च नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥

दन्तलग्नं व्याख्यातम्। फले कटुतिक्तकषाये जातीफलादौ सतोमाचारादिति कल्पतरुः। फलमूले चाग्निपक्वाभिन्ने समाचारादिति रत्नाकरः। भक्ष्ये फलमूलातिरिक्ते कटुकषाये।

तथाच लघुहारीतः,

कषायकटुताम्बूले भुक्तस्नेहानुलेपने।

मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टो मनुरब्रवीत्॥

भक्ष्ये स्नेहे इति स्मृतिचन्द्रिकायां पाठः।

भुक्तस्नेहे अत्यन्तानिर्हार्ये।

भुक्त्वाऽऽचामेद्यथोक्तेन विधानेन समाहितः।

शोधयेन्मुखहस्तौ च मृदद्भिर्घर्षणैरपि॥

इति देवलस्मरणादिति व्याख्यातं च।

माधवीये हेमाद्रौ च षट्त्रिंशन्मतम्,

ताम्बूले चैव सोमे च भुक्तस्नेहावशिष्टके।

दन्तलग्नस्य संस्पर्शे नोच्छिष्टस्तु भवेन्नरः॥

त्वग्भिः पत्रैर्मूलफलैस्तृणकाष्ठमयैस्तथा।

सुगन्धिभिस्तथा द्रव्यैर्नोच्छिष्टो भवति द्विजः॥ इति।

एतच्च सौरभाद्यर्थोपभुक्तावशिष्टविषयम्। ताम्बूलसाहचर्या-
दिति माधवः।

विद्याकरवाजपेयिधृतवचनम्,

खर्जूरी तालकन्दश्च मृणालं पद्मकेसरम्।

नारिकेलं कसेरुं च नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्॥

ताम्बूलं च कषायं च सर्वं च जलसम्भवम्।

मधुपर्कं च सोमं च लवणाक्तं तथा क्वचित्॥ इति।

अत्र सर्वत्र मधुपर्कादावुच्छिष्टतानिषेधादुच्छिष्टतानिवर्तक-
भक्षणोत्तराचमनस्यार्थतो निषेधसिद्धावपि मोक्ष्यमाणः भवतोऽपि
द्विराचामेदित्यादिना विहितं प्रथममाचमनं स्यादेव।

इदं पुनरत्र प्रतिभाति।

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतं वचः।

पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥

इति मनुना प्रयतस्यापि नैमित्तिकाचमनविधानादुच्छिष्टत्वनिषेधेनाशुचित्वाभावे सिद्धे अशुचित्वनिवर्त्तकाचमनाभावे सिद्धेऽपि पानभोजनादिनिमित्तकमाचमनमवश्यकमेव। अत एव मधुपर्कप्राशनानन्तरं "सर्वं वा प्राश्नीयात् प्राग्वा सञ्चरे निनयेदाचम्य प्राणान्संमृशती"त्यादिना गृह्यसूत्रेऽपि आचमनमभिहितम्। अनुच्छिष्टताभिधानं च तत्स्पर्शने सम्भाषणे च परेषामाचमनाभावस्य, तस्यापि शूद्रादिस्पर्शादिदोषाधिक्याभावस्य, तदुत्तरमाचमनं विनैव कर्माधिकारस्य च बोधनाय। नैमित्तिकाचमनाकरणे पुरुषः परं प्रत्यवैति, कर्म तु साङ्गमेव। मधुपर्कप्राशने तु आचमनोत्तरमेव कर्म कर्त्तव्यम्। गृह्ये तथैव क्रमदर्शनात्। स्वापादौ मधुपर्काद्यन्यभोजने चाशुचित्वमेव।

ततः शरीरस्रोतोभ्यो मलनिस्यन्दविस्रवात्।
अन्नादीनां प्रवेशाच्च स्यादशुद्धिर्विशेषतः॥
पतिताशुच्यमेध्यानां स्पर्शनाच्चाशुचिर्भवेत्।
सुप्ताद्रस्राविपर्यासात्क्षताद्ध्वपरिश्रमात्॥

इति देवलवाक्यात्। अत एव शेषप्राशनादौ विधिबलादप्रायत्याभावेऽपि नैमित्तिकमाचमनमाचरन्ति। अत एव भट्टैरपि ताम्बूलभक्षणोत्तरमनाचमनमनाचारमध्ये गणितम्।

आचामेच्चर्वणे नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम्।

इति विष्णुवाक्येन तु ताम्बूलचर्वणनिमित्तकमाचमनं निषिध्यते। न तु भक्षणनिमित्तकम्। कश्चित्तु ताम्बूलेतरभोजनेष्वाचमनमावश्यकं ताम्बूले तन्नावश्यकमिति तदर्थ इत्याह। यदि च पूर्वलिखितकोशाच्चर्वणभक्षणयोः पर्यायता तदा विनिगमकाभावात्ताम्बूलभक्षणस्य पूर्वं परतश्च नाचमनमिति वस्तुस्थितिरिति।

मधुपर्के च सोमे चेत्यादिवचनव्याख्यायामप्सूच्छिष्टतानिषेधात्पीत्वा-ऽप इति नैमित्तिकमाचमनं प्रयतोऽपीति श्रवणाच्चेति श्रीदत्तलिखनान्मधुपर्कादिप्राशनानन्तरं नैमित्तिकमाचमनम् तत्संमतमपि। अ-विधिपूर्वकाचमनोदकपाने तु उच्छिष्टता वाचनिकी।

यथाह गोभिलः, हृदयस्पृशस्त्वेवाप उपस्पृशेदुच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवतीति।

अतः अस्माद्विधेः अन्यथाऽऽचान्त उच्छिष्ट एव भवतीति त-द्भाष्यम्। एवञ्च मधुपर्के इत्यादिवाक्ये अप्स्वित्यस्य जलसामान्यपरत्वेनैवोपपत्तौ कल्पतरुकारादिभिर्यदपोशानादिविशेषपरतया व्याख्यातं तद् विचारणीयमिति।यत्तु हेमाद्र्यादौ भुक्तवतोऽपि अमृतापिधानमसीति मन्त्रपाठप्राप्त्यर्थमनुच्छिष्टत्वविधानमित्युक्तं, तद-पि न साधीयः। मन्त्रपाठविधिबलादेवोच्छिष्टस्यापि मन्त्रपाठप्राप्तेरनुच्छिष्टत्वविधाने वैयर्थ्यात् इति। आचमनोदकपानं तु ना-चमननिमित्तम्। आचमनविधिवैयर्थ्यानवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गात्।

अथ द्रव्यहस्तस्योच्छिष्टादेराचमनकालः।

तत्र गौतमः, द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचामेदिति।

मूत्रपुरीषकर्मभोजनादि चोच्छिष्टनिमित्तम्।अत्र द्रव्यपदम् अन्नपानादिभक्ष्यद्रव्यपरम्।

यथा वसिष्ठः,

प्रचरन्नभ्यवहार्येषु उच्छिष्टं यदि संस्पृशेत्।

भूमौ निक्षिप्य तत् द्रव्यमाचम्य प्रचरेत्पुनः॥ इति।

प्रचरन् गच्छन् अभ्यवहार्येषु हस्तादौ सत्स्वित्यर्थः। भूमौ निक्षिप्य तत् द्रव्यमित्यग्रे दर्शनात्। उच्छिष्टशब्दोऽत्राचमनार्हा-शुचिवचनः। स्नानार्हाशुचिवचनत्वे त्वाचमनमात्रविधिविरोधात्।

बृहस्पतिरपि,

प्रचरन्नन्नपानेषु यदोच्छिष्टमुपस्पृशेत् ।
भूमौ निधाय तद् द्रव्यमाचान्तः प्रचरेत्पुनः ॥ इति ।

अत्र विशेषमाहतुः शङ्खलिखितौ, द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचम्याभ्युक्षेद् द्रव्यम् ।

एतदप्यभ्यवहार्यद्रव्यविषयम् । एवञ्च द्रव्यहस्तस्याचमनाच्छुद्धिः द्रव्यस्य तु निधानाभ्युक्षणाभ्यामिति फलितम् । यदा तु द्रव्यस्यैव साक्षादुच्छिष्टस्पर्शस्तदा तत् परित्याज्यमेव ।

"यदाह वसिष्ठः, उच्छिष्टमगुरोरभोज्यं स्वमुच्छिष्टमुच्छिष्टोपहतं चेति" स्मृतिचन्द्रिका ।

यत्तु—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
अनिधायैव तद् द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥

इति मनुवचनं, तद् अभ्यवहार्यान्नव्यञ्जनव्यतिरिक्तद्रव्यहस्तविषयमिति विश्वरूपभर्तृयज्ञाविति कल्पतरुः ।

मार्कण्डेयः,

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तो निधाय वा ।
आचम्य द्रव्यमभ्युक्ष्य पुनरादातुमर्हति ॥

अत्र वाशब्द उक्तरीत्या अभ्यवहार्यानभ्यवहार्यद्रव्यभेदेन व्यवस्थितविकल्पपरः ।

बौधायनः, "तैजसं चेदादायोच्छिष्टी स्यात्तदुदस्याचम्यादास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत । स चेदन्येनोच्छिष्टी स्यात्तदुदस्याचम्यादास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत । अथ चेदद्भिरुच्छिष्टी स्यात्तदुदस्याचम्यादास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत । एतदेव विपरीतममत्रे, वानस्पत्ये च विकल्पः" । तैजसं सुवर्णपात्रादि । उदस्य निधाय । प्रोक्षेतेत्यत्र तदित्यनुषङ्गः । स पात्रग्रहीता । अन्येन उच्छिष्टेन स्पृष्टः सन्नुच्छिष्टी स्यात् । अथ

चेदिति।अद्भिः उच्छिष्टोदकैः।एतदेवेति।आदानापेक्षं चात्र विपरीतत्वम्, तेन तदुदस्य परित्यज्याचामेत्र पुनस्तद्गृह्णीयादित्यर्थ इति कल्पतरुः। विपरीतमनुदस्येति यावादिति तु स्मृतिचन्द्रिका। अमत्रं पात्रम्। प्रकृते तु तैजसस्य पृथगुपादानात्तैजसातिरिक्तं तद्बोध्यम्। वानस्पत्ये वार्क्षे पात्रे। विकल्पो वैपरीत्यस्य।

कूर्मपुराणे,

तैजसं वै समादाय यद्युच्छिष्टो भवेद् द्विजः।
भूमौ निक्षिप्य तद् द्रव्यमाचम्याभ्युक्षयेत्तु तत्॥
यद्यद् द्रव्यं समादाय भवेदुच्छेपणान्वितः।
अनिधायैव तद् द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात्॥
वस्त्रादिषु विकल्पः स्यात्तत्संस्पृष्टौ चैवमेवाहि। इति।

विकल्पः निधानमनिधानं वा। तत्स्पृष्टौ तैजसादिहस्तस्योच्छिष्टस्पृष्टाविति बौधायनैकवाक्यतया व्याख्येयम्। यद्यद् द्रव्यमित्यत्र यद्यमत्रमिति स्मृतिचन्द्रिकायां पाठः। एतत्पाठानुसारेणैव स्मृतिचन्द्रिकाकारेण एतदेव विपरीतममत्रइति बौधायनवचनं व्याख्यातम्।

बृहस्पतिः,

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि।
कृत्वा मूत्रपुरीषं च द्रव्यहस्तो न दुष्यति॥
शौचं तु कुर्यात्प्रथमं पादौ प्रक्षालयेत्ततः।
उपस्पृश्य तदभ्युक्ष्य गृहीतं शुचितामियात्॥

द्रव्यहस्त इत्यत्र हस्तपदम् अङ्गान्तरस्याप्युपलक्षणार्थम्। द्रव्यपदं चात्रासङ्कुचितमन्नादेरपि संग्राहकमिति रत्नाकरादयः। अत्र गृहीतं शुचितामियादित्यनेन शौचात्पूर्वं भूमौ द्रव्यनिधानमाक्षिप्यते।

तथाचापस्तम्बः,

कृत्वा मूत्रं पुरीषं च द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
भूमावन्नं प्रतिष्ठाप्य कृत्वा शौचं यथाविधि ॥
तत्संयोगात्तु पक्वान्नमुपस्पृश्य ततः शुचिः । इति ।

तत्संयोगादिति । अशुचिपुरुषसंयोगाद्यथा तदशुचि तथा शुचिपुरुषसंयोगाच्छुच्यपीत्यर्थः । अत्र पक्वान्नमित्यनन्तरं शुचीत्यनुषङ्गः । तत्संयोगात्तु पक्वान्नमित्यत्रोत्सङ्गोपात्तपक्वान्न इति स्मृतिचन्द्रिकायां पाठः । तत्र च पक्वान्नं प्रथमं भूमौ निधाय शौचं कृत्वा तदन्नमङ्के निधायाचम्य शुध्यतीत्यर्थः ।

वायुपुराणे,
पादौ प्रक्षाल्य निक्षिप्य आचम्याभ्युक्षणं ततः ।
पुष्पादीनां तृणादीनां प्रोक्षणं हविषां तथा ॥
निक्षिप्य भूमौ द्रव्यं निधायेत्यर्थः ।
मार्कण्डेयस्तु शौचमप्यनिधायैव कार्यमित्याह,
पक्वान्नेन गृहीतेन मूत्रोच्चारं करोति यः ।
अनिधायैव तद् द्रव्यमङ्के कृत्वा समाश्रितम् ॥
शौचं कृत्वा यथान्यायमुपस्पृश्य यथाविधि ।
अन्नमभ्युक्षयेच्चैवम् उद्धृत्यार्कस्य दर्शयेत् ॥
अस्त्राऽग्रमात्रं वा तस्माच्छेषं शुद्धिमवाप्नुयात् । इति ।

## अथ दन्तधावनम् ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः ।
प्रातःसन्ध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्विकाम् ॥
दक्षः,
उषःकाले तु सम्प्राप्ते कृत्वा शौचं यथार्थवत् ।
ततः स्नानं प्रकुर्वीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥

उषःकालश्च लोहितदिगुपलक्षितकालात्प्रागीषद्दिक्प्रकाशवान् कालः। यथार्थवत् यथाविहितशौचापादकमृज्जलादिसंख्यावदित्यर्थः । अत्र सन्ध्यायां स्नाने च दन्तधावनस्य नाङ्गत्वम् ।

मुखे पर्य्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।
तस्मात्सर्व्वप्रयत्नेन भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥

इति वृद्धशातातपवचनेन स्वतन्त्रस्यैव शुद्धिहेतुतयाऽभिधानात्। अत एव दन्तान्प्रक्षाल्य स्नायादिति छन्दोगपरिशिष्टेऽपि कालार्थः संयोगः । दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेतिवत् । अप्रयतः अशुचिः । दन्तधावनं दन्तमलापकर्षकं काष्ठम् । भक्षयेदिति दन्तसम्बन्धाद् गौणमभिधानं पूर्वोत्तराचमनरूपभक्षणधर्मप्राप्त्यर्थम् ।

छन्दोगपरिशिष्टम्,

उत्थाय नेत्रे प्रक्षाल्य शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥
आयुर्ब्बलं यशो वर्चः प्रजापशुवसूनि च ।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो धेहि वनस्पते ॥

शुचिर्भूत्वा आचम्येत्यर्थः । मन्त्रेण अनुपदवक्ष्यमाणेन आयुर्बलमित्यादिना । भक्षयेद्दन्तेषु घर्षयेत् । तदुक्तं तत्रैव,

नारदाद्युक्तवार्क्षेयमष्टाङ्गुलमपाटितम् ।
सत्वचं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण प्रधावयेत् ॥

पारस्करेण तु मन्त्रान्तरमुक्तम् ।

यथा, औदुम्बरेण दन्तान्धावेत "अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजा ऽयमागमत् स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेति" ।

यद्यपि इदं समन्त्रकं दन्तधावनं समावर्तने पारस्करेणोक्तं तथापि दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मन्त्र इति तत्प्रकरणस्थवाक्यान्तरे नित्यमिति श्रवणात्प्राय-

ह्निकेऽपि दन्तधावने स एव मन्त्र इति प्रतीयते। दन्तधावनादीनि नित्यमपि क्रियमाणानि पूर्वोक्तमन्त्रयुक्तानि भवन्तीति हरिहरभाष्यम्। एवं कात्यायनीयानाम् अन्नाद्यायेत्यादिमन्त्रः।

गोभिलीयानाम् आयुर्बलमित्यादिमन्त्रः। अन्येषां तु स्वीयसूत्रे उक्तश्चेत्प्रोक्तत्वाविशेषादैच्छिकः। ब्राह्मणसर्वस्वे हलायुधसम्मतोऽप्ययमर्थः।

अन्ये तु "आयुर्बलमित्यादिना वनस्पतिरूपकरणप्रकाशनादन्नाद्यायेत्यादिना च प्रमार्जनरूपक्रियाप्रकाशनादुभयोरेककार्यकारित्वाभावात्प्रथमेन काष्ठमभिमन्त्र्य द्वितीयेन मुखशोधनं सर्वैरेव कार्यमिति समुच्चयेनान्वयः।

कल्पतरौ तु ब्रह्मचारिकाण्डशेषे पारस्करवचनं लिखितमिति नैयतिककालकाण्डे दन्तधावनप्रकरणे न तल्लिखितम्।

काशीखण्डेऽपि, अन्नाद्याय व्यूहध्वमित्यादि आयुर्बलमित्यादि च क्रमेण मन्त्रद्वयं पठित्वा—

मन्त्रावेतौ समुच्चार्य यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
वनस्पतिगतः सोमस्तस्य नित्यं प्रसीदति॥

इत्युक्तम्" इत्याहुः। तच्चिन्त्यम्।

बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्त्तितम्।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत्॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनेऽनाकाङ्क्षितस्य पारशाखिकस्य ग्रहीतुमनुचितत्वात्। काशीखण्डवाक्यं तु छन्दोगपारस्करीयादीतरपरत्वेनाप्युपपन्नं, काम्यपरं वा तत् इति।

प्रणवं दीर्घमुच्चार्य भक्षयेद्दन्तधावनम्।

इति संन्यासिपद्धतिलिखितवाक्याच्चेषां प्रणव एव मन्त्र इति वदन्ति।

शूद्राणान्तु "अनुमतोऽस्य नमस्कारो मन्त्र इति शूद्रप्रकरणस्थगौतमवाक्येन सर्वमन्त्रस्थाने नमःशब्दविधानादत्रापि नम इत्येव मन्त्रः ।

केचित्तु,

अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते ।

इति वराहपुराणीयपरिभाषयाऽर्थप्रकाशनार्थं ब्राह्मणेन मन्त्रः पठनीयः तदसम्भवेऽपि किञ्चिदङ्गहान्या नित्यं कार्यमेवेति वदन्ति ।

नारदाद्युक्तवार्क्षेयमिति । नारदशिक्षादिग्रन्थाभिहितवृक्षसम्भवम् ।

**तथाच नारदी शिक्षा,**

आम्रपौलासबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः ।
वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥
खदिरश्च कदम्बश्च करवीरकरञ्जयोः ।
सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ॥ इति ।

पौलासः आम्रातकवृक्षः ।

हारीतः, काले पलाशकोविदारश्लेष्मातकविल्वकशाकवृक्षनिर्गुण्डीशिखण्डिवेणुवर्जं, प्लक्षमापकबदरीकरञ्जशमीशिंशपा इत्येके, दधित्थहरीतक्यश्वकर्णशालामलकानीत्यपरे, बिल्वखदिराम्रपौलासशिरीषापामार्गाणामन्यतममनार्द्रं नातिशुष्कं नातिस्थूलमापोथिताग्रमनोष्ठग्रन्थ्युदङ्मुखो वाग्यत आसीनो दन्तधावनं भक्षयेत् इति ।

काले उषःकाले । कोविदारः श्वेतपुष्पः काञ्चनारसदृशः । श्लेष्मातको बहुवारः । विल्वकः चील इति पश्चिमदेशे प्रसिद्धः । शाकवृक्षः सागवान इति लोके प्रसिद्धः । निर्गुण्डी सिन्दुवारः ।

शिखण्डी मयूरशिखा। शिखण्डिसंज्ञकः कण्टकिगुल्म इत्यपरे। वेणुवर्जमिति। वेणुर्वंशः। तन्निषेधश्च त्वगितरपरः। तिन्तिणी वेणुपृष्ठं चेत्यादिना वक्ष्यमाणनरसिंहपुराणेन प्रशस्तत्वाभिधानात्। दधित्थः कपित्थः। शालः शङ्कुवृक्षः। एके अपरे इत्युभयत्रापि वर्जयित्वेति शेष इति कल्पतरुप्रभृतयः। अनार्द्रमीषदार्द्रम्। ईषदर्थे नञ्। नातिशुष्कमिसग्रेऽभिधानात्। प्रक्षालनस्य विहितत्वेन आर्द्रताया आवश्यकत्वाच्च। एतेन सद्यश्छिन्नमपि निषिद्धम्। नातिस्थूलमिति। कनीन्यग्रसमस्थौल्यमिति विष्णुनाऽभिधानात्तदधिकस्थौल्यरहितम्। आपोथिताग्रमिति। आ ईषत् चूर्णिताग्रम्। अपोथिताग्रमिति पाठेऽपि ईषदर्थकनञाऽयमेवार्थः। अनोप्तग्रन्थि ओप्तस्पर्शिग्रन्थिहीनम्।

विष्णुः, न पालाशं दन्तधावनं स्याद्, न श्लेष्मातकारिष्टविभीतकधवधन्वनजं, न कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलुजं, न बर्बुरनिर्गुण्डीशिग्रुचिल्लकतिन्दुकजं, न पारिभद्राम्लिकामोचकशाल्मलीशणजं, न मधुरं, नाम्लं, नोर्ध्वशुष्कं, न ससुषिरं, न पूतिगन्धि, न पिच्छिलं, न दक्षिणापराशामुखोऽद्यादुदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा वटासनार्ककरञ्जखदिरकरवीरसर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभबिल्वानामन्यतमं कषायं तिक्तं कटुकं वा।

कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सकूर्चं द्वादशाङ्गुलम्।
प्रातर्भुक्त्वा च यतवाक् भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

अरिष्टः रीठी इति मध्यदेशे प्रसिद्धः। धन्वनः धामिन इति प्रसिद्धः। पीलुः गुडफलः, पीलुरित्येव पश्चिमदेशे प्रसिद्धः। इङ्गुदः इङ्गुवाकः कण्टकिवृक्षविशेषः। शिग्रुः शोभाञ्जन इति प्रसिद्धः। तिन्दुकः तेन्दुआ इति प्रसिद्धः। पारिभद्रः फरहद्द इति प्रसिद्धः। अम्लिका तिन्तिडी। मोचका कदली। ऊर्ध्वशुष्कं वृक्षएव शुष्कम्। ससुषिरं छिद्रयुक्तम्। अपरा प्रतीची। असनः आसन

इति मध्यदेशे प्रसिद्धः। सर्जः शालः। अरिमेदः विट्खदिरः। मालती जाती। ककुभोऽर्जुनः। कषायं तिक्तकं कटुकं वा। अविहितमप्रतिषिद्धं चान्यदपि कषायतिक्तकटुकान्यतमद्रव्यम्। कनीनी कनिष्ठाङ्गुलिः। सकूर्चं चूर्णिताग्रम्। प्रातः प्रातःकाले। भुक्त्वा च भोजनोत्तरं च। एतेन प्रातःकाले भोजनोत्तरं दन्तलग्ननिर्हरणार्थ—

भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्याचमनं चरेत्।

इति देवलस्वरससिद्धमपि दन्तधावनं कार्यम्। भोजनोत्तरं दन्तधावने च न वक्ष्यमाणकालादिनिषेधनियमाः। दन्तलग्ननिर्हरणस्यावश्यकत्वात् इति वदन्ति। भुक्त्वेति यतिपरमिति हलायुधः।

स्मृतिचन्द्रिकायां तु मार्कण्डेयः,

उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा कषायं तिक्तकं कटु।

दन्तधावनं भक्षयेदिति शेषः। उदङ्मुखः प्रागुदङ्मुख इत्यर्थः। उदङ्मुखत्वे दोषश्रवणात्।

तदाह कात्यायनः,

पूर्वामुखो धृतिं विन्द्याच्छरीरारोग्यमेव च।
दक्षिणेन तथा चौर्यं पश्चिमेन पराजयम्॥
उत्तरेण गवां नाशं स्त्रीणां परिजनस्य च।
पूर्वोत्तरे तु दिग्भागे सर्वान्कामानवाप्नुयात्॥ इति।

महाभारते,

प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च मुखं च सुसमाहितः।
दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य कृत्वा जान्वन्तरा ततः॥
तिक्तं कषायं कटुकं सुगन्धि कण्टकान्वितम्।
क्षीरिणो वृक्षगुल्माद्वा भक्षयेद्दन्तधावनम्॥
त्याज्यं सपत्रमज्ञातमूर्ध्वशुष्कं च पाटितम्।
त्वग्विहीनं ग्रन्थियुक्तं तथा पालाशशांशपम्॥

ऋजुं वितस्तिमात्रं च कीटाग्निभिरदूषितम् ।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टस्तु भक्षयेद्वाग्यतो नरः ॥
प्रक्षाल्य च शुचौ देशे दन्तधावनमुत्सृजेत् ।
पतितेऽभिमुखे सम्यक् भोज्यमाप्नोत्यभीप्सितम् ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्येत्यनेनोपवीतधारणेतिकर्त्तव्यतैकदेशोत्कीर्त्तनेनोपवीती भूत्वेत्यर्थः सूचितः। गुल्माः अस्कन्धा मल्लिकादयः। शांशपं शिंशपावृक्षोद्भवम् । अत्र शुचित्वापादके दन्तधावने दन्तकाष्ठविशेषविधिना अर्थान्निरस्तेऽपि काष्ठान्तरे, यद् विशेषेण काष्ठान्तरविधानं, तत् मौद्गचरुविधिना बाधितेषु माषादिषु अयज्ञिया वै माषा इतिपुनर्निषेधवन्मुख्यालाभे प्रतिनिधित्वेनापि तदुपादाननिरासार्थम् । यत्तु विहितप्रतिषिद्धं तस्य निषेधसम्बन्धेन केवलविहितापेक्षया किञ्चिन्न्यूनत्वात्केवलविहितालाभे उपादानम् । एतस्याप्यसम्भवे अविहिताप्रतिषिद्धमुपादेयम् । केवलनिषिद्धं तु सर्वथा नोपादेयम् । किं तु दन्तकाष्ठालाभविहितैरपां द्वादशगण्डूषैरेव मुखशुद्धिरुत्पादनीयेति । तथा,

वर्जयेद्दन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ।
भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपिच वर्जयेत् ॥

पर्वाण्याह विष्णुपुराणे,

चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेवच ॥

**नरसिंहपुराणे,**

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।
तस्माच्छुष्कमथार्द्रं वा भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥
प्रासे\ खादिरश्च कदम्बश्च करञ्जश्च वटस्तथा ।
भएव शुतिन्तिडी वेणुपृष्ठं च आम्रनिम्बौ तथैवच ॥

अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चौदुम्बरस्तथा ।
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि ॥
दन्तकाष्ठस्य वक्ष्यामि समासेन प्रशस्तताम् ।
सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ॥
अष्टाङ्गुलेन मानेन तत्प्रमाणमिहोच्यते ।
प्रादेशमात्रमथवा तेन दन्तान् विशोधयेत् ॥
प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां चैव सत्तमाः ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥
अलाभे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धे तथा दिने ।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्विधीयते ॥

शुष्कं नातिशुष्कं स्वस्थानशुष्काभिन्नञ्च । आर्द्रम् ईषदार्द्रमिति ागुक्तम् । वेणुपृष्ठं वंशस्य त्वग्भागः । अलाभे दन्तकाष्ठानामित्या- द् । इदं च दन्ताभावस्याप्युपलक्षणम् । शोध्याभावेन दन्तकाष्ठा- ामनुपादानेऽपि मुखशोधनस्यावश्यकत्वेन तत्साधनाकाङ्क्षायामे- ात्र दृष्टन्यायेनैतदुपादानस्यैवौचित्यात् ।

**यमः,**

आसनं शयनं यानं पादुके दन्तधावनम् ।
वर्जयेद् भूतिकामस्तु पालाशं नित्यमात्मवान् ॥

यानं शकटादि ।

**स्मृतिचन्द्रिकायां गर्गः,**

सर्जे धैर्यं वटे दीप्तिः करञ्जे विजयो रणे ।
प्लक्षे चैवार्थसम्पत्तिर्बदर्यां मधुरः स्वरः ॥
खादिरे चैव सौगन्ध्यं बिल्वे तु विपुलं धनम् ।
उदुम्बरे वाक्यसिद्धिर्बन्धूके च दृढा श्रुतिः ॥
सैन्धे च कीर्तिसौभाग्यं पालाशे सिद्धिरुत्तमा ।

कदम्बे च तथा लक्ष्मीश्चाम्रे चारोग्यमेव च ॥
अपामार्गे धृतिर्मेधा प्रजाशक्तिर्वपुःशुचिः ।
आयुः शीलं यशो लक्ष्मीः सौभाग्यं चोपजायते ॥
अर्केण हन्ति रोगांस्तु बीजपूरेण तु व्यथाम् ।
ककुभेन तथाऽऽयुष्मान् भवेत्पलितवर्जितः ॥
दाडिमे सिन्दुवारे कुब्जके कुटके तथा ।
जाती च करभेदश्च दुःस्वप्नं चैव नाशयेत् ॥

उशना,

न काष्ठं पाटयेन्नाङ्गुलिभिर्दन्तान्प्रक्षालयेत् ।

काष्ठं दन्तकाष्ठम् ।

तदुक्तं कूर्मपुराणे,

नोत्पाटयेद्दन्तकाष्ठं नाङ्गुल्या धावयेत्कचित् ।
प्रक्षाल्य भङ्क्त्वा तज्जह्याच्छुचौ देशे समाहितः ॥

धावयेत्, दन्तानिति शेषः। अत्राङ्गुलिपदमनामिकाङ्गुष्ठभिन्नाङ्गुलिपरम् । यथा स्मृतिचन्द्रिकायां माधवीये च—

याज्ञवल्क्यः,

इष्टकालोष्टपाषाणैरितराङ्गुलिभिस्तथा ।
मुक्त्वा चानामिकाङ्गुष्ठौ वर्जयेद्दन्तधावनम् ॥ इति ।

अनामिकाङ्गुष्ठौ मुक्त्वा इतराङ्गुलिभिरिति योजना ।

पैठीनसिः, तृणपर्णोदकेनाङ्गुल्या वा दन्तान्धावयेत् प्रदेशिनीवर्ज्जमिति ।

अत्र तर्जनीपदं निषिद्धाङ्गुल्यन्तरोपलक्षणम् । इदं च तृणादिविधानं निषिद्धतिथिविषयम् ।

यदाहतुर्व्यासशातातपौ,

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां दन्तधावनम् ।

पर्णैरन्यत्र काष्ठैस्तु जिह्वोल्लेखः सदैव तु ॥

इदं च दन्तधावनाप्राप्तिकालस्याप्युपलक्षणम् । तत्रापि द-न्तशौचसाधनस्याकाङ्क्षितत्वात् । अत एव अलाभे दन्तकाष्ठाना-मित्यादिनृसिंहपुराणवाक्ये चतुर्थचरणे पत्रैर्वा मुखशोधनमिति क्वचित्पाठोऽपि ।

विष्णुः,

प्रक्षाल्य भुक्त्वा तज्जह्याच्छुचौ देशे प्रयत्नतः ।
अमावास्यां च नाश्नीयाद्दन्तकाष्ठं कथञ्चन ॥

मार्कण्डेयपुराणे,

प्रक्षाल्य भक्षयेत्पूर्वं प्रक्षाल्यैवतु तत्त्यजेत् ।

कूर्मपुराणे,

मध्याङ्गुलिसमस्थौल्यं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ।
सत्वचं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण तु धावयेत् ॥

धावयेत् शोधयेत् । दन्तानिति शेषः । अत्र मध्याङ्गुलिसमस्थौ-ल्यस्य विष्णूक्तेन कनीन्यग्रसमस्थौल्येन विकल्पः । आयामे तु अष्टा-ङ्गुलमपाटितमिति छन्दोगपरिशिष्टेऽभिहितम् । भारतकूर्मपुराणादौ च ऋजुं वितस्तिमात्रं चेत्यनेन द्वादशाङ्गुलसम्मितमित्यनेन च द्वादशाङ्गुलमुक्तम् । नरसिंहपुराणे च प्रादेशमात्रमथवेत्यनेन प्रादेश-मात्रमप्यभिहितम् । तदेतेषां पक्षाणां स्वगृह्यानुक्तौ व्यवस्थामाह—

स्मृतिचन्द्रिकायां गर्गः,

दशाङ्गुलं तु विप्राणां क्षत्रियाणां नवाङ्गुलम् ।
अष्टाङ्गुलन्तु वैश्यानां शूद्राणां सप्तसम्मितम् ॥
चतुरङ्गुलमानं तु नारीणां नात्र संशयः ।
अन्तरप्रभवानां च षडङ्गुलमुदाहृतम् ।
इत्यर्द्धश्लोकः स्मृतिमञ्जूषायामाधिकः ।

**स्मृतिचन्द्रिकायां विष्णुः,**

कण्टकिक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ।
कनिष्ठिकाग्रवत् स्थूलं पर्वार्द्धकृतकूर्चकम् ॥
दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वोल्लेखनिका तथा ।
सुसूक्ष्मं हीनदन्तस्य समदन्तस्य मध्यमम् ॥
स्थूलं विषमदन्तस्य त्रिविधं दन्तधावनम् ।
द्वादशाङ्गुलकं विप्रे काष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥
क्षत्रविट्शूद्रजातीनां नवषट्चतुरङ्गुलम् ।

पर्वार्द्धम् अङ्गुष्ठपर्वार्द्धम्। जिह्वोल्लेखनिकाऽपि दन्तकाष्ठजातीयकाष्ठभवा। उपस्थितत्वात् तथाशब्दस्वरसाच्च। दन्तधावनार्थतृणे विशेषमाह—

**नारदीयपुराणस्थशपथवाक्यम्,**

कुशकाशमिषीकोत्थं तृणं काष्ठं त्वचं विना ।
दन्तकाष्ठं नरः कृत्वा तस्य यद्विहितं त्वघम् ॥
अघस्य भागिनी तस्य यदि मिथ्या वदेद्वचः ।

**पठन्ति च,**

गुवाकं तालहिन्तालौ तथा ताडी च केतकी ।
खर्जूरनारिकेलौ च सप्तैते तृणराजकाः ॥
तृणराजशिरापत्रैर्न कुर्याद्दन्तधावनम् ।

**वृद्धशातातपः,**

गन्धालङ्कारवस्त्राणि पुष्पमाल्यानुलेपनम् ।
उपवासेन दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ॥

उपवासेन हेतुनेति दानसागरप्रायश्चित्तविवेकौ। कालविवेके उपवासे चेति पठित्वा चकारान्नक्तादिष्वपीति व्याख्यातम् ।

व्यक्तमाह विष्णुः,

श्राद्धे जन्मदिने चैव विवाहेऽजीर्णसम्भवे ।
व्रते चैवोपवासे च वर्जयेद्दन्तधावनम् ॥

**हरिवंशे,**

अञ्जनं रोचनं वापि गन्धान्सुमनसस्तथा ।
व्रतके चोपवासे च नित्यमेव विवर्जयेत् ॥
दन्तकाष्ठं शिरःस्नानमुद्वर्त्तनमथापि वा ।
विवर्जितं मृदा सर्वं शौचार्थं तु विधीयते ॥

शिरःस्नानं शिरोनैक्यार्थस्नानम् । उद्वर्त्तनशिरोनैक्यार्थस्नाने मृदा निषिद्धे इत्यर्थः । विधीयते इत्यस्य मृदिति शेषः।गन्धादीनां चोत्कटतया भोगार्थं धारणं निषिद्धम् । रागजनकानां सामान्यतो निषेधे तेषामेव गन्धालङ्कारवस्त्रत्वादिना विशेषेण निषेधौचित्यात् । सामान्यनिषेधकं वचनम्—

**मिताक्षरायां,**

पादाभ्यङ्गं शिरोऽभ्यङ्गं ताम्बूलमनुलेपनम् ।
सर्वव्रतेषु वर्ज्यानि यच्चान्यद्बलरागकृत् ॥

एवं च सति गन्धालङ्कारेत्यादिशातातपवाक्ये गन्धादिपदस्य रागजनकातिरिक्तगन्धादिपरत्वे दन्तधावनपदस्य पत्रतृणादिपरत्वे अञ्जनपदस्य औषधाञ्जननित्याञ्जनपरत्वे सति न दुष्यन्तीत्यर्थोऽपि सङ्गच्छते । हरिवंशवाक्यं तु रागजनकादिविषयमिति न विरोधः । तेन स्वाभाविकवस्त्रादिधारणकर्माङ्गालङ्कारधारणादृष्टार्थकदेवनिर्माल्यगन्धादिधारणानि न निषिद्धानि। अत्र न प्रतिपदादिनिषेधो, येन वैधं हित्वा रागप्राप्तमात्रपरः स्यात् । किन्तु वैधदन्तधावनप्रकरणात्पर्युदासः। तेन पर्वादौ स्वेच्छया दन्तकाष्ठभक्षणे दोषाभाव इति केचित् । वस्तुतस्तु —

दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ।

इति नृसिंहपुराणीयवाक्ये दोषश्रवणान्निषेध एवायम्। भक्षणविधिस्तु पर्वाद्यतिरिक्तविशेषपरः। अत एव नृसिंहपुराणे एव अलाभे दन्तकाष्ठानामित्यादिना दन्तकाष्ठस्थाने द्वादश गण्डूषा विहिताः। यत्र तु न दोषश्रवणं तत्रास्त्वेकवाक्यानुरोधात्पर्युदास इति ध्येयम्।व्रतादौ तु प्रकरणाद्दन्तकाष्ठभक्षणाभावोऽङ्गं दीक्षितस्य दानहोमाद्यभाववत्। अत्र गण्डूषानां दन्तधावनकार्यकारित्वेऽप्यसमवेतार्थत्वादविधानाच्च न तत्र मन्त्रान्वयः। व्रीहिकार्यकारिषु यवेषु व्रीहीणां मेधेत्यादिमन्त्राभाववत्। सोमप्रतिनिधित्वेन प्राप्तेषु पूतीकेषु सोममन्त्रा भवन्त्येव। तेषु सोमावयवसद्भावात्। प्रतिपदादौ तु दन्तकाष्ठनिषेधात्प्रतिनिधिन्यायेनापि तत्सदृशस्य चाप्राप्तौ मन्त्रलोप एव। एतेन यत्केनचिदुक्तं प्रतिपदादौ गण्डूषेऽपि वनस्पतइत्यत्र गण्डूषपदोहेन मन्त्रः पठनीय इति, तत् निरस्तम्।तत्र वनस्पत्यप्राप्त्या तद्विनियुक्तमन्त्रस्याप्यप्राप्तेः। प्रकृतावूहाभावाच्च। अन्यथा यवप्रयोगेऽपि व्रीहिप्रकाशकमन्त्रस्य व्रीहिपदस्थाने यवपदोहेन प्राप्तिप्रसङ्गः। अलाभे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धतिथौ दन्तकाष्ठाभावविहितेषु गण्डूषेष्वपि न दन्तकाष्ठभक्षणेतिकर्त्तव्यताप्रविष्टमन्त्रान्वयः। गण्डूषस्य लौकिकप्रमाणेनैव निर्ज्ञातेतिकर्त्तव्यताकत्वेनेतिकर्तव्यताकाङ्क्षाविरहात्। अन्यथा प्राजापत्यव्रताशक्तिविहितगोदाने आचमनाशक्तिविहितकर्णस्पर्शादौ च मुख्येतिकर्त्तव्यताप्रसङ्गः। अत एव निर्ज्ञातेतिकर्त्तव्यताकानां दीक्षणीयास्थानापन्नायां त्रेधातव्यायामिष्टौ न दीक्षणीयाधर्मातिदेशः।

यत्तु,

यो मोहात्स्नानवेलायां भक्षयेद्दन्तधावनम्।
निराशास्तस्य गच्छन्ति देवाः पितृगणैः सह॥

इति व्यासेनोक्तं, तत् मध्याह्नस्नानविषयम्।

मध्याह्ने स्नानकाले तु यः कुर्याद्दन्तधावनम् ।
निराशास्तस्य गच्छन्ति देवाः पितृगणैः सह ॥

इतिप्रचेतोवाक्यैकवाक्यत्वात् । उषःकालेष्वित्यादिना दक्षेण शौचानन्तरं दन्तधावनपूर्वकस्नानविधानेनार्थतः दन्तधावनोत्तरं प्रातःस्नानविधानात्। हारीतेनापि दन्तधावनोत्तरं स्नानविधानाच्च । यथा,

दन्तधावनं भक्षयेदविरक्तं सोदकम् एकान्तमुत्सृज्य स्नातो वाग्यतः शुचिरहतशुक्लवासा अग्निहोत्रादिदेवतार्थान् कुर्यात् ।

अविरक्तं सरसम्। सोदकं प्रक्षालितम्। अग्निहोत्रादिदेवतार्थान् अग्निहोत्रादीनि देवतार्थांश्च देवपूजादीन् । इति दन्तधावनम् ।

## अथ प्रातःस्नानादि ।

तत्र दन्तधावनोत्तरं प्रातःस्नानात्प्राक्केशप्रसाधनं केचिदिच्छन्ति । पठन्ति च—

केशप्रसाधनं चैव कुर्वीत स्नानपूर्वतः ।
दक्षिणाभिमुखो नैव नैवोर्ध्वो नान्यदर्शने ॥

बृहन्नारदीये तु,

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय पुरुषार्थाविरोधिनीम् ।
वृत्तिं सञ्चिन्तयेद्विप्रः कृतकेशप्रसाधनः ॥ इत्युक्त्वा—
दिवा सन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।

इत्यादिना शौचमुक्तम्। ततश्चोत्थानानन्तरमेव केशप्रसाधनं सिध्यति । कल्पतरुकारादयस्तु प्रातर्होमान्तं कर्म उक्त्वा—

आचान्तश्च ततः कुर्यात्पुमान्केशप्रसाधनम् ।

इति विष्णुपुराणादिवाक्यानि केशसाधनविधायकानि लिखितवन्तः। विष्णुपुराणे टीकायां श्रीधरस्वामिनाऽपि "सन्ध्योपासनहोमादीनां सूर्योदयास्तमयप्रसङ्गेन प्रागेवोक्तत्वात्तदुपरितनं

कर्मकाण्डमाह आचान्तश्चेत्यादिना" इत्युक्तम्। एवं च सति यद्यप्येतेषां कालानां केशप्रसाधने विकल्पः सिध्यति तथापि प्रातर्होमानन्तरमेव प्रामाणिकनिबन्धानुसारेण कुर्वन्तीत्यतोऽस्माभिरपि तत्रैव लेख्यम्।

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः,

यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः।
दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गेहे चेत्तदमन्त्रवत्॥

अनातुरः स्नानसंवर्द्धनीयरोगशून्यः। यथेतिकर्त्तव्यतया मृदालम्भादिरूपया मध्याह्ने स्नानं कुर्यात्तथैव नित्यं प्रत्यहं दन्तान् प्रक्षाल्य नदनदीदेवखातगर्त्तप्रस्रवणादिषु प्रातरपि स्नानं कुर्यादित्यर्थः। अनातुर इत्यभिधानाच्च आतुरः स्नाननिमित्तप्रायत्यरहितः सम्मार्जनादिना शौचमापाद्य संध्यां कुर्यात्। स्नाननिमित्ताप्राप्तौ तु वक्ष्यमाणाः स्नानानुकल्पाः। गेहेचेदिति। अत्रामन्त्रवदिति मन्त्रसंक्षेपोऽभिमत इति माधवस्मृतिचन्द्रिकाकारौ। तच्चिन्त्यम्। प्रातर्न तनुयात्स्नानमित्यनेन वक्ष्यमाणच्छन्दोगपरिशिष्टवाक्यान्तरेण नद्यादिक्रियमाणप्रातःस्नानेऽपि मन्त्रबाहुल्यादिरूपविस्तरप्रतिषेधप्राप्तौ गेहे चेदित्यादेर्वैयर्थ्यापत्तेः। कल्पतरुप्रभृतयस्तु तत् प्रातःस्नानं यदि गेहे केनचिन्निमित्तेन करोति तदा स्नानाङ्गमन्त्ररहितं कार्यमित्याहुः। तत्रापि उपांशु काम्या इष्टय इत्यत्र काम्यास्विष्टिषु उपांशुत्वस्य प्रधानमात्रान्वयवत् प्रधानएव मन्त्रनिवृत्तिः, न त्वङ्गेषु। तच्छब्देन प्रधानमात्रपरामर्शात्। यदा गृहाभ्यन्तरेऽवश्यकर्त्तव्यतया प्रातःस्नानं करोति तदा देहप्रक्षालनरूपं स्नानममन्त्रकमेव कार्यमिति ब्राह्मणसर्वस्वेऽभिदधतो हलायुधस्याप्यङ्गे मन्त्रान्वयोऽभिमत इत्युन्नीयते। एतेन गेहे चेत्तदमन्त्रवदित्यत्र तच्छब्देन प्रधानमात्रपरामर्शादमन्त्रकं प्रधानं

शरीरक्षालनमेव कार्यं नत्वङ्गमिति मतं निरस्तम्। यतः स्नानविधिनैव साङ्गस्नानप्राप्तौ तच्छब्देन प्रधानमात्रमनूद्य तत्रैव मन्त्रनिवृत्तिरनेन बोधिता नत्वङ्गनिवृत्तिः। इदं च प्रातःस्नानएव। प्रातःस्नानमुपक्रम्याभिधानात्। मध्याह्नस्नानं तु गृहे अनुपपत्त्या क्रियमाणं समन्त्रकमेव ।

मैथिलास्तु—

मलापकर्षणं तीरे मन्त्रवत्तु जले स्मृतम् ।

इति दक्षवचनेन समन्त्रकस्नानस्य जलएव नियमनान्मध्याह्नस्नानमपि गेहेऽमन्त्रकमेवेत्याहुः। अत्र गृहपदं नद्यादिभिन्नस्थलपरम् । नद्यादावित्युक्त्वा गेहे चेदित्याद्यभिधानेन तथा प्रतीतेः । अत एव नद्यादौ गृहसम्भवेऽपि तत्र समन्त्रकमेव स्नानम् । गेहइत्युद्धृतोदकस्नानोपलक्षणम् । नद्याद्यभावे विधानादिति श्रीदत्तोपि ।

उद्धृतोदकस्नानेऽपि तर्पणमङ्गम्। अप्रायत्यनिमित्तकस्नानाद्यतिरिक्तस्नानमात्रएव तर्पणाङ्गकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । उद्धृतोदकस्नानाङ्गतर्पणमुद्धृतोदकेनैव कार्यमित्यत्र नियामकाभावादुद्धृतोदकस्नानेन प्रधानस्नानदेशस्य तर्पणायोग्यत्वे तदङ्गतर्पणं नद्यादावपि कार्यम् । प्रधानस्नानदेशस्य तर्पणयोग्यत्वे तु प्रधानसादेश्याय तदङ्गतर्पणमुद्धृतोदकेनापि तत्रैव कार्यम् ।

तथा,

अल्पत्वाद्धोमकालस्य बहुत्वात्स्नानकर्मणः ।
प्रातर्न तनुयात्स्नानं होमलोपो विगर्हितः ॥

न तनुयान्न विस्तारयेत्। अत्र होमपदं स्नानोत्तरकालीनावश्यककर्मपरम् । युक्तेस्तुल्यत्वात् । एवं चोदितहोमिनाऽपि पुरोदयात्प्रातः प्रादुष्कृतोदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयादितिगोभि-

लोक्तस्याग्निप्रादुष्करणकालस्य लोपसम्भावनायाम्, एवं निरग्निनाऽपि—

पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि ।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदादित्यदर्शनम् ॥

इति नृसिंहपुराणोक्तस्य प्रातःसंध्योपक्रमकालस्य लोपसम्भावनायां प्रातःस्नानविस्तरो न कार्यः । न तनुयादित्यनेन सङ्क्षेप आक्षिप्तः । स च संक्षेपो योगियाज्ञवल्क्येनाभिहितः ।

यथा,

योऽसौ विस्तरशः प्रोक्तः स्नानस्य विधिरुत्तमः ।
असामर्थ्यान्न कुर्याच्चेत्तदाऽयं विधिरुच्यते ॥
स्नानमन्त्रजपं चैव मार्जनाचमने तथा ।
तीर्थस्यावाहनं चैव तीर्थस्य परिकल्पना ॥
अघमर्षणसूक्तेन त्रिरावृत्तेन नित्यशः ।
स्नानाचरणमेतत्तु समादिष्टं महात्मभिः ॥
अन्यांश्च वारुणान्मन्त्रान्कामतः सम्प्रयोजयेत् ।
यथाकालं यथादेशं ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः ॥ इति ।

अत्र पूर्वप्रतिपन्नक्रमवत्तीर्थपरिकल्पनादिपदार्थानुवादेन मन्त्रमात्रविधानादत्र विपरीतक्रमाभिधानेऽपि स एव क्रमो बोद्धव्यः । यदि तु कालदेशवशाच्छक्नोति तदा परानपि वारुणान्मन्त्रान्प्रयोजयेदित्यर्थः इति कल्पतरुः । न च मध्याह्नस्नानप्रकरणे एव योगियाज्ञवल्क्येन एतत्संक्षेपाभिधानात्कथमस्य प्रातःस्नाने निवेश इति वाच्यम् । यथाऽहनीत्यादिना मध्याह्नस्नानधर्माणामेव प्रातःस्नानेऽतिदेशात् । समुद्रकरभाष्यादौ तु स्वस्वगृह्यविहितस्नानेष्वेवावाहनमृद्ग्रहणादीनामनेकमन्त्रसाध्यानामेकद्वित्रिमन्त्रैरनुष्ठानं सङ्क्षेप इत्युक्त्वा योगियाज्ञवल्क्योक्त सङ्क्षेपमुक्त्वा-

पद्मपुराणीयादि चेति रत्नाकरः। स च विधिरस्माभिर्मध्याह्नस्नानप्रकरणे वक्ष्यते। ब्राह्मणसर्वस्वे तु अन्योऽपि सङ्क्षेप उक्तः।

यथा तत्रैव व्यासः,

अन्तर्जले ऋतंसत्यं जपेत्त्रिरघमर्षणम् । इति ।

एतस्य स्नानप्रकरणे पाठादेतावतैव स्नानाङ्गं सिद्ध्यतीत्युन्नीयते। मुख्यं तु मज्जनमर्थसिद्धमेव । अन्योऽपि संक्षेपस्तत्रैव दक्षोक्तः ।

यथा,

संध्यास्नानमृगन्तेन मध्याह्ने च ततः पुनः । इति ।

संध्यामुपासितुं स्नानं संध्यास्नानं, प्रातःस्नानमित्यर्थः ऋगन्तेन द्रुपदाद्यघमर्षणादिकाब्दैवत्यमन्त्रमात्रेणेति तत्र व्याख्यातम् । अन्योऽपि संक्षेपस्तत्रैव ।

यथा पैठीनसिः, हिरण्यवर्णा इति सूक्तेन स्नात्वा शौचं कृत्वाऽपां मध्ये त्रीन् प्राणायामान् कुर्यात् ।

शौचं कृत्वा आचम्येत्यर्थः । कल्पतरुप्रभृतिधृतस्नानप्रकरणस्थबृहस्पतिवाक्यादपरोऽपि संक्षेपः प्रतीयते।

यथा,

द्रुपदादिव यो मन्त्रो वेदे वाजसनेयके ।
अन्तर्जले त्रिरावर्त्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अस्य स्नानप्रकरणेऽभिधानात् बृहस्पतिना चाङ्गान्तरानभिधानादेतावतैव स्नानाङ्गं सिद्ध्यतीति प्रतीयते इति।

दक्षः,

अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः ।
स्रवत्येव दिवा रात्रौ प्रातःस्नानं विशोधनम् ॥
क्लिद्यन्ति च सुषुप्तस्य इन्द्रियाणि स्रवन्ति च।

अङ्गानि समतां यान्ति उत्तमान्यधमानि च ॥

तथा,

अस्नात्वा नाचरेत्कर्म जपहोमादि किञ्चन ।
लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान् ॥
प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत् ।
सर्वमर्हति शुद्धात्मा प्रातःस्नायी जपादिकम् ॥

समतां यान्तीति । उत्तमाङ्गानि चक्षुरादीनि क्लेदसम्पर्कादधमाङ्गतुल्यानि भवन्तीत्यर्थः । अस्नात्वा नाचरेदित्यत्र हेतुः लालास्वेदसमाकीर्ण इति । अत्र यत इति शेषः । दृष्टादृष्टकरमिति । दृष्टं मलापनयनद्वारा शुद्धिः, अदृष्टं नित्यत्वेन पापक्षय इति कल्पतरुः । अन्यत्र तु प्रातःस्नानस्य अपरे अपि दृष्टादृष्टे फले श्रूयेते ।

यथाह दक्षः,

प्रातरुत्थाय यो विप्रः प्रातःस्नायी भवेत्सदा ।
सप्तजन्मकृतं पापं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥
उषस्युषसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ ।
प्राजापत्येन तत्तुल्यं महापातकनाशनम् ॥
तिसृष्वपि च सन्ध्यासु स्नातव्यं च तपस्विभिः ।
गुणा दश स्नानपरस्य साधो रूपं च तेजश्च बलं च शौचम् ।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा ॥

उषस्युषसीत्यादि । अत्र पूर्वपूर्वकालबाधे उत्तरोत्तरकालविधानम् । यद्यपि प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामित्यादिना प्रातःसन्ध्योपक्रमस्य सूर्योदयात्प्रागेव कर्त्तव्यताविधानेन अस्नात्वा नाचरेत्कर्मेत्यादिना दक्षेण अस्नातस्य सन्ध्यादिकर्मानधिकारप्रतिपादनेनोदिते स्नानविधानमनुपपन्नं तथापि सूर्योदयात्पूर्वं स्नानादिकरणासामर्थ्ये सामर्थ्येऽपि वा केनचिद्विघ्नेन प्रतिबन्धे उदिते तत्कार्यमि-

त्येवंपरमिदमिति । माधवस्मृतिचन्द्रिकाकाराभ्यां तु—

सन्धौ संध्यामुपासीत नास्तगे नोदिते रवौ ।

इति योगियाज्ञवल्क्येन सूर्योदयोत्तरं सन्ध्यानिषेधेन स्नानोत्कर्षासम्भवात् उदिते उदयाभिमुखे इति व्याख्यातम् । तच्चिन्त्यम् । सन्ध्यामुपास्तइत्युपक्रम्य अतिक्रान्तायां महाव्याहृतीः सावित्रीं स्वस्त्ययनादि जपित्वेत्यादिसाङ्ख्यायनसूत्रेण कालातिक्रमेऽपि सायंसंध्यामभिधाय एवं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नित्यादिना एवंशब्देन प्रातःसन्ध्यायां सायंसन्ध्याधर्मातिदेशेनोदयानन्तरमपि प्रातःसन्ध्याप्राप्तेः । सूर्योदयाभिमुखकालस्य सन्ध्यायामित्यनेनैव प्राप्तत्वादुदिते रवावित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च । योगियाज्ञवल्क्यवचनं तु एकवाक्यतानुरोधेन नञः पर्युदासपरतया मुख्यकालमात्रपरमिति न विरोधः ।

दक्षः,

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।
तेषां मध्ये तु यन्नित्यं तत्पुनर्भिद्यते द्विधा ॥
मलापकर्षणं पार्श्वे मन्त्रवत्तु जले स्मृतम् ।
सन्ध्यास्नानमुभाभ्यां तु स्नानभेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥

द्विधा मलापकर्षणं मन्त्रवच्चेत्यर्थः । मलापकर्षणस्वरूपमाह—

शङ्खः,

मलापकर्षणं नाम स्नानमभ्यङ्गपूर्वकम् ।
मलापकर्षणार्थं तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥ इति ।

पार्श्वे जलपार्श्वे । जले न कर्त्तव्यमिति यावत् । अत एव पार्श्वे न जलमध्यइति रत्नाकरः ।

अत एव विष्णुः, नाप्सु सतो नोद्वर्त्तनं कुर्यात् ।

उद्वर्त्तनं गात्रमलक्षालनम् । सन्ध्यास्नानं प्रातःस्नानम् । उभा-

भ्यां जले स्थले चेति कल्पतरुः। केचित्तु अत्रासन्तमलिनः काय इत्यादिना प्रातःस्नानस्य मलशोधकत्वावश्यकत्वाभिधानेनोभाभ्यामित्युक्तम्। तेन प्रातः प्रथमं मलापकर्षणाय स्थले स्नात्वा पश्चाज्जले स्नातव्यम्। अन्यथोभाभ्यामिति समुच्चयासङ्गतिरिति वदन्ति। तच्चिन्त्यम्। लिखितशङ्खवाक्यादिपर्यालोचनयाऽभ्यङ्गादिपूर्वकस्नानस्यैव मलापकर्षणस्नानत्वेन प्रातःस्नानस्य मलापकर्षकस्नानत्वाभावात्। तस्यापि मलापकर्षकत्वे मलापकर्षणं पार्श्वे इत्यनेनैव स्थलकर्त्तव्यताया मन्त्रवत्त्वेन च जलकर्त्तव्यतायाः प्राप्तत्वात् सन्ध्यास्नानमुभाभ्यामिति व्यर्थमेव स्यात्। तस्मात् प्रातःस्नानस्य स्थलकर्त्तव्यताया अप्राप्त्यर्थमिदं वचनम्। गेहे चेत्तदमन्त्रवदिति कात्यायनसंवादोऽप्यत्र। स्नानमाचरेदित्युपक्रम्य—

विष्णुः, न राहुदर्शनवर्ज्जं रात्रौ, न सन्ध्यायां, प्रातःस्नाय्यरुणकिरणग्रस्तां प्राचीमवलोक्य स्नायात्।

सन्ध्यायां सायंसन्ध्यायामिति कल्पतरुः। महार्णवप्रकाशे तु न सन्ध्ययोरिति पठित्वा सन्ध्याद्वये स्नाननिषेधादरुणकिरणग्रस्तत्वं सन्ध्यापूर्वशुक्लभास्वरपूर्वदिगुपलक्षिते काले उपसंहृतम्। तन्न। तत्कालस्यापि रात्रित्वेन तेनैव विष्णुवाक्येन निषेधात्। तस्मान्निषेधोऽयं रागप्राप्तस्नानविषयः। अत एव—

उषस्युषसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ।

इति दक्षवाक्येन—

स्नातो यः पूर्वसन्ध्यायां सदा मामभिगच्छति।

इत्यादिवाक्येन च सन्ध्यायामपि स्नानमभिहितम्। एवञ्च—

सूर्योदयं विना नैव स्नानदानादिकाः क्रियाः।

इति मार्कण्डेयपुराणवचनं तदितरस्नानपरमिति श्रीदत्तादयः। वस्तुतस्तु—

अग्नेर्विहरणं चैव कृत्स्नभावश्च लक्ष्यते ।

इति द्वितीयार्द्धेऽग्निविहरणश्रवणात्तस्य च सूर्योदयात्पूर्वमेव विधानात्सूर्योदयशब्देनोषःकालो लक्ष्यते । अत एव कल्पतरुणाऽपि परिभाषायामिदं वचनं तथैव व्याख्यातम् । अन्योदिते रवावित्यनेन सूर्येदयानन्तरमपि प्रातःस्नानाभिधानात् ।

प्रातःकालो मुहूर्त्तांस्त्रीनिति श्राद्धप्रकरणपठितेनापि मत्स्यपुराणवचनेन परिभाषितः प्रातःकालः प्रातःस्नानस्य गौणः काल इति वदन्ति ।

**विष्णुः,**

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि ।
पवित्राणां तथा जप्ये दाने च विधिचोदिते ॥
अलक्ष्मीः कालकरणी च दुःस्वप्नं दुर्विचिन्तितम् ।
अम्मात्रेणाभिषिक्तस्य नश्यन्त इति धारणा ॥
याम्यं हि यातनादुःखं नित्यस्नायी न पश्यति ।
नित्यस्नानेन पूयन्ते तेऽपि पापकृतो जनाः ॥

कालकरणी दुःसहस्य रक्षसो दुहिता । दुर्विचिन्तितम् अशुभचिन्तितम् । अम्मात्रेण उद्धृतेनानुद्धृतेन वेत्यर्थ इति कल्पतरुः । मन्त्रादिकं विनापीति श्रीदत्तपारिजातौ । धारणा निश्चयः । याम्यं यमलोकोद्भवम् ।

## अथ काम्यप्रातःस्नानम् ।

**विष्णुः,**

य इच्छेद्विपुलान् भोगान् चन्द्रसूर्यग्रहोपमान् ।
प्रातःस्नायी भवेन्नित्यं मासौ द्वौ माघफाल्गुनौ ॥

**यमः,**

प्रातःस्नायी च सततं मासौ द्वौ माघफाल्गुनौ ।

देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

देवपितृसमभ्यर्च्चनं तर्पणादिना । अत्रोभयत्रापि द्वौ मासाविति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेन मध्ये प्रातःस्नानविच्छेदो न कर्त्तव्यः ।

विष्णुः, मासः कार्त्तिकोऽग्निदैवत्योऽग्निश्च सर्वदेवानां मुखं तस्मात्कार्तिकं मासं बहिःस्नायी गायत्रीजपनिरतः सकृदेव हविष्याशी वत्सरकृतात्पापात्पूतो भवति ।

कार्त्तिकं सकलं मासं नित्यस्नायी जितेन्द्रियः ।
हविष्यभुक् जपन् शान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

बहिर्नद्यादौ । नित्यस्नायी प्रातःस्नायी ।

अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्याग्निहवनादिषु ।
प्रातःस्नानं तदर्थं तु नित्यस्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥

इति शङ्खस्मरणात् । क्वचित्प्रातःस्नायीत्येव पाठः । जपन् आवश्यककृत्यान्तरवर्जिते कालइति कल्पतरुः । हविष्यं हविष्येषु यवा मुख्या इत्यादिना विष्णूक्तम् । प्रातःस्नानमरुणकरग्रस्तामित्यादिना विष्णुनैवोक्तनित्यस्नानात्कार्त्तिकं सकलं मासमित्यादिना विष्णूक्तं प्रातःस्नानं प्रकरणभेदाज्जितेन्द्रियत्वहविष्यभुक्त्वाद्यनेकगुणविधानाच्च कर्मान्तरमेव । तथा, मासः कार्त्तिक इत्यादिना विष्णूक्तं बहिःस्नानं, कार्त्तिकं सकलं मासमित्यादिना विष्णूक्तात्प्रातःस्नानाद्भिन्नमेव । अन्यथा प्राप्ते कर्मण्यनेकविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गः । एवं च बहिःस्नाने द्विजातिरेवाधिकारी । तत्र गायत्रीजपस्याङ्गत्वाभिधानात् । तच्चानिषिद्धकाले यदा कदाचित्कर्त्तव्यं कालविशेषानभिधानात् । द्वितीयं तु प्रातर्नद्यादौ गेहे वा कर्त्तव्यम् । तत्र देशविशेषानभिधानात् । अत्र स्त्रीशूद्रादीनामप्यधिकारः । गायत्रीजपादेः सङ्कोचकस्याभावात् । कल्पत-

रुस्वरसोऽप्येवमिति । अत्र स्नानविधायकेषु प्रातःशब्द उदयपूर्व-कालवचनः । प्रातःस्नाय्यरुणकरग्रस्तां प्राचीमवलोक्य स्नायादिति विष्णुवचनेन सर्वत्र प्रातःस्नाने तस्यैव कालस्य प्रापितत्वात्। यत्तु

प्रातःकालो मुहूर्त्तांस्त्रीनिति मत्स्यपुराणोक्तं, तद् व्रतविषयमिति कल्पतरुः । हलायुधादिनिबन्धेषु तु एतच्च काम्यप्रातःस्नानं नित्यप्रातःस्नानं नित्योपासनादिकं च स्वस्वकालविहितं कृत्वा स्वकल्पोक्तविधिविस्तरेणैव मध्याह्नस्नानवत्कार्यमित्युक्तम्।तेषामयमाशयः । अरुणकरग्रस्तामित्यादिना विष्णूक्तः कालो नित्यस्नानमात्रविषयः । अन्यत्र तूदिते रवावित्यादिनोक्तः प्रातःकालो मुहूर्त्तांस्त्रीनित्यादिरूपः।न च तस्य प्रकरणाच्छ्राद्धमात्रविषयत्वम् । मत्स्यपुराणएव प्रातरादीन् कालान् विभज्य—

मायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्याच्छ्राद्धं तत्र न कारयेत् ।

इत्युक्त्वा,

राक्षसी नाम सा वेला गर्हिता सर्वकर्मसु ।

इत्यनेन तत्र सर्वकर्मनिषेधेनान्यत्र सर्वकर्माभ्यनुज्ञानात् । किञ्च । होमसन्ध्यावन्दनादिलोपापत्त्या तदा सर्वाङ्गसम्पन्नं काम्यं स्नानं कर्त्तुमपि न शक्यते। मध्याह्नस्नानवत्तत्करणं तु मध्याह्नस्नानएव निखिलस्नानधर्मकथनेन तस्य स्नानमात्रप्रकृतित्वादिति । येषां तु काम्यानामपि रथसप्तमीस्नानादीनां—

सूर्यग्रहणतुल्या हि शुक्ला माघस्य सप्तमी ।

अरुणोदयवेलायां तस्यां स्नानं महाफलम् ॥

इति भविष्यपुराणादिवाक्यैररुणोदयकालोऽभिहितः, तेषामपि सन्ध्याहोमादिकाललोपरूपयुक्तितौल्यात्साङ्गप्रयोगेणैवानुष्ठानमिति।प्रातःस्नानानन्तरं च तदङ्गतर्प्पणं तदव्यवधानेनैव कार्यम्।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रातःस्नानं समाचरेत् ।

इत्युपक्रम्य—

स्नात्वा सन्तर्पयेद्देवानृषीन्पितृगणांस्तथा ।

आचम्य मन्त्रविन्नित्यं पुनराचम्य वाग्यतः ॥

सम्मार्ज्य मन्त्रैरात्मानं कुशैः सोदकबिन्दुभिः ।

इत्यादिना—

प्राङ्मुखः सततं विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत् ।

इत्यन्तेन कूर्मपुराणे तथाऽभिधानात् । स्पष्टमेतत्पाराशरमाधवीये चतुर्विंशतिमते । यथा,

स्नानादनन्तरं तावत्तर्पयेत्पितृदेवताः ।

उत्तीर्य पीडयेद्वस्त्रं सन्ध्याकर्म ततः परम् ॥ इति ।

एवं च यत् क्वचित्सन्ध्योत्तरतर्पणाभिधानं तत् अहःकर्त्तव्यस्वतन्त्रतर्पणाभिप्रायकम् । अत एव वाचस्पतिमिश्रेणापि सायं वैधस्नानप्राप्तौ सन्ध्यासंभवेऽपि सन्ध्यातः पूर्वं स्नानाव्यवहितमेव तर्पणं कार्यमित्युक्तम् । मैथिलास्तु यथाऽहनि तथा प्रातरिति वचनेन माध्याह्निकक्रमातिदेशात्सन्ध्योत्तरमेव प्रातःस्नानाङ्गतर्पणम् । शिष्टाचारोऽप्येवमेव । कूर्मपुराणादिवचनं चोपरागादिनिमित्तकस्नानस्य सायमनुष्ठाने क्रमबोधकमिति वदन्ति ।

तर्पणस्य स्नानाङ्गता तु—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।

तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन प्रकीर्त्तितम् ॥

इति ब्रह्मपुराणे सिद्धा । तच्च सति सम्भवे स्वशाखोक्तविधिनैव कार्यम् । कालसङ्कोचादौ तु सङ्क्षेपेण कार्यम् । सङ्क्षेपश्च नृसिंहपुराणादावुक्तः ।

यथा नृसिंहपुराणे,

देवान्देवगणांश्चापि मुनीन्मुनिगणानपि ॥
पितॄन्पितृगणांश्चापि नित्यं सन्तर्पयेत्ततः । इति ।
एतत्प्रयोगस्तु देवांस्तर्पयामि देवगणांस्तर्पयामीत्यादि । अतिसङ्क्षेपमाह—

शङ्खः,
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन् ।
जलाञ्जलित्रयं दद्यादेतत्सङ्क्षेपतर्पणम् ॥ इति ।

इदं सङ्क्षेपतर्पणं देवविधिनैव कार्यमिति वदन्ति ।

केचित्तु ॐभूर्देवांस्तर्पयामि भुवर्देवांस्तर्पयामि स्वर्देवांस्तर्पयामि भूर्भुवः स्वर्देवांस्तर्पयामीति देवानाम्, एवं भूर्ऋषींस्तर्पयामीत्यादि ऋषीणाम्, एवं भूः पितॄंस्तर्पयामीत्यादिना पितॄणां सङ्क्षेपतर्पणमाचरन्ति ।

अन्ये तु,
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगदेतच्चराचरम् ।
मया दत्तेन तोयेन तृप्यत्वेतच्चतुर्विधम् ॥
इति मन्त्रेणाञ्जलित्रयदानेन सङ्क्षेपतर्पणमाचरन्ति ।

ततो वक्ष्यमाणरीत्या वस्त्रपरिधानतिलकादिकरणम् ।

## अथ प्रातःसन्ध्यादि ।

नृसिंहपुराणे,
पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि ।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदादित्यदर्शनम् ॥

इदं च साग्निकेतरपरम् । उदितहोमिनोऽपि सूर्योदयात्पूर्वमग्नेनप्रादुष्करणस्याभिधानात् ।

यथा गोभिलः, पुरोदयात्प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयादिति ।

अनुदितहोमीतरपरमिति तु श्रीदत्तः। उत्थानशौचदन्तधावन-स्नानाचमनाद्युक्त्वा—

दक्षः,

सन्ध्याकाले तु सम्प्राप्ते मध्याह्ने च ततः पुनः ।
उपास्ते यस्तु नो सन्ध्यां ब्राह्मणो हि विशेषतः ॥
स जीवन्नेव शूद्रः स्यान्मृतः श्वा चैव जायते ।
सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हस्सर्वकर्मसु ॥
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ।
सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते ॥
स्वयं होमफलं यत्तु तदन्येन न जायते ।
ऋत्विक् पुत्रो गुरुर्भ्राता भागिनेयोऽथ विट्पतिः ॥
एभिरेव हुतं यत्स्यात्तद्धुतं स्वयमेव हि ।
देवकार्यस्य सर्वस्य पूर्वाह्णस्तु विधीयते ॥
देवकार्यन्तु पूर्वाह्णे मनुष्याणां तु मध्यमे ।
पितॄणामपराह्णे च कार्याण्येतानि यत्नतः ॥
पूर्वाह्णिकं तु यत्कर्म यदि तत्सायमाचरेत् ।
न तत्फलमवाप्नोति वन्ध्यास्त्रीमैथुनं यथा ॥
दिवसस्याद्यभागे तु सर्वमेतत्समापयेत् ।

इति ।

सन्ध्याकाले तु सम्प्राप्ते इत्यत्र सन्ध्यास्नानमृगन्तेनेति ब्राह्मणसर्वस्वे पाठः । स तु व्याख्यातः । सन्ध्यास्नानं निशान्ते त्विति रत्नाकरादौ पाठः । अनर्ह इति । चिरकालं सन्ध्यात्यागी द्विजातिकर्मानधिकारीत्यर्थः ।

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

इति मनुदर्शनात् । केचित्तु अकृतसन्ध्योपासनः सन्ध्योत्तरविहितकर्मणामनधिकारीत्यर्थ इत्याहुः । अनुकल्पमाह ऋत्विक्पुत्र इत्यादि । विट्पतिर्जामाता । देवकार्यं देवपूजनम् । तच्च मैत्रं प्रसाधनमिति वचनव्याख्यायां व्याख्यातम् । यदि तत्सायमिति । अत्र विशिष्य सायङ्कालनिषेधात् मध्याह्नादिकालोऽपि गौणत्वेनाभिमतः । आद्यभागे अष्टधा विभक्तस्य दिवसस्याद्यभागान्ते काले ।

नृसिंहपुराणे,

ततश्चावसथं प्राप्य होमं कुर्याद्विचक्षणः ।
देवकार्यं ततः कृत्वा गुरुमङ्गलवीक्षणम् ॥
देवकार्यस्य सर्वस्य पूर्वाह्णस्तु विधीयते ।
देवकार्याणि पूर्वाह्णे मनुष्याणां तु मध्यमे ॥
पितॄणामपराह्णे तु कार्याण्येतानि यत्नतः ।
दिवसस्याद्यभागे तु सर्वमेतत्समाचरेत् ॥

गुरुः पित्रादिः ।

मङ्गलान्याह नारदः,

लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।
हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः ॥
एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेच्च यः ।
प्रदक्षिणं च कुरुते आयुस्तस्य न हीयते ॥

एतेषां ब्राह्मणादीनामष्टानां मङ्गलानां दिवसस्याद्यभागे वीक्षणमात्रं दर्शननमस्कारार्चनप्रदक्षिणीकरणानि समुदितानि आयुष्कामस्य तृतीयभागएव कर्त्तव्यत्वेन विहितानीति कल्पतरुः ।

आपस्तम्बः, अथ स्नातकव्रतानि पूर्वेण ग्रामान्निष्क्रमणप्रवेशनानि शीलयेदुत्तरेण वा सन्ध्ययोर्बहिर्ग्रामादासनं वाग्यतश्च विप्रतिषेधे श्रुतिलक्षणं बलीयः शीलयेत् । यथा तच्छीलता निष्प-

यते तथा कुर्यात् ।

विप्रतिषेधे श्रौतेन होमादिना विरोधे श्रुतिलक्षणं श्रौतमेवानुष्ठेयत्वेन बलीयः न स्मार्त्तम् । एवं च स्नानाद्यर्थमपि बहिर्निगमनप्रवेशने ग्रामपूर्वोत्तरान्यतरमार्गेणेति सिद्धम् ।

**याज्ञवल्क्यः,**

हुत्वाऽग्नीन्सूर्यदेवत्यान् जपेत् मन्त्रान् समाहितः । इति ।

सूर्यदेवत्यान् मन्त्रानित्यन्वयः ।

**वराहपुराणे,**

उदयास्तमितं सूर्यं यस्तु भक्त्या नरो द्विजः ।
दध्यक्षताञ्जलिभिस्तु तिसृभिः पूजयेच्छुचिः ॥
तस्य भावप्रपन्नस्य अशुभं यत्समर्जितम् ।
तत्क्षणादेव निर्दग्धं भस्मीभवति काष्ठवत् ॥

भावप्रपन्नस्य भक्त्या शरणं प्रपन्नस्य ।

**मनुः,**

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्णएव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥

व्याख्यातमिदं मूत्रपुरीषोत्सर्गप्रकरणे ।

**विष्णुपुराणे,**

आचान्तश्च ततः कुर्यात्पुमान्केशप्रसाधनम् ।
आदर्शाञ्जनमङ्गल्यदूर्वाद्यालम्भनानि च ॥

केशप्रसाधनं केशपरिष्कारः । आदर्शो दर्पणः । अञ्जनं सौवीराञ्जनं सुरमा इति मध्यदेशे प्रसिद्धम् । आदिशब्देन दध्यादीनामुपादानम् ।

**छन्दोगपरिशिष्टे,**

श्रोत्रियं सुभगां गां च अग्निमग्निचितं तथा ।

प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स प्रमुच्यते ॥
अग्निचित् कृताग्निचयः ।

**तथा,**

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम् ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ॥

**स्मृतिचन्द्रिकायां पुराणं,**

रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् ।
गुरुमग्निं च सूर्यं च प्रातः पश्येत्सदा बुधः ॥

**ब्रह्मपुराणे,**

स्वमात्मानं घृते पश्येद्यदीच्छेच्चिरजीवितम् ।
अश्वत्थसेवा तिलपात्रदानं गोस्पर्शनं ब्राह्मणतर्पणं च ।
एतानि सद्यः शमयन्ति पापं गङ्गाजलं भारतकीर्त्तनं च ॥
आत्मानं शरीरम् ।

**मनुः,**

दैवतान्यभिगच्छेच्च धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेवच पर्वसु ॥
अभिवादयेत्तु तान् वृद्धान् दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥

अभिगच्छेत् आभिमुख्येन पूजार्थं गच्छेत् । गुरूनेवेत्येवकारोऽभिगच्छेदित्यनन्तरं बोध्यः ।

**छागलेयो यमश्च द्वितीये,**

यतीनां दर्शनं चैव स्पर्शनं भाषणं तथा ।
कुर्वाणः पूयते नित्यं तस्मात्पश्येत्तु नित्यशः ॥
अग्निचित् कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत्तु नित्यशः ॥

पश्येदित्यनेन स्पर्शभाषणे अप्युपादीयेते । पश्येच्चेति पाठे तु चकारेणैव तत्समुच्चयः । अग्निचित् कृताग्निचयनः । कपिला कपिलवर्णा गौः । सत्री कृतसत्रयागः । अन्नादिसत्रशील इति केचित् । भिक्षुर्यतिः ।

**वाराहपुराणे,**

वामनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा वराहं च जलोत्थितम् ।
नमस्येच्चैव यो भक्त्या स पापेभ्यः प्रमुच्यते ॥
यज्वा मिष्टान्नदः सत्री शतायुर्धार्मिकः शुचिः ।
ज्ञाननिष्ठांस्तपःसिद्धान् दृष्ट्वा पापात्प्रमुच्यते ॥

शुचिस्तीर्थादिपूतः । ज्ञाननिष्ठोऽध्यात्मनिरतः । अत्र शुचिरित्यनन्तरमेतानिति शेषः ।

**विष्णुः,**

गोमूत्रं गोमयं सर्पिः क्षीरं दधि च रोचना ।
षडङ्गमेतत्परमं मङ्गलं परमं गवाम् ॥
शृङ्गोदकं गवां पुण्यं सर्वाघविनिषूदनम् ।

**मनुः,**

ऊर्ध्वं प्राणा उत्क्रामन्ति यूनः स्थविरआयति ।
अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥

आयति आगच्छति ।

**वामनपुराणे,**

कृत्वा शिरःस्नानमथाह्निकं च संपूज्य तोयेन पितॄन्सदेवान् ।
होमं च कृत्वाऽऽलभनं शुभानां ततो बहिर्निर्गमनं प्रशस्तम् ॥
दूर्वां तथा सर्पिरथोदकुम्भं धेनुं सवत्सां वृषभं सुवर्णम् ।
महीमयं स्वस्तिकमक्षतानि लाजा मधु ब्राह्मणकन्यकाश्च ॥
श्वेतानि पुष्पाणि तथा शमीं च हुताशनं चन्दनमर्कबिम्बम् ।

अश्वत्थवृक्षं च समालभेत ततश्च कुर्यान्निजजातिधर्मान् ।
देशानुदिष्टं कुलधर्ममग्र्यं स्वगोत्रधर्मं न हि सन्त्यजेच्च ॥
आह्निकमहःस्नानम् । एतच्चाभ्युदयादौ ।
अह्निदिवा चरेत् स्नानं मध्याह्ने वा विशेषतः ।

इति वसिष्ठवाक्यात् । यदि त्वाह्निकं सर्वमहःकृत्यमुच्यते तदा संपूज्येत्यादि व्यर्थं स्यादिति श्रीदत्तः । आह्निकं सन्ध्योपासनमिति तु युक्तम् । संपूज्य तोयेन पितॄनित्यनेन प्रातःस्नाने पितृतर्पणं कर्त्तव्यमित्युक्तमिति कल्पतरुः । दूर्वां तथेत्यत्र दूर्वादधिम् इति क्वचित्पाठः । स्वस्तिको गृहभेदः । अर्कबिम्बालम्भनं च चक्षुषा, तेन निरीक्षणं पर्यवस्यति । अत्र शिरःस्नानादि सर्वं यथाकालप्राप्तमनूद्य ततस्तु कुर्यान्निजजातिधर्मानित्यादि तृतीयभागे विधीयते । निजजातिधर्मश्च स्वस्वजातिविहितोऽर्थार्जनादिरूपः । तत्रापि यस्मिन्देशे यस्यां च जातौ यस्मिन् कुले योऽर्जनोपायो विहितोऽथवाऽनिन्दितः स एव तत्र तत्र तेन कर्त्तव्य इत्यर्थः । तत्र होमदेवपूजानन्तरं गुरुमङ्गलवीक्षणं क्षणेन प्रथमार्द्धयामे विहितम् । द्वितीयतृतीयभागयोर्वेदाभ्याससमित्कुशाद्याहरणे अर्थार्जनादि च क्रमशोऽभिहितम् ।

वामनपुराणे चार्थार्जनात्पूर्वं मङ्गलालम्भनादिकमुक्तम् । वचनान्तरेषु तु अन्येषामुक्तानां कर्मणां कालो न प्रतीयते । ततश्च तृतीयभागकर्त्तव्यार्थार्जनात्पूर्वं प्रथमभागादावेतेषां यथासम्भवं कर्त्तव्यता प्रतीयते । कल्पतरौ तु देवपूजागुरुमङ्गलवीक्षणसूर्यार्घदानतत्स्तुतिकेशप्रसाधनादर्शदर्शनाञ्जनदूर्वादिसन्मङ्गलालम्भनात्मदर्शनानि प्रथमभागप्रकरणे लिखितानि । अन्यानि तृतीयभागकर्त्तव्यप्रकरणे लिखितानि । श्रीदत्तादिनिबन्धेषु तु सर्वाण्येतानि प्रथमभागकर्त्तव्यप्रकरणे लिखितानि इति ।

भरद्वाजः,

कण्डूय पृष्ठतो गां तु कृत्वा चाश्वत्थवन्दनम् ।
उपगम्य गुरून् सर्वान् विप्रांश्चैवाभिवादयेत् ॥

शङ्खः,

प्रयतः कल्यमुत्थाय स्नातो हुतहुताशनः ।
कुर्वीत प्रणतो भक्त्या गुरूणामभिवादनम् ॥

विष्णुः,

कृतसन्ध्योपासनश्च गुर्वभिवादनं कुर्यात् ।

याज्ञवल्क्यः,

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्सन्ध्ययोरुभयोरपि ।
ततोऽभिवादयेद् वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् ॥

यद्यपि सन्ध्योपासनानन्तरमभिवादनं ब्रह्मचारिप्रकरणे एव श्रूयते तथाप्युत्तरेषां चैतदविरोधीति गौतमवचनात् गृहस्थादीनामपि तत्प्राप्तिः । तस्य वचनस्य चायमर्थः । एतत् ब्रह्मचारिणो यद्विहितं तत्र यद् गृहस्थाद्याश्रमाविरोधि तद् उत्तरेषां गृहस्थादीनामपि । स्वस्वाश्रमविरुद्धं तु न भवति । यथा ब्रह्मचर्यं गृहस्थस्य, गुरुकुलवासो वैखानसस्य, अग्निकार्यं प्रव्रजितस्येति ।

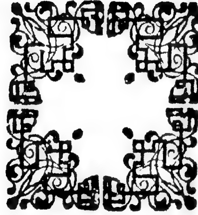
गृहस्थधर्मे शान्तिपर्वण्यपि,

सायं प्रातश्च विप्राणामुद्दिष्टमभिवादनम् । इति ।

अत्राभिवादनप्रकारश्च संस्कारप्रकाशे विस्तरेण दर्शितः ॥

इति श्रीमत्सकलसामन्तचक्रचूडामणिमरीचिमञ्जरीनीराजित-
चरणकमल-
श्रीमन्महाराजाधिराजप्रतापरुद्रतनूज-
श्रीमन्महाराजाधिराजमधुकरसाहसूनु-
श्रीमन्महाराजाधिराजचतुरुदधिवलयवसुन्धराहृदयपुण्डरीक-

विकासदिनकर-
श्रीवीरसिंहदेवोद्योजित-
श्रीहंसपण्डितात्मजश्रीपरशुराममिश्रसूनुसकलविद्यापारावा-
रपारीणधुरीणजगद्दारिद्र्यमहागजपारीणविद्वज्जनजीवातु-
श्रीमन्मित्रमिश्रकृते श्रीवीरमित्रोदयाभिधनिबन्धे आह्निकप्र-
काशे प्रथमभागीयकृत्यम् ।



## अथ द्वितीयभागकृत्यम्।

तत्र दक्षः,

द्वितीये च तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते।
वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः॥
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा।
समित्पुष्पकुशादीनां स कालः समुदाहृतः॥

स्वीकरणमध्ययनम्। एतच्च ब्रह्मचारिविषयं, गृहस्थस्याप्यनधीतवेदादिभागविषयम्।

तदुक्तमापस्तम्बेन, यया विद्यया न विरोचेत पुनराचार्यमुपेत्य नियमेन साधयेत् इति। न विरोचेत नोज्ज्वलज्ञानो भवेत्। समित्पुष्पकुशादीनामित्यस्य उपादानस्येति शेषः। गृहस्थस्यापि यदि गुरुगृहावस्थानादिना वेदाद्यभ्यासे क्रियमाणे नित्याग्निहोत्रादिलोपः प्रसज्येत तदा तेन तन्न कर्तव्यम्।

यदाहापस्तम्बः, निवेशे निर्वृत्ते संवत्सरे संवत्सरे द्वौद्वौ मासौ समाहितः आचार्यकुलं वसेद् भूयः श्रुतमिच्छन्निति श्वेतकेतुः, एतेन ह्यहं योगेन भूयः पूर्वस्मात् कालाच्छ्रुतमकुर्वीति। तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। निवेशे निर्वृत्ते नैगमिकानि श्रूयन्ते अग्निहोत्रमतिथयः यच्चान्यदेवमुक्तमिति। अस्यार्थः। निवेशो विवाहः। समाहितोऽनन्यमनाः। भूयोऽधिकतरम्। श्वेतकेतुराचार्यः, मन्यतइति शेषः। अत्र हेतुत्वेन श्वेतकेतोरेव स्वशिष्यान्प्रति वचनम् एतेनेत्याद्यकुर्वीतीत्यन्तम्। एतेन अनन्तरोक्तेन संवत्सरं द्वौद्वौ मासावित्यादिरूपेण प्रतिसंवत्सरं मासद्वयपर्यन्तोपाध्यायसंबन्धेनेति यावत्। पूर्वस्माद्विवाहप्राग्भाविनः कालात् भूयोऽधिकतरं श्रुतमध्ययनमकुर्वि कृतवानस्मीत्यर्थः। आपस्तम्बः तत्र स्वासम्मतिं व्यञ्जयति,

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धमित्यादिना । शास्त्रैः अग्निहोत्रादीनां याव-ज्जीवमावश्यकत्वप्रतिपादकैः विप्रतिषिद्धं विरुद्धम् । तदेवाह निवेश इति । नैगमिकानि श्रौतानि । तान्युदाहरति अग्निहोत्रमित्यादि । एवम् एवंविधम् ।

याज्ञवल्क्यः,

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ।

मनुः,

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥
यथायथाहि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

बुद्धिवृद्धिकराणि तर्कमीमांसादीनि । धन्यानि धनाय हितान्यर्थशास्त्राणीति यावत् । हितानि आयुर्वेदादीनि । निगमाः पदार्थनिर्णयहेतवो निघण्टुप्रभृतयः । रोचते उज्ज्वलं भवति ।

शङ्खलिखितौ, न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गश्रुतिभ्यः ।

यमः,

शास्त्रार्थमार्गमाश्रित्य ये गता ये च संस्थिताः ।
ये बुध्यन्ते महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥
दानेन तपसा यज्ञैरुपवासव्रतैस्तथा ।
न तां गतिमवाप्नोति विद्यया यामवाप्नुयात् ॥

गताः शास्त्रार्थमार्गेण प्रवृत्ताः । संस्थिताः परलोकं गताः ।

## अथ तृतीयभागकृत्यम् ।

तत्र दक्षः,

तृतीये च तथा भागे पोष्यवर्गार्थसाधनम् ।

माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनः समाश्रितः ॥
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः ।
भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ॥
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् ।
अन्योऽपि धनयुक्तस्य पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥
ज्ञातिर्बन्धुजनः क्षीणस्तथाऽनाथः समाश्रितः ।
सार्वभौतिकमन्नाद्यं कर्तव्यं गृहमेधिना ॥
ज्ञानवद्भ्यः प्रदातव्यमन्यथा नरकं व्रजेत् ।
जीवत्येकः स लोकेषु बहुभिर्योऽनुजीव्यते ॥
जीवन्तोऽपि मृताश्चान्ये यआत्मभरयो नराः ।
बह्वर्थं जीव्यते कैश्चित्कुटुम्बार्थं तथा परैः ॥
आत्मार्थेऽन्यैरशक्तोऽन्यः स्वोदरेणापि पीडितः ।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दातव्यं भूतिमिच्छता ॥
अदत्तदाना जायन्ते परभाग्योपजीविनः ।
द्वारंद्वारमटन्तीह भिक्षुकाः पात्रपाणयः ॥
कथयन्तो मनुष्याणामदातुः फलमीदृशम् ।
यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिनेदिने ॥
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ।

अर्थसाधनं धनार्जनं, कुर्यादिति शेषः । पोष्यवर्गमाह माता-पित्रेत्यादि । अभ्यागतः सम्बन्धी ग्रामान्तरादागतः । एकरात्रिको ग्रामान्तरादागतोऽसम्बन्धी अतिथिः ।

**गौतमः**, योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेन्नान्यमन्यत्र देवगुरु-धार्मिकेभ्यः ।

अलब्धलाभो योगः । लब्धरक्षणं क्षेमः । अन्यमनीश्वरम् । अभिगच्छेदित्यनुवृत्तौ ईश्वरं चैव रक्षार्थमिति मनुरपि ।

याज्ञवल्क्योऽपि,

ईश्वरं चाप्युपासीत योगक्षेमार्थसिद्धये ।

अथ चतुर्थभागकृत्यम् ।

तत्र दक्षः,

चतुर्थे तु तथा भागे स्नानार्थं मृदमाहरेत् ।

तिलपुष्पकुशादीनि स्नानं चाकृत्रिमे जले ॥

आदिशब्देन गोमयदूर्वाद्युपादानम् । स्नानं, कुर्यादिति शेषः । अकृत्रिमे नद्यादौ ।

शातातपः,

शुचौ देशे तु संग्राह्या शर्कराश्मादिवर्जिता ।

रक्ता गौरी तथा श्वेता मृत्तिका त्रिविधा स्मृता ॥

शुचौ देशे, स्थितेति शेषः ।

आदिशब्देन केशकीटाद्युपादानम् । रक्तत्वादिनियमात् तत्-संभवे कृष्णादिमृत्तिकास्नानं नाङ्गमिति प्रतीयते । तदसंभवे तु कृष्णादिकाऽपि ग्राह्या ।

यस्मिन् देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ।

सैव तत्र प्रशस्ता स्यादिति उक्तत्वात् ।

तथा,

वल्मीकाखूत्कराल्लेपाज्जलाच्च पथिवृक्षयोः ।

कृतशौचावशिष्टा च न ग्राह्याः सप्त मृत्तिकाः ॥

आखूत्करो मूषिकोत्क्षिप्तमृत्तिका । लेपात्, कुड्यादीनामिति शेषः । जलात् जलमध्यात् । पथिवृक्षयोः, संबन्धिनीति शेषः ।

दक्षः,

मृत्तिकाः सप्त न ग्राह्या वल्मीके मूषिकोत्करे ।

अन्तर्जले श्मशाने च वृक्षमूले सुरालये ॥

परस्नानावशिष्टा च श्रेयस्कामैः सदा बुधैः ।

शातातपः,

न मृदं नोदकं वापि न निशायां तु गोमयम् ।
न गोमूत्रं प्रदोषे तु गृह्णीयाद्बुद्धिमान्नरः ॥

निशायामिति मृदुदकगोमयैः प्रत्येकमभिसंबध्यते। अयं च निषेधोऽदृष्टार्थकर्मणीति कल्पतरुप्रभृतयः ।

जाबालिः,

ततश्च मृत्तिकां शुद्धामदुर्गन्धामनूषराम् ।
शुचिदेशादतिश्लक्ष्णां कायशुद्ध्यर्थमाहरेत् ॥
अमेध्याशनशून्यानां निरुजानां तथा गवाम् ।
अव्यङ्गानां च सद्यस्कं शुचिगोमयमाहरेत् ॥

कूर्मपुराणे,

मृत्तिका च समुद्दिष्टा आर्द्रामलकमात्रिका ।
गोमयस्य प्रमाणं तत्तेनाङ्गं लेपयेत्ततः ॥

अङ्गिराः,

विना दर्भेण यत् स्नानं यच्च दानं विनोदकम् ।
असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्प्रयोजनम् ॥

बौधायनः,

ततो मध्याह्नसमये पुनः स्नानं समाचरेत् ।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं जपहोमादिकं ततः ॥

योगियाज्ञवल्क्यः,

उभे सन्ध्येतु स्नातव्यं ब्राह्मणैश्च गृहाश्रितैः ।
तिसृष्वपिच सन्ध्यासु स्नातव्यं च तपस्विना ॥

उभे सन्ध्ये प्रातर्मध्याह्नाख्ये । गृहाश्रितैः गृहस्थैः। इदं च वनस्थस्याप्युपलक्षणम् ।

तथाच हेमाद्र्यादौ दक्षः,

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।
यतेस्त्रिषवणं प्रोक्तं सकृच्च ब्रह्मचारिणः ॥

विश्वामित्रोऽपि,

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वनस्थगृहमेधिनोः ।
दिनेदिने यतीनां तु स्नानं त्रिषवणं स्मृतम् ॥ इति ।

तपस्विना यतिना । हेमाद्र्यादिसम्मतोऽयमर्थः । कल्पतरौ तु वचनद्वयमिदमलिखित्वा तपस्वी वानप्रस्थादिरिति व्याख्यातम् । श्रीदत्तप्रभृतयोऽप्येवम् ।

व्यासः,

स्नानं मध्यंदिने कुर्यात्सुजीर्णेऽन्ने निरामयः ।

एवं च,

स्वप्नमध्ययनं स्नानमुच्चारं भोजनं गतिम् ।
उभयोः सन्ध्ययोर्नित्यं मध्याह्ने च विवर्जयेत् ॥

इति देवलीयो निषेधो रागप्राप्तस्नानविषयकः ।

मनुः,

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिर्नचाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वेति कृतभोजनस्य यदृच्छास्नाननिषेधः । नित्यस्य स्नानस्य भोजनानन्तरं प्राप्त्यभावात् । चाण्डालादिस्पर्शननिमित्तस्य तु नाशुचिः क्षणमपि तिष्ठेदिति विरोधेन प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादिति मेधातिथिः । एवं भोजने सत्यपि उपरागादिनैमित्तिकं स्नानं कार्यमेव ।

नैमित्तिकानि कर्माणि निपतन्ति यदा यदा ।
तदातदैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते ॥

इति दक्षवचनात्। आतुरः स्नानसंवर्द्धनीयरोगवान्। महानिशा रात्रेर्मध्यमं प्रहरद्वयम्।

महानिशा तु विज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयम्।
तस्यां स्नानं न कुर्वीत नित्यनैमित्तिकादृते॥

इति देवलवचनात्। न वासोभिरित्यस्य सवासा जलमाविशेदित्यादौ विहितसचैलस्नाने तु बहुवस्त्रत्वेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम्। अजस्रम् अनवरतम्। अत्र श्रद्धाजाड्यादिना प्राप्तं स्नानं निषिध्यते, न तु नानातीर्थप्राप्तिनिमित्तकम्। अविज्ञाते गाधागाधतया नक्रादिराहिततया च कृत्रिमे निन्दितकर्तृकतया प्रतिष्ठितत्वाप्र[illegible] तत्वाभ्यां च।

जाबालः,

न पारक्ये सदा स्नायान्न भुक्त्वा न महानिशि।
नार्द्रमेकं च वसनं परिदध्यात्कदाचन॥

पारक्ये परकृतवाप्यादौ। एतच्चाकृत्रिमसम्भवे। तदस[illegible] तु तत्रापि स्नायात्।

यदाह विष्णुः, परनिपानेषु न स्नानमा[illegible] वरुद्धा[illegible] अ[illegible] पिण्डानुद्धृत्यापदि, नाजीर्णी, न चातुरो, न नग्नः, न राहुद[illegible] र्जं रात्रौ, न सन्ध्यायाम्।

आपदि अकृत्रिमजले स्नानासम्भवे। संध्यायां सायंसन्ध्यायामिति कल्पतरुः। क्वचित्तु सन्ध्ययोरिति पाठः। [illegible] स तु प्राग्व्याख्यातः। नार्द्रमितिकदाचनेतिस्वरसात्पुरुषार्थोऽयं निषेधः। एवञ्च एकवस्त्रत्वनिषेधस्य पुरुषार्थत्वात्स्नानविधावेकवस्त्रत्वेऽपि कर्माविगुणमेव। पुरुषः परं प्रत्यवैतीति केचित्। तन्न। समुद्रकरधृतगौतमवाक्यविरोधात्।

यथा,

एकवस्त्रेण यत्स्नानं सूच्या विद्धेन चैवहि।
स्नानं च न भवेच्छुद्धिः श्रिया च परिहीयते॥

बृहन्नारदीयेऽपि,

देवार्चाचमनस्नानव्रतश्राद्धक्रियादिषु।
न भवेन्मुक्तकेशश्च नैकवस्त्रधरस्तथा॥

भृगुरपि,

नैकवासा नच द्वीपे नान्तराले कदाचन।
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म न कुर्यादशुचिः क्वचित्॥

अत एव सवस्त्रो ऽहरहराप्लुत्याऽभ्युदकोऽन्यद्वस्त्रमाच्छादयेदितिसांख्यायनगृह्यसूत्रव्याख्यायां सवस्त्र इति द्वितीयवस्त्रप्राप्त्यर्थम्, एकवस्त्रत्वस्य नग्नत्वप्रतिषेधेनैव प्राप्तत्वादिति ब्रह्मदत्तभाष्यमिति कल्पतरुः।

नार्द्रमित्यादिजाबालवचनव्याख्यायां सर्वदा वस्त्रद्वयधारणनियमात्स्नानकालेऽपि तत्परित्यागे प्रमाणं नास्तीत्यपि स एव। सांख्यायनवचनेऽभ्युदक इत्यस्याविगतोदक इत्यर्थः। नाङ्गेभ्यस्तोयमुद्धरेदितिवक्ष्यमाणविष्णेकवाक्यत्वात्। एतद्व्यवस्था चाग्रे वक्ष्यते। अत एव,

होमदेवार्चनाद्यासु क्रियास्वाचमने तथा।
नैकवस्त्रः प्रवर्त्तेत द्विजवाचनिके जपे॥

इतिविष्णुपुराणवचनव्याख्यायामाद्यपदसंगृहीतां स्नानक्रियामभिप्रेत्य एकवस्त्रतानिषेधात्स्नाने द्विवस्त्रतानियम एवेति श्रीदत्तोऽपि।

अत एव च एकवस्त्राः प्राचीनावीतिन इत्यनेन प्रेतस्नाने पारस्करेण विशिष्यैकवस्त्रत्वं विहितम्। एवं च—

स्नानं तर्पणपर्यन्तं कुर्यादेकेन वाससा।

इति वचनं यदि समूलं तदा पारस्करैकवाक्यतया नेयम्। अत्रैकपदमेकजातीयपरमित्यपरे। एवम्—

नग्नः कौपीनवासाश्च द्विवासाः स्नाति यो नरः।
वृथा स्नानफलं तस्य निराशाः पितृदेवताः॥

इति विद्याकरधृतवचनमप्येतत्स्नानपरतया नेयम्।

पुनर्जाबालः,

त्रयोदश्यां तृतीयायां दशम्यां तु विशेषतः।
शूद्रविट्क्षत्रियाः स्नानं नाचरेयुः कथञ्चन॥ इति।

यथासंख्यमत्र रागप्राप्तस्नाननिषेधोऽयम्। वैधनिषेधे विकल्पपर्युदासयोरन्यतरप्रसङ्गात् इति श्रीदत्तः। एवम्—

स्नानं कुर्वन्ति या नार्यश्चन्द्रे शतभिषां गते।
सप्तजन्म भवेयुस्ता दुर्भगा विधवा ध्रुवम्॥

इति प्रचेतोवचनम्,

दर्शे स्नानं न कुर्वीत मातापित्रोः सुजीवतोः।
पुत्रः कुर्वन्निराचष्टे तयोरुन्नतिजीविते॥ इति-

योगियाज्ञवल्क्यवचनं च, एवं—

गयायानं कुहूस्नानं तिलैस्तर्पणमेव च।
न जीवत्पितृकः कुर्यात्।

इत्यादिवचनं च रागप्राप्तस्नानपरम्। हेमाद्रिधृते—

भोगाय क्रियते यत्तु स्नानं यादृच्छिकं नरैः।
तन्निषिद्धं दशम्यादौ नित्यनैमित्तिके न तु॥

इति आपस्तम्बवचने,

नित्यं न हापयेत्स्नानं काम्यं नैमित्तिकं च यत्।
दशम्यादिषु कर्त्तव्यं न च यादृच्छिकं क्वचित्॥

इति जाबालिवचने चायमर्थः स्पष्ट एव। गर्गादिवाक्यसंवा-

दोऽप्यत्र।

यथा गर्गः,

पुत्रजन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा।
नित्यस्नाने च कर्त्तव्ये तिथिदोषो न विद्यते॥

गरुडपुराणम्,

चन्द्रसूर्यग्रहे चैव संक्रान्त्यादिदिने तथा।
नित्यस्नाने च कर्तव्ये तिथिदोषो न विद्यते॥

आपस्तम्बः,

विना तु सततस्नानं न स्नायाद्दशमीषु च।

सततस्नानं नित्यस्नानम्। दशमीषु दशम्यादिषु। इदं च काम्यनैमित्तिकोपलक्षणम्। नित्यं न हापयेदित्याद्यनूपलिखितजाबालिवाक्यैकवाक्यत्वात् इति।

कल्पतरुस्तु,

"अम्भोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम्।

इति बौधायनवचनेन यत्सामान्येन प्रसक्तं तदनेन त्रयोदश्यादिषु यथाक्रमं शूद्रादीनां प्रतिषिद्ध्यते" इत्याह।

दशम्यां च तृतीयायां त्रयोदश्यां विशेषतः।
न वर्णैर्वारुणं स्नानं कर्त्तव्यं क्षत्रियादिभिः॥

इति व्यासवचनमप्यत्र संवदन्ति। एवं च सकलवचनैकवाक्यतया रागप्राप्तं वारुणं स्नानं दशम्यादिषु क्षत्रियादीनां निषिद्धमिति सिध्यति। कल्पतरुश्रीदत्तयोरप्येवं सति अविसंवाद इति।

बौधायनः, न नग्नः स्नायान्न नक्तं स्नायात्।

आपस्तम्बः, सशिरोऽवमज्जनमप्सु वर्जयेत्, अस्तमिते च स्नानम्।

उदकं प्रविश्य सशिरस्कं रागतो मज्जनं न कुर्यादित्यर्थ इति

कल्पतरुः । श्रीदत्तस्तु "सशिरो ऽवमज्जनं शिरोनैक्यार्थं स्नानं तत् अप्सु प्रविश्य न कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तथाच दक्षः, मलापकर्षणं पार्श्वइती"त्याह । हेमाद्रिस्तु "अत्र सशिरोमज्जनस्नानप्रतिषेधः स्थावरोदकविषयः । तथाच नन्दिपुराणं,

मग्नो नदीजले स्नायात्प्रविश्यान्तर्ज्जले द्विजः ।
तडागादिषु तोयेषु प्रत्यक्षं स्नानमाचरेत्" ॥

इति व्याख्यातवान्। केचित्तु अशिरोऽवमज्जनमिति पठित्वा गात्रप्रक्षालनमात्रं जलं प्रविश्य न कर्त्तव्यमित्यर्थ इत्याहुः। अस्तमिते स्नानं, वर्जयेदित्यनुषङ्गः । एतदपि रागप्राप्तस्नानमात्रविषयम्। अस्तमिते एव स्नाननिषेधान्मन्वादौ "न महानिशीति"निषेधो दोषातिशयार्थो दृष्टार्थो वेति श्रीदत्तरत्नाकरप्रभृतयः । अथवा निशि मज्जनस्नानमनेन निषिध्यते। तथाच पराशरः,

आचान्तमनुगर्त्ते वा निशि स्नानं न विद्यते ।
स्नानमाचमनं प्रोक्तं दिवोद्धृतजलेन तु ॥

आचान्तम् आचमनम्। अनुगर्त्ते जलाशये। निशीति स्नानाचमनोभयान्वयि ।

देवलोऽपि,

दिवोद्धृतैर्जलैः स्नानं निशि कुर्यान्निमित्ततः ।

निमित्ततः चाण्डालादिस्पर्शनिमित्ततः। चन्द्रग्रहादिनिमित्तकं तु स्नानं निशि जलं प्रविश्यापि न विरुद्धम्। अतएव,

स्वर्धुन्यम्भःसमानि स्युः सर्वाण्यम्भांसि भूतले ।
कूपस्थान्यपि सोमार्कग्रहणे नात्र संशयः ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवाक्ये भूतलस्थजलप्रशंसा । कूपे तु प्रविश्य स्नानं सर्वथैव निषिद्धमिति तत्स्थजलप्रशंसा यस्मि-

मेव काले तदुद्धरणमित्येतदर्थम्। अतो दिवोद्धृतैर्जलैर्निशि स्नानं चन्द्रग्रहादन्यत्र निषिद्धमिति श्रीदत्तादयः। गङ्गायां तु रात्रावपि तन्न निषिद्धम्।

यथा ब्रह्माण्डपुराणं,

दिवा रात्रौ च सन्ध्यायां गङ्गायां च विशेषतः।
स्नात्वाऽश्वमेधजं पुण्यं गृहेऽप्युद्धृतजलैः॥ इति।

आदिपर्वणि गङ्गां प्रक्रम्य गन्धर्वं प्रत्यर्जुनवाक्यं च,

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते।
रात्रावहनि सन्ध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः॥ इति।

व्यासः,

रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः।
नैमित्तिकं तु कुर्वीत स्नानं दानं च रात्रिषु॥

यत्तु मार्कण्डेयः,

महानिशा द्वे घटिके रात्रौ मध्यमयामयोः।
नैमित्तिकं तदा कुर्यात्काम्यं न तु मनागपि॥

द्वितीययामस्यान्त्या तृतीययामस्याद्येति द्वे घटिके। तत्र काम्यपदं स्नानातिरिक्तकाम्यपरम्। महानिशा तु विज्ञेयेत्यादिमाग्लिखितदेवलवाक्येन मध्यमयामद्वयस्यैव महानिशात्वमुक्त्वा तत्र स्नाननिषेधात्।

पैठीनसिरपि,

अपेयं हि सदा तोयं रात्रौ मध्यमयामयोः।
स्नानं चैव न कर्त्तव्यं तथैवाचमनक्रिया॥

विश्वामित्रोऽपि,

महानिशा तु विज्ञेया रात्रौ मध्यमयामयोः।
तस्यां स्नानं न कुर्वीत काम्यमाचमनं तथा॥

काम्यं स्नानमित्यन्वयः । आचमनक्रियायां विशेषमाह—

**हेमाद्रौ षट्त्रिंशन्मतं,**

मूत्रोच्चारे महारात्रौ कुर्यादाचमनं न यः ।

प्रायश्चित्तीयते विप्रः प्रायश्चित्तार्द्धमर्हति ॥ इति ।

**पाराशरः,**

दिवाकरकरैः पूतं दिवा स्नानं प्रशस्यते ।

अप्रशस्तं निशिस्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् ॥

यथा स्नानं च दानं च सूर्यस्य ग्रहणेऽपिवा ।

सोमस्यापि तथा रात्रौ स्नानं दानं विधीयते ॥

राहुदर्शनं संक्रान्त्यादेरप्युपलक्षणम् ।

**तथाच देवलः,**

राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।

स्नानदानादिकं कुर्य्यान्निशि काम्यव्रतेषु च ॥

अत्ययो मरणम् । वृद्धिर्जननम् । काम्यव्रतेषु निशात्वपुरस्कारेण विहितेषु ।

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रार्तिप्रसवेषु च ।

स्नानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि तदिष्यते ॥

आर्त्तिर्मरणम् ।

**पराशरः,**

पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा संक्रमणे रवेः ।

राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥

यज्ञे अवभृथे ।

**वामनपुराणे,**

स्नायाच्छिरःस्नानतया न नित्यं नाकारणं चैव सदा निशासु ।

ग्रहोपरागं स्वजनातिपातं मुक्त्वा च जन्मर्क्षगतं शशाङ्कम् ॥

निशमिश्रन्तं सशिरोऽवमज्जनमप्सु वर्ज्जयेदिति प्राग्लिखितापस्तम्बवचनसमानार्थम्। नाकारणं चैत्र सदेत्यनेन निमित्तं विनाऽजस्रस्नानं निषिध्यते। निशास्वित्युत्तरार्धान्वयि। ग्रहोपरागादिकं विना निशासु न स्नायादित्यर्थः। अतिपातो मरणम्।

शङ्खलिखितौ, अनश्नन्नप्सु स्नायान्नाप्सु मेहेत नोद्वर्षणं कुर्यान्न पादेन पाणिना वा जलमभिहन्याद्यस्मादापो वै सर्वा देवताः न स्रवन्तीं वृथाऽतिक्रामेदनवसिच्यामेध्योदकं परिहरेन्नाल्पोदके स्नायान्न समुद्रमवगाहेतेति।

अनश्नन् ताम्बूलादिभक्षणमकुर्वन्। मेहनं मूत्रोत्सर्गः। उद्वर्षणम्। अङ्गलग्नमलापकर्षणम् अप्सु न कुर्यादित्यर्थः। स्रवन्तीं नदीम्। वृथा निष्प्रयोजनम्। अतिक्रामेत् लङ्घयेत्। अनवसिच्य तर्पणमकृत्वेति कल्पतरुः। अस्नात्वेत्यन्ये। तथाच तर्प्पणकालातिक्रमणीयप्रयोजनाभावे सति अनवसिच्य नदीं नातिक्रामेदित्यर्थः। अमेध्यम् अशुचि परिहरेत् न किञ्चित्तत्र कुर्यात्। नाल्पोदके स्नायादिति प्रभूतसुमनोहरोदकसम्भवे।

प्रभूते विद्यमाने तु उदके सुमनोहरे।
नाल्पोदके द्विजः स्नायान्नदीं चोत्सृज्य कृत्रिमे ॥

इतियोगियाज्ञवल्क्यनिषेधात्। अल्पोदकलक्षणं वक्ष्यते। नदीग्रहणमत्राकृत्रिमोपलक्षणम्। अग्रे कृत्रिमइति दर्शनात्। नावगाहेत अन्तः प्रविश्य न स्नायात्।

महाभारते,

जलं प्रतरमाणश्च कीर्त्तयेत्प्रपितामहान्।
नदीमासाद्य कुर्वीत पितॄणां पिण्डतर्पणम् ॥

जलं नद्यनदीसाधारणम्। पिण्डतर्प्पणमिति समाहारद्वन्द्वः।

पिण्डदानं नदीमात्रविषयं, तर्पणं तु नद्यनदीसाधारणम् । पूर्वार्द्ध-स्वरसात् ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

पादेन पाणिना वापि यद्वा वस्त्रेण चोदकम् ।
न हन्यान्नैव वादेश्च न च प्रक्षोभयेद् बुधः ॥
न कुर्यात्कस्य चित्पीडां कर्मणा मनसा गिरा ।
आचरेन्नाभिषेकं तु कर्माण्यन्यानि वाऽऽचरन् ॥

वस्त्रेणेत्यत्र शस्त्रेणेति क्वचित्पाठः ।

देवलः,

न नदीषु नदीं ब्रूयात्पर्वतेषु च पर्वतम् ।
नान्यत्प्रशंसेत्तत्रस्थस्तीर्थेष्वायतनेषु च ॥

नदीषु नदीति न ब्रूयात्किं तु गङ्गेत्याद्येव ब्रूयात् । एवं पर्वतेष्वपि विन्ध्य इत्याद्येव ब्रूयान्न पर्वतेति। तत्रस्थः नदीपर्वतस्थः। अन्यन्नद्यन्तरं पर्वतान्तरं च । आयतनं देवस्य, तीर्थादिसाहचर्यात् इत्येके। अन्ये तु एकस्मिन्नद्यादौ स्थितो नद्यन्तरादि न प्रशंसेदिति समुदायार्थः । तीर्थे तीर्थान्तरप्रशंसानिषेधेनैकमूलकत्वकल्पनालाघवात् इत्याहुः ।

बौधायनः,

आपो देवगृहं गोष्ठं ब्राह्मणाः सन्ति यत्र च ।
अप्रक्षाल्य पादौ तत्र नान्तः प्रवेष्टव्यं बुधैः ॥

हारीतः, न चत्वरोपद्वारयोः स्नायात् ।

चत्वरमिह यक्षादिबलिस्थानम् । उपद्वारे द्वारसमीपे ।

तथा, न स्नानवर्णकयोरग्रं प्रयच्छेदन्यत्र देवगुरुब्राह्मणेभ्यः। स्नात्यनेनेति स्नानं स्नानोपकरणकुशादि वर्णकं वर्णकरत्वात् उद्व-र्तनादि सुगन्धि द्रव्यमिति कल्पतरुः । वर्णकम् अनुलेपनमिति

श्रीदत्तः ।

लघुहारीतः, नातुरो, न भुक्त्वा, नाजीर्णे, न बहुवाससा, न नग्नो, नाश्नन्, नालंकृतो, नाजस्रं, नाज्ञाते जले, नाकुले, नाशुचौ, प्रभूतजललाभे नाल्पजले, न चत्वरे, नोपद्वारे, न सन्ध्यायां, न निशायां स्नायात् ।

पैठीनसिः,

अथ स्नानविधिः परकृतान् सेतून् कूपांश्च वर्जयेत् अंशभाक् तत्र सेतुकृत् त्रीन् पिण्डानुद्धृत्य स्नायात् ।

मनुः,

परकीयनिपानेषु स्नायान्नैव कदाचन ।
निपानकर्त्तुः स्नात्वा हि दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥

अत्र निपानकर्त्तुरितिवाक्यशेषश्रवणात्परकीयं परकृतम् । अत एव कल्पतरुरपि "परकीयं परकृतमात्रम् । तच्च प्रतिष्ठितमप्रतिष्ठितं च । अविशेषेण परकृतानिति पैठीनसिबौधायनवचनानुसारात् । स्व-कारिते तु न दोष" इत्याह । निपानं जलाधारः ।

बौधायनः, तपस्यमपामवगाहनं देवतास्तर्पयित्वा तु पितृ-तर्पणमनुतीर्थमप उत्सिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । अथाप्युदाहरन्ति,

स्रवन्तीष्वनिरुद्धासु त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
प्रातरुत्थाय कुर्वीरन् देवर्षिपितृतर्पणम् ॥
निरुद्धासु न कुर्वीरन्नंशभाक् तत्र सेतुकृत् ।
तस्मात्परकृतान् सेतून्कूपांश्च परिवर्जयेत् ॥
उद्धृत्य चापि त्रीन्पिण्डान् कुर्यादापत्सु नो सदा ।
निरुद्धासु तु त्रीन् पिण्डान् कूपाच्च त्रीन् घटांस्तथा ॥

तपसे हितं तपस्यमवगाहनम् । तपश्चात्र नित्यनैमित्तिककर्मा-नुष्ठानमभिप्रेतं, स्नातस्य तत्राधिकारात् । अनुतीर्थं तीर्थं लक्षीकृत्य,

दैवपित्र्यादितीर्थेनेत्यर्थः। ऊर्ज्जं वहन्तीरिति तर्पणान्तिमपदार्थोपादानमेतावानेकप्रयोग इति ज्ञापनार्थम्। अनिरुद्धासु अनिरुद्धप्रवाहासु। पिण्डत्रयोद्धारस्य विषयमाह निरुद्धास्विति। कूपे विशेषमाह कूपाच्चेति।

याज्ञवल्क्यः,

पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणि।

स्नायान्नदीदेवखाते ह्रदप्रस्रवणेषु च॥

परवारिपदम् अत्र परकृतजलाशयस्थवारिपरं, न तु परस्वत्वास्पदीभूतवारिपरम्। तदुपयोगे चौर्यापत्तेः।

अप्रतिष्ठितपानीयेष्वपेयं सलिलं भवेत्।

इत्यनेन,

यन्न सर्वार्थमुत्सृष्टं यच्चाभोज्यनिपानजम्।

तद्वर्ज्यं सलिलं तात सदैव पितृकर्मणि॥

इत्यनेन च तस्य वर्ज्यत्वाभिधानाच्च। एतेन प्रतिष्ठिते चाप्रतिष्ठिते च परकृतपुष्करिण्यादौ पञ्चपिण्डानुद्धृत्य स्नातव्यमिति याज्ञवल्क्यटीकायां शूलपाण्युक्तं हेयम्। एवमेव हरिहरश्रीदत्तरत्नाकरपारिजातप्रभृतयः। एवं च प्रतिष्ठितेषु परकृतेषु निपानेषु पञ्चपिण्डाद्युद्धारः, स्वकृतेषु न, अप्रतिष्ठितं तु स्वकीयं परकीयं च वर्ज्यमेवेति सिद्धम्। एतेन यत् मिताक्षरायां "परवारिषु सर्वस्वत्वोद्देशेनात्यक्तेषु पञ्च पिण्डानुद्धृत्य स्नायात् एवं च आत्मीयेषु उत्सृष्टेष्वभ्यनुज्ञातेषु च पिण्डोद्धारमन्तरेणापि स्नानमभ्यनुज्ञातम्" इत्युक्तं, यदपि च हेमाद्रौ "सर्वार्थत्वेनोत्सृष्टे तु परकीयत्वाभावादनुद्धरणे न दोष" इति उक्तं, तत् प्रत्युक्तम्। यत्तु वाचस्पतिमिश्रादिभिरुक्तं स्वयमुत्सृष्टमुदकं स्वयं नोपादेयम्। अन्यथा दत्तापहारापत्तेः। वृषोत्सर्गादौ स्वयमुत्सृष्टवृषस्य स्वयमुपादानापत्तेश्च। न च—

सर्वभूतेभ्य उत्सृष्टं मयैतज्जलमूर्जितम् ।
रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥

इत्युत्सर्गमन्त्रस्थासंकुचितसर्वपदस्वरसात्स्वस्याप्युद्देश्यताप्रतीत्या स्वोपादानस्यानुमतत्वादत्रौपादानिकमुत्स्रष्टुः स्वत्वं स्यादेव, तृणोत्सर्गादौ तु तादृशशब्दस्वरसाभावान्नौपादानिकं तस्य स्वत्वमिति वाच्यम् । यस्य हि शास्त्रीयविनियोगे कर्त्तुः स्वत्वं प्रतिबन्धकं तस्य तादृशविनियोगाय कर्त्तुस्तदुद्देश्यक उत्सर्गो युक्तः । स्वविनियोगे तु न स्वस्वत्वं तत्प्रतिबन्धकं किं त्वनुगुणमेवेति न विनियोगाय स्वस्यापि त्यागोद्देश्यता । तथाच न्यायतः सर्वपदमुत्स्रष्टृभिन्नपरमेवेति । तन्न । यन्न सर्वार्थमुत्सृष्टमित्यादिना अप्रतिष्ठितपानीयेष्वित्यादिना च तल्लिखितवाक्येनैव विना सर्वोद्देश्यकोत्सर्गं तदुदकस्य कर्मानर्हत्वप्रतिपादनेन शास्त्रीयविनियोगाय स्वस्याप्युद्देश्यतौचित्येन सर्वपदसङ्कोचे न्यायाभावात् । किं च दानकाण्डकल्पतरुधृतात् "तत उत्सर्गं कुर्याद्देवाः पितरो मनुष्याः प्रीयन्तां यश्चोत्सृजतइत्याह शौनक" इति बह्वृचगृह्यपरिशिष्टादप्युत्सर्गकर्त्तुरुद्देश्यता प्रतीयतइति ।

नद्यादिषु पञ्चपिण्डोद्धारं विनैव स्नानमित्याशयेनाह स्नायादित्यादि । देवखातं देवनिर्मितं खातं पुष्करादि । उदकप्रवाहाभिघातकृतः सजलो महानिम्नप्रदेशो ह्रद इति मिताक्षरा । क्वचित्तु ह्रदेत्यत्र गर्त्तेति पाठः । तत्र गर्तलक्षणमाह—

छन्दोगपरिशिष्टम्—

धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते ।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परिकीर्त्तिताः ॥

धनुर्हस्तचतुष्टयम् । तदुक्तं—

विष्णुधर्मोत्तरे,

द्वादशाङ्गुलिकः शङ्कुस्तद्द्वयं तु शयः स्मृतः ।
तच्चतुष्कं धनुः प्रोक्तं क्रोशो धनुःसहस्रिकः ॥

शयो हस्त इति। एतेन तदधिकदेशगतिशालिनी नदीति अर्थान्नदीलक्षणं सूचितम्। पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रच्युतमुदकं प्रस्रवणम्। ह्रदेषु च सरस्सु चेति पाठस्तु मिताक्षरादिविरुद्धः ।

शङ्खलिखितौ,

नेष्टकाचिते पितॄंस्तर्पयेत् वापीतडागोदपानेषु सप्त पञ्च त्रीन् वा पिण्डानुद्धृत्य देवपितॄंस्तर्पयेत ।

उदपानं कूपः ।

पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा ।

इत्यमरकोशात् । अत्रैवं व्यवस्था। पैठीनसिबौधायनवचनानुसारात् स्नानकर्त्तुर्मृत्पिण्डत्रयोद्धरणं सेतौ, बौधायनवचनानुसारात्कूपेऽम्बुघटत्रयोद्धरणं न तु मृत्पिण्डत्रयोद्धरणम्, अशक्यत्वात् । सेतुकूपोभयमधिकृत्य प्रवृत्तं तु पैठीनसिवाक्यं सेतुमात्रपरमित्येके । अपरे तु सप्रचारकूपे पिण्डत्रयोद्धारणस्यापि सम्भवात्पैठीनसिवाक्यमुभयपरमेव । बौधायनोक्तमम्बुघटत्रयोद्धरणं तु अप्रचारकूपविषयं, तत्र पिण्डोद्धारणस्याशक्यत्वादित्याहुः। याज्ञवल्क्यविष्ण्वाद्युक्तपञ्चपिण्डोद्धारस्तु सेतुकूपव्यतिरिक्तपरकृतजलाशयविषयकः । यत्तु शङ्खलिखितोक्तं सप्तपञ्चत्रयपिण्डोद्धरणं, तत् तर्पणार्थं यथासंख्यं वापीतडागोदपानविषयम् । उदपानं चात्र सप्रचारं विवक्षितम्।तत्रैव पिण्डोद्धरणस्य शक्यत्वात् । अन्यत्र तु स्नानवदम्बुघटत्रयोद्धरणमेव । एवं वापीतडागोदपानातिरिक्तेषु परकृतेषु जलाशयेषु स्नानवदेव व्यवस्थेति। स्नानाङ्गतर्पणार्थं पिण्डोद्धारस्तु स्नानात्पूर्वं कार्यः । तेनैव चाधिकेन स्नानाङ्गपिण्डोद्धारनिर्वाहः। यत्र शुद्ध्यर्थादिस्नाने तर्प्पणं नास्ति तत्रैव स्नाना-

ापिण्डोद्धरणविधायकवचनावकाश इति केचित् । अन्ये तु ाङ्गस्नानमुपक्रम्य पिण्डोद्धारविधानात्स्नानाङ्गतर्प्पणे न पृ- ाक् पिण्डोद्धारः । यत्र तु स्नानं विनैव स्वतन्त्रं तर्प्पणं क्रियते ात्रैव तर्पणार्थं पिण्डोद्धार इत्याहुः । यच्च निम्नभूमौ वर्षादिषु ाभूतं जलं तत्र नद्यादिभिन्नेऽपि स्नातव्यमेव गुणलोपन्यायात् । पेण्डोद्धारस्तु नास्ति अकृत्रिमत्वात् । यत्र च जलाशयकर्त्तुर्नि- पापत्वनिश्चयस्तत्रापि पिण्डोद्धारः कर्त्तव्य एव विधिबलात् । नेपानकर्त्तुरित्यादेर्मनुवाक्यस्य निन्दामात्रपरत्वात् ।

अनुद्धृत्य तु यः स्नायात्परकीयजलाशये ।
वृथा तस्य भवेत् स्नानं कर्त्तुः पापेन लिप्यते ॥

इति हेमाद्रिलिखितशौनकवचनेन स्नानवृथात्वस्याप्यभिधा- नाच्च । पिण्डश्चात्र श्रीफलप्रमाणकः ।

अवनेजनवत् पिण्डान्दत्त्वा बिल्वप्रमाणकान् ।

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनेन पिण्डस्य बिल्वप्रमाणत्वाभि- ानात् । तद्धर्मप्राप्त्यर्थमेव चात्र पिण्डपदप्रयोगात् । कौण्डपायि- ामयने अग्निहोत्रपदप्रयोगवदिति । मृत्पिण्डश्चात्र यावान् हस्ता- भ्यामुद्धर्त्तुं शक्यते तावानिति तु रत्नाकरः । अन्त्यजादिखाते तु न स्नातव्यम् ।

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागा वाप्य एवच ।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च पञ्चगव्येन शुध्यति ॥

इति आपस्तम्बवचनात् । पञ्चगव्यपानमत्रोपवासपूर्वकं व्रत- रूपत्वादिति प्रायश्चित्तविवेके शूलपाणिः । जलान्तराभावे तु ते- ष्वपि जानूर्ध्वजले स्नानादि कार्यमेव ।

यस्मिन्देशे तु यत्तोयं या भूमिर्या च मृत्तिका ।
सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥

म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपिवा।
जानूर्ध्वं तु शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम्॥

इति वचनात्। अत्र शौचं पीत्वेत्यनयोः कर्ममात्रोपलक्षकत्वमिति वदन्ति। एतत्परमेव च—

अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते॥

इति वृद्धशातातपवचनम्।

**हेमाद्रौ तु,**

वापीकूपतडागेषु यदि स्नायात्कदाचन।
उद्धृत्य मृत्तिकापिण्डान्दश पञ्चाथवा क्षिपेत्॥

इति शौनकवचनम्,

परकीयनिपानेषु यदि स्नायात्कदाचन।
सप्त पिण्डांस्तदोद्धृत्य ततः स्नानं समाचरेत्॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवचनं च लिखित्वाऽत्र यथासामर्थ्यं व्यवस्थेत्युक्तम्।

**विष्णुधर्मोत्तरे,**

अकारणं नदीपारं बाहुभ्यां न तरेत्तथा।
न प्रशंसेन्नदीतोये नदीमन्यां कथञ्चन॥
न गिरौ पर्वतं राम न राज्ञः पुरतो नृपम्।
असन्तर्प्य पितॄन् देवान्नदीपारं च न व्रजेत्॥

**व्यासः,**

नद्यामस्तमिते स्नानं नाचरेत्सर्वथा नरः।
नद्यां स्नातो नदीमन्यां न प्रशंसेत्तु धर्मवित्॥

**तथा,**

नद्या यच्च परिभ्रष्टं नद्या यच्च विनिःसृतम्।

गतप्रत्यागतं यच्च तत्तोयं परिवर्जयेत् ॥
न मेहेत जलद्रोण्यां स्नातुं च न नदीं तरेत् ।

परिभ्रष्टं विच्छिन्नम् । विनिःसृतम् अविच्छिन्नं सत् स्रोतोविवर्जितम् ।

गर्गः,

प्रत्यावृत्तेऽम्भसि स्नानं वर्ज्यं नद्यां द्विजातिभिः ।

बौधायनः,

अधोवर्णोदके स्नानं वर्ज्यं नद्यां द्विजातिभिः ।
तस्यां रजकतीर्थं तु दशहस्तेन वर्जयेत् ॥
स्नानं रजकतीर्थेषु भोजनं गणिकागृहे ।
पश्चिमोत्तरशायित्वं शक्रादपि हरेच्छ्रियम् ॥

अधोवर्णोदके इति । स्वापकृष्टो वर्णो यत्र स्नाति ततः समागते स्रोतसि इत्यर्थः । रजकतीर्थे रजका यत्र क्षालयन्ति । पश्चिमोत्तरशायित्वं पश्चिमशिरसोत्तरशिरसा च शयनम् ।

मार्कण्डेयः,

प्रतिस्रोतोरजोयोगो रथ्याजलनिवेशनम् ।
गङ्गायां न प्रदुष्यन्ति सा हि धर्मद्रवः स्वयम् ॥

योगियाज्ञवल्क्यः,

अग्राह्यास्त्वागता आपो नद्याः प्रथमवेगिकाः ।
प्रक्षोभिताश्च केनापि याश्च तीर्थाद्विनिःसृताः ॥

प्रथमवेगिकाः प्रथमवेगसम्बन्धिन्यः । प्रक्षोभिताः आविलीकृताः । विनिःसृताः प्रवाहविच्छिन्नाः ।

स्मृतिचन्द्रिकादौ स्मृत्यन्तरम्,

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मण्यश्च प्रसूतिकाः ।
दशरात्रेण शुध्यन्ति भूमिष्ठं च नवोदकम् ॥

याः शोषमुपगच्छन्ति ग्रीष्मे कुसरितो भुवि ।
तासु प्रावृषि न स्नायादपूर्णे दशवासरे ॥
भूमिष्ठं भूमौ पतितम् । एवं चाम्बुनि पतितं नवोदकं न दुष्यति ।
छागलेयः,
नद्यां सन्निहितायां तु नान्यत्र स्नानमाचरेत् ।
प्रचुराणामपां लाभे न तु स्वल्पोदके क्वचित् ॥
स्वल्पोदकलक्षणमुक्तं—
स्कन्दपुराणे,
नाभिमात्रं च यत्तोयं तत्तु स्वल्पमुदाहृतम् ।
ततः स्नानं प्रकुर्वीत जानुमात्रे न तु क्वचित् ॥
नारदीये,
नद्यां तु विद्यमानायां न स्नायात्परवारिणि ।
न स्नायादल्पतोयेच विद्यमाने बहूदके ॥
मरीचिः,
असंन्निधाने सरितां तडागेषु सरस्सु च ।
बहुतोयासु वापीषु कूपेष्वपि कदाचन ॥
स्नायादिति शेषः ।
शङ्खः,
स्नातस्य वह्नितप्तेन तथैव परवारिणा ।
शरीरशुद्धिर्विज्ञेया न तु स्नानफलं भवेत् ॥
योगियाज्ञवल्क्योऽपि,
वृथा तूष्णोदकस्नानं वृथा जप्यमवैदिकम् ।
वृथा त्वश्रोत्रिये दानं वृथा भुक्तमसाक्षिकम् ॥
इदं त्वनातुरपरम् । आतुरस्योष्णोदकस्नानविधानात् ।
यदाह यमः,

ष्णोदकस्नानम् ।

आदित्यकिरणैः पूतं पुनः पूतं च वह्निना ।
आम्नातमातुरस्नाने प्रशस्तं तु शृतोदकम् ॥

शृतोदकम् पक्कोदकम् । एवं च—

आप एव सदा पूतास्तासां वह्निर्विशोधकः ।
ततः सर्वेषु कालेषु उष्णाम्भः पावनं स्मृतम् ॥

इति यमवचनान्तरम्,

आपः स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वह्निसंयुताः ।
तेन सन्तः प्रशंसन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥

इति षट्त्रिंशन्मतवचनं चैतदर्थवादतया नेयम् ।

तीर्थाभावे त्वनातुरेणाप्युष्णोदकस्नानं कर्त्तव्यम् ।

यदाह शङ्खः,

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।
तीर्थाभावे तु कर्त्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ॥ इति ।

एतस्याप्यातुरपरत्वे तीर्थाभावे तु इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः ।
एवं च—

कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेवच ।
नित्यं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

इति गार्ग्यवचनं तीर्थसद्भावपरम्। संक्रान्त्यादौ तु तीर्थासम्भ-
वेऽप्यनातुरेणोष्णोदकस्नानं न कर्त्तव्यम् ।

यदाह यमः,

संक्रान्त्यां भानुवारे च सप्तम्यां राहुदर्शने ।
आरोग्यमित्रपुत्रार्थी न स्नायादुष्णवारिणा ॥

वृद्धमनुरपि,

मृते जन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।
अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥

पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ।
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ॥ इति ।

जन्मनि पुत्रादिजन्मनि । जन्मदिने वर्षवृद्धौ । उष्णोदकस्नाने प्रकारमाह—

**व्यासः,**

शीतास्वप्सु निषिच्योष्णा मन्त्रसम्भारसंभृताः ।
गेहेऽपि शस्यते स्नानं तद्धीनमफलं बहिः ॥

सम्भारा मृदादयः । तद्धीनं मन्त्रसम्भारहीनम् । बहिः बहिरपि ।

शिर इत्यनुवृत्तौ **मनुः,**

नच स्नायाद्विना ततः । ततस्तेन शिरसा विना ।

**व्यासः,**

अप्रशस्तं निशास्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् ।
पराम्भसि तथैवाल्पे नाशिरस्कः कथंचन ॥

**स्मृतिचन्द्रिकायां स्मृत्यन्तरं,**

नातुरो नारुणकरैरनाक्रान्ते नभस्तले ।
पराम्भसि तथा चाल्पे नाशिरस्कः कथञ्चन ॥

**भविष्यपुराणे,**

न स्नायादुत्सवेऽतीते मङ्गलं विनिवर्त्य च ।
अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्चयित्वेष्टदेवताः ॥

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

स्पर्शेनाद्भिर्दूषिताभिरुद्धृताभिश्च मानवः ।
स्नानं समाचरेद्यस्तु न स शुध्यति कर्हिचित् ॥

स्पर्शेन अशुचिस्पर्शेन । उद्धृताभिरिति श्रवणादनुद्धृतासु न स्पर्शदोष इत्यवगम्यते ।

**मार्कण्डेयपुराणे,**

नादशाकेन वस्त्रेण स्नायात्कौपीनकादृते।
नान्यदीयेन नार्द्रेण न सूच्या ग्रथितेन च॥
सकौपीनस्नानं ब्रह्मचारियतिविषयं, तेषामेव तद्विधानात्।

**वराहपुराणे,**

शुष्यन्ति याः कुसरितो ग्रीष्मसूर्यांशुतापिताः।
तासु स्नानं न कर्त्तव्यं दृष्टतोयास्वपि क्वचित्॥

**निगमः,**

याः शोषमुपगच्छन्ति ग्रीष्मे कुसरितो भुवि।
तासु स्नानं न कुर्वीत-प्रावृट्स्वप्यम्बुदर्शने॥
अत्र कुसरित इति विशेषणेन तीर्थे नायं निषेधः।

**मार्कण्डेयपुराणे,**

श्रीकामः सर्वदा स्नानं कुर्वीतामलकैर्नरः।
सप्तमीं नवमीं चैव पर्वकालं च वर्जयेत्॥

**क्रतुः,**

षष्ठीं च सप्तमीं चैव नवमीं च त्रयोदशीम्।
संक्रान्तौ रविवारे च स्नानं चामलकैस्त्यजेत्॥

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

धात्रीफलैरमावास्यासप्तमीनवमीषु च।
यः स्नायात्तस्य हीयन्ते तेज आयुर्धनं सुताः॥

**अत्रिः,**

षष्ठ्यां तैलमनायुष्यमष्टम्यां पिशितं तथा।
क्षुरकर्म चतुर्दश्याममावास्यां च मैथुनम्॥

**हारीतः,**

दशमीं पञ्चमीं चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम्।
एकादशीं तृतीयां वा यस्तैलमुपसेवते॥

उत्तीर्णा तस्य वृद्धिः स्याद्धनापत्यबलायुषाम् ।

**हेमाद्रौ बौधायनः,**

नन्दासु चैव रिक्तासु पूर्णासु च जयासु च ।
द्वादश्यां चैव सप्तम्यां व्यतीपाते सवैधृतौ ॥
रविसंक्रमणे चैव नाभ्यङ्गस्नानमाचरेत् ।

नन्दाः प्रतिपत्षष्ठ्येकादश्यः । रिक्ताश्चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यः । पूर्णाः पञ्चमीदशमीपञ्चदश्यः । जयास्तृतीयाष्टमीत्रयोदश्यः । तदेव द्वितीयां विहायेतरासु तिथिष्वभ्यङ्गस्नानं न कार्यमित्युक्तं भवति ।

**ब्रह्मवैवर्त्ते,**

पक्षयोरुभयो राजन्सप्तम्यां निशि सन्ध्ययोः ।
विद्यापुत्रकलत्रार्थी तैलस्नानं विवर्जयेत् ॥
तिलस्नानं सदा पुण्यं कुर्यादामलकैः श्रितम् ।
सप्तमीनवमीदर्शरविसंक्रमणादृते ॥

**वायुपुराणे,**

नवम्यां दर्शसप्तम्यां संक्रान्तौ रविवासरे ।
चन्द्रसूर्योपरागे च स्नानमामलकैस्त्यजेत् ॥

**पराशरः,**

सन्तापः कान्तिरल्पायुर्धनं निर्धनता तथा ।
आरोग्यं सर्वकामाः स्युरभ्यङ्गाद्भास्करादिषु ॥

**बौधायनः,**

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां च विशेषतः ।
शिरोऽभ्यङ्गं वर्जयेत्तु पर्वसन्धौ तथैवच ॥

**गर्गः,**

पञ्चम्यां च चतुर्दश्यामष्टम्यां रविसंक्रमे ।
द्वादश्यां सप्तमीषष्ठ्योस्तैलस्पर्शं विवर्जयेत् ॥

वामनपुराणे,

चित्रासु हस्ते श्रवणे च तैलमिति।

अत्र वर्ज्यमित्यनुषङ्गः।

मनुः,

शिरःस्नातस्तु तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत्।

तैलेन शिरःस्नातः तैलेन नाङ्गं स्पृशेदित्यर्थ इति बहवः। कल्पतरुस्तु यदा शिरःस्नानं कृतं तदा किञ्चिदप्यङ्गं तैलसंबद्धं न कुर्यादित्यर्थ इत्याह। केचित्तु शिरःस्नातपदं शिरोनैक्यार्थस्नातपरमिति वदन्ति। तैलशब्दो योगरूढ्या तिलतैले वर्त्तते। सर्षपादितैलेषु तु स्नेहे तैलजिति तैलचूप्रत्ययात्प्रयोग इति कल्पतरुः।

अत एव प्रचेताः,

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्।

अन्यद्रव्ययुतं चैव न दुष्यति कदाचन॥

यमोऽपि,

घृतं च सार्षपं तैलं यत्तैलं पुष्पवासितम्।

न दोषः पक्वतैलेषु स्नानाभ्यङ्गेषु नित्यशः॥

मनुः,

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु वा।

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च॥

नदीषु अशोष्यसलिलासु। स्रवन्तीषु शोष्यसलिलासु स्वल्पसरित्सु स्नाननिषेधात्। देवैः खातमिति यत्स्मर्यते तद्देवखातम्। सहस्रद्वयहस्ताधिकपरिमाणः कृत्रिमो जलाशयस्तडागः, हस्तसहस्राधिकपरिमाणं तडागाच्च न्यूनं सर इति हेमाद्रिः। कल्पतरौ तु देवखातेषु तडागेषु देवसम्बन्धित्वेन प्रसिद्धेषु तडागेषु पुष्करादिषु, सरः स्वल्पगर्त इति व्याख्यातम्। गर्त्तो धनुःसहस्राण्यष्टौ चेत्याद्युक्त-

लक्षणः। प्रस्रवणं निर्झरः।

**विष्णुपुराणे,**

नदीनदतडागेषु देवखातजलेषु च।
नित्यं क्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च॥
कूपेषूद्धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि।
स्नायीतोद्धृततोयेन यदि वा भुव्यसम्भवे॥

कूपसम्बन्धिनोद्धृतेन तोयेन भुवि स्थितः स्नानं कुर्वीतेति पूर्वार्धार्थः। अन्यत्रापि तडागादाववगाह्य स्नानासम्भवे तथैवच स्नायादिति द्वितीयार्द्धार्थः।

**मार्कण्डेयः,**

पुराणानां नरेन्द्राणाम् ऋषीणां च महात्मनाम्।
स्नानं कूपतडागेषु देवतानां समाचरेत्॥

महात्मनामित्यनेन पतिताद्युदपानेषु न स्नातव्यमित्यनुमतं भवति।

**तदुक्तं वृद्धमनुना,**

अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः।
न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत्॥

वार्धुषिः धनादिवृद्धिजीवी।

**विष्णुः,**

स्नायात्प्रस्रवणदेवखातसरोवरेषु, उद्धृताद् भूमिष्ठमुदकं पुण्यं स्थावरात्प्रस्रवत्, तस्मान्नादेयं, तस्मादपि साधुपरिगृहीतं, सर्वत एव गाङ्गमिति।

साधुपरिगृहीतं यथा रामपरिगृहीतचित्रकूटादौ मन्दाकिन्यादि

**शङ्खः,**

सर्वतीर्थानि पुण्यानि पापघ्नानि सदा नृणाम्।

परस्परानपेक्षाणि कथितानि मनीषिभिः ॥
सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ।
नद्यः पुण्याः सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चापि सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
नृणां पापकृतां तीर्थं पापस्य शमनं भवेत् ।
यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम् ॥

हस्तसंयमः निन्दितप्रतिग्रहादिनिवृत्तिः। पादसंयमः अगम्यदेशगमननिवृत्तिः। मनःसंयमः कामक्रोधादिनिवृत्तिः। विद्या सच्छास्त्रवेदाद्यवगमरूपा। तपश्चान्द्रायणादिः। कीर्त्तिर्धार्मिकत्वादिना प्रसिद्धिः। पापकृतोऽपि नरस्य तीर्थं न निष्फलं भवतीत्याह नृणामित्यादिना।

योगियाज्ञवल्क्यः,

त्रिरात्रफलदा नद्यो याः काश्चिदसमुद्रगाः ।
समुद्रगास्तु पक्षस्य मासस्य सरितां पतिः ॥
वृथा तूष्णोदकस्नानं वृथा जप्यमवैदिकम् ।
वृथा त्वश्रोत्रिये दानं वृथा भुक्तमसाक्षिकम् ॥

त्रिरात्रफलदाः नदीव्यतिरिक्ते यत् त्रिरात्रस्नानेन फलं तत्फलदाः। स्नानप्रकरणात्। एवं पक्षस्य मासस्येत्यपि बोध्यमिति कल्पतरुप्रभृतयः।

त्रिरात्रोपवासफलदा एवं पक्षमासयोरपीति हेमाद्रिः।

एवमत्र समुद्रे स्नानविधानात् न समुद्रोदकमवगाहेतेति शङ्खलिखितोक्तं रागप्राप्तावगाहनविषयं नतु तद्बलादुद्धृतोदकद्वारा समुद्रस्य फलदातृत्वं नद्यादिसाहचर्यविरोधादिति श्रीदत्तः। वृथा शरीरशुद्धिस्नानफलशून्यम्। इदं च तीर्थसद्भावपरमनातुरपरं वेति

प्रागुक्तम् ।

ब्रह्मपुराणे,

नद्यां प्रत्येकशः स्नाने भवेद्गोदानजं फलम् ।
गोप्रदानैस्तु दशभिः तासां पुण्यं तु सङ्गमे ॥

प्रत्येकशः एकैकस्याम् ।

वाराहपुराणे,

त्रिभिः सारस्वतं पुण्यं पञ्चाहेन तु यामुनम् ।
समुद्रगानां सरितामन्यासामपि यत्पयः ॥
पावनं स्नानदानेषु प्राजापत्यसमं स्मृतम् ।
असमुद्रगताश्चापि याः कश्चिद्विपुलोदकाः ॥
अशोष्या ग्रीष्मकालेऽपि तासु स्नानं समाचरेत् ।

त्रिभिः अहोभिः । पुण्यं पावनम् ।

मरीचिः,

भूमिष्ठमुद्धृतात्पुण्यं ततः प्रस्रवणोदकम् ।
ततोऽपि सारसं पुण्यं तस्मान्नादेयमुच्यते ॥
तीर्थतोयं ततः पुण्यं गाङ्गं पुण्यं तु सर्वतः ।

मार्कण्डेयः,

भूमिष्ठमुद्धृतं वापि शीतमुष्णमथापि वा ।
गाङ्गं पयः पुनात्याशु पापमामरणान्तिकम् ॥
त्रिभिः सारस्वतं तोयं पञ्चाहेन तु यामुनम् ।
सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥

पद्मपुराणे,

उद्धृतं तु शुभं तोयमपर्युषितमेव हि ।
भागीरथ्यास्तु यत्तोयं न तत्पर्युषितं भवेत् ॥

आदित्यपुराणे,

चिरं पर्युषितं चापि शूद्रस्पृष्टमथापिवा।
जाह्नव्याः स्नानदानादौ पुनात्येव सदा पयः॥

भविष्यपुराणे,

शिवलिङ्गसमीपस्थं यत्तोयं पुरतः स्थितम्।
शिवगङ्गेति विज्ञेयं तत्र स्नात्वा दिवं व्रजेत्॥

छन्दोगपरिशिष्टे,

षण्मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥

षण्यो मासः। षण्या मासाः स्वमेकः संवत्सर इति शतपथश्रुतेः। रजस्वलाः*अविशुद्धाः। समुद्रगाः साक्षात्मत्यभिज्ञायमानसमुद्रगमनाः। स्नानपदं तर्पणस्याप्युपलक्षणम्।

तदाह स्मृतिचन्द्रिकादौ कात्यायनः,

नभोनभस्ययोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्वीत देवर्षिपितृतर्पणम्॥ इति।

श्रावणश्चात्र सौरो ग्राह्यः।

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
न स्नानादीनि कर्माणि तासु कुर्वीत मानवः॥

इति स्मृतिचन्द्रिकादिधृतात्रिवचनात्।

योगियाज्ञवल्क्यः,

यावन्नोदेति भगवान्दक्षिणाशाविभूषणः।
तावद्रेतोवहा नद्यो वर्जयित्वा तु जाह्नवीम्॥

भगवान् अगस्त्यः।

मार्कण्डेयः,

द्विमासं सरितः सर्वाः भवन्तीह रजस्वलाः।
अप्रशस्तं ततः स्नानं वर्षासु नववारिणि॥

स्मृतिचन्द्रिकायां कात्यायनः,

कर्कटादौ रजोदुष्टा गोमती वासरत्रयम् ।
चन्द्रभागा सती सिन्धुः सरयूर्नर्मदा तथा ॥

एवं च—

प्रथमं कर्कटे देवी त्र्यहं गङ्गा रजस्वला ।
सर्वा रक्तवहा नद्यः करतोयाऽम्बुवाहिनी ॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवाक्यं,

आदौ कर्कटके देवी त्र्यहं यावद्रजस्वला ।
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते शुद्धा भवति जाह्नवी ॥

इति कात्यायनवाक्ये च गङ्गादिपदमुपलक्षणम् ।

स्मृतिचन्द्रिकायां कात्यायनः,

तपनस्य सुता गङ्गा गोमती च सरिद्वरा ।
रजसा न प्रदुष्यन्ति ये चान्ये पुन्नदाः स्मृताः ॥

तपनस्य सुता यमुना ।

मार्कण्डेयोऽपि,

आदित्यदुहिता गङ्गा प्लक्षजाता सरस्वती ।
रजसा नाभिभूयन्ते ये चान्ये नदसंज्ञिताः ॥

कुरुक्षेत्रे या सरस्वती सा प्लक्षजाता ।

हेमाद्रौ भगवतीपुराणम्,

मासद्वयं कर्कटादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।
समुद्रगामिनीनां तु षड्रात्रं रज इष्यते ॥

अत्र समुद्रगापदं त्रिरात्ररजोदुष्टत्वेनोक्तम् । गङ्गायमुनानर्मदासरस्वत्यादिसमुद्रगाव्यतिरिक्तसमुद्रगापरम् ।

यत्तु वामनपुराणे,

सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ।

आपगा नर्मदा चैव गङ्गा मन्दाकिनी नदी ॥
मधुस्रवा अंशुमती कौशिकी यमुना तथा ।
दृषद्वती महापुण्या तथा हैरण्वती नदी ॥
एतासामुदकं पुण्यं वर्षाकाले प्रकीर्त्तितम् ।
रजस्वलात्वमेतासां विद्यते न कदाचन ॥

इति, तत् कथितरजोदोषकालातिरिक्तकालपरम् । एवं तपनस्य सुतेत्यादि आदित्यदुहितेत्यादि च पूर्वोदाहृतं वचनद्वयमप्येतत्परतया नेयम् । गङ्गादौ रजोदोषाभावोऽपि श्रूयते ।

यथा स्मृतिचन्द्रिकादिषु यमः,

गङ्गा धर्मद्रवः पुण्या यमुना च सरस्वती ।
अन्तर्गतरजोयोगाः सर्वाहःस्वपि चामलाः ॥
प्रतिस्रोतो रजोयोगो रथ्याजलनिषेवणम् ।
गङ्गायां न प्रदुष्यन्ति सा हि धर्मद्रवः स्वयम् ॥

तथाच सत्यपि रजोयोगे तत्र स्नानादौ न दोष इति प्रतीयते।

अत एव छन्दोगपरिशिष्टेऽपि सर्वासां नदीनां रजस्वलात्वमुक्त्वा समुद्रगा वर्जयित्वा तासु स्नाननिषेध उक्तः। केचित्तु इदमपि वचनद्वयं पूर्वोदाहृतवचनैकवाक्यतया त्र्यहातिरिक्तकालपरमिति वदन्ति । असति च जलान्तरे रजोदुष्टास्वपि स्नानादि कार्यमेव। यस्मिन्देशे तु यत्तोयमित्यादिप्रागुक्तमरीचिवाक्यात् ।

मदनपारिजाते रजस्वलां नदीमधिकृत्य निगमः, न दुष्येत्तीरवासिनामिति ।

तत्रैव व्याघ्रपादोऽपि,

अभावे कूपवापीनामनपायि पयोऽमृतम् ।
रजोदुष्टेऽपि पयसि ग्रामभोगो न दुष्यति ॥ इति ।

कर्मविशेषेष्वपवादमाह—

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः,
उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतश्राद्धे तथैव च ।
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते ॥
वेदाः छन्दांसि सर्वाणि ब्रह्माद्याश्च दिवौकसः ।
जलार्थिनो हि पितरो मरीच्याद्यास्तथर्षयः ॥
उपाकर्मण्युत्सर्गे च स्नानार्थं ब्रह्मवादिनः ।
पिपासूननुगच्छन्ति संहृष्टा ह्यशरीरिणः ॥
समागमश्च यत्रैषां तत्रान्ये बहवो मलाः ।
नूनं सर्वे क्षयं यान्ति किमुतैकं नदीरजः ॥
ऋषीणां सिच्यमानानामन्तरालं समाश्रितः ।
संपिबेद्यः शरीरेण पर्षन्मुक्तजलच्छटाः ॥
विद्यादीन् ब्राह्मणः कामान्पुत्रादीश्चार्यपि ध्रुवान् ।
आमुष्मिकान्यपि सुखान्याप्नुयात्स न संशयः ॥
अशुच्यशुचिना दत्तमामसृच्छकलादिना ।
अनिर्गतदशाहास्तु प्रेता रक्षांसि भुञ्जते ॥
स्वर्धुन्यम्भःसमानि स्युः सर्वाण्यम्भांसि भूतले ।
कूपस्थान्यपि सोमार्कग्रहणे नात्र संशयः ॥

उपाकर्मोत्सर्गयो रजोदोषाभावे हेतुमाह, वेदा इत्यादिना किमुतैकं नदीरज इत्यन्तेन। स्नानार्थं पिपासून् स्नानार्थं गच्छतः। ब्रह्मवादिनो वेदाध्येतॄन्। अशरीरिणोऽदृश्याः। मलाः दोषाः। न केवलं रजोदोषनाश एव, किन्त्वपरमपि तत्र फलं भवतीत्याह, ऋषीणामित्यादिना न संशय इत्यन्तेन। उच्चैर्ऋषीनभिषिञ्चन्ति इतिवचनानुसारेण सिच्यमानानामृषीणां कुशमयऋषिप्रतिमानामन्तरालं मध्यमाश्रितस्सन् परिषन्मुक्तजलच्छटाः सेककर्तृसमुदायमुक्तजलसन्ततीर्यः शरीरेण संपिबेत्प्रतीच्छेत् स इत्यन्वयः। प्रेतस्नाने रजो-

दोषाभावे हेतुमाह, अशुचीत्यादिश्लोकेन। अशुचिना मृतकाशौचवता, आममृच्छकलादिना अपक्वमृन्मयकपालादिना, दत्तं जलं दात्राद्यशौचादशुच्येव यावद्दशाहसमाप्तिर्न भवति तावत्प्रेता भुञ्जते। तस्मात्प्रेतस्नानादौ नदीरजो न दोषायेति भावः। अत्र दशाहपदमशौचकालोपलक्षणार्थम्। रक्षांसीति प्रेतप्रसङ्गादुक्तम्। यत्तु अनिर्गतदशाहाः जन्मप्रभृतिदशाहाभ्यन्तरे ये मृता इतिविशेषपरतया कल्पतरुणा व्याख्यातं, तत् सन्दर्भविरोधादुपेक्षितम्। चन्द्रसूर्यग्रहे रजोदोषाभावे हेतुमाह, स्वर्धुन्यम्भ इत्यादिना। भूतलइत्यनेनोद्धृतोदकव्यावृत्तिः।

## अथ स्नानभेदाः।

**तत्र शङ्खः,**

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम्।
क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नानं प्रकीर्त्तितम्॥
अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्याग्निहवनादिषु।
प्रातःस्नानं तदर्थं तु नित्यस्नानं प्रकीर्त्तितम्॥
चण्डालशवपूयादि स्पृष्ट्वा ऽस्नातां रजस्वलाम्।
स्नानार्हस्तु यदा स्नाति स्नानं नैमित्तिकं हि तत्॥
पुष्यस्नानादिकं यत्तु दैवज्ञविधिचोदितम्।
तद्धि काम्यं समुद्दिष्टं नाकामस्तत्प्रयोजयेत्॥
जप्तुकामः पवित्राणि अर्चिष्यन् देवताः पितॄन्।
स्नानं समाचरेद्यस्तु क्रियाङ्गं तत्प्रकीर्त्तितम्॥
मलापकर्षणं नाम स्नानमभ्यङ्गपूर्वकम्।
मलापकर्षणार्थं तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा॥
सरस्सु देवखातेषु तीर्थेषु च नदीषु च।
क्रियास्नानं समुद्दिष्टं स्नानं तत्र क्रिया मता॥

तत्र काम्यं तु कर्त्तव्यं यथावद्विधिचोदितम् ।
नित्यं नैमित्तिकं चैव क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ॥
तीर्थाभावे तु कर्त्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ।
स्नातस्य वह्नितप्तेन तथैव परवारिणा ॥
शरीरशुद्धिर्विज्ञेया न तु स्नानफलं भवेत् ।
अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति तीर्थस्नानाद्भवेत्फलम् ॥
सरस्सु देवखातेषु तीर्थेषु च नदीषु च ।
स्नानमेव क्रिया यस्मात् स्नानात्पुण्यफलं स्मृतम् ॥

दैवज्ञविधिर्ज्योतिःशास्त्रम् । पवित्राणि मन्त्रान् । अभ्यङ्गपूर्वकमिति मलापकर्षणसाधनोपलक्षणम् । तीर्थशब्दोऽत्र तीर्थभूतवापीतडागादिपरः । देवखातादीनां पृथगुपादानात् । मता अभिमता । तत्र तेषु स्नानेषु । यथावदिति पुण्यस्नानाद्युक्तेतिकर्त्तव्यताक इत्यर्थः । नित्यं नैमित्तिकमिति । एतेन अर्थादिदमुक्तं, यत् काम्यस्नानक्रियास्नाने उष्णोदकपरोदकाभ्यां न कर्त्तव्ये इति । परोदकैः परकृतजलाशयस्थोदकैः पञ्चपिण्डादीनुद्धृत्येत्युक्तम् । इदं च स्वकृतजलाशयस्थजलाभावे । तीर्थसद्भावे तूष्णोदकपरोदकाभ्यां स्नानं नादृष्टफलकमित्याह, स्नातस्येत्यादिना । क्रियास्नानं तु सरःप्रभृतिष्वेव कर्त्तव्यं, न तु तद्भावेऽप्यन्यत्रेत्याह, सरसि चेत्यादिना ।

गोभिलः,

नित्यं सततनिर्वर्त्यम् काम्यं कामाय यद्धितम् ।
निमित्तादुपजातं तु स्नानं नैमित्तिकं स्मृतम् ॥

सततनिर्वर्त्यम् अहरहःकर्त्तव्यत्वेनोक्तम् । तेन प्रातर्मध्याह्नस्नानयोर्द्वयोरपि सङ्ग्रहः । उभयोरपि तथात्वाभिधानात् ।

यदाह कात्यायनः,

यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः । इति ।

वैयाघ्रपादोऽपि,

प्रातःस्नायी भवेन्नित्यं मध्यस्नायी सदा भवेत्। इति।

ब्रह्मपुराणे,

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते।
तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन व्यवस्थितम्॥

नित्यम् अहरहः क्रियमाणं प्रातःस्नानं मध्याह्नस्नानं च, अविशेषात्। नैमित्तिकं सूर्यग्रहादिनिमित्तिकं, न तु शङ्खोक्तं चण्डालस्पर्शादिनिमित्तकम्। तत्र—

श्मश्रुकर्माश्रुपातं च मैथुनं छर्दनं तथा।
अस्पृश्यस्पर्शनं कृत्वा स्नायाद्वर्ज्या जलक्रिया॥

इति ब्रह्मपुराणे तर्पणनिषेधात्। काम्यं स्वर्गादिफलकं शङ्खेन क्रियास्नानत्वेनोक्तं तीर्थादिस्नानं, न तु ज्योतिःशास्त्रोक्तं शङ्खेन काम्यस्नानत्वेनोक्तं पुष्यस्नानादि। तस्य ज्योतिःशास्त्रएव इतिकर्त्तव्यताभिधानेनेतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षाविरहेण शास्त्रान्तरोक्ततर्पणरूपेतिकर्त्तव्यतानन्वयात्। यत्तु लौकिकेषु अलौकिकाङ्गकत्वविरहात् शङ्खोक्ते लौकिके काम्यपुष्यादिस्नाने नालौकिकतर्पणाङ्गकत्वमिति श्रीदत्तरत्नाकराद्युक्तं, तच्चिन्त्यम्। एतस्यापि लोकानवगतज्योतिःशास्त्रोक्तफलसाधनताकत्वेनालौकिकत्वात्। इदं च स्नानाङ्गतर्पणं स्नानाव्यवहितोत्तरमेव कार्यम्। अङ्गानां प्रधानदेशकालान्वयौचित्यात्। यत्तु कात्यायनादिभिः सन्ध्यावन्दनब्रह्मयज्ञाद्युत्तरं तर्पणमभिहितं, तत् पञ्चयज्ञान्तर्गतप्रात्यहिकतर्पणाभिप्रायकम्।

यदाह शातातपः,

तर्पणं तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥ इति।

कात्यायनोऽपि, पितृयज्ञस्तु तर्पणमिति।

एवं च यस्यां शाखायां तर्प्पणे सन्ध्याद्युत्तरत्वं नाभिहितं तच्छाखीयानामहःकृतेन स्नानाङ्गतर्पणेनापि प्रसङ्गात्प्रात्यहिकतर्प्पणसिद्धिर्नत्वरुणोदयकृतेन प्रातःस्नानाङ्गतर्प्पणेन। तस्याहरकृतत्वात्। वस्तुतोऽरुणोदयकृतेनैव तर्प्पणेन तदहःकर्त्तव्यतर्पणसिद्धिः। अरुणोदयमारभ्यैवाहःकर्त्तव्याभिधानेन तस्यापि तदहरन्तःपातात्।

न च कात्यायनेन स्नानोत्तरं ब्रह्मयज्ञतर्प्पणदेवपूजनतद्विसर्जनान्युक्त्वा एष स्नानविधिरित्युपसंहारात्,

योगियाज्ञवल्क्येनापि—

उपस्थानादिर्यस्तासां मन्त्रवान् कीर्त्तितो विधिः।

इत्यनेन उरुंहि राजेत्यादिमन्त्रैरपामुपस्थानादेर्देवा गातुइत्यादिमन्त्रकरणकदेवताविसर्जनरूपनिवेदनान्तस्य कर्मकलापस्य स्नानत्वाभिधानात् ब्रह्मयज्ञोत्तरकर्त्तव्यस्य तर्पणस्य स्नानाङ्गत्वमिति वाच्यम्। तावत्कर्मकलापस्य नैरन्तर्येणानुष्ठानार्थमेकप्रयोगान्तर्भावाभिप्रायेण तथाऽभिधानात्। अन्यथा मध्याह्नसन्ध्यादेरपि तदङ्गत्वापत्तिः। न चैतत्कस्यापि निबन्धकारस्य संमतम्। वक्ष्यमाणाश्वलायनवाक्येन च ब्रह्मयज्ञोत्तरोक्ततर्प्पणस्य ब्रह्मयज्ञाङ्गत्वमेवाभिहितम्। अतो न तस्य स्नानाङ्गत्वसम्भावनाऽपि। छन्दोगपरिशिष्टे तु ब्रह्मयज्ञानन्तरं पितृयज्ञरूपं स्वतन्त्रमेव तर्पणमुक्तम्। गोभिलेनापि स्नानानन्तरं सूर्योपस्थानान्तां सन्ध्यामभिधाय तर्प्पणमुक्त्वा गायत्रीजपब्रह्मयज्ञादिरुक्तः। एवमन्येनापि केनापि स्नानाङ्गत्वेन तद्विधानाभिधानात्स्नानाङ्गतर्पणं स्नानाव्यवहितोत्तरमेव कर्त्तुमुचितम्। तदर्पणान्तरं तु विहिततत्काले कर्त्तव्यमिति प्रतिभाति।

हारीतः

पञ्च स्नानानि विप्राणां कीर्तितानि मनीषिभिः ।
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेवच ॥
आग्नेयं भस्मना स्नानमद्भिर्वारुणमुच्यते ।
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥
अद्भिः सातपवर्षाभिर्दिव्यं स्नानमिहोच्यते ।
एतैस्तु मन्त्रतः स्नात्वा तीर्थानां फलमाप्नुयात् ॥

आग्नेयमिति गोरजःस्नाने वायव्यवत् स्नाननामधेयम्। अग्निशब्दोऽत्र लक्षणया तत्कार्यभस्मनि वर्त्तते इति तु कल्पतरुः। सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्य इति ढक् । आपोहिष्ठेति मन्त्रचतुष्टयोपलक्षणमिति कल्पतरुः । तच्च मन्त्रचतुष्टयं शन्नइत्याद्यनुपदवक्ष्यमाणयोगियाज्ञवल्क्यवचनादवसेयम् । तेन समभेतस्यैकमूलकत्वकल्पनालाघवात्। न चापोहिष्ठेति वै मान्त्रमितिवक्ष्यमाणयोगियाज्ञवल्क्यवचनान्तरोक्तमान्त्रस्नानेन समभेतस्य ब्राह्मस्नानस्यैकमूलकत्वमस्त्विति वाच्यम् । आपोहिष्ठेति वै मान्त्रमित्यस्यापि शन्न इत्यादिपूर्वोक्तमान्त्रस्नानानुवादकत्वात्। श्रीदत्तादयस्तु इदं ब्राह्मस्नानम् आपोहिष्ठेति वै मान्त्रमिति योगियाज्ञवल्क्योक्तमान्त्रस्नानेन समभेकमूलकत्वाद् आपोहिष्ठामयोभुव इत्यादिना यथाचन इत्यन्तेन ऋक्त्रयेण कर्त्तव्यम्। शन्न आप इत्यादिकं तु कल्पान्तरमिति वदन्ति । एतैः आग्नेयादिभिः। मन्त्रतः मृदालम्भनादिसाधनमन्त्रोच्चारणेनेति कल्पतरुः। अत्र अग्निमीळे इत्याद्यन्यतमाग्निप्रकाशकमन्त्रेण त्र्यायुषमिति मन्त्रेण वा भस्मनाऽङ्गोद्धूलनरूपमाग्नेयं,शन्न इत्यादिमन्त्रचतुष्टयेन आपोहिष्ठेत्यादिऋक्त्रयेण वा मार्जनरूपं ब्राह्मम्, अश्वक्रान्तेत्यादिमृद्ग्रहणमन्त्रेण गोखुरोद्धूतरजसाऽनावृतदेहसम्बन्धो वायव्यम्, आपोहिष्ठेत्याद्यन्यतमाब्दैवतमन्त्रेण अनावृतस्य सातपवर्षेऽवस्थानं दिव्यमित्येवमाग्नेयादिस्नानेषु मन्त्रान्वयं वर्णयन्ति ।

भस्म चात्र संस्कृताग्निसाध्यमिति वदन्ति ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

कालदोषादसामर्थ्यान्न शक्नोति यदा ह्यसौ ।
तदा ज्ञात्वा ऋषिभिस्तु मन्त्रैर्दृष्टं तु मार्जनम् ॥
शन्न आपस्तु द्रुपदा आपोहिष्ठाऽघमर्षणम् ।
एतैश्चतुर्भिऋग्मन्त्रैर्मन्त्रस्नानमुदाहृतम् ॥
स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः ।
अघमर्षणसूक्तेन अश्वमेधावभृत्समम् ॥
अप्रायत्ये समुत्पन्ने स्नानमेव तु कारयेत् ।
पूर्वोद्दिष्टैस्तथा मन्त्रैरन्यथा मार्जनं भवेत् ॥

कालदोषोऽतिवृष्ट्यादिः । असामर्थ्यं शरीरापाटवं कालस्या-ल्पत्वेन संपूर्णवारुणस्नानविध्ययोग्यत्वं वा । न शक्नोति, स्नातुमिति शेषः । तदा कालदोषादिना स्नानाशक्तिदशायाम् । दृष्टं स्नान-कार्यकारित्वेन दृष्टम् । कल्पतरौ तु ऋषिभ्य इति पाठे मन्त्रैर्दृष्टं तु मार्जनम् ऋषिभ्यो ज्ञात्वा कुर्यादित्यर्थ इति व्याख्यातम् । ब्रह्मचारि-काण्डे सन्ध्याप्रकरणे आपोहिष्ठेति मन्त्रत्रयं पठन्ति । चतुर्भिर्मन्त्रैरिति तु आपोहिष्ठेति ऋक्त्रयात्मकसूक्तस्य अघमर्षणसूक्तस्य चैकत्वा-भिप्रायेण । अनुकल्पान्तरमाह, स्नानमब्दैवतैरिति । अब्दैवतैः पूर्वो-क्तैः शन्नआप इत्यादिभिर्मार्जनम् अघमर्षणसूक्तेन प्राणसंयम इत्य-न्वयः । इदं च मन्त्रस्नानं शन्न इत्यादिपूर्वोक्तमन्त्रस्नानापेक्षया उत्कृष्टम् । कृच्छ्रभूयस्त्वात् । अप्रायत्यम् अशुद्धिः । स्नानमेवेति वारुणस्नानपरम् । अन्यथा अशुद्ध्यभावे ।

पुनर्योगियाज्ञवल्क्यः,

असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ।
मन्त्रस्नानादितः सप्त केचिदिच्छन्ति सूरयः ॥

मान्त्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चैव सप्त स्नानान्यनुक्रमात् ॥
आपोहिष्ठेति वै मान्त्रं मृदालम्भश्च पार्थिवम् ।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद्दिव्यमुच्यते ।
वारुणं चावगाहं तु मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥
शस्तं स्नानं यथोद्दिष्टं मन्त्रस्नानक्रमेण तु ।
कालादेशादसामर्थ्यात्सर्वं तुल्यफलं स्मृतम् ॥
मानसं प्रवरं स्नानं केचिदिच्छन्ति सूरयः ।
आत्मतीर्थप्रशंसायां व्यासेन पठितं यतः ॥

मन्त्रस्नानादितः मन्त्रस्नानादीनिति द्वितीयार्थे तसिः । मृदालम्भास्त्विति । मृदत्र तीर्थसंबन्धिनी ग्राह्येति वदन्ति । शस्तमिति । मन्त्रस्नानक्रमेण यथोद्दिष्टं सर्वमेव स्नानं प्रशस्तम् । अत्रैव हेतुः कालादेशादिति । स्मृत इत्यनन्तरं यत इति शेषः । अत्रामुख्यस्नानगणने मुख्यस्य वारुणस्नानस्य गणनं कालदोषादौ तेषामपि तत्तुल्यत्वद्योतनाय । अत एवोक्तं सर्वं तुल्यफलं स्मृतमिति ।

ब्रह्मपुराणे,

पुण्यं कनखले यच्च प्रयागे यच्च सुन्दरि ।
तत्फलं सकलं देवि भूतिस्नाने विधीयते ॥

भूतिर्भस्म । तथा,

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा नरवाहननन्दिते ।
भूतिस्पृष्टं न हि नरं धर्षयन्ति विनायकाः ॥

प्रमत्तोऽनवहितः । नरवाहनः कुबेरः तेन नन्दिते आराधिते इति देव्याः सम्बोधनम् । धर्षयन्ति भर्त्सयन्ति ।

विष्णुपुराणे,

आकाशगङ्गासलिलं समादाय गभस्तिमान् ।
अनभ्रगतमेवोर्व्यां सद्यः क्षिपति रश्मिभिः ॥
तस्य संस्पर्शनिर्धूतपापपङ्को द्विजोत्तमः ।
न याति नरकं मर्त्यो दिव्यस्नानं हि तत् स्मृतम् ॥
कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः ।
दृष्टार्कं पतति ज्ञेयं यद्गाङ्गं दिग्गजोज्झितम् ॥
युग्मर्क्षेषु च यत्तोयं पतत्यर्कोज्झितं दिवः ।
तत्सूर्यरश्मिभिः सद्यः समादाय निरस्यते ॥

विषमेषु कृत्तिकादिगणनया प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमादिषु कृत्तिकामृगशिरःपुनर्वसुप्रभृतिषु । दृष्टार्कमिति क्रियाविशेषणम् । तेन सूर्ये प्रतपति विषमेषु नक्षत्रेषु यत्तोयं दिवः पतति तद् दिग्गजोज्झितं गाङ्गमित्यर्थः । युग्मर्क्षेषु समनक्षत्रेषु रोहिण्याद्र्राप्रभृतिषु । तथा,

उभयं पुण्यमत्यर्थं नृणां पापहरं द्विज ।
आकाशगङ्गासलिलं दिव्यस्नानं महामुने ॥
उभयं दिग्गजोज्झितं सूर्यरश्म्युज्झितं च ।

गर्गः,

दिव्यं वायव्यमाग्नेयं ब्राह्मं सारस्वतं तथा ।
मानसं चेति विज्ञेयं गौणस्नानं तु षड्विधम् ॥
सरस्वती विदुषां वाक् तया प्राप्तं सारस्वतम् ।

तथाच बृहस्पतिः,

वायव्यं गोरजः प्रोक्तमस्तं गच्छति गोपतौ ।
विद्वत्सरस्वतीप्राप्तं स्नानं सारस्वतं तु तत् ॥

गोपतौ सूर्ये । सारस्वतस्वरूपमाह—

व्यासः,

स्वयमेवोपसन्नाय विनयेन द्विजातये ।
तज्ज्ञः संपादयेत्स्नानं शिष्याय च सुताय च ॥
दाक्षायणमयैः कुम्भैर्मन्त्रवज्जाह्नवीजलैः ।
कृतमङ्गलपुण्याहैः स्नानमस्तु तवानघ ॥
इत्युक्त्वा जाह्नवीस्नाने तीर्थान्यन्यानि कीर्त्तयेत् ।
सर्वतीर्थाभिषेकस्तु भूयादित्यन्ततो वदेत् ॥
इत्येवं मन्त्रिवर्याणां वचनेन महात्मनाम् ।
सर्वतीर्थेषु सुस्नातः पूतो भवति नान्यथा ॥

उपसन्नाय समीपउपविष्टाय । दाक्षायणेत्यादिमन्त्रः । दाक्षायणं हिरण्यम् ।

जाबालः,

अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् ।
आर्द्रेण वाससा वापि मार्जनं दैहिकं विदुः ॥

अशिरस्कं शिरो विहाय गात्रप्रक्षालनरूपं, स्नानाशक्तौ सशिरस्कस्नानाशक्तौ, कर्मिणां स्नानोत्तरविहितकर्मचिकीर्षूणां, दैहिकं समस्तदेहव्यापि । केचिदिदं कर्माङ्गस्नानानुकल्पद्वयं मान्त्रस्नानेन सह समुच्चिन्वन्ति । तदयुक्तम् । निरपेक्षश्रवणात् ।

शिरःस्नातस्तु कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि वा ।

इति मार्कण्डेयपुराणं तु शक्तिविषयम् ।

बृहस्पतिः,

आर्द्रेण कर्पटेनाङ्गशोधनं कापिलं स्मृतम् ।

यमः,

आतुरस्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत्स आतुरः ॥
स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला ।

पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥
सिक्तगात्रा भवेदेभिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन ।
न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत् ॥

उशना,

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता ।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात् केन कर्मणा ॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम् ।
सा सचैला ऽवगाह्यापः स्नात्वास्नात्वा पुनः स्पृशेत् ॥
दश द्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः ।
अन्ते च वाससस्त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा ॥
दद्याद्भक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुध्यति ।

पराशरः,

अस्तं गते यदा सूर्ये चण्डालं पतितं स्त्रियम् ।
सूतिकां स्पृशतश्चैव कथं शुद्धिर्विधीयते ॥
जातवेदाः सुवर्णं च सोममार्गस्तथैवच ।
ब्राह्मणानुमते चैव दृष्ट्वा स्नात्वा च शुध्यति ॥
आचान्तमनुगर्त्तं वा निशि स्नानं न विद्यते ।
स्नानमाचमनं प्रोक्तं दिवोद्धृतजलेन च ॥

जातवेदा अग्निः। सोममार्ग आकाशम्। ब्राह्मणानुमते स्नात्वा ऽग्न्यादिकं च दृष्ट्वा शुध्यतीत्यर्थः। आचान्तमाचमनम्। अनुगर्त्तं जलाशयं प्रविश्य। निशीत्याचमनस्नानयोरुभयोरपि योज्यम्। अत्रायं निर्णयः। स्नानानुकल्पेषु श्रुता एव धर्मा अनुष्ठेयाः, तर्पणमपि न। तदङ्गतर्पणस्य स्नानाङ्गत्वविधायके नित्यं नैमित्तिकमिति वाक्ये स्नानपदेन रूढ्या मुख्यस्नानस्यैव प्रतिपादनात्। मुख्यस्नानमध्ये मध्याह्नस्नानप्रातःस्नानक्रियास्नानेष्वेव वक्ष्यमाणाः स्नानधर्माः।

मध्याह्नस्नानमुपक्रम्यैव कात्यायनादिभिस्तत्तद्धर्मोपदेशात् । प्रातः-स्नाने च यथाऽहनि तथा प्रातरित्यादिना छन्दोगपरिशिष्टेन मध्याह्नस्नानधर्मातिदेशात् । क्रियास्नाने तु क्रियास्नानं प्रवक्ष्यामी-त्यादिवक्ष्यमाणशङ्खवचनैर्धर्मोपदेशात् । एवं च क्रियास्नाने तदु-पक्रम्य पठिताः शङ्खोक्ता एव धर्मा अनुष्ठातुमुचिता इति प्रति-भाति । आचारस्तु स्वशाखोक्तपौराणिकयोरन्यतरधर्मानुष्ठानएव । ग्रहोपरागनिमित्तकस्नानं तु शङ्खेन षोढा विभक्तेषु स्नानेषु क्रिया-स्नानएवान्तर्भवति।चण्डालशवपूयादीत्यादिना चण्डालादिस्पर्शनि-मित्तकस्नानानामिव तेन नैमित्तिकत्वपरिभाषणात् । पुण्यस्नानादि-रूपकाम्यस्नाने तु ज्योतिःशास्त्रोक्तैरेव धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वमि-त्यभिहितं प्राक् । चण्डालादिस्पर्शनिमित्तकस्नाने तु —

अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥

इति यमवचनेन मज्जनमात्रविधानात्, मात्रपदेनात्र सर्वाङ्ग-व्यावृत्तिरिति श्रीदत्तः । अभ्युदितेऽत्राशुद्धोद्धरादिना अभि-व्यक्ते । एतच्चोत्तरकालस्नानप्राप्त्यर्थम् । अजीर्णावस्थायां तन्निषे-धात् । अथवा अजीर्णे इत्यनेनाजीर्णमात्रस्य स्नाननिमित्तत्वम् । अभ्युदिते वान्तइत्यनेन पर्युषितवमनस्य स्नाननिमित्तत्वं प्रतिपा-दितम् ।

अत एव मनुः,

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ इति ।

भुक्त्वाऽन्नं, वान्त इत्यनुषङ्गः । तेन सद्यो वमने आचमनमात्रम् । एवकारेण वान्तइत्यनेन सामान्यतः प्रसक्तस्य स्नानस्य व्यावृत्तिः । मैथुने इत्यस्य ऋतुकालइति शेषः ।

अत एव शातातपः,

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।
अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ इति ।

दुर्जनश्चाण्डालादिः । न च—

अस्पृश्यस्पर्शने वान्ते अश्रुपाते क्षुरे भगे ।
स्नानं नैमित्तिकं कार्यं दैवपित्र्यविवर्जितम् ॥

इत्यापस्तम्बेन तत्र तर्पणमात्रनिषेधात् तदेकवाक्यतया अजीर्णइत्यादियमवचनेऽपि मात्रशब्देन तर्पणमेव व्यावर्त्यतामिति वाच्यम् । अजीर्ण इत्यादियमवचने मात्रपदेन सामान्यतः स्नानधर्ममात्रव्यावर्त्तनेऽपि—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमिष्यते ।
तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन व्यवस्थितम् ॥

इति ब्रह्मपुराणवाक्येन विशेषतः प्रसञ्जितस्य तर्पणस्य आपस्तम्बवाक्येन व्यावर्त्तनात् । एवं च ब्रह्मपुराणे नैमित्तिकपदं राहूपरागादिनिमित्तकपरम् । आचारोऽप्येवमेवेति सङ्क्षेपः । मलापकर्षणे तु लौकिकत्वान्नालौकिकधर्मसम्बन्धः । जप्तुकामाः पवित्राणीत्यादिना शङ्खेन जपाद्यधिकारसम्पादकत्वेनोक्ते क्रियाङ्गस्नानेऽपि न स्नानधर्माः । तथासति यथाऽहनि तथा प्रातरित्यनेन प्रातःस्नानत्वपुरस्कारेण स्नानधर्मातिदेशवैफल्यं स्यात् । क्रियास्नाने तु शङ्खोक्ता औपदेशिका एव धर्मा इति प्रागेवाभिहितम् । यानि तु कृच्छ्राद्यङ्गभूतानि तान्यपि क्रियास्नानानीति केचित् । वस्तुतः स्नानं तत्र क्रिया मतेत्यनेन तीर्थस्नानादिरूपप्रधानस्नानस्यैव शङ्खेन क्रियास्नानत्वेन परिभाषणात्तान्यपि क्रियाङ्गस्नानान्येवेति युक्तम् ।

ज्योतिर्निबन्धे तु—

अन्त्येष्टयां शवचाण्डालस्पर्शने खरकाकयोः।
राहुग्रस्ते विमुक्ते वा कुर्यात् स्नानममन्त्रकम्॥

इति वचनेन राहूपरागनिमित्तकस्नानेऽप्यमन्त्रकत्वमुक्तम्। एवमपि नित्यं नैमित्तिकमित्यादिब्रह्मपुराणवचनोक्तं तर्पणं तु भवत्येव।

वाराहपुराणे,
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन तिलमिश्रोदकेन च।
उदके नाभिमात्रे तु यः कुर्यादभिषेचनम्॥
प्राक्स्रोतसि तु वै नद्यां नरस्त्वेकाग्रमानसः।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादस्य नश्यति॥
अच्छिन्नपत्रपद्मेन सर्वरत्नोदकेन च।
स्रोतसो वै नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
स्रोतस इति सप्तम्यर्थे षष्ठी।
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन पात्रऔदुम्बरे स्थितम्।
उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा हृष्टमानसः॥
तस्य जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति।
औदुम्बरे ताम्रे।

### अथ स्मृतिचन्द्रिकादिनिबन्धोदाहृतास्तीर्थस्नानमन्त्राः प्रदर्श्यन्ते।

विष्णुपादाब्जसम्भूते गङ्गे त्रिपथगामिनि।
धर्मद्रवेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि॥
श्रद्धया धर्मसंपन्ने देवि श्रीमति जाह्नवि।
अमृतेनाम्बुना देवि भागीरथि पुनीहि माम्॥
इति गङ्गास्नानमन्त्रः।
त्वं देवि सरितां नाथे त्वं देव सरितां पते।

उभयोः सङ्गमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै ॥
इति गङ्गासागरस्नानमन्त्रः ।
करतोये सदानीरे सरिच्छ्रेष्ठेति विश्रुते ।
आप्लावयसि पौराणां पापं हर करोद्भवे ॥
इति करतोयास्नानमन्त्रः ।
ब्रह्मपुत्र महाभाग शन्तनोः कुलवर्द्धन ।
अमोघगर्भसम्भूत पापं लौहित्य मे हर ॥
इति लौहित्यनदस्नानमन्त्रः ।
गाधिराजसुते देवि विश्वामित्रमुनेः स्वसः ।
ऋचीकभार्ये सत्यार्ये पापं मे हर कौशिकि ॥
इति कौशिकीस्नानमन्त्रः ।
आद्ये नमः पुण्यजले नमः सागरगामिनि ।
नर्मदे पापनिर्मुक्ते नमो देवि वरानने ॥
नमोऽस्तु ते मुनिगणसिद्धसेविते नमोऽस्तु ते शङ्करदेहनिःसृते।
नमोऽस्तु ते धर्मभृतां वरप्रदे नमोऽस्तु ते सर्वपवित्रपावने ॥
इति नर्मदास्नानमन्त्रः ।
भीमस्वेदसमुद्भूते रथनेमिविनिःसृते ।
सर्वपापविनाशार्थं स्नास्ये देवि तवाम्भसि ॥
इति भीमरथीस्नानमन्त्रः ।
अग्निस्तु ते योनिरिला च देहो रेतो हि विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एतद् ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥
इति सागरस्नानमन्त्रः ।

## अथ स्नाननिमित्तानि ।

तत्र मनुः,
दिवाकीर्त्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥

दिवाकीर्त्तिः चण्डालः ।

चण्डालप्लवमातङ्गदिवाकीर्त्तिजनङ्गमाः ।

इति अमरकोशात् ।

उदक्या रजस्वला । स्नानेन सचैलस्नानेन ।

तदाहाङ्गिराः,

शवस्पृशमथोदक्यां सूतिकां पतितं तथा ।

स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धिः स्यात्सचैलेन न संशयः ॥ इति ।

गौतमोऽपि,

पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैल उदकोपस्पर्शनाच्छुध्येदिति ।

अत्र उपस्पर्शनपदं स्नानपरम् । अङ्गिरोवाक्यैकवाक्यत्वात् । पतितादिशवान्तानाम् अन्यतमस्य स्पृष्टौ, तस्य स्पृष्टौ उपस्पर्शनेन स्पृष्टस्पर्शिन उपस्पर्शने स्पर्शइत्यर्थः । तेन तृतीयपर्यन्तस्य स्नानं सिध्यति । एवञ्च दिवाकीर्त्तिमित्यादिमनुवचने तत्स्पृष्टिनामित्यत्र तत्पदेन दिवाकीर्त्यादिशवान्तानां परामर्शः । न च सन्निहितत्वाच्छवस्यैव तत्पदेन परामर्शोऽस्त्विति वाच्यम् । एकवाक्योपात्तत्वेन सर्वेषामेव सन्निहितत्वात् । स्मृतिचन्द्रिकालिखितस्मृत्यन्तरादप्ययमर्थः प्रतीयते ।

यथा, शवचण्डालपतितसूतिकोदक्यातत्स्पृष्टिस्पर्शने स्नानमिति।

अत्र गौतमेन तृतीयस्य यत् स्नानं विहितं तत् कामकृतस्पर्शविषयम् । अकामतस्तु आचमनमेव ।

यदाह संवर्त्तः,

तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते ।

ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा ॥ इति ।

यत्तु **कूर्मपुराणवचनम्,**

चण्डालसूतिकाशवैः संस्पृष्टं संस्पृशेद्यदि ।
प्रमादात्तत आचम्य जपं कुर्यात्समाहितः ॥
तत्स्पृष्टिस्पृष्टिनं स्पृष्ट्वा बुद्धिपूर्वं द्विजोत्तमः ।
आचामेत विशुद्ध्यर्थं प्राह देवः पितामहः ॥

इति, यदपिच **याज्ञवल्क्यवचनम्,**

उदक्याऽशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥

इति, तत्र गौतमवचनस्वरसात्कूर्मपुराणवाक्ये संस्पृष्टमित्यस्यैकव्यवधानेन स्पृष्टमित्यर्थः । तत्स्पृष्टेत्यस्यापि द्वितीयस्पृष्टेत्यर्थः । याज्ञवल्क्यवचने संस्पृष्ट इत्यस्य साक्षादेकव्यवधानेन वा स्पृष्टे इत्यर्थः । तैः संस्पृष्ट इत्यत्रानुषाङ्गकसंस्पृष्टपदस्य तु साक्षात् संस्पृष्टे इत्येवार्थः । तैः उदक्याऽशुचिभिरेकव्यवधानेन संस्पृष्टैः । एवं चाबुद्धिपूर्वस्पर्शे द्वयोः स्नानं तत्तृतीयादेराचमनं, बुद्धिपूर्वस्पर्शे त्रयाणां स्नानं चतुर्थस्याचमनमित्येवं परम् । पूर्वोदाहृतगौतमवचनानुरोधात् ।

तथाच स्मृतिचन्द्रिकायां **संग्रहकारः,**

अबुद्धिपूर्वसंस्पर्शे द्वयोः स्नानं विधीयते ।
त्रयाणां बुद्धिपूर्वे तु तत्स्पृष्टिन्यायकल्पना ॥ इति ।

तत्रैव **मनुश्च,**

उपस्पृशेच्चतुर्थस्तु तदूर्ध्वं प्रोक्षणं स्मृतम् । इति ।

अन्ये तु दण्डादिपरम्परया स्पृष्टविषयाण्येतानि वचनानीत्याहुः । एवमेव—

ससूतकं च मृतकं प्रसूतां वा रजस्वलाम् ।
स्पृष्ट्वा स्नायात्तु तत्स्पृष्टं संस्पृष्टस्त्वाचमेद् बुधः ॥

इत्यादिपुराणवचनम्। अन्यान्यपि वक्ष्यमाणानि देवलादिवचनानि व्याख्येयानीति दाक्षिणात्यनिबन्धाः ।

गौडमैथिलादिनिबन्धेषु तु दिवाकीर्त्तिमित्यादिमनुवाक्ये तत्स्पृष्टिनमित्यत्र तच्छब्देन शव एव परामृश्यते। पतितेत्यादिगौतमवाक्येऽपि शवस्पृष्टीत्येकं पदं शवस्पर्शकर्तृपरम्। तथा तत्स्पृष्टीत्यपि सन्निकृष्टशवस्पृष्टिस्पर्शकर्तृपरम् । वक्ष्यमाणबृहस्पत्यादिवाक्यैकवाक्यत्वात् ।

यथा बृहस्पतिः,

शवस्पृष्टं दिवाकीर्त्तिं चितिं यूपं रजस्वलाम् ।
स्पृष्ट्वा प्रमादतो विप्रः स्नानं कृत्वा तु शुध्यति ॥

च्यवनोऽपि,

श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीवनं ग्रामयाचकं यूपं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृष्टं रजस्वलां महापातकिनं शवं च स्पृष्ट्वा सचैलमम्भोऽवगाह्य उत्तीर्य अग्निमुपस्पृशेत् गायत्र्यष्टशतं जपेत् घृतं प्राश्य ततः स्नात्वा द्विराचामेत् ।

अत्राग्निस्पर्शनादिकं कामकृते । बृहस्पतिना प्रमादकृते स्नानमात्रविधानात् ।

स्पष्टमाह बृहस्पतिः,

पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः ।
स्नात्वा सचैलं हुत्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥

अत्र होमो महाव्याहृतिभिः । एवञ्च शवस्पृष्टिस्पर्शएव स्नानं न पतितादिस्पृष्टिस्पर्शे । तत्र देवलादिभिराचमनविधानात् ।

यथा देवलः,

उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः ।

हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुध्यति ॥

अत्राशुचिपदं शवतत्स्पृष्टिभिन्नाशुचिपरम्। शवस्पर्शिनस्तत्-स्पर्शिनश्च स्पर्शे स्नानविधानात्।

याज्ञवल्क्योऽप्यत्राचमनमेवाह, यथा

उदक्याऽशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्।

अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥

तैः उदक्याऽशुचिस्पृष्टैः, संस्पृष्ट इत्यत्राप्यन्वेति। उपस्पृशेत् आचामेत्। तैः उदक्याऽशुचिभिः दण्डादिपरम्परया स्पृष्टः सन्नाचामेदित्यपरे इति व्याख्यातम्।

शातातपः,

अशुचिं संस्पृशेद्यस्तु एक एव स दुष्यति।

तं स्पृष्ट्वाऽन्यो न दुष्येत सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥

न दुष्येतेत्यनेन स्नाननिमित्तदोषाभाव उक्तः, न त्वाचमननिमित्तदोषाभावः। सर्वद्रव्येषु मद्यादिषु।

वृद्धशातातपः,

चण्डालं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवमन्त्यजम्।

सूतिकां सूयिकां नारीं रजसा च परिप्लुताम् ॥

श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान् संस्पृश्य मानवः।

सचैलं सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुध्यति ॥

व्यङ्गः पाण्यादिविकलः। व्यङ्गोन्मत्तयोः सदाचारहीनत्वाद-स्पृश्यता। सूयिका प्रसवकारिणी।

देवलोऽपि,

श्वपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम्।

सूतिकां साविकां नारीं रजसा च परिप्लुताम् ॥

श्वकुक्कुटवराहांश्च इत्यादि शातातपवाक्यसमानम्। साविका

प्रसवकारिणी। श्वादिभिः शिरःस्पर्शे स्नानं, गात्रान्तरस्पर्शे च तद-ङ्गक्षालनाचमनमात्रम्।

यथा शातातपः,

रजकश्चर्मकारश्च व्याधजालोपजीविनौ ।
चैलनिर्णेजकश्चैव नटः शैलूषकस्तथा ॥
मुखेभगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा ।
चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यकुक्कुटशूकरौ ॥
एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्ज्जं द्विजातिषु ।
तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात् ॥

चैलेत्यत्र सौचिरिति नट इत्यत्र टक इति प्रायश्चित्तविवेके पाठः। व्याख्यातं च—सौचिः सूच्या जीवी, टको धूर्त्तः। चक्री तैलिकः। ध्वजी शौण्डिकः।

विष्णुः,

चिताभूपेः सेवने सर्वे वर्णाः स्नानमाचरेयुः मैथुने दुःस्वप्ने वमनविरेकयोः श्मश्रुकर्मणि च कृते शवस्पृशं च स्पृष्ट्वा रजस्वला-चण्डालयूपांश्च भक्षवर्ज्यं पञ्चनखशवं तदस्थि सस्नेहम्।

मैथुने ऋतुगमने स्नानं प्रागुक्तम्।

ब्रह्मपुराणे,

उदक्यां सूतिकां चैव श्वानमन्त्यावसायिनम् ।
नग्नादीन्मृतहारांश्च स्पृष्ट्वा शौचं विधीयते ॥
स्नात्वा सचैलो मृद्भिस्तु शुध्येद् द्वादशभिर्नरः ।
एतदेव भवेच्छौचं मैथुने वमने तथा ॥ नग्नादयः पाषण्डाः ।

तथाच विष्णुपुराणम्,

सर्वेषामेव वर्णानां त्रयी संवरणं नृप ।
तां समुज्झति यो मोहात् स नग्नः पापकृत्तमः ॥

मृद्भिरित्यनन्तरम् उदक्यादिस्पृष्टमङ्गं प्रक्षालयेत्यध्याहार्यम्। स्नात्वा शुध्येदित्यन्वयः।

मार्कण्डेयपुराणे,

अभोज्यसूतिकाषण्ढमार्जाराखुश्वकुक्कुटान्।
पतितापविद्धचण्डालमृतवाहांश्च धर्मवित्॥
संस्पृश्य शुध्यति स्नानादुदक्याग्राम्यशूकरौ।

अभोज्या रजकादयः। मार्जारोऽत्र वनमार्जारः। गृहमार्जारस्य सदा शुचित्वात्।

यथाह सुमन्तुः, स्त्रीबालमशकमक्षिकामार्जारमूषिकच्छायायां सुविप्रुषो नित्यं मेध्याः।

बृहस्पतिरपि,

स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन।
मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः॥

अत्र स्त्रीबालमशकमक्षिकासाहचर्याद् गृहमार्जारावगतेरिति शूलपाणिः। एवञ्च सुमन्तुवचने मूषिको गृहमूषिको ज्ञातव्यः। मार्कण्डेयपुराणे आखुस्पर्शे स्नानविधानात्। श्रीदत्तस्तु मार्कण्डेयपुराणे मार्जारस्पर्शे स्नानविधानान्मार्जारश्च सदा शुचिरिति विष्णुस्मृतिर्भाण्डादिविषया। अथवा मार्जारकर्मके स्पर्शे स्नानं मार्जारकर्तृके स्पर्शे दोषाभाव इति व्यवस्था। चाण्डालादिस्पर्शे तु न तथा द्वैविध्याश्रवणादित्याह। इदं च मार्कण्डेयपुराणे द्वितीयाश्रवणात्परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वमितिकर्मलक्षणाभिप्रायेण बोध्यम्। अपविद्धो लोकबहिष्कृतः।

बौधायनः, चण्डालेन सहाध्वगमने सचैलस्नानम्।

पराशरः,

चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चण्डालः सोमविक्रयी।

एतांस्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥

चितिप्रदेशारोपितवृक्षश्चैत्यवृक्ष इति स्मृतिचन्द्रिका ।

तथा,

श्वपाकैरवलीढस्य नखैर्विदलितस्य च ।

अद्भिः प्रक्षालनं शौचमग्निना चोपचूडनम् ॥

इयं च स्नानं विनैव शुद्धिः शिरोभिन्नगात्रोपघाते इति प्राङ्क्तम् । उपचूडनं ज्वालया स्पर्शनमिति श्रीदत्तः ।

आपस्तम्बः,

एकशाखां समारूढश्चाण्डालादिर्यदा भवेत् ।

ब्राह्मणस्तत्र निवसन्स्नानेन शुचितामियात् ॥

अत्रैकशाखापदमत्यन्तसान्निध्योपलक्षणार्थम् । अत एवैकप्रस्तराद्यारोहणेऽपि अशुचित्वं वदन्ति ।

स्मृतिचन्द्रिकायां सङ्ग्रहेऽपि,

तार्णे संस्तरएकस्मिन्नस्पृश्यः सह तिष्ठति ।

अस्पृष्टस्तैरदुष्टोऽस्मीत्येवं मूढस्तु मन्यते ॥ इति ।

तार्णे तृणनिर्मिते ।

व्यासोऽपि,

सूतिका पतितोदक्या चण्डालश्च चतुर्थकः ।

यथाक्रमं परिहरेदेकाद्वित्रिचतुर्युगम् ॥

युगमिति हस्तचतुष्टयोपलक्षणम् ।

यत्तु वैयाघ्रपदवचनम्,

चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् ।

गोवालव्यजनादर्वाक् सवासा जलमाविशेत् ॥

तद् आपद्विषयम् ।

व्यासः,

चण्डालपतितौ दृष्ट्वा नरः पश्येत भास्करम् ।
स्नातस्त्वेतौ समालोक्य सचैलं स्नानमर्हति ॥

यमः,

अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥

कूर्मपुराणे,

स्पृष्ट्वा रुद्रस्य निर्माल्यं सवासा जलमाविशेत् ।
एतद् अपनीतनिर्माल्यविषयम् ।

संवर्त्तः,

श्ववराहखरानुष्ट्रान् वृकगोमायुवानरान् ।
काककुक्कुटगृध्रांश्च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ॥

पैठीनसिः, काकोलूकस्पर्शने सचैलस्नानमनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलं स्नानं महाव्याहृतिभिर्होमश्चेति ।

अङ्गिरा अपि,

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा यदा नैवोदकं लभेत् ।
स्नात्वा लब्धोदकः पश्चात् सचैलस्तु विशुद्ध्यति ॥

व्यासः,

वृकवानरमार्जारखरोष्ट्राणां शुनां तथा ।
शूकराणाममेध्यं वै स्पृष्ट्वा स्नायात्सचैलकम् ॥

ब्रह्माण्डपुराणे,

शैवान्पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लौकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान्द्विजान् शूद्रान् सचैलो जलमाविशेत् ॥

अत्र शैवपाशुपतानां वेदविरुद्धाननुष्ठातॄणां स्पर्शो यद्यपि शुद्धिनिमित्तं तथापि ब्राह्मणस्पर्शादेराचमननिमित्तत्ववत् तस्यापि स्नाननिमित्तत्वमविरुद्धम् । अत्र शैवपाशुपतौ वेदविरुद्ध

वाद्यागमोक्तानुष्ठातारौ वा वेदितव्यौ, लोकायतिकसाहचर्यात्। केचित्तु विकर्मस्थानिति शैवादिशूद्रपर्यन्तानां विशेषणम्। तेषु लोकायतिकनास्तिकयोरुपरञ्जकमन्येषां व्यावर्त्तकं तत्। अन्यथा रजकादिभिः शिरोवर्जाङ्गस्पर्शे आचमनं, शूद्रेण यत्किञ्चिदङ्गस्पर्शे स्नानमिति महद्वैषम्यम् । किञ्च येषां शूद्राणां भोज्यान्नताऽपि तेषां शूद्राणां स्पर्शस्य स्नाननिमित्ततेत्यनौचित्यमेवेत्याहुः ।

षट्त्रिंशन्मतेऽपि,

बौद्धान् पाशुपतान् जैनान् लोकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥
कापालिकांस्तु संस्पृश्य प्राणायामोऽधिको मतः ।

हारीतः,

श्वविष्ठां काकविष्ठां वा कङ्कगृध्रनरस्य च ।
अधोच्छिष्टश्च संस्पृश्य सचैलो जलमाविशेत् ॥
अधोच्छिष्टः मूत्राद्युत्सर्गेणाशुद्धः ।

देवलः,

मानुषास्थि वसां विष्ठामार्त्तवं मूत्ररेतसी ।
मज्जानं शोणितं वाऽपि परस्य यदि संस्पृशेत् ॥
स्नात्वा प्रमृज्य लेपादीनाचम्य च शुचिर्भवेत् ।
तानि स्वानि च संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात् ॥
परिमार्जनात् क्षालनात् । तदनन्तरमाचमनं प्रागेवोक्तम् ।

विष्णुः,

नाभेरधस्तात्प्रबाहुषु च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य अनन्द्रिनः शुद्धो भवति, अस्नन्तोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नानेन, चक्षुष्युपहते उपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति, दशनच्छदोपहतश्चेति ।

प्रबाहुर्हस्तः । अतन्द्रित इत्याचमनप्राप्त्यर्थः । असन्तोपहतः उक्तेतराङ्गेष्वपि स्पृष्टः । दशनच्छद ओष्ठः ।

अङ्गिराः,

इन्द्रियेषु प्रविष्टं स्यादमेध्यं यदि कर्हिचित् ।
मुखेऽपि संस्पर्शगतं तत्र स्नानं विशोधनम् ॥

ब्रह्मपुराणे,

उच्छिष्टेनाथ विप्रेण विप्रः स्पृष्टस्तु तादृशः ।
उभौ स्नानं प्रकुरुतः सद्य एव समाहितौ ॥
मानुषास्थि तु संस्पृश्य दग्धं सस्नेहमेव वा ।
स्नायादृर्द्रां संस्पृशेत्सूर्यं पश्येद्विष्णुमनुस्मरेत् ॥

दग्धस्पर्शे कामकृते स्नानम् । आचम्यैव तु निःस्नेहमिति मनुवचनात् ।

संवर्त्तः,

शूद्रोच्छिष्टं द्विजः स्पृष्ट्वा उच्छिष्टं शूद्रमेव वा ।
शुचिमप्यवगुह्यैनं सवासा जलमाविशेत् ॥

अवगुह्य स्पृष्ट्वा ।

स्मृतिचन्द्रिकायां स्मृत्यन्तरे,

चितिं च चितिकाष्ठं च यूपं चण्डालमेव च ।
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् ॥

देवलकः—

देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ॥

इत्युक्तलक्षणः ।

मनुः,

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।

स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥

शुध्येदित्यनुवृत्तौ विष्णुः,

सर्वस्यैव प्रेतस्य बान्धवैः सहाश्रुपातं कृत्वा स्नानेन, कृतेऽस्थिसञ्चये सचैलस्नानेन ।

आपस्तम्बः,

यद्विप्लितं काकबलाकिकाभ्याममेध्यलिप्तं च भवेच्छरीरम् ।

श्रोत्रे मुखे न प्रविशेत्तु सम्यक् स्नानेन लेपोपहतस्य शुद्धिः ॥

काकबलाकाभ्यां यदुपरि विष्ठा कृता तच्छरीरममेध्यलिप्तं भवति । तच्चामेध्यं यदि श्रोत्रमुखयोर्न प्रविशति तदा स्नानेनैव शुद्धिः । तथाच मुखादिप्रवेशे प्रायश्चित्तान्तरमिति सूचितम् । तच्च प्रायश्चित्तप्रकाशेऽवगन्तव्यम् ।

व्याघ्रपादः,

चण्डालोदकसंस्पृष्टः स्नानं कृत्वा विशुध्यति ।

हारीतः, श्वपचप्रेतहारकशवान् संस्पृश्य देवीराप इत्येताभिर्जले स्नातः पूतो भवति अजीर्णवान्तश्मश्रुकर्मपशुयोनिगमने दिवामैथुने च ।

सुमन्तुः,

अनुदकमूत्रपुरीषकरणे नखकेशरुधिरप्राशने सद्यःस्नानं घृतकुशहिरण्योदकप्राशनं च ।

शङ्खः,

रथ्याकर्दमतोयेन ष्ठीवनाद्येन वा तथा ।

नाभेरूर्ध्वं नरः स्पृष्टः सद्यः स्नानेन शुध्यति ॥

जातूकर्ण्यः,

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गं स्पृशते खगः ।

स्नानं तत्र प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षाल्य शुध्यति ॥

संवर्त्तः,

नीलीं नीलीविकारांश्च मानुषास्थ्यपि वा द्विजः ।

चण्डालपतितच्छायां स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ॥

अस्थि चात्र सस्नेहम् ।

यदाह मनुः,

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥ इति संक्षेपः । अन्यानि स्नाननिमित्तानि प्रायश्चित्तप्रकाशे शुद्धिप्रकाशे च द्रष्टव्यानि । इति स्नाननिमित्तानि ।

**अथ नानाशाखीयाः स्नानप्रयोगा लिख्यन्ते ।**

तत्र यच्छाखीयानां गृह्यादिषु स्नानप्रयोगो नाभिहितस्तच्छाखीयैः कश्चन पौराणिक एव प्रयोगो ग्राह्यः । तस्य सर्वसाधारणत्वात् । स्मृत्युक्तप्रयोगो यच्छाखोक्तप्रयोगेण संवदति तच्छाखीयैरेव ग्राह्यः, यथा योगियाज्ञवल्क्योक्तः कात्यायनीयैः । परं तु कात्यायनानुक्तो योगियाज्ञवल्क्योक्तो विशेषांशोऽनाकाङ्क्षितोऽपि फलविशेषार्थिना अनुष्ठेयः । शूद्रादिभिस्तु पौराणिक एव प्रयोगो ग्राह्य इति पद्मपुराणीयस्नानप्रकरणे वक्ष्यते । एवं तर्पणादावपि ज्ञेयम् ।

**तत्र कात्यायनोक्तः स्नानप्रयोगः ।**

कात्यायनः,

अथातो नित्यस्नानं नद्यादौ मृद्गोमयकुशतिलसुमनस आहृत्य उदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य प्रक्षाल्य पाणिपादं कुशोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्याचम्य उरुंहीति तोयमामन्त्र्यावर्त्तयेत् ये ते शतमिति । सुमित्रियान इत्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत् कटिं वस्त्यूरू जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्याचम्य नमस्योदकमालभेत् अङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति ।

सूर्याभिमुखो निमज्जेदापो अस्मानिति । स्नात्वोदिदाभ्य इति उन्मज्ज्य निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य गोमयेन विलिम्पेन्मानस्तोकइति । ततोऽभिषिञ्चेत्, इमं मे वरुण इति चतसृभिः माप उदुत्तमं मुञ्चन्त्ववभृथेति । अन्ते चैतत् । निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य दर्भेण पावयेत्, आपोहिष्ठेति तिसृभिरिदमापो हवीष्मतीर्देवीराप इति द्वाभ्यामापोदेवा द्रुपदादिव शन्नोदेवीरपांरसमपोदेवीः पुनन्तु मेति नवभिः चित्पतिर्मेति । ओङ्कारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्याऽऽदावन्ते च । अन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत् द्रुपदां वा आयं गौरिति वा तृचं प्राणायामं वा सशिरसम् ॐमितिवा विष्णोर्वा स्मरणम् ।

अथेति तृतीयभागानन्तर्यार्थम् । नित्यस्नानमित्यनेन मध्याह्नस्नानस्य पञ्चमहायज्ञादिनित्यकर्माधिकारसम्पादकत्वेनावश्यकत्वमुक्तम् । तथाच यतः स्नानमावश्यकमतः कर्त्तव्यमिति शेषः । नचाधिकारसम्पादकत्वे मानाभावः ।

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि ।
पवित्राणां तथा जप्ये दाने च विधिचोदिते ॥

इति विष्णुवचनेन स्नानस्य दैवपित्र्यकर्माधिकारसम्पादकत्वेनोक्तत्वात् । नचेदं प्रातःस्नानस्यैव तदुक्त्या भाविकर्माधिकारसम्पादकत्वपरमिति वाच्यम् । सामान्यतः स्नानमात्रस्य तदुत्तरं विहितेषु कर्मसु अधिकारसम्पादकत्वे सम्भवति प्रातःस्नानमात्रपरत्वे प्रमाणाभावात् । नच—

उषस्युषसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ ।
प्राजापत्येन तत्तुल्यं महापातकनाशनम् ॥

इति हेमाद्रौ विष्णुवचनत्वेनोपसंहारात्लिखनादिदमपि विष्णुवचनं प्रातःस्नानपरमेवेति वाच्यम् । सत्यपि विष्णुवचनस्य तत्परत्वे याज्ञवल्क्ये प्रातःकृत्योत्तरम्—

स्नात्वा देवान् पितॄंश्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा ।

इति वचनेन मध्याह्नस्नानस्य देवपूजाद्युत्तरकर्मार्थत्वविधानेन मध्याह्नस्नानस्यापि तदुत्तरकर्माधिकारसम्पादकत्वात् । तस्माद्युक्तं पञ्चमहायज्ञाद्यधिकारसम्पादकत्वं मध्याह्नस्नानस्येति । नचेदं नित्य-स्नानं प्रातःस्नानम्,

प्रातःस्नानं तदर्थं तु नित्यस्नानं प्रकीर्त्तितम् ।

इति शङ्खोक्तेरिति वाच्यम् । एतत्स्नानोत्तरं कात्यायनेन मध्याह्नकृत्यस्याभिधानेनैतस्य मध्याह्नस्नानपरत्वावगमात् । शङ्खवचनेन एकदेशोत्कीर्त्तनम् । उदकान्तम् उदकसमीपम् । स्थाप्येति ल्यप्प्रयोगः छान्दसः । पाणिपादमित्यत्र पाण्योरभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातो नतु तयोः पाठक्रमेणादौ क्षालनम् । पादप्रक्षालनप्राथम्यस्यैव न्याय्यत्वादिति हरिहरः । कुशोपग्रहः कुशहस्तः । उपगृह्यतअनेनेति व्युत्पत्त्या उपग्रहशब्दस्य हस्तवचनत्वात् । उपगृह्यतइत्युपग्रहः । तथाच कुशा उपग्रहा यस्येति वा विग्रहः । ते च बहवः सव्ये । दक्षिणे तु अनन्तर्गर्भसाग्रप्रादेशमात्रदर्भदलद्वयात्मकं पवित्रं धार्यम् ।

सव्यः सोपग्रहः कार्यो दक्षिणः सपवित्रकः ।

इति छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनोक्तेः । बद्धशिखीति ।

अत्र च,

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।

इति कात्यायनवचनेन सामान्यतः कर्माङ्गत्वे सिद्धेऽपि शिखाबन्धयज्ञोपवीतयोर्विशिष्य स्नानाङ्गत्वाभिधानं केशबन्धोत्तरीयनिवृत्त्यर्थम् । यत्तु सवस्त्रोऽहरहराप्लुत्येति सांख्यायनसूत्रम् एकवस्त्रत्वस्य नग्नप्रतिषेधादेव सिद्धेर्द्विवस्त्रत्वज्ञापकमिति, तत् कातीयभिन्नपरं द्रष्टव्यम् । अत एव निष्पीड्य वस्त्रमिति एकवचनानुवाद एकवस्त्रत्वेऽवकल्पते नान्यथा । तस्माद्यज्ञोपवीतशिखाबन्धयोर्विधानमुत्त-

रीयकेशबन्धनिवृत्त्यर्थमिति हरिहरः । श्रीदत्तस्तु बद्धशिखी यज्ञो-पवीतीत्यनयोः केशबन्धनाद्द्वितीयवस्त्रनिवृत्त्यर्थकत्वे परिसंख्याप-त्तिः । तस्मात् क्रत्वर्थमिदं प्रकरणात् । तेन दैवाद्विनष्टे यज्ञोपवीते तदु-त्पाद्य स्नानमिति सिध्यति । एवमनियतकेशवेशाः सर्वेषां वा मु-क्तशिखावर्जमिति निषेधाच्छिखाबन्धनस्य पुरुषार्थत्वलाभेऽपि ब-द्धशिखीति क्रत्वर्थतालाभार्थमित्याह । वस्तुतस्तु यज्ञोपवीतिनः प्रा-गुदग्वेति कात्यायनवचनेन यज्ञोपवीतस्य कर्ममात्रार्थत्वे सिद्धे यज्ञो-पवीतीत्यनुवाद एव । न च तद्वचनस्य श्रौतपरिभाषासूत्रत्वात्कथं तस्य स्मार्त्तकर्मविषयत्वमिति वाच्यम् । अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेति स्मार्त्तोपक्रमसूत्रस्थस्य श्रौतकर्मप्रतिपादनानन्तर्याभिधायि-नोऽथशब्दस्य स्मार्त्तेष्वपि कर्मसु श्रौतपरिभाषाध्यायोक्तस्य सा-मान्यधर्मस्य प्राप्तौ तात्पर्यमिति तद्भाष्यकारादिभिर्निर्णीतत्वात् ।

उरुंहीति वरुणस्य पाश इत्यन्तेन तोयमामन्त्रयेत् । हलायुधस्तु उरुंहीति तोयोपस्थानं नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति तोयप्रवेशनमित्याह । येतेशतमित्यादिना स्वर्का इत्यन्तेनावर्त्तयेत् । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु इत्यनेन अपोऽञ्जलिनाऽऽदाय द्वेष्यं मनसा ध्यात्वा दुर्मित्रिया इत्यादिना यं द्विष्म इत्यन्तेन भूमौ निक्षिपेदिति हरिहरः । यस्यां दिशि द्वेष्यस्तिष्ठति तस्यां क्षि-पेदिति श्रीदत्तः । अत्र च "निरुक्षति यस्यामस्य दिशि द्विष" इति बौधायनसंवादोऽपि । द्वेष्याभावे कामाद्यरिषड्वर्गं पाप्मानं वा-ध्यायेत् । अस्मिन् पक्षे नैर्ऋत्याम् अपो निषिञ्चेत् इति वदन्ति । बस्ति-र्गुदमेढ्रयोरन्तरालमिति हरिहरः । नाभेरधोभाग इत्यन्ये । नमस्येति । उदकाय नम इति उदकं नत्वा । नमस्येति ल्यप् आर्षः । आलभेत् स्पृशेत् । इदं विष्णुरित्यादिना पांसुरे इत्यन्तेन मुखमारभ्य नाभिपर्य-न्तं दक्षिणेन हस्तेन नाभिमारभ्य पादपर्यन्तं सव्येन मृत्तिकयाऽनु-

लिम्पेत् । यथा भृगुः,

धर्मविद्दक्षिणं हस्तम् अधःशौचे न योजयेत् ।
तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥ इति ।

सूर्याभिमुखत्वं च स्थावरजले, प्रवहज्जले तु प्रवाहाभिमुख इति रत्नाकरः । तन्न । नद्यादावित्युपक्रमविरोधात् । तेन यत्—

नद्यां स्रवत्सु च स्नायात्प्रतिस्रोतःस्थितो द्विजः ।
तडागादिषु तोयेषु प्रत्यर्कं स्नानमाचरेत् ॥

इति नृसिंहपुराणवचनं, तत् एतन्मज्जनातिरिक्तमज्जनपरम् । मज्जनप्रकारमाह—आपो अस्मानित्यादिना उन्मज्ज्येत्यन्तेन। आपो अस्मानित्यादिना मन्त्रहान्तिदेवीरित्यन्तेन स्नात्वा मज्जित्वा उदिदाभ्य इत्यादिना पूत एमि इत्यन्तेनोन्मज्ज्येत्यर्थः। मज्जनोन्मज्जने तूष्णीम्। मन्त्रानुपदेशात् ।

श्रीदत्तस्तु उदिदाभ्य इत्यनन्तरम् उन्मज्ज्येत्यपठित्वा आपो अस्मानित्यादिना देवीरित्यन्तेन निमज्जेत् अर्थादुन्मज्ज्य,स्नात्वेति वचनात्पुनर्निमज्जनोन्मज्जने, तत उदिदाभ्य इत्यादिना पूत एमीत्यन्तेन निमज्ज्य उन्मज्ज्य चेत्यपरं मज्जनमिति मज्जनत्रयमाह । आचमनं च द्विः। स्नानस्य "स्नात्वा पीत्वेति" याज्ञवल्क्येन द्विराचमननिमित्तेषु पाठात् । ततो मानस्तोके इत्यादिना हवामहे इत्यन्तेन अङ्गानि गोमयेन विलिम्पेत् । रौद्रमन्त्राभिधानाच्च उदकं स्पृशेत् । पाठादेव च गोमयानुलेपनानन्तरम् अभिषेकसिद्धेस्तत इति वचनं गोमयानुलिप्तगात्रस्यैवाभिषेकप्राप्त्यर्थमिति हरिहरः । अभिषिञ्चेत् शिरसि हस्तेन जलं क्षिपेदित्यर्थः । स चाभिषेको लिङ्गात्प्रत्यृचं कार्यः । मध्ये चतसृभिरिति ग्रहणं तु न मन्त्रचतुष्टयान्तेऽभिषेकप्राप्त्यर्थं किं तु अनेकत्वप्राप्त्यर्थम् । इमं मे वरुण इत्यादिना राचके इत्यन्त एकः। तत्त्वा यामि इत्यादिः प्रमोषीरित्यन्तो द्वितीः-

यः। त्वन्नो अग्ने वरुणस्येत्यादिः मुमुग्ध्यस्मदित्यन्तस्तृतीयः। मत्वन्नो अग्ने इत्यादिः एधि इत्यन्तश्चतुर्थः। मापोमौषधीरित्यादिः शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेत्यन्तः पञ्चमः। उदुत्तममित्यादिः अदितये स्यामेत्यन्तः षष्ठः। मुञ्चन्तु मा शपथ्यादित्यादिः देवकिल्बिषादित्यन्तः सप्तमः। अवभृथनिचुम्पुणेत्यादिः देवरिषस्पाहीत्यन्तोऽष्टमः।

अन्ते चैतत्। एतदष्टर्चाभिषेचनम् अन्ते वक्ष्यमाणस्य पावनस्यान्तेऽपि भवतीत्यर्थः। निमज्ज्य स्नात्वा। त्रिरिति श्रीदत्तः। त्रिः कृत्वा मज्जनं तत इति वामनपुराणोक्तेः। कात्यायनकल्पानुक्तेः सकृदेवेति भाष्यानुसारिणः। इदं च मज्जनं वहति जले प्रवाहाभिमुखः स्थिरे सूर्याभिमुखः कुर्यात् पूर्वोक्तनृसिंहपुराणवचनात्। कात्यायनेन च पूर्वोक्तएव स्नाने सूर्याभिमुखत्वस्याभिधानादस्मिंश्च विशेषानुक्तेरिति श्रीदत्तः। दर्भैस्त्रिभिः। कपिञ्जलन्यायात्। पावनं चोदकबिन्दूनां शिरसि निक्षेप इति श्रीदत्तः। भाष्ये तु दर्भैरेव नाभित ऊर्ध्वं पुनर्नाभिं यावत्पावयेदित्युक्तम्।

पावनमन्त्राश्च— आपोहिष्ठेत्यादिः चक्षसे इत्यन्त एकः। यो वः शिवतम इत्यादिः मातर इत्यन्तो द्वितीयः। तस्मा अरङ्गेत्यादिः चन इत्यन्तस्तृतीयः। इदमापः प्रवहतेत्यादिः हानृतमित्यन्तश्चतुर्थः इति केचित्। श्रीदत्तादयस्तु इदमापः प्रवहतावद्यमित्यादिः पवमानश्च मुञ्चतु इत्यन्तश्चतुर्थ इत्याहुः। हविष्मतीरिमा आप इत्यादिः अस्तु सूर्य इत्यन्तः पञ्चमः। देवीरापो अपान्नपा इत्यादिः भागस्थस्वाहेत्यन्तः षष्ठः। कार्षिरसि समुद्रस्य त्वेत्यादिः रोषधीरित्यन्तः सप्तमः। अपोदेवामधुमतीरित्यादिः सरातीरित्यन्तोऽष्टमः। द्रुपदादिवमुमुचान इत्यादिः

मैनस इत्यन्तो नवमः । शन्नोदेवीरभिष्टये इत्यादिः स्रवन्तु न इत्यन्तो दशमः । अपांरसमित्यादिः उत्तममित्यन्तः एकादशः । अपोदेवीरुपसृजेत्यादिः सुपिप्पला इत्यन्तो द्वादशः । पुनन्तुमापितर इत्यादिः शतायुषा इत्यन्तस्त्रयोदशः । पुनन्तुमापितामहा इत्यादिः व्यश्नवै इत्यन्तश्चतुर्दशः । अग्नआयूंषि इत्यादिः स्वदुच्छुनाम् इत्यन्तः पञ्चदशः । पुनन्तुमादेवजना इत्यादिः पुनीहिमेत्यन्तः षोडशः । पवित्रेणपुनीहिमा इत्यादिः क्रतूँरनु इत्यन्तः सप्तदशः । यत्तेपवित्रमित्यादिः ब्रह्मतेनपुनातुमेत्यन्तोऽष्टादशः । पवमानः सो अद्येत्यादिः सपुनातुमा इत्यन्त एकोनविंशः । उभाभ्यां देवसवितरित्यादिः पुनीहिविश्वत इत्यन्तो विंशः । वैश्वदेवीपुनतीत्यादिः रयीणामित्यन्त एकविंशतितमः । चित्पतिर्मापुनात्वच्छिद्रेणेत्यादिः शकेयमित्यन्तो द्वाविंशः । वाक्पतिर्मापुनात्वच्छिद्रेणेत्यादिः शकेयमित्यन्तस्त्रयोविंशः । देवोमासवितापुनात्वच्छिद्रेणेत्यादिः शकेयमित्यन्तश्चतुर्विंशः । चित्पतिर्मापुनात्विति एक एव मन्त्रो ग्राह्यो न तु मन्त्रत्रयं, संख्याया अश्रवणात्, दीक्षितपावने तु प्रतिमन्त्रमिति विशेषश्रवणान्मन्त्रत्रयग्रहणमिति श्रीदत्तः ।

व्याहृतयो भूराद्यास्तिस्रः इति संप्रदायः । आदावन्ते च । ॐकारो व्याहृतयो गायत्री चेति पञ्चभिः प्रत्येकम् आपोहिष्ठेत्यस्यादौ चित्पतिर्मेत्यादिमन्त्रत्रयान्ते च मार्जनं कुर्यादित्यर्थः ।

ततः अन्तर्जले निमग्नोऽघमर्षणम् । ऋतंचसत्यं चेत्यादि मथोस्वरित्यन्तं सूक्तं त्रिरनुच्छ्वसन्नावर्त्तयेदिति हरिहरः । द्रुपदां वा पूर्वोक्ताम् ऋचम् । आयङ्गौः पृश्निरित्यादि रह्युभिरित्यन्तं वा तृचं, प्राणायामं वा ॐमापोज्योतिरित्यादि शिरस्त्र्युक्तम् । ॐकारं

वा, त्रिरावर्त्तयेदित्यनुषङ्गः । एषां च शक्तिश्रद्धापेक्षया विकल्पः उत्तमाधिकारिणं प्रत्याह– विष्णोर्वा स्मरणम् । स्मरणं ध्यानम् ।

अथ योगियाज्ञवल्क्योक्तस्नानविधिः ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

एतच्छ्रुत्वाऽथ वचनं याज्ञवल्क्यस्य वै तदा ।
ऋषयः संशितात्मानः पृच्छन्ति स्नाननिश्चयम् ॥
स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्यत्त्वयोक्तं पुराऽनघ ।
तदाचक्ष्व विशेषेण स्नानस्य तु विधिं प्रभो ॥
तान्प्रत्युवाच प्रीतात्मा याज्ञवल्क्योऽमितद्युतिः ।
शृणुध्वं वक्ष्यते स्नानं सर्वपापप्रणाशनम् ॥
मृत्तिलान् गोमयं दर्भान् पुष्पाणि सुरभीणि च ।
आहरेत्स्नानकाले तु स्नानार्थं प्रयतः शुचिः ॥
गत्वोदकान्तं विविक्तमास्थाप्यैतत्पृथक् क्षितौ ।
त्रिधा कृत्वा मृदं तां तु गोमयं च विचक्षणः ॥
अधमोत्तममध्यानामङ्गानां क्षालनं तु वै ।
भागैः पृथक्पृथक् कुर्यात् क्षालने मृदसङ्करः ॥

तथा—

अद्भिर्मृद्भिश्च चरणौ प्रक्षाल्याचम्य वै शुचिः ।
उरुंहीति ऋचा तोयमुपस्थाय प्रदक्षिणम् ॥
आवर्तयेत्तदुदकं येतेम्नातमितिऋचा ।
सुमित्रिया इत्यञ्जलिमुद्धरेद्दैवतं स्मरन् ॥
दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं ध्यायंश्चापः प्रसेचयेत् ।
अद्भिर्मृद्भिश्च गात्राणि क्रमशस्त्ववनेजयेत् ॥
एकया तु शिरः क्षाल्य द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ।
कटिबस्त्यूरु जङ्घे च चरणौ च त्रिभिस्त्रिभिः ॥

प्रक्षाल्य हस्तौ चाचम्य नमस्कृत्य जलं तु तत् ।
यत्किञ्चेति च मन्त्रेण नमस्येत्प्रयताञ्जलिः ॥
यत्र स्थाने च यत्तीर्थं नदी पुण्यतमा च या ।
तां ध्यायन्मनसा ऽऽवाह्य अन्यत्रेष्टं विचिन्तयेत् ॥
गङ्गादिपुण्यतीर्थानि कृत्रिमादिषु संस्मरेत् ।
उदुत्तममिति विशेत्तज्जलं प्राङ्मुखः शुचिः ॥
येन देवाः पवित्रेति कुर्यादालम्भनं त्रिभिः ।
महाव्याहृतिभिः पश्चादाचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥
आलभेत्तु मृदाऽङ्गानि इदं विष्णुरिति ऋचा ।
भास्कराभिमुखो मज्जेदापोऽस्मानितिच ऋचा ॥
ततोऽवमृश्य गात्राणि निमज्ज्योन्मज्ज्य वै पुनः ।
आचम्य गोमयेनापि मानस्तोक्या समालभेत् ॥
ततोऽभिषिच्य मन्त्रैस्तु वारुणैस्तु यथाक्रमम् ।
इमं मे वरुणेत्यृग्भ्यां त्वन्नः सत्वन्न इत्यपि ॥
माप उदुत्तममिति मुञ्चन्त्ववभृथेति च ।
अभिषिच्य तदात्मानं निमज्ज्याचम्य वै पुनः ॥
दर्भैस्तु पावयेन्मन्त्रैरब्लिङ्गैः पावनैः शुभैः ।
आपोहिष्ठेति तिसृभिरिदमापो हविष्मतीः ॥
देवीराप इति द्वाभ्यां अपोदेवा इति ऋचा ।
द्रुपदादिव इत्यृचा शन्नोदेवीरपांरसम् ॥
अपोदेवीः पावमान्यः पुनन्त्वाद्या ऋचो नव ।
चित्पतिर्मेति च शनैः पाव्यात्मानं समाहितः ॥
हिरण्यवर्णा इति च पावमान्यस्तथाऽपराः ।
तरत्समाः शुद्धवतीः पवित्राण्यपि शक्तितः ॥
वारुणीश्च ऋचः सूक्तं शक्तितः सम्प्रयोजयेत् ।

जलमध्ये स्थितो विप्रः शुद्धभावो हरिं स्मरेत् ॥
ॐकारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्या च समाहितः।
आदावन्ते च कुर्वीत अभिषेकं यथाक्रमम् ॥
अपां मध्ये स्थितस्यैवं मार्जनं तु विधीयते।
अन्तर्जले जपेन्मग्नः त्रिष्कृत्वा त्वघमर्षणम् ॥
द्रुपदां वा त्रिरभ्यस्येदायङ्गौरिति वा ऋचम्।
हंसः शुचिषदित्युक्तं त्रिरावृत्य जपेदथ ॥
अन्यानि चैव सूक्तानि स्मार्त्तदृष्टान्यनुस्मरेत्।
सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं विजपेदथ ॥
आवर्त्तयेद्वा प्रणवं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम्।
विष्णोरायतनं ह्यापः स ह्यपां पतिरुच्यते ॥
तस्यैव सूनवस्त्वेताः तस्मात्तं ह्यप्सु संस्मरेत्।
नरादापः प्रसूता वै तेन नारा इति स्मृताः ॥
ता एवास्यायनं ह्यापस्तस्मान्नारायणः स्मृतः।
यं हि व्रतानां वेदानां यमस्य नियमस्य च ॥
भोक्तारं यज्ञतपसां ध्यायिनां ध्येयमेवच।
ध्यायन्नारायणं नित्यं स्नानादिषु च कर्मसु ॥
प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु दुष्कृतान्मुच्यते पुमान्।
प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ॥
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः।
तद्विष्णोरिति मन्त्रेण मज्जेदप्सु पुनः पुनः ॥
गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै।
पादेन पाणिना चापि यष्ट्या वस्त्रेण चोदकम् ॥
न हन्यान्न च वादेच्च नच प्रक्षोभयेद् बुधः।
न कुर्यात्कस्यचित्पीडां कर्मणा मनसा गिरा ॥

आचरन्नभिषेकं तु कर्माण्यन्यानि नाचरेत् ।
योऽसौ विस्तरशः प्रोक्तः स्नानस्य विधिरुत्तमः ॥
असामर्थ्यान्न कुर्याच्चेत्तत्रायं विधिरुच्यते ।
स्नानमन्तर्जलं चैव मज्जनाचमने तथा ॥
जलाभिमन्त्रणं चैव तीर्थस्य परिकल्पनम् ।
अघमर्षणसूक्तेन त्रिरावृत्तेन नित्यशः ॥
स्नानाचरणमित्येतत् समुद्दिष्टं महात्मभिः ।
अन्यांस्तु वारुणान्मन्त्रान्कामतः सम्प्रयोजयेत् ॥
यथाकालं यथादेशं ज्ञात्वाज्ञात्वा विचक्षणः ।

उदकान्तमुदकसमीपम् । एतत् मृत्तिकादि । गोमयं च, त्रिधा कृत्वेत्यनुषङ्गः । अधममङ्गं नाभेरधः, उत्तममङ्गं शिरः, मध्यममङ्गं नाभेरुपरि स्कन्धपर्यन्तम् । मृदसङ्करः पृथक्पृथक्कृतमृद्भागामेलनम् । उरुंहीति । उरुंहिराजा वरुणेत्यादिऋचा । येतेशतमिति । येतेशतं वरुणम् इत्यादिऋचा । सुमित्रिया इति । सुमित्रियान आप इत्यादियजुषा । दुर्मित्रिया इति । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्त्वित्यादियजुषा । दैवतं मन्त्रप्रकाश्यं दैवतं जलम् । द्वेष्यं शत्रुम् । प्रासेचयेत् द्वेष्यावस्थानदिशि । निरुक्षति यस्यामस्य दिशि द्वेष्यो भवतीति बौधायनवचनात् । निरुक्षति निषिञ्चति । द्वेष्याभावे नैर्ऋत्यामिति सम्प्रदायः । क्रमश इति । वक्ष्यमाणपाठक्रमेण । अवनेजयेत् क्षालयेत् । एकया मृदा । वस्तिर्नाभेरधोभागः । त्रिभिस्त्रिभिः तिसृभिस्तिसृभिः । तत् स्नानीयम् । यत्किञ्चेति । यत्किञ्चेदं वरुणदैव्य इत्यादिऋचा । अन्यत्र उद्धृतजले । इष्टं तीर्थं प्रयागादि । कृत्रिमं पुष्करिण्यादि । कृत्रिमादिष्वित्यादिशब्देनाकृत्रिमह्रदादिग्रहणम् । उदुत्तममिति । उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदित्यादिऋचा । प्राङ्मुखः कुर्यादालम्भनमित्यन्वयः । प्रवेशो यथासम्भवमुखत्वस्यैवौचित्यादि । आलम्भनं हस्तेन नद्या-

दिजलस्पर्शनम् । इदंविष्णुरिति । इदंविष्णुर्विचक्रमे इत्यादिऋचा । मृदालम्भनं चार्थादङ्गप्रक्षालनार्थं त्रिधाकृतमृद्व्यतिरिक्तमृदा । त्रिधा कृताया अङ्गप्रक्षालने विनियुक्तत्वात् । आपो अस्मानिति । आपो अस्मान्मातर इति ऋचा । मज्जेदित्यत्रोन्मज्जनमर्थात् । अव-मृश्य अवघृष्य । निमज्ज्योन्मज्ज्येति स्नानान्तरमुक्तम् । मानस्तोक्या मानस्तोकेतनये इत्यादिऋचा । यथाक्रममिति प्रतिमन्त्रमभिषेक उक्तः । मन्त्रानाह– इमंमइत्यादि । इमंमेवरुणश्रुधीत्याद्या एका ऋक्, तत्त्वायामिब्रह्मणेत्यपरेत्येवमृग्भ्याम् । त्वन्न इति । त्वन्नोअग्नेवरु-णस्येत्याद्यया । सत्वन्न इति । सत्वन्नोअग्नेवमोभवोतीत्याद्यया । मापइति । मापोमौषधीरित्यादिकया । उदुत्तममिति । उदुत्तमंवरुण-पाशमित्यादिकया । मुञ्चन्त्विति । मुञ्चन्तुमाशपथ्यादित्यादिकया । अवभृथेति । अवभृथनिचुम्पुणेत्यादियजुषा । अभिषिञ्चयेति । इत्थम-भिषिञ्चयेत्यर्थः ।

अब्लिङ्गमन्त्रानाह—आपोहिष्ठेति । आपोहिष्ठामयोभुव इत्याद्या एका । योवःशिवतमोरस इत्याद्याऽपरा । तस्माअर-ङ्गमामव इत्याद्या अन्या । एवं तिसृभिः । इदमाप इति । इदमापः प्रवहत इत्याद्यया । हविष्मतीरिति । हविष्मतीरिमा आप इत्याद्यया । देवीराप इति द्वाभ्यामिति । देवीरापो अपां नपादिति, कार्षिरसि-समुद्रस्यत्वेति द्वाभ्याम् । अपोदेवा इति । अपोदेवामधुमतीर्त्याद्यया । द्रुपदादिवेति । द्रुपदादिवमुमुचान इत्याद्यया । शन्नोदेवीरिति । श-न्नोदेवीरभिष्टये इत्यादिकया । अपांरसमिति । अपांरसमुद्वयस-ऽइत्याद्यया । अपोदेवीरिति । अपोदेवीरुपसृज इत्यादिकया । पा-वमान्य इति । उपास्मैगायतानर इत्याद्या एका । अभितमधुनापय इत्याद्या अपरा । सनःपवस्वशङ्गवे इत्याद्या अन्या । एवंतिस्रः । पुनन्त्वाद्या इत्यस्यैव पावमान्य इति विशेषणमिति केचित् । पुन-

न्त्वाद्या इति । पुनन्तुमापितरः सोम्यास इत्याद्या एका । पुनन्तुमापितामहा इत्याद्या अन्या। अग्नआयूंषिपवस इत्याद्या अपरा । पुनन्तुमादेवजना इत्याद्या अन्या। पवित्रेणपुनीहिमा इत्याद्या अन्या। यत्तेपवित्रमर्चिषीत्याद्याऽन्या । पवमानःसोअद्यन इत्याद्याऽपरा । उभाभ्यान्देवसवितरित्याद्याऽन्या । वैश्वदेवीपुनतीदेव्यागादित्याद्याऽन्या । एवं नव । चित्पतिर्मेति। चित्पतिर्मापुनातु अच्छिद्रेणपवित्रेणसूर्यस्यरश्मिभिरित्येको मन्त्रः । वाक्पतिर्मापुनातु इत्यनन्तरमच्छिद्रेणेत्याद्यनुषङ्गेण द्वितीयः । देवोमासविता-पुनात्वित्यनन्तरमच्छिद्रेण इत्याद्यनुषङ्गेण तृतीयः । एवं त्रिभिर्मन्त्रैः पावनमिति कल्पतरुः। संख्याया अश्रवणादेक एव मन्त्रो ग्राह्य इति कात्यायनसूत्रव्याख्यायां श्रीदत्तः । एभिर्मन्त्रैः पाव्य पावयित्वेत्यर्थः । पावनं च नाभेरूर्ध्वं प्रदक्षिणं पुनर्नाभिपर्यन्तं सोदकदर्भैर्मार्जनमिति कात्यायनसूत्रव्याख्यायां हरिहरः । शिरसि उदकप्रक्षेपरूपमभिषेचनमेव पावनशब्दार्थ इति श्रीदत्तः । शिष्टाश्च कातीयस्नानमनुतिष्ठन्तः नाभेरूर्ध्वं प्रदक्षिणं पुनर्नाभिपर्यन्तं सोदकदर्भैर्मार्जनमाचरन्तीति ।

हिरण्यवर्णाः शुचय इत्याद्या ऋक् । अपराः पावमान्यः पावमानी स्वस्त्ययनीरित्याद्या ऋचः । तरत्समाः तरत्समन्दीधावतीत्याद्याश्चतस्र ऋचः । शुद्धवतीः एतोन्विन्द्रंस्तवामेत्याद्यास्तिस्र ऋचः । शुद्धपदोपेतत्वात् । पवित्राणि पुरुषसूक्तादीनि । वारुण्यश्च ऋचः सूक्तव्यतिरिक्ताः ग्राह्याः, सूक्तस्य पृथगुपादानात् । सूक्तं च वारुणमेव। एताभिरपि ऋग्भिः पावनमेव कुर्यात् । पाव्येत्यस्य सन्निधानात् ।

आदावन्ते चेति । पावनस्यादावन्ते चेत्यर्थः । अभिषेकमिति । शिरसि हस्तेन जलप्रक्षेप इत्यर्थः । अघमर्षणम् ऋतं

चेत्येतत्सूक्तम्। द्रुपदाम् इति। द्रुपदादिवेत्यृचम्। आयंगौरिति। आयंगौःपृश्निरित्यादि ऋक्त्रयम्। स्मार्त्तदृष्टानि स्मार्त्तैर्मन्वादिभिर्दृष्टानि। तद्यथा युञ्जतेमन इत्याद्यनुवाकः। प्रमादादित्यस्य प्रत्यवेतेत्यनेनान्वयः। तद्विष्णोरिति। तद्विष्णोःपरमंपदमित्यादिमन्त्रेण। नचवादेदिति। न च शब्दितं कुर्यात् इत्यर्थः। न च प्रक्षोभयेत् नचालोडयेत्। अभिषेकं स्नानम् आचरन् कुर्वन् अन्यानि स्नानातिरिक्तकर्माणि पूर्वोक्तानि पादाघातपरपीडान्तानि नाचरेदित्यर्थः। एतेन पादघाताद्याचरणे स्नानमेवाङ्गहीनं भवतीति दर्शितम्।

योऽसाविति। यदि तु कालदेशासामर्थ्यादिवशात् विस्तरेण स्नानमार्जनान्तर्जलस्नानं कर्त्तुं न शक्नुयात्तदाऽघमर्षणसूक्तेन त्रिरावृत्तेन तीर्थकल्पनजलाभिमन्त्रणाचमनमार्जनान्तर्जलस्नानानि कुर्यादित्यर्थः। अत्र तीर्थपरिकल्पनादिपदार्थानुवादेन मन्त्रमात्रविधानात् क्रमान्तरस्याविधित्सितत्वात्पूर्वोक्त एव क्रमो ज्ञातव्यः। इति योगियाज्ञवल्क्योक्तस्नानविधिः।

## अथ गोभिलीयस्नानविधिः।

### गोभिलीयपरिशिष्टे।

अथ स्नानविधिं व्याख्यास्यामो नदीदेवखातगर्तप्रस्रवणादीन् गत्वा शुचौ देशे मृत्तिलकुशगोमयाक्षतानुपकल्प्य पारक्यनिपाने पञ्चपिण्डानुद्धृत्य नमस्कृत्य तीर्थं पावका नः सरस्वतीति पादावारभ्य मृद्भिर्गात्राणि प्रक्षाल्योपविशेद् बद्धशिखी नित्यं यज्ञोपवीत्याचम्य प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा कुशहस्तः शुचिः समाहितोऽथ सप्त व्याहृतयः सावित्रीं च सकृत् जप्त्वा सप्तकृत्वः सावित्र्या तु मन्त्रितं सकृदुदकमाचामेत तत आचम्यापो यथाविधि अथ देवताभिसन्धिं कृत्वा सहस्रशीर्षा घृतवत्यश्वक्रान्त

इति ऋग्भिर्मृत्तिकामादायेदं विष्णुर्विचक्रमइति पङ्क्रचेन संमृज्योद्वयन्तमसस्पर्युदुत्तममिति चोर्द्ध्वौ पाणी कृत्वा ऽऽदित्यमवेक्षेतोद्धृताऽसि वराहेणामोसीति च मृद्भिर्गात्राणि प्रतिलोमान्यङ्गानि अभिमृशेत । द्विरेतयैवावृता कृत्वा गात्राश्विदूर्वासमन्यव इत्यनेन गोमयं गात्रेषु मृत्तिकावत् ऋतं च सत्यं चेति त्रिः शुष्काघमर्षणं जपेत् । ततो देवताभिसन्धिं कृत्वा नाभिमात्रे जले स्थित्वा शन्नोदेव्यापोहिष्ठीयाभिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिःएतोन्विन्द्रं—समुद्रवाम—नकिरिन्द्रत्वदुत्तरमित्याभिः पवित्रवतीभिर्मार्ज्जयित्वा त्रिः प्राणायामं कृत्वा सहस्रशीर्षा इति स्तृचेनाघमर्षणं जपेत्ततः त्रिराप्लुत्य पुनः शन्नोदेव्यादिभिर्मार्जनं च मार्जनं च ।

नदीत्यादि । नदीदेवखातेत्याद्यभिधानात् नदीदेवखातादिष्वेवायं विधिर्नोद्धृतोदके। मृदित्यादि। योगियाज्ञवल्क्योक्तस्नाने इवात्रापि वक्ष्यमाणमृदुपयोगानुसारेण षोढा मृत्स्थापनमिच्छन्ति। तिलाक्षतानां तु तर्पणे उपयोगः । पारक्यनिपाने परकृतजलाशये। पञ्च पिण्डान् पञ्च जलाशयगतमृत्पिण्डान् । पावकानःसरस्वतीवाजेभिरित्यादिमन्त्रेण तीर्थं नमस्कृत्य। पादावारभ्येत्यादि । एकेन मृद्भागेन त्रिधा कृतेन पादावारभ्य नाभिपर्यन्तम्। अङ्गानि वामहस्तेन त्रिः प्रक्षाल्यापरमृद्भागेन दक्षिणहस्तेन शिरः सकृत्प्रक्षाल्य तृतीयमृद्भागेन द्विधा कृतेन तेनैव हस्तेन नाभेरूर्ध्वं कण्ठपर्यन्तं द्विः प्रक्षाल्येति सम्प्रदायः। समाहित इत्यनन्तरमाचम्येति योजनीयम्। सप्त व्याहृतयः सप्त व्याहृतीरित्यर्थः। क्वचित्तथैव पाठः। आचामेत् पिबेत्। अथ देवताभिसंधिं कृत्वा अभिमतदेवताध्यानं कृत्वा । सहस्रशीर्षापुरुष इत्याद्यया ऋचा घृतवतीभुवनानामभिश्रियोर्वीत्याद्यया च अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते इत्यादिमन्त्रेण च मृत्तिकामादाय। इदं विष्णुरिति ।इदंविष्णुर्विचक्रमइत्याद्या एका। त्रीणि पदा विचक्रमइत्या-

द्याऽपरा। विष्णोः कर्माणि पश्यतेत्याद्याऽन्या। तद्विष्णोः परमं पदमित्याद्या अपरा। तद्विप्रासो विपन्यव इत्याद्याऽन्या। अतो देवा अवन्तु न इत्याद्या अपरा। इत्येवं षड्ऋचेन मृत्तिकां संमृज्य संघृष्य ऊर्ध्वौ पाणी कृत्वा उद्वयन्तमसस्परीत्यादिमन्त्रेणोदुत्तमं वरुणपाशमस्मदित्यादिमन्त्रेण चादित्यमवेक्षेत। उद्धृतासीति। उद्धृताऽसिवराहेणेत्यादिमन्त्रेण अमोऽसि प्राणेत्यादिमन्त्रेण च तया मृत्तिकया पादप्रभृति शिरःपर्यन्तमङ्गानि अभिमृशेत् अनुलिम्पेत्। द्विरेतयैवावृता कृत्वेति। मृत्तिकादानादि अभिमर्शनान्तं पूर्वोक्तप्रकारेण द्विः कृत्वेत्यर्थः। मृत्तिकावदिति। पादानारभ्य शिरःपर्यन्तम् अङ्गान्यनुलिम्पेदित्यर्थः। शुष्काघमर्षणमिति। शुष्के शुष्कदेशे तीरइति यावत्। तत्राघमर्षणं त्रिर्जपेदित्यर्थः। शन्नोदेव्येति। शन्नोदेवीरभिष्टयइत्याद्यया ऋचा। आपोहिष्ठामयोभुवः इत्याद्या एका। योवःशिवतमोरसइत्याद्या अपरा। तस्मा अरं गमामव इत्याद्या अन्या। इत्येवं तिसृभिः। बहुवचनात्। पावमानीभिः पवमानसम्बन्धिनीभिः। उपास्मैगायतानर इत्याद्या एका। अभितमधुनापय इत्याद्या अन्या। सनःपवस्वशङ्गवइत्याद्या अपरा। इत्येवं तिसृभिः। बहुवचनस्य कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्य्यवसितत्वात्। काण्डपठितासु आद्यत्वादेता एव पावमान्यो ग्राह्याः। यथाहि वैष्णवत्रिकपालादौ प्राकृतकपालसंख्याहासे श्रुते उपस्थितिक्रमानुसारेणाद्योपादानं तद्वदिति।

केचित्तु उपास्मैगायतेत्याद्यास्तिस्रः दविद्युतत्येत्याद्याः षट् इत्येवं नव पावमान्य इत्याहुः।

अपरे तु यःपावमानीरध्येतीत्याद्याः षट् पावमान्य इत्याहुः। तरत्समन्दीभिरिति। तरत्समन्दीधावतीत्याद्या एका, उस्रावेदवसूनामित्याद्या अन्या, ध्वस्रयोः पुरुषन्त्य इत्याद्या अपरा, आपयोस्त्रि-

शन्तनेत्याद्याऽपरेत्येवं चतसृभिर्ऋग्भिः । गौतमादिस्मृतिषु ऋक्-चतुष्टयोपादानादिति श्रीदत्तः।एतोन्विन्द्रमिति । एतोन्विन्द्रंस्तवामेत्याद्यया ऋचा । अत्र संख्याशब्दाद्यभावात् एकैव ऋक् प्राप्नोति श्रीदत्तः। अन्ये तु एतत्क्रमपठितम् ऋक्त्रयमिच्छन्ति । तमुष्टवामेति। तमुष्टवामयङ्गिर इत्याद्यया ऋचा। नकीति। नकिरिन्द्रत्वदुत्तरमित्यनया ऋचा। पवित्रवतीभिरिति । पवित्रसहिताभिः । शन्नोदेव्यादिमन्त्रसाध्यं मार्जनं पवित्रेण कार्यमित्यर्थः । केचित्तु पवित्रवतीभिरिति पवित्रपदवत्यः पवित्रं ते विततमित्याद्या ऋचः पवित्रवत्यस्ताभिरित्याहुः । सहस्रशीर्षेति । सहस्रशीर्षेत्याद्या एका, त्रिपादूर्ध्वउदैदित्याद्याऽपरा, पुरुष एवेदमित्याद्या अन्या। एवंतृचेन ॥ इतिगोभिलीयस्नानप्रयोगः ॥

## अथ पद्मपुराणीयस्नानविधिः ।

पद्मपुराणे,

नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न जायते ।
तस्मान्मनोविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते ॥
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत् ।
तीर्थं प्रकल्पयेद्विद्वान् मूलमन्त्रेण धर्मवित् ॥
नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः ।
दर्भपाणिस्तु विधिना आचान्तः प्रयतः शुचिः ॥
चतुर्हस्तसमायुक्तं चतुरस्रं समन्ततः ।
प्रकल्प्यावाहयेद्गङ्गामेभिर्मन्त्रैर्विचक्षणः ॥
ॐ विष्णोः पादप्रसूताऽसि वैष्णवी विष्णुपूजिता ।
पाहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात् ॥
तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च तीर्थानां मनुरब्रवीत् ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तानि ते सन्ति जाह्नवि ॥

नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च ।
वृन्दा पृथ्वी च सुभगा विश्वकाया शिवा सिता ॥
विद्याधरी सुप्रसन्ना तथा लोकप्रसादिनी ।
क्षेमा च जाह्नवी चैव शान्ता शान्तिप्रदायिनी ॥
एतानि पुण्यनामानि स्नानकाले प्रकीर्त्तयेत् ।
भवेत्सन्निहिता तत्र गङ्गा त्रिपथगामिनी ॥
सप्तवाराभिजप्तेन करसम्पुटयोजितम् ।
मूर्द्धि्न कुर्याज्जलं भूयस्त्रिचतुः पञ्च सप्त वा ॥
स्नानं कुर्यान्मृदा तद्वदामन्त्र्य च विधानतः ।
अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ॥
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ॥
नमस्ते सर्वभूतानां भववारिणि सुव्रते ।
आरुह्य मम गात्राणि सर्वपापं प्रमोचय ॥
आदौ, स्नानोत्तरविहितकर्मणामिति शेषः ।
तूष्णीमेवावगाहेत यदि स्यादशुचिर्नरः ॥
आचम्य च ततः पश्चात्स्नानं विधिवदाचरेत् ॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवचनादशुचिश्चेत्तूष्णीमवगाह्य स्नाननिमित्तकं द्विराचमनं च कृत्वा तीर्थप्रकल्पनादि कुर्यात् । शुचिश्चेदनवगाह्यैव सकृदाचम्य तीर्थप्रकल्पनादि कुर्यात् । सप्तवाराभिजप्तेन पूर्वोक्तमूलमन्त्रेण एकवचननिर्देशात् । मूलमन्त्रत्वेन निर्देशाच्च स्नानं कुर्यादिति । अश्वक्रान्तइत्यादिसार्द्धश्लोकद्वयात्मकमन्त्रेण मृदमभिमन्त्र्य तया गात्राण्यालिप्य विधानतः स्नानं कुर्यात् । विधानं च,

अङ्गुलीभिः पिधायैव श्रोत्रदृङ्नासिकामुखम् ।

निमज्जेत प्रतिस्रोत इति स्मृत्यन्तरोक्तम् ।
नद्यां स्रवन्तु च स्नायात्प्रतिस्रोतःस्थितो द्विजः ।
तडागादिषु तोयेषु प्रत्यर्कं स्नानमाचरेत् ॥
इति नरसिंहपुराणोक्तं च । स्रवत्सु निर्झरादिषु ।
नाभिमात्रे जले गत्वा कृत्वा केशान्द्विधा द्विजः ।
निरुध्य कर्णौ नासां च त्रिःकृत्वो मज्जनं ततः ॥
इति वामनपुराणोक्तम्,
स्रोतसां संमुखे मज्जेद्यत्रापः प्रवहन्ति वै ।
स्थावरेषु गृहे चैव सूर्यसंमुख आप्लवेत् ॥

इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तं च द्रष्टव्यम्। अयं च स्नानविधिः सर्ववर्णसाधारणः। सङ्कोचे मानाभावात्सर्वानधिकृत्य पुराणप्रणयनात्।

तदुक्तं भविष्यपुराणे,
चतुर्णामपि वर्णानां यानि प्रोक्तानि श्रेयसे ।
धर्म्मशास्त्राणि राजेन्द्र शृणु तानि नृपोत्तम ॥
विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः ।
अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च ॥
रामस्य कुरुशार्दूल धर्मकामार्थसिद्धये ।
तदुक्तं भारतं चैव पाराशर्येण धीमता ॥
वेदार्थं सकलं योज्य धर्मशास्त्राणि च प्रभो । इति ।
परं तु,
ब्रह्मक्षत्रविशां चैव मन्त्रवत्स्नानमिष्यते ।
तूष्णीमेव तु शूद्रस्य सनमस्कारकं स्मृतम् ॥

इति नरसिंहपुराणवचनात्स्त्रीशूद्राणां नमःपदातिरिक्तमन्त्रशून्यो विधिः । सनमस्कारकमित्यनेन पौराणिकमन्त्रस्थाने नमःपदं विधीयते । अनुमतोऽस्य नमस्कारो मन्त्र इति शूद्रप्रकरणस्थ-

गौतमवचने मन्त्रपदसामानाधिकरण्यश्रवणात् । नच वेदमन्त्रवर्जं शूद्रस्येति स्मृत्यन्तरे शूद्रस्य वेदमन्त्रनिषेधात्तूष्णीमेव तु शूद्रस्येति नृसिंहपुराणवचनमपि वेदमन्त्रमात्रनिषेधपरमिति वाच्यम् ।

अध्येतव्यं नचान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमेव शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥

इति भविष्यपुराणवचनेन शूद्रस्य पुराणाध्ययननिषेधेन पुराणान्तर्गतमन्त्राध्ययनस्य दूरनिरस्तत्वात् । स्मृत्यन्तरे च वेदपदं दोषाधिक्यख्यापनार्थम् । इति पद्मपुराणस्नानविधिः ।

## अथ वासिष्ठस्नानविधिः ।

तत्र वसिष्ठः,

अथ स्नानविधिं कृत्स्नं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
येन स्नाता दिवं यान्ति श्रद्दधाना द्विजोत्तमाः ॥
नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥
पारक्येषु निपानेषु न स्नायाद्धि कदाचन ।
निपानकर्त्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥
अलाभे देवखातानां सरसां सरितां तथा ।
उद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥
अरुग् दिवाऽऽचरेत् स्नानं मध्याह्नात्प्राग्विशेषतः ।
प्रयतो मृदमादाय दूर्वामार्द्रं च गोमयम् ॥
स्थापयित्वा तथाऽऽचम्य ततः स्नानं समाचरेत् ।
प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च शिखाबन्धं समाचरेत् ॥
मृदैकया शिरः क्षाल्यं द्वाभ्यां नाभेरथोपरि ।
अधश्च तिसृभिः कायं षड्भिः पादौ तथैवच ॥
प्रक्षाल्य सर्वकायं तु द्विराचम्य यथाविधि ।

ततः संमार्जनं कुर्यान्मृदा पूर्वं तु मन्त्रवत् ॥
अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ।
उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ॥
मृत्तिके त्वां च गृह्णामि प्रजया च धनेन च ।
मृत्तिके ब्रह्मदत्ताऽसि काश्यपेनाभिमन्त्रिता ॥
मृत्तिके जहि नः सर्वं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
मृत्तिके देहि मे पुष्टिं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
ततश्च गोमयेनैवमग्रमग्रमिति ब्रुवन् ।
अग्रमग्रं चरन्तीनामोषधीनां रसं वने ॥
तासामृषभपत्नीनां पवित्रं कायशोधनम् ।
त्वं मे रोगांश्च शोकांश्च नुद गोमय सर्वदा ॥
काण्डात्काण्डादिति द्वाभ्यामङ्गमङ्गमुपस्पृशेत् ।
काण्डाकाण्डात्प्ररोहन्ति परुषःपरुषस्परि ।
एवानो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥
या शतेन प्रतनोषिं सहस्रेण विरोहसि ।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥
कृत्वैवं मार्जनं मन्त्रैरश्वक्रान्तादिभिस्ततः ।
ईहेत देवीरमृतं पारावतस्यरातिषु ॥
येतेशतमिति द्वाभ्यां तीर्थान्यावाहयेत्ततः ।
कुरुक्षेत्रं गयां गङ्गां प्रभासं पुष्कराणि च ॥
ततो महाव्याहृतिभिर्गायत्र्या चापि मन्त्रयेत् ।
आपोहिष्ठेदमापश्च द्रुपदादिव इत्यपि ॥
तथा हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरन्ततः ।
ततोऽर्कमीक्ष्य सोङ्कारं निमज्ज्यान्तर्जले बुधः ॥
प्राणायामांश्च कुर्वीत गायत्रीं चाघमर्षणाम् ।

यथोक्तैः क्षोभितस्तैस्तु मज्जेत्त्रिर्दण्डवत्ततः ॥

प्रक्षाल्य सर्वकायं त्विति । मृदैकयेत्याद्युक्तप्रकारेण । पूर्वं वक्ष्यमाणगोमयसंमार्जनात्पूर्वमित्यर्थः । पारावतस्य रातिषु इत्येकया येतेशतमिति द्वाभ्यां देवीरपोऽमृतम् ईहेत भावयेदित्यर्थः । यथोक्तैः क्षोभितस्तैस्त्विति । यथोक्तैः प्राणायामादिभिः क्षोभितः श्वासनिरोधात् क्षुब्धः ग्लान इति यावत् ।

इति वासिष्ठस्नानविधिः ॥

## अथ क्रियास्नानविधिः ।

तत्र शङ्खः,

क्रियास्नानं तु वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
मृद्भिरद्भिश्च कर्त्तव्यं शौचमादौ यथाविधि ॥
जले निमग्न उन्मज्ज्य उपस्पृश्य यथाविधि ।
तीर्थस्यावाहनं कुर्यात्तत्प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥
प्रपद्ये वरुणं देवमम्भसां पतिमूर्जितम् ।
याचितं देहि मे तीर्थं सर्वपापापनुत्तये ।
तीर्थमावाहयिष्यामि सर्वाघविनिषूदनम् ॥
सांनिध्यमस्मिँस्तोये तु भजतां मदनुग्रहात् ।
रुद्रान्प्रपद्ये वरदान्सर्वानप्सुषदस्त्वहम् ॥
सर्वानप्सुषदश्चैव प्रपद्ये प्रणतः स्थितः ।
देवमप्सुषदं वह्निं प्रपद्येऽघनिषूदनम् ॥
अपः पुण्याः पवित्राश्च प्रपद्ये वरुणं तथा ।
रुद्राश्चाग्निश्च सर्पाश्च वरुणस्त्वाप एवच ॥
शमयन्त्वाशु मे पापं पुनन्तु च सदा मम ।
इत्येवमुक्त्वा कर्त्तव्यं ततः सम्मार्जनं जले ॥
आपोहिष्ठेति तिसृभिर्यथावदनुपूर्वशः ।

हिरण्यवर्णेतिचवै ऋग्भिश्चतसृभिस्तथा ॥
शन्नोदेवीरिति तथा शन्नआपस्तथैवच ।
इदमापः प्रवहता तथामन्त्रमुदीरयेत् ॥
एवं संमार्जनं कृत्वा छन्द आर्षं सदैवतम् ।
अघमर्षणसूक्तस्य संस्मरेत्प्रयतः सदा ॥
छन्द आनुष्टुभं तस्य ऋषिश्चैवाघमर्षणः ।
देवता भाववृत्तश्च पापघ्नस्य प्रकीर्त्तितः ॥
ततोऽम्भसि निमज्जंस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ।
यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ॥
तथा ऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ।
अनेन विधिना स्नात्वा अम्बुमध्ये स्नानवाससा ॥
परिवर्त्तितवासाश्चत्तीर्थतीरउपस्पृशेत ।
उदकस्याप्रदानाद्धि स्नानशाटीं न पीडयेत् ॥
अनेन विधिना स्नातः पुण्यं फलमुपाश्नुते ।

भजतामित्यस्य वरुणमित्यनेन विपरिणतेन प्रथमान्तेनान्वयः। हिरण्यवर्णेति । हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्याद्याश्चतस्रस्तैत्तिरीयमैत्रायणीययोः पठिताः । शन्न आप इति । शन्न आपो धन्वन्या इति कठशाखायाम् । पापघ्नस्याघमर्षणसूक्तस्येत्यन्वयः। इति शङ्खोक्तक्रियास्नानविधिः ।

## अथ बौधायनोक्तस्नानम् ।

**बौधायनः,**

अथ हस्तौ प्रक्षाल्य कमण्डलुं मृत्पिण्डं च संगृह्य तीर्थं गत्वा त्रिः पादौ प्रक्षालयते त्रिरात्मानमथहैके ब्रुवते श्मशानमापो देवगृहं गोष्ठं यत्र च ब्राह्मणा अप्रक्षाल्य तु पादौ नान्तः प्रवेष्टव्यमिति । अथापोऽभिप्रपद्यते,

हिरण्यशृङ्गं वरुणं प्रपद्ये तीर्थं मे देहि याचितः।
यन्मया भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः॥
यन्मे मनसा वाचा कर्म्मणा वा दुष्कृतं कृतं तन्न इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिः सविता च पुनन्तु पुनः पुनरिति।

अथाञ्जलिनाऽपउपहन्ति, सुमित्रिया न आप ओषधयःसन्त्विति। तां दिशं निरुक्षति यस्यामस्य दिशि द्वेष्यो भवति, दुर्म्मित्रियास्तस्मै भूयासुर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति। अथाप उपस्पृश्य त्रिः प्रदक्षिणमुदकमावर्त्तयति यदपां क्रूरं यदमेध्यं यदशान्तं तदपगच्छतादिति। अप्सु निमज्ज्योन्मज्ज्य। नाप्सु सतः प्रयमणं विद्यते न वासः पल्यूलनं नोपस्पर्शनं यद्युपरुद्धाः स्युरेतेनोपतिष्ठते। नमोऽग्नये ऽप्सुमते नम इन्द्राय नमो वरुणाय नमो वारुण्यै नमोऽद्भ्य इति। उत्तीर्याचम्याचान्तः पुनराचामेत्। आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः प्राणा वा आपः पशव आपोऽन्नमापो ऽमृतमापः सम्राडापो विराडापः स्वराडापश्छन्दांस्यापो ज्योतींष्यापो यजूंष्यापः सत्यमापः सर्वा देवता आपो भूर्भुवः सुवराप ॐ।

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहेति।

पवित्रे कृत्वाऽद्भिर्मार्जयत्यापोहिष्ठामयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचय इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्ज्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन त्रीन्प्राणायामान्धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वा प्रक्षालितोपवातान्यक्लिष्टानि वासांसि परिधायाप आचम्येति।

तीर्थं गत्वेति। तीर्थपदेनात्र जलाशयमात्रं विवक्षितम्। आ-

त्मानं देहम्। त्रिः, प्रक्षालयतइत्यनुषङ्गः। अपोऽभिपद्यते हिरण्यशृङ्गमित्यादिभिर्मन्त्रैः। अप उपहन्तीति। उपहन्तिरत्र ग्रहणे वर्त्तते। यस्यां दिशि अस्य स्नानकर्त्तुर्द्वेष्यो भवति तां दिशं निरुक्षति सिञ्चति। प्रयमणम् इतस्ततो गमनं प्रतरणं वा। पल्यूलनं निर्णेजनं मलस्य क्षालनमित्यर्थः। अयं च पल्यूल लवनपवनयोरित्यस्य चौरादिकस्य ल्युटि प्रयोगः। उपस्पर्शनमत्र गात्रमलोद्धर्षणम्। एतत्सर्वमप्सु सतो न विद्यतइत्यन्वयः। यद्युपरुद्धाः स्युः आप इति शेषः। उपरोधोऽत्र प्रयमणादिरेव स यदि प्रमादकृतः स्यात्तदा नमोऽग्नयइत्यादिमन्त्रेणोपस्थानं कुर्यात्। पवित्रे अविच्छिन्नाग्रे द्विदलमात्रे प्रादेशसंमिते ताभ्यामद्भिर्मार्जयते। उपवातानि शुष्काणि। अक्लिष्टानि अजीर्णानि।

इति बौधायनस्नानविधिः।

अथापस्तम्बस्नानविधिः।

आपस्तम्बः,

शनैरपोऽभ्युपेयादभिघ्नन्नभिमुख आदित्यमुदकं स्पृशेदिति सर्वत्रोदकस्पर्शनविधिः।

अभिघ्नन् पाणिना उदकं ताडयन्, जलचरप्राण्यपसारणायेति शेषः। सर्वत्र सरस्सु असरःसु च। एतच्चापस्तम्बस्मृतौ वानप्रस्थस्नानप्रक्रमाद्वानप्रस्थस्यैवेदं स्नानम्।

अथ शाङ्खायनस्नानविधिः।

शाङ्खायनगृह्यम्,

सवस्त्रोऽहरहराप्लुत्याभ्युदकोऽन्यद्वस्त्रमाच्छादयेत्।

सवस्त्र इति द्वितीयवस्त्रप्राप्त्यर्थम्। एकवस्त्रत्वस्य नग्नत्वप्रतिषेधेन प्राप्तत्वादिति ब्रह्मदत्तभाष्यम्। अभ्युदकः शिरोव्यतिरिक्तगात्रेषु अनुद्धृतोदकः।

इति शाङ्खायनस्नानविधिः ।

## अथशौनकोक्तस्नानविधिः ।

अथ स्नानविधिं वक्ष्ये शौनकोऽहं द्विजन्मनाम् ।
समुद्रगां नदीं वापि तडागं सरसीमथ ॥
गत्वा समाचरेत् स्नानं प्रयतात्मा समाहितः ।
प्रसम्राजेबृहत्सूक्तमष्टर्चं वारुणं जपेत् ॥
समुद्रादूर्म्मिरित्यपां सूक्तमेकादशर्चकम् ।
आपोअस्मान्मातर इत्यृचं प्रजपेन्नरः ॥
अवगाह्य निमज्ज्याथ द्विराचम्याभिषेचयेत् ।
अम्बयो इत्यृचोष्टौ च आपोहिष्ठामयो नव ॥
अद्भिः स्नात्वोदके मग्नस्त्रिः पठेदघमर्षणम् ।
यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदकः ॥
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदकम् ।
कुर्याद् द्वादशभिः स्नानं नामभिः केशवादिभिः ॥
अनेन विधिना स्नानं सर्वपापप्रणाशनम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यमारोग्यं पुष्टिवर्द्धनम् ॥
अभिषेचयेत् अभिषिञ्चेत् । स्नात्वा अभिषिच्य ।
इति शौनकोक्तस्नानविधिः ।

## अथ नृसिंहपुराणीयं स्नानम् ।

नृसिंहपुराणे,
माध्याह्निकक्रियां कुर्याच्छुचौ देशे मनोरमाम् ।
विधिं स्नानस्य वक्ष्यामि समासात्पापनाशनम् ॥
स्नात्वा येन विधानेन सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
स्नानार्थं मृदमानीय श्लक्ष्णां कुशतिलैः सह ॥
सुमनाश्च ततो गच्छेन्नदीं शुद्धां मनोरमाम् ।

नद्यां च विद्यमानायां न स्नायादन्यवारिषु ॥
न स्नायादन्यतोयेषु विद्यमाने बहूदके ।
नद्यां स्रवत्सु च स्नायात् प्रतिस्रोतः स्थितो द्विजः ॥
तडागादिषु तोयेषु प्रत्यर्कं स्नानमाचरेत् ।
शुचौ देशे समभ्युक्ष्य स्थापयेत् कुशमृत्तिलान् ॥
मृत्तोयेन स्वकं देहं बहिः प्रक्षाल्य यत्नतः ।
स्नानशाटीं च संशोध्य कुर्यादाचमनं बुधः ॥
शनैर्जलं प्रविश्याथ नमेद्वरुणमप्पतिम् ।
हरिमेव स्मरन् बुद्ध्या निमज्जेच्छरवज्जले ॥
ततस्तीरं समासाद्य अप आचम्य मन्त्रतः ।
प्रोक्षयेद्वरुणं देवं मन्त्रैर्वा पवमानिभिः ॥
कुशाग्रस्थेन तोयेन प्रोक्ष्यात्मानं प्रयत्नतः ।
आलभेन्मृत्तिकां गात्रे इदंविष्णुरिति द्विजः ॥
ततो नारायणं देवं संस्मरन्प्रविशेज्जलम् ।
निमज्ज्यान्तर्जले सम्यक् प्रजपेदघमर्षणम् ॥

प्रत्यर्कम् आदित्याभिमुखो भूत्वा। स्नानशाटीमित्यत्र मृत्तोयेनेत्यनुषङ्गः। बुद्ध्या मनसा। शरवदित्यनेन शिरोनमनं विवक्षितम्। शरपतने प्रथममग्रभागस्यैव पतनात्। मन्त्रत इति सामान्यत उक्तावपि योगियाज्ञवल्क्योक्तोऽत्राचमने मन्त्रो द्रष्टव्यः। तेन द्रुपदाद्यन्यतमं मन्त्रं त्रिरावृत्याचामेत्।

यथा योगियाज्ञवल्क्यः,

आचान्तः पुनराचामेन्मन्त्रवत्स्नानभोजने ।
द्रुपदां वा त्रिरावर्त्य तथा चैवाघमर्षणम् ॥
गायत्रीं वा त्रिरावर्त्य महाव्याहृतिभिस्तथा ।
सोपांशुप्रणवेनाथ आपः पीता अघापहाः ॥

वरुणं देवं, संस्मरन्निति अध्याहारः। क्वचिद्वारुणैर्देवमिति पाठः। तत्र च मन्त्रैर्वेति वाकारः सङ्गच्छते। वारुणैस्त्रिभिः। वारुणाः पावमान्यश्च स्वस्वशाखोक्ताः द्रष्टव्याः। पावमान्यश्च उपास्मैगायतानर इत्यादि शंराजन्नोषधीभ्य इत्यन्तम् ऋक्त्रयमिति श्रीदत्तः। प्रजपेदित्यत्र त्रिर्जपेदिति श्रीदत्तसंमतः पाठः। अघमर्षणम् ऋतंचेत्येतत्सूक्तम्।

इति नृसिंहपुराणोक्तस्नानम्।

अथ विष्णुः,

मृत्तोयेन कृतमलापकर्षोऽप्सु निमज्ज्याप उपस्पृश्यापोहिष्ठेति तिसृभिः हिरण्यवर्णेति चतसृभिरिदमापः प्रवहतेति च तीर्थमभिमन्त्रयेत्। ततोऽप्सु निमग्नस्त्रिरघमर्षणं जपेत्, तद्विष्णोः परमं पदमिति वा द्रुपदां वा गायत्रीं वा युञ्जते मन इत्यनुवाकं वा पुरुषसूक्तं वा।

इदमापः प्रवहत यत्किञ्चेति ऋक्।

पैठीनसिः,

हिरण्यवर्णा इति सूक्तेन स्नात्वा शौचं कृत्वाऽपां मध्ये त्रीन्प्राणायामान् कुर्यात्।

हारीतः,

स्नात्वा न गात्रमवमृज्यात् न शिरो विधुनुयात् न वासो विधुनुयात् नोत्तरीयविपर्यासं कुर्यात्।

विष्णुः,

स्नातः शिरो नावधुनेत् नाङ्गेभ्यस्तोयमुद्धरेत् न तैलवसे स्पृशेत् नाप्रक्षालितं पूर्वधृतं वासो विभृयात् स्नात एव सोष्णीषे धौते वाससी विभृयात् न म्लेच्छान्त्यजपतितैः सह सम्भाषणं कुर्यात्।

तैलं च वसा च तैलवसे। उष्णीषं च केशजलापकर्षणार्थं

शिरोवेष्टनं, तद्धारणं च यावता कालेन जलापकर्षणं भवति तावत्कालमेव। आचमनादौ तन्निषेधात् । अत एव महाभारतेऽपि जलक्षयनिमित्तमेवोष्णीषधारणं युधिष्ठिरेण कृतमित्युक्तम्।

यथा,

आप्लुतः साधिवासेन जलेन च सुगन्धिना।
राजहंसनिभं प्राप्य उष्णीषं शिथिलार्पितम्॥
जलक्षयनिमित्तं वै वेष्टयामास मूर्द्धनि।

शिथिलार्पितम् अगाढबन्धम् । नाङ्गेभ्यस्तोयमुद्धरेदिति। स्नानशाटीपाणिभ्यामिति शेषः।

स्नातो नाङ्गानि निर्मृज्यात् स्नानशाट्या न पाणिना।

इति विष्णुपुराणवचनात्।

पूर्वधृतं परिहितम्।

मार्कण्डेयपुराणे,

अवमृज्यात् न च स्नातो गात्राण्यम्बरपाणिना।

अम्बरं स्नानशाटी। पूर्वलिखितविष्णुपुराणवचनात्।

गोभिलोऽपि,

पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्यतः सर्वगन्धर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः॥
तस्मात्स्नातो न प्रमृज्यात्स्नानशाट्या न पाणिना। इति। एवम्—
तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यावन्त्यङ्गरुहाणि वै।
वसन्ति सर्वतीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥

इति व्यासवचनं, स्नात्वा न गात्रमवमृज्यादित्यादिहारीतादिवचनं च स्नानशाट्यादिना न परिमार्जयेदिति व्याख्येयम्।

योगियाज्ञवल्क्यः,

यो वेदानृषींश्चैव पितॄंश्चैव न तर्पयेत्।

तावन्न पीडयेद्वस्त्रं येन स्नातो, न चोदके ।
निष्पीडयति यः पूर्वं स्नानवस्त्रं तु तर्प्पणात् ॥
निराशाः पितरस्तस्य यान्ति देवा महर्षिभिः ।
येन स्नातो येन वस्त्रेण स्नातः । नचोदके, वस्त्रं पीडयेदित्यनुषङ्गः ।

**पराशरोऽपि,**

ब्राह्मणं स्नातुमायान्तमनुगच्छन्ति देवताः ।
पितरश्च महाभागा वायुभूता जलार्थिनः ॥
स्नात्वा निरस्य वासोऽन्यज्जङ्घं प्रक्षाल्य चाम्भसि ।
अपवित्रीकृते ते तु कौपीनश्च्योतवारिणा ॥
निराशाः पितरो यान्ति वस्त्रनिष्पीडने कृते ।
तस्मान्निष्पीडयेद्वस्त्रं नाकृत्वा पितृतर्पणम् ॥
जलमध्ये तु यः कश्चिद् द्विजातिर्ज्ञानदुर्बलः ।
निष्पीडयति तद्वस्त्रं स्नानं तस्य वृथा भवेत् ॥
कौपीनश्च्योतवारिणेति । कौपीनं जघनप्रदेशस्ततश्च्युतेन जलेनेति कल्पतरुः । स्नानविध्यनन्तरम्--

**शङ्खोपि,**

उदकस्याप्रदानाद्धि स्नानशाटीं न पीडयेत् । इति ।

## अथ वस्त्रपरिधानविधिः ।

**मत्स्यपुराणे,**

एवं स्नात्वा ततः पश्चादाचम्य च विधानतः ।
उत्थाय वाससी शुक्ले शुद्धे तु परिधाय वै ॥ इति ।
परिधायाग्रेतनं कर्म कुर्यादित्यर्थः। वाससी इति । अधस्तनमुत्तरीयं चेत्यर्थः । विकच्छोऽनुत्तरीयश्चेत्यादिना वक्ष्यमाणभृगुवाक्येनोत्तरीयधारणस्यावश्यकत्वात् । उत्तरीयधारणं च यज्ञो-

पवीतवत् ।

यथा यज्ञोपवीतं तु धार्यते च द्विजोत्तमैः ।

तथा सन्धार्यते यत्नादुत्तराच्छादनं शुभम् ॥

इति वाक्यात् । यथा द्विजोत्तमैः सव्यापसव्यत्वादिना उपवीतं धार्यते तथा उत्तराच्छादनं सर्वैरेव धार्यमित्यर्थः ।

**योगियाज्ञवल्क्यः**,

अभावे धौतवस्त्रस्य शाणक्षौमाविकानि च ।

कुतपं योगपट्टं वा द्विवासा येन वै भवेत् ॥

कुतपं नेपालकम्बलः । उत्तरीयासम्भवे परिहितवस्त्रभागेनोत्तरीयं कार्यमित्युक्तम्—

**पारस्करेण**, एकं चेद्वासो भवति तस्यैवोत्तरवर्गेण प्रच्छादयीतेति ।

ते च वस्त्रे शुष्के धार्ये ।

नार्द्रमेकं च वसनं परिदध्यात्कथञ्चन ।

इति जाबालिवचनात् । शुष्कासम्भवे तु शातातपेनोक्तं, सप्तवाताहतं शुष्कवत् भवतीति ।

**नृसिंहपुराणे**,

न रक्तमुल्वणं वासो न नीलं तु प्रशस्यते ।

मलाक्तं च दशाहीनं वर्जयेदम्बरं बुधः ॥

उल्वणमितिरक्तविशेषणं, तेनात्यन्तं रक्तमित्यर्थः ।

**व्यासः**,

नोत्तरीयमधः कुर्यान्नोपर्यधस्त्यमम्बरम् ।

नान्तर्वासो विना जातु निवसेद्वसनं बुधः ॥

नान्तर्वास इति । कौपीने जलसंसर्गपरिहाराय पूर्वं वासः परिधाय तत्परित्यज्य वासोऽन्तरं परिदध्यादित्यर्थः ।

विष्णुधर्मोत्तरे,

वस्त्रं नान्यधृतं धार्यं न रक्तं मलिनं तथा ।
जीर्णं लूनदशं चैव श्वेतं धार्यं च यत्नतः ॥
उपानहं नान्यधृतं ब्रह्मसूत्रं च धारयेत् ।

महाभारते,

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः ।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः ॥

मनुः,

न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ।

देवलः,

स्वयं धौतेन कर्त्तव्या क्रिया धर्म्या विपश्चिता ।
न तु नेजकधौतेन नाहतेन न कुत्रचित् ॥

नाहतेनेति समस्तं पदम् । अहतभिन्नेन क्रिया न कार्येत्यर्थः ।

अहतलक्षणं तु शातातपेनोक्तम्,

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।
अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम् ॥ इति ।

ईषद्धौतं क्षारादिरहितजलप्रक्षालितम्। यन्न धारितमित्यन्येन पुरुषेण न धारितमित्यर्थः ।

क्वचित्–

अप्रहस्तं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।
अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्म्मसु पावनम् ॥

इति अहतलक्षणमुक्तम् । क्वचिद् नाहतेन च कुत्रचिदिति पाठः । तत्राहतं यन्त्रनिर्मुक्तमित्युच्यते । अहतेन यन्त्रनिर्मुक्तेन क्रिया न कार्येत्यर्थः ।

तथाच सत्यतपाः,

अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमुक्तं वासः स्वयम्भुवा ।
शस्तं तन्माङ्गलिक्येषु तावत्कालं न सर्वदा ॥ इति ।
यन्त्रनिर्मुक्तमिति अचिरयन्त्रनिर्मुक्तमित्यर्थः ।
भारते,
ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रेणाधौतमेवच ।
अधौतवस्त्रसंस्पृष्टं पुनः प्रक्षालितं शुचि ॥
धौतवस्त्रासंम्भवे तु उशना,
स्नात्वाऽनुपहतं वस्त्रं परिदध्याद्यथाविधि ।
अभावे पूर्ववस्त्रं वा संप्रोक्ष्य प्रणवेन तु ॥ इति ।
गोभिलः,
एकवस्त्रो न भुञ्जीत न कुर्याद्देवतार्चनम् ।
नचार्चयेद्द्विजान् नान्यत् कुर्याद्देवंविधो नरः ॥
एकवस्त्रलक्षणं च तत्रैवोक्तम्,
सव्यादंसात्परिभ्रष्टकटिदेशधृताम्बरः ।
एकवस्त्रं तु तं विद्याद्दैवे पित्र्ये च वर्जयेत् ॥
कच्छादिरहितेनापि कर्म न कार्यमित्युक्तम्—
भृगुणा,
विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एवच ।
श्रौतं स्मार्त्तं तथा कर्म न नग्नश्चिन्तयेदपि ॥
नग्नलक्षणं च तेनैवोक्तं,
नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नश्चार्द्धपटः स्मृतः ।
नग्नस्तु दग्धवस्त्रः स्यान्नग्नः स्यूतपटस्तथा ॥ इति ।
स्मृत्यन्तरे,
एककच्छो द्विकच्छश्च मुक्तकच्छस्तथैवच ।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पञ्चविधः स्मृतः ॥ इति ।

कच्छः कक्षा। तेन नाभौ पृष्ठे पार्श्वे चेति कक्षात्रयमावश्यकम्।
तथा,
परिधानाद्बहिः कक्षा निबद्धा ह्यासुरी भवेत्।
नव्यवस्त्रपरिधाने पारस्करेण मन्त्रो दर्शितः,
परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये॥ इति।
उत्तरीये तु,
यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च माऽविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥ इति।
मार्कण्डेयपुराणे,
अन्यदेव भवेद्वासः शयनीये नराधिप।
अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेवहि॥
अन्यच्च लोकयात्रायामन्यदीश्वरदर्शने। इति।
वासःपरिधानोत्तरं चोरुप्रक्षालनं कर्त्तव्यम्।
तथाच योगियाज्ञवल्क्यः,
स्नात्वैवं वाससी धौते अच्छिन्ने परिधाय च।
प्रक्षाल्योरू मृदाऽङ्घ्री च हस्तौ प्रक्षालयेत्ततः॥ इति।
आर्द्रवस्त्रविवर्जने विशेषः स्मृत्यन्तरे उक्तः,
स्नानं कृत्वाऽऽर्द्रवस्त्रं तदूर्ध्वमुत्तारयेत् द्विजः।
आर्द्रवस्त्रमधस्ताच्चेत्पुनः स्नानेन शुध्यति॥ इति।
आहापस्तम्बः,
नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गे निधारयेत्।
तन्तुसंहतिसंख्याभिर्नरके च वसेद् ध्रुवम्॥
स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
वृथा तस्य महायज्ञा नीलीवासो बिभर्त्ति यः॥ इति।

अस्यापवादः स्मृत्यन्तरे,
ऊर्णायां पट्टवस्त्रे वा नीलीरागो न दुष्यति । इति ।
स्त्रीणां भोगे न नीलीदोष इत्याह नीलीं प्रकृत्य—
भृगुः,
स्त्रीणां क्रीडार्थसम्भोगे शयनीये न दुष्यति । इति ।
भारते,
आविकं तु सदा वस्त्रं पवित्रं राजसत्तम ।
पितृदेवमनुष्याणां क्रियायां च प्रशस्यते ॥
धौताधौतं तथा दग्धं सन्धितं रजकाहृतम् ।
रक्तमूत्रशकृल्लिप्तं तथापि परमं शुचि ॥
रेतःस्पृष्टं रजःस्पृष्टं स्पृष्टं मूत्रपुरीषयोः ।
रजस्वलाभिसंस्पृष्टमाविकं सर्वदा शुचि ॥ इति ।
स्मृत्यन्तरे,
दग्धं जीर्णं च मलिनं मूषकोपहतं तथा ।
खादितं गोमहिष्याद्यैस्तत्त्याज्यं सर्वदा द्विजैः ॥ इति ।
प्रक्षालितवस्त्रशुष्कीकरणे दिङ्नियममाह—
शातातपः,
प्रागग्रमुदगग्रं वा धौतं वस्त्रं प्रसारयेत् ।
पश्चिमाग्रं दक्षिणाग्रं पुनः प्रक्षालनात् शुचि ॥

## अथ तिलकविधिः ।

ब्रह्माण्डपुराणे तिलकं प्रकृत्य परमेश्वरवचनम्,
पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः ।
सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते ॥
मृद एतास्तु सम्पाद्या वर्जयेत्त्वन्यमृत्तिकाः ।
पर्वताग्रादिषु तुलसीमूलमाश्रिते देशे च या मृदस्तास्तिल-

ककरणार्थं संपाद्याः । अन्यमृत्तिका वर्जयितव्याः ।

**तथा,**

श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं भवेत् ।
श्रीकरं पीतमित्याहुः वैष्णवं श्वेतमुच्यते ॥
अङ्गुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो मध्यमाऽऽयुष्करी भवेत् ।
अनामिकाऽन्नदा नित्यं मुक्तिदा च प्रदेशिनी ॥
एतैरङ्गुलिभेदैस्तु कारयेन्न नखं स्पृशेत् ।
वर्त्तिदीपाकृतिं वापि वेणुपत्राकृतिं तथा ॥
पद्मस्य मुकुलाकारं तथैव कुमुदस्य वा ।
मत्स्यकूर्माकृतिं वापि शङ्खाकारमतः परम् ॥
दशाङ्गुलप्रमाणं तु उत्तमोत्तममुच्यते ।
नवाङ्गुलं मध्यमं स्यादष्टाङ्गुलमतः परम् ॥
सप्तषट्पञ्चभिः पुण्ड्रं मध्यमं त्रिविधं स्मृतम् ।
चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलैः पुण्ड्रं कनिष्ठं त्रिविधं स्मृतम् ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिविधं, उत्तममध्यकनिष्ठभेदात् । तत्रोत्तममपि त्रिविधम्, उत्तमोत्तमं दशाङ्गुलं मध्यमोत्तमं नवाङ्गुलं कनिष्ठोत्तममष्टाङ्गुलम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तत्र स्थानभेदेनाकृतिविशेषानाह—

**तत्रैव,**

ललाटे बाहुवच्चैव दण्डवत्कर्णपल्लवे ।
हृदये कमलाकारम् उदरे दीपवल्लिखेत् ॥
वेणुपत्रसमाकारं बाह्वोर्मध्ये लिखेत्सुधीः ।
अधःपृष्ठे स्कन्धदेशे लिखेज्जम्बूपलाशवत् ॥ इति ।

तिलकधारणे मन्त्रानाह—

ललाटे केशवं विद्यान्नारायणमथोदरे ।

माधवं हृदि विन्यस्य गोविन्दं कण्ठकूपके ॥
उदरे दक्षिणे पार्श्वे विष्णुरित्यभिधीयते ।
तत्पार्श्वे बाहुमध्ये तु मधुसूदनमनुस्मरेत् ॥
त्रिविक्रमं कण्ठदेशे वामे कुक्षौ तु वामनम् ।
श्रीधरं बाहुके वामे हृषीकेशं तु कर्णके ॥
पृष्ठे तु पद्मनाभं तु ककुद्दामोदरं स्मरेत् ।
द्वादशैतानि नामानि वासुदेवेति मूर्द्धनि ॥
पूजाकाले च होमे च सायङ्काले विशेषतः ।
नामान्युच्चार्य विधिना धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥
सङ्कर्षणादिभिः कृष्णे शुक्ले चेत्केशवादिभिः । इति ।

ललाटे केशवं विद्यादिति । केशवनाम संकीर्त्य ललाटे तिलकः कर्त्तव्य इति । एवमुत्तरत्रापि । ककुद् ककुदि । द्वादशैतानि नामानि द्वादशतिलकधारणमन्त्रभूतानि । मूर्द्धनि तु वासुदेवेति नाममन्त्रमुच्चार्य तिलकः कर्त्तव्यः । कृष्णपक्षे तु संकर्षणादिनामभिः द्वादश तिलकाः मूर्ध्नि नारायणनाम्नेति विशेषः । तानि नामान्याचमनप्रकरणे लिखितानि तत्रैव द्रष्टव्यानीति । पूजाकाले चेति श्रौतस्मार्त्तकर्म्मकालमात्रोपलक्षणम् ।

तथाच ब्रह्मपुराणे,

यागो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्प्पणम् ।
भस्मीभवति तत्सर्वमूर्द्धपुण्ड्रं विना कृतम् ॥ इति ।

एवं च,

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्यात्त्रिपुण्ड्रं भस्मना सदा ।
तिलकं वै द्विजः कुर्याच्चन्दनेन यदृच्छया ॥ इति—

त्रिपुण्ड्रादिकं नोर्ध्वपुण्ड्रस्य बाधकं किं तु तेन समुच्चीयते फलविशेषकामनया ।

तथाच ब्रह्माण्डपुराणे,
स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्य्याद् हुत्वा चैव तु भस्मना ।
देवानभ्यर्च्य गन्धेन सर्व्वदोषापनुत्तये ॥ इति ।
सर्व्वकामार्थस्योर्द्ध्वपुण्ड्रस्य प्रशंसावचनानि—
ब्रह्माण्डपुराणे,
अशुचिर्वाऽप्यनाचारो मनसा पापमाचरन् ।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्त्यो म्रियते यत्रकुत्रचित् ।
श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते ॥
सत्यव्रतोऽपि,
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रो मृदा शुभ्रो ललाटे यस्य दृश्यते ।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥
जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्त्ति यः ।
बिभर्त्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम् ॥ इति ।
अनेनोर्द्ध्वपुण्ड्रस्य पुरुषार्थत्वमपि वदन्ति संयोगपृथक्त्वन्यायेन ।
यत्तु,
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्य्यात् क्षत्रियस्तु त्रिपुण्ड्रकम् ।
अर्द्धचन्द्रं तु वैश्यस्य वर्त्तुलं शूद्रजातिषु ॥

इति ब्रह्माण्डपुराणवचनम्, तत् क्षत्रियत्वादिनिमित्ते त्रिपुण्ड्रादीनां नैमित्तिककर्माङ्गत्वबोधकम् । तैस्तु नैमित्तिकैस्त्रिपुण्ड्रादिभिर्नित्यस्योर्द्ध्वपुण्ड्रस्य बाध एव, यथा पाञ्चदश्यस्य साम्नदश्येन ।

यत्तु तिलकद्रव्यविधायकं वचनम्,
मृत्तिका चन्दनं चैव भस्म तोयं चतुर्थकम् ।
एभिर्द्रव्यैर्यथाकालमूर्द्ध्वपुण्ड्रं भवेत्सदा ॥ इति,

तत् स्नात्वा पुण्ड्रमित्यनेन समानार्थकम् । उर्द्ध्वपुण्ड्रशब्द-स्त्रिपुण्ड्रस्याप्युपलक्षणार्थः । तयोरूर्द्ध्वपुण्ड्रस्य तु कालान्तराम्नानात्सामर्थ्याद्वस्त्रपरिधानात्प्राक् आर्द्रवाससा जलमध्ये यदा कर्म क्रियते तदा तस्य कर्त्तव्यता ज्ञायते । तत्र च तस्यैवाङ्गत्वान्मृदादि-पुण्ड्रस्य व्यावृत्तिः ।

स्वहस्तलिखितं स्तोत्रं स्वयं घृष्टं च चन्दनम् ।
स्वयं च ग्रथिता माला शक्रस्यापि श्रियं हरेत् ॥

इति निषेधः, स स्वयं घृष्टस्यापि परमेश्वरनिर्माल्यचन्दनस्य धारणे न प्रवर्त्तते । तस्य विहितत्वात् । विहिते निषेधाप्रवृत्तेः । या तु उर्द्ध्वपुण्ड्रविधिसन्निधौ तिर्यक्पुण्ड्रनिन्दा सोर्द्ध्वपुण्ड्रस्तुत्यर्था । उभयधारणस्य विहितत्वात् । उदितहोमसन्निधौ अनुदितहोमनिन्दावत् ।

त्रिपुण्ड्रं भस्मना तिर्यगूर्द्ध्वपुण्ड्रं मृदा न्यसेत् ।
उभयं चन्दनेनैव वर्तुलं न कदा चन ॥

इतिवचनात्त्रिपुण्ड्रं तिर्यगेवेति निर्णीयते ।

न कदाचिन्मृदा तिर्यङ् न्यसेदूर्द्ध्वं न भस्मना ।
उल्कादिभस्म पाषाणरजो धार्यं च न क्वचित् ॥

इति वचनाद्भस्म गार्हपत्यादेरेव । इति तिलकविधिः ।

## अथ सन्ध्यातदुपासनपदार्थनिर्णयः ।

तत्र छन्दोगश्रुतिः,

ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात्प्रातस्तिष्ठन् का च सन्ध्याः कश्च सन्ध्यायाः कालः किञ्च सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वं देवाश्च वाअसुराश्चास्पर्द्धन्त तेऽसुरादित्यमभिद्रवन् स आदित्यो ऽबिभेत्तस्य हृदयं कूर्मरूपेणातिष्ठत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्य प्रजापतिरेतद्भेषजमपश्यत् ऋतं सत्यं च ब्रह्म चोंकारं च त्रिपदां गायत्रीम् ब्रह्मणो मुखमपश्यत्तस्माद् ब्राह्म-

णोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनात्सोऽस्य कालः सा सन्ध्या तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वं य-स्मायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते तथा त्रिवस्वान् जयसलं यदपः प्रयुङ्क्ते ता विप्रुषो वज्रीभवन्ति ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा असुरान-पाघ्नन्तीति ब्रह्मणो मुखमिति ।

तथाच मनुः,

ॐकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव गायत्री ज्ञेयं च ब्रह्मणो मुखम् ॥ इति ।

अत्र तावन्मन्त्रसाध्यः कर्मकलापः सन्ध्याशब्दार्थ इति प्रती-यते । सन्ध्याशब्दप्रतिपाद्यं कालमाह—

दक्षः,

अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः ।
सा तु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति ।

योगियाज्ञवल्क्यस्तु,

कालातिरिक्तां सन्ध्याशब्दप्रतिपाद्यां देवीमाह । यथा,

सन्धौ सन्ध्यामुपासीत नास्तगे नोद्गते रवौ ।

सन्धाविति वक्ष्यमाणमध्याह्नसन्ध्याकालस्याप्युपलक्षणम् । त-स्याः प्रातःकालादिभेदेन नामवर्णभेदानाह—

स एव,

पूर्वा सन्ध्या तु गायत्री सावित्री मध्यमा स्मृता ।
या भवेत्पश्चिमा सन्ध्या सा विज्ञेया सरस्वती ॥
श्वेता भवति सावित्री गायत्री रक्तवर्णिका ।
कृष्णा सरस्वती ज्ञेया सन्ध्यात्रयमुदाहृतम् ॥

स्मृतिचन्द्रिकायां स्मृत्यन्तरं स्वरूपमप्याह,

गायत्री ब्रह्मरूपा तु सावित्री रुद्ररूपिणी ।

सरस्वती विष्णुरूपा उपास्या रूपभेदतः ॥

कर्मविशेषमपि सन्ध्याशब्दार्थमाह–

योगियाज्ञवल्क्यः,

सन्ध्यात्रयं तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा । इति ।

एतत्सन्ध्यात्रयं प्रोक्तमिति कात्यायनोऽपि ।

अत्र सन्ध्यापदेन प्राणायामादिः कर्मकलाप उच्यते । तम-भिधायैतत्सन्ध्यात्रयं प्रोक्तमित्यभिधानात् । सन्ध्यामुपासते ये त्वि त्यादौ सन्ध्याशब्दस्य कर्मकलापपरत्वे अनुष्ठानमुपासनशब्दार्थः। देवीपरत्वे तु प्रागुक्तरूपेण तस्या ध्यानमेवोपासनशब्दार्थः ।

न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह ।

साऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् ॥

इतिव्यासवचनात्तथैव प्रतीतेरिति केचित् । वस्तुतस्तु ध्या-नपूर्वको गायत्रीजप एवोपासनपदार्थः ।

यथा कूर्मपुराणे,

प्राक्कूलेषु ततः स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः ।

प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यायेत् सन्ध्यामिति श्रुतिः ॥

या सन्ध्या सा जगत्सूतिर्मायातीता हि निष्कला ।

ईश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमुद्भवा ॥

ध्यात्वाऽर्कमण्डलगतां सावित्रीं वै जपेद्बुधः । इति ।

प्राक्कूलेषु प्रागग्रेषु । अत्र ध्यात्वाऽर्कमण्डलगतामित्यनेन ध्यानस्याङ्गत्वप्रतिपादनाद्गायत्रीजप एव प्रधानम् । शङ्खेनापि देवतां ध्यायन् जपं कुर्यादित्यनेन ध्यानस्य जपाङ्गत्वमभिहितम् । एवं च न भिन्नां प्रतिपद्येतेत्यादिव्यासवाक्येऽप्यङ्गभूतध्यानस्यै-वोपासनत्वेनाभिधानम् । एवम्—

उपास्य पश्चिमां संध्यां सादित्यां वै यथाविधि ।

गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदृक्षाणि पश्यति ॥

इतिनृसिंहपुराणवाक्येऽपि ध्यानरूपोपासनस्यैवाङ्गत्वप्रतीतिः। गायत्रीजपस्योपासनशब्दार्थत्वम् आश्वलायनसूत्रात्स्पष्टम्। नित्योदकः सन्ध्यामुपासीतेत्युपक्रम्य गायत्रीजपस्यैव तेनाभिधानात्। एतस्मादेव च सूत्राद्गायत्रीजपस्य प्राधान्यं प्रतीयते। बृहन्नारदीयवाक्यादपि गायत्रीप्राधान्यं प्रतीयते।

यथा,

ततः सन्ध्यामुपासीत गायत्र्याऽर्घ्यं रवेः क्षिपेत्।
गायत्रीं च जपेत्प्रातस्तिष्ठन्नासूर्यदर्शनात् ॥
तथैव सायमासीनो जपेदाऋक्षदर्शनात्।
उपास्य सन्ध्यां मध्याह्ने क्षिपेदर्घ्यं च मन्त्रवत् ॥
गायत्रीं च जपेत्सम्यक् तिष्ठन्नासीन एव च। इति।

यत्तु,

तथैव ते महाराज दंशिता रणमूर्धनि।
सन्ध्यागतसहस्रांशुमादित्यमुपतस्थिरे ॥

इति महाभारतवचनं, तदपि गायत्र्याः सूर्यप्रकाशकत्वाद् गायत्रीजपएव सन्ध्यापदं प्रयुक्तम्। एवं सति प्राणायामादीनाम् अङ्गानां फलश्रवणम् अर्थवादपरतया नेयम्। अङ्गे फलश्रवणमर्थवाद इति न्यायात्। अत एव—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्।

इति मनुनाऽपि गायत्रीजपएव सन्ध्यापदं प्रयुक्तम्। प्राणायामादीनां प्रतिनियतस्वरूपत्वेन दैर्घ्यासम्भवेन गायत्रीजपस्यैव सहस्रादिसंख्यया दैर्घ्यसम्भवात्।

### अथ सन्ध्योपासनप्रशंसा।

तत्र योगियाज्ञवल्क्यः,

अतः परं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासननिर्णयम् ।
अहोरात्रकृतैः पापैर्यामुपास्य प्रमुच्यते ॥
सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या नैवाप्युपासिता ।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चोपजायते ॥
तथा,
अनार्त्तश्चोत्सृजेद्यस्तु स विप्रः शूद्रसंमितः ।
प्रायश्चित्ती भवेच्चैव लोके भवति निन्दितः ॥
तथा,
नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
सर्वावस्थोऽपि यो विप्रः सन्ध्योपासनतत्परः ।
ब्राह्मण्याच्च न हीयेत अन्यजन्मगतोऽपि सन् ॥
सर्वावस्थः निन्दितसेवादिकर्मरतः, सम्यक् शौचाद्यसमर्थोऽपीत्यर्थः ।
तथा,
यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातयः ।
तेषां हि पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयम्भुवा ॥
तथा,
त्रिंशत्कोट्यस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसा
प्राद्रवन्ति सहस्रांशुमुद्यन्तं दिनेदिने ॥
अहन्यहनि ते सर्वे सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ।
अथ सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत्सुदारुणम् ॥
ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।
सन्ध्येति तमुपासीना यत् क्षिपन्ति महज्जलम् ॥
ॐकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।

तेन दह्यन्ति ते दैत्या वज्रीभूतेन वारिणा ॥
एतद्विदित्वा यो विप्र उपास्ते संशितव्रतः।
दीर्घमायुः स विन्देत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

विकर्मस्थाः विहितातिक्रमनिषिद्धकर्मकर्तारः। सन्ध्येति। सन्ध्यात्मकत्वेनेत्यर्थः। तं सूर्य्यम्। ओँकारब्रह्मसंयुक्तम् ओँकाररूपेण ब्रह्मणा संयुक्तम्।

**मनुः,**

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥

मलं पापम्।

**शातातपः,**

अनृतं मद्यगन्धं च दिवामैथुनमेवच।
पुनाति वृषलस्यान्नं बहिः सन्ध्या ह्युपासिता ॥

वृषलोऽत्र अधार्मिकः।

**तदुक्तं महाभारते,**

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते त्वलम्।
वृषलं तं विदुर्देवा इति।

**यमः,**

यदह्ना कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्राणायामैश्च हन्ति तत् ॥
यद्रात्र्या कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
पूर्वां सन्ध्यामुपासीनः प्राणायामैर्व्यपोहति ॥
सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥

संशितव्रताः निश्चितव्रता दृढव्रता इति यावत्।

एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम् ।

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनात् ।

**बौधायनः,**

यदुपस्थकृतं पापं पद्भ्यां वै यत् कृतं भवेत् ।
बाहुभ्यां मनसा चैव वाचा वाथ कृतं भवेत् ॥
सायं सन्ध्यामुपस्थाय तेन तस्मात्प्रमुच्यते ॥

**व्यासः द्वितीये योगियाज्ञवल्क्यः,**

यस्तु तां केवलां सन्ध्यामुपासीत स पुण्यभाक् ।
तां परित्यज्य कर्म्माणि कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषम् ॥
ब्रह्मणोपासिता सन्ध्या विष्णुना शङ्करेण च ।
कस्तां नोपासयेद्देवीं सिद्धिकामो द्विजोत्तमः ॥

**छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः,**

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनकं विधिम् ।
अनर्हः कर्म्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः ॥

**दक्षः,**

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत्कुरुते कर्म्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥

इदं च सन्ध्योत्तरविहितकर्माभिप्रायेण ।

अन्यथा तत्पूर्वविहितस्नानादिष्वप्यनधिकारप्रसङ्गात् । अथवा चिरतरसन्ध्यात्यागिनो द्विजातिकर्मानधिकारार्थमिदम् ।

**तदुक्तं मनुना,**

नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

द्विजकर्मणोऽध्ययनजपादेः ।

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः,

एतत्सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यदधिष्ठितम् ।
यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते ॥

आदर अनुष्ठानम् ।

सन्ध्यालोपस्य चाकर्त्ता स्नानशीलश्च यः सदा ।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः ॥

विष्णुपुराणे,

सर्वकालमुपस्थानं सन्ध्ययोः पार्थिवेष्यते ।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः ॥

विभ्रमः चित्तविक्षेपः । मेघादिना सन्ध्याकालाज्ञानमित्येके । न्ध्ययोरिति द्विवचनं तृतीयसन्ध्याया उपलक्षणार्थम् । एतत्स-ध्यात्रयं प्रोक्तमित्यादिकात्यायनवचनात् ।

सन्ध्यात्रयं तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा ।

इति योगियाज्ञवल्क्यवचनाच्च । आत्मविदा शरीरेन्द्रिया-तिरिक्तं नित्याकरणे परलोके दुःखभागिनमात्मानं विजानता । न तदकरणे प्रत्यवाय इति सूचितम् । अत्र सन्ध्यात्रयं तु क-र्त्तव्यमित्युत्पत्तिवाक्ये सङ्ख्याश्रवणात्तिस्र आहुतीर्जुहोतीति-त्त्रीणि कर्माणि । तेषां च पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेदित्यादिमनु-ाक्ये प्रत्येकं फलसम्बन्धश्रवणात् एकाकरणेऽप्यपरं कर्त्तव्य-व । दर्शपूर्णमासवाक्ये तु आग्नेयादीनां यागानां समुच्चिता-ामेव फलसम्बन्धश्रवणात्पौर्णमासाकरणे दर्शस्याननुष्ठाने न्या-तः प्राप्ते वचनात्प्रायश्चित्तपूर्वकं दर्शमनुतिष्ठन्ति । न च पूर्वां न्ध्यामित्यादिपूर्वोदाहृतमनुवाक्ये प्रातःसायंसन्ध्ययोः प्रत्येकं लश्रवणेन एकाकरणे अपरानुष्ठाने सिद्धेऽपि मध्याह्नसन्ध्यायाः

केवलाया अनुष्ठाने किं प्रमाणमिति वाच्यम् ।

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं व्यपोहति ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनेनोदाहृतमनुवचनैकवाक्यतया सन्ध्यात्रयस्य प्रत्येकमेव फलसम्बन्धाभिधानात् । अत एव कात्यायनेनापि स्नानानन्तरमुत्तीर्य धौते वाससी परिधाय मृदोरू करौ प्रक्षाल्याचम्य त्रिरायम्यासूनित्यादिना केवलमध्याह्नसन्ध्यैवोक्ता।

## अथ सन्ध्यादेशादि ।

**तत्र शङ्खलिखितौ,** सव्रती बहिः सन्ध्यामुपासीतेति ।

सव्रती सह व्रतेन यद्वर्त्ततेऽध्ययनादि तत्सव्रतं तद्वान् ब्रह्मचारी । बहिः, ग्रामात् ।

**मनुरपि,**

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ।

एनं ब्रह्मचारिणम् । अभिनिम्लोचेत् अस्तं गच्छेत् । ब्रह्मचारिणा ग्रामाद् बहिः सूर्योदयास्तसमयौ सन्ध्यार्थं सम्पाद्याविति तात्पर्यार्थः ।

**शातातपः,**

गृहेषु प्राकृती सन्ध्या गोष्ठे शतगुणा स्मृता ।
नदीषु शतसाहस्रा अनन्ता शिवसन्निधौ ॥

प्राकृती यथोक्तफला ।

**व्यासः,**

बहिः सन्ध्या दशगुणा गोष्ठप्रस्रवणादिषु ।
ख्याता तीर्थे शतगुणा साहस्री जाह्नवीजले ॥

जाह्नवीजले जाह्नवीजलसमीपे । जलमध्ये गायत्रीजपनिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सन्ध्यापदमत्र गायत्रीजपातिरिक्तकर्म-

कलापपरमित्यन्ये । सन्ध्याकालपरिमाणमाह—

योगियाज्ञवल्क्यः,

ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम् ।

सन्ध्या मुहूर्त्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ समा स्मृता ॥

मुहूर्त्तमात्रं नाडीद्वयमात्रम् । तथा,

सन्धौ सन्ध्यामुपासीत नास्तगे नोद्गते रवौ ।

सन्धाविति वक्ष्यमाणमध्याह्नसन्ध्याकालस्याप्युपलक्षणम् । सन्ध्यात्रयं तु कर्त्तव्यमित्यनेन मध्याह्नसन्ध्याया अपि योगियाज्ञवल्क्याभिमतत्वात् । अत्र सन्ध्योपासनायाः सन्धावेव विधानात्तत्पूर्वोत्तरकालयोस्तदसक्तेर्नास्तगइति सायंसन्ध्यायाः सूर्यबिम्बस्यार्द्धास्तमनात्परत आरम्भनिषेधार्थं, नोद्गते इति प्रातः सन्ध्याया उदयोत्तरं समाप्तिनिषेधार्थम् ।

तथाच दक्षः,

रात्र्यन्तयामनाड्यौ द्वे सन्ध्यादिः काल उच्यते ।

दर्शनाद्रविरेखायास्तदन्तो मुनिभिः स्मृतः ॥ इति ।

नाडी घटिका । नाड्यौ द्वे इत्यनेन नाडीद्वयं प्रारम्भकालो विवक्षितः । तस्यैव सन्ध्यादित्वसम्भवात् ।

संवर्त्तोऽपि,

प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि ।

सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्द्धास्तमितभास्कराम् ॥

सनक्षत्रामित्यनेन दक्षैकवाक्यतया रात्र्यन्तघटिकाद्वयादारभ्य सूर्यबिम्बरेखादर्शनपर्यन्तं प्रातः सन्ध्यामुपासीतेत्यर्थः । सादित्यामित्यनेनोपक्रमकालो दर्शितः । अर्द्धास्तमितभास्करामित्यनेन भास्करस्यार्द्धास्तमनसमयः समाप्तिकालो दर्शितः । स च प्रत्यगातारकोदयादिति याज्ञवल्क्यैकवाक्यत्वान्नक्षत्रोदयकालोप-

लक्षकः। यद्वा पदद्वयेन सूर्यास्तमनाव्यवहितपूर्ववर्त्तिपूर्णसूर्यबिम्बावस्थानकालमारभ्यार्द्धास्तमनकालपर्यन्तः सायंसन्ध्यायाः प्रारम्भकाल उक्तः। अत एवोपक्रमकालमाहेत्युक्त्वा निबन्धृभिः श्लोकोऽयमवतारितः।

एवञ्च,

अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः।
सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इतिदक्षवचने सूर्यपदं नक्षत्रपदञ्चात्यन्ततेजस्विसूर्यनक्षत्रपरम्।

याज्ञवल्क्यः,

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात्।
सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदाऽऽदित्यदर्शनात्॥

प्रत्यक् पश्चिमाभिमुखः। आसीतेति सायं जपे आसीनत्वार्थम्। प्राक् पूर्वाभिमुखः। तिष्ठेदिति प्रातर्जपे ऊर्द्ध्वत्वार्थम्। मध्याह्नसन्ध्याजपेऽप्यूर्द्ध्वता।

तिष्ठेदोदयनात्पूर्वां मध्यमामपि शक्तितः।
आसीतोड्डुगमाच्चान्त्यां सन्ध्यां पूर्वत्रिकं जपन्॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनात्। पूर्वत्रिकम् ओंकारमहाव्याहृतिगायत्रीरूपम्।

गौणकालमाह वृद्धमनुः,

न प्रातर्न प्रदोषश्च सन्ध्याकालोऽतिपद्यते।
मुख्यकालोऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्मृतः॥

आसङ्गवं प्रातःसन्ध्याया गौणः काल, आप्रदोषावसानं सायंसन्ध्याया गौणः काल इति माधवः।

बौधायनः, सुपूर्वामपि पूर्वामुपक्रम्योदिते आदित्ये समाप्नुयात् अनस्तमितउपक्रम्य सुपश्चादपि पश्चिमां सन्ध्याम्।

सुपूर्वां सुष्ठुपूर्वकालां बहुषु नक्षत्रेषु विद्यमानेषु । अपिश-ब्दादल्पेषु नक्षत्रेषु विद्यमानेषु। सुपश्चादपि बहुनक्षत्रदर्शनावधि । अपिशब्दादनक्षत्रदर्शनेऽपि समाप्नुयादित्यर्थः ।

**गौतमः**, अग्नामुपस्पर्शनमेके गोदानादि बहिःसन्ध्यत्वं च तिष्ठेत्पूर्वामासीन उत्तरां सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यतः ।

एके आचार्या गोदानव्रतादारभ्य स्नानं बहिःसन्ध्यत्वं च वदन्तीत्यर्थः । गोदानव्रतात्पूर्वं तु सव्रती बहिःसन्ध्यामुपासीते-ति पूर्वोदाहृतशङ्खलिखितवचनाद्बहिःसन्ध्यत्वनियम एव। सज्यो तिषि प्रातः सनक्षत्रे सायं सभूर्ये काले, उपक्रम्येति शेषः । आ-ज्योतिषो दर्शनात् प्रातः सूर्यदर्शनावधि सायं नक्षत्रदर्शनावधि ।

**विष्णुः**,

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्पश्चिमामासीनः कालद्वयमेकाग्निक-र्मकरणमप्सु दण्डवन्मज्जनम् ।

**हारीतः**, अस्नायी स्नायी वा दण्डवत् ।

अत्र च प्रयतोऽस्नायी अप्रयतः स्नायीति व्यवस्थितो वि-कल्पः । अप्रयतोऽभिषिक्तः प्रयतो वाऽनभिषिक्त इति वक्ष्यमा-णबौधायनवचनात् । मध्याह्नसन्ध्याकालस्तु अष्टधा विभक्तस्य चतुर्थभाग एव । मध्याह्नस्नानोत्तरमेव कात्यायनादिभिस्तदभिधा-नात् । केचित्तु अष्टमो मुहूर्तो मध्याह्नसन्ध्याया मुख्यः काल इति वदन्ति । पठन्ति च,

पूर्वापरे तथा सन्ध्ये सनक्षत्रे प्रकीर्त्तिते ।
सप्तसूर्ये तु मध्याह्ने मुहूर्त्तसप्तकोपरि ॥

प्रातःसायंसन्ध्ययोर्मुख्ययोः प्रागुक्तगौणकालातिक्रमे वक्ष्य-माणप्रायश्चित्तं कृत्वा सन्ध्यावन्दनं कर्त्तव्यं, मध्याह्नसन्ध्यायास्तु मुख्यकालातिक्रमएव प्रायश्चित्तम् । तत्र विशिष्य गौणकालानभि-

धानात् । वस्तुतस्तु प्रातःसायंसन्ध्ययोरपि मुख्यकालातिक्रमएव प्रायश्चित्तम् । वक्ष्यमाणप्रायश्चित्ताभिधायकवाक्ये तथैव प्रतीतेः । यश्च वृद्धमनुना प्रातःसायंसन्ध्ययोर्विशिष्य गौणकालोऽभिहितः स तस्मिन्काले तदनुष्ठाने ऽसम्भवति कालान्तरे तदनुष्ठानार्थम् । तत्राप्यसम्भवे तु कालान्तरेऽपि तदनुष्ठानं कार्यम् ।

दिवोदितानि कर्माणि प्रमादादकृतानि चेत् ।
शर्वर्याः प्रथमे यामे तानि कुर्यादतन्द्रितः ॥

इति वचनेन सर्वेषामहःकृत्यानां शर्वरीप्रथमयामान्तस्य कालस्य गौणकालत्वाभिधानात् । तावत्पर्यन्तमकरणे तु उपवास एव प्रायश्चित्तम् ।

दिवोदितानां नित्यानां कथंचित् समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च अहोरात्रमभोजनम् ॥

इति वचनात् ।

**सांख्यायनगृह्यम्,**

अरण्ये समित्पाणिः सन्ध्या उपास्ते नित्यं वाग्यत उत्तरापराभिमुखोऽन्वष्टमदेशम् आनक्षत्राणां दर्शनात् अतिक्रान्तायां महाव्याहृतीः सावित्रीं स्वस्त्ययनानि च जपित्वा एवं प्रातःप्राङ्मुखस्तिष्ठन्नामण्डलदर्शनादिति ।

अरण्ये इत्यनेन बहिः सन्ध्या सूचिता । सव्रतीत्यादिप्रागिलखितशङ्खलिखितवचनेन ब्रह्मचारिणो बहिः सन्ध्याभिधानात् । समित्पाणिरित्यनेन ब्रह्मचारिणो भाविहोमार्थं समिद्ग्रहणं दर्शितम् । न तु सन्ध्याङ्गत्वेन तदुत्तरकालिकावश्यकहोमरूपदृष्टार्थत्वेनैवोपपत्तौ अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तदानीं ब्रह्मचारिणः समिदाहरणमापस्तम्बाभिमतम् ।

**यथाऽऽपस्तम्बः,**

पुराऽस्तमयात्प्रागुदीचीं गत्वाऽहिंसन्नरण्यात् समिध आह-रेदित्यादि ।

अत एवारण्यइत्येवोक्तं न तु बहिरिति । उत्तरापरा वायव्या दिक् । अन्वष्टमदेशम् अष्टधा विभक्ताया दिशो योऽष्टमभागस्तमनु लक्षीकृत्येत्यर्थः । तथाचैतदुक्तं भवति—सायंसन्ध्यावन्दने प्रत्य-गातारकोदयादित्यनेन पश्चिमाभिमुखत्वे सिद्धे उत्तरापरामुख इत्यनेन च वायव्याभिमुखत्वे सिद्धे अन्वष्टमदेशमित्यनेन पश्चिमा-या दिशोऽष्टधा विभक्ताया योऽष्टमो भागो वायव्याः सन्निहित-स्तदभिमुखः सन्ध्यामुपास्तइति ।

स्पष्टश्चायमर्थः प्रयोगपारिजातधृतशौनकवचने ।

यथा—

दिशोऽष्टधा विभक्तायाः प्रतीच्या भागमष्टकम् ।
हित्वा दक्षिणतोऽन्यस्तु योऽष्टमो भाग उत्तरः ॥
अस्याभिमुखतां प्राप्तो भूत्वा प्रयतमानसः ।
जपन्नासीत सावित्रीं सन्ध्यां कृत्स्नामतन्द्रितः ॥ इति ।

इदं च गायत्रीजपएव ।

तदुक्तमाश्वलायनेन, यज्ञोपवीती नित्योदकः सन्ध्यामु-पासीत वाग्यतः सायमासीन उत्तरापरामुखोऽन्वष्टमदेशं सावित्रीं जपेदर्द्धास्तमिते मण्डलआनक्षत्रदर्शनात् एवं प्रातः प्राङ्मुखस्ति-ष्ठन्नाऽऽदित्यमण्डलदर्शनादिति । यज्ञोपवीतीति सामान्यतः क्रत्व-र्थत्वेन प्राप्तस्य यज्ञोपवीतस्यानुवादः । नित्योदकः कृतावश्यकोद-ककर्मा । तेन स्नानाचमनादि कृत्वा सन्ध्योपासनं कार्यमित्यर्थः सिध्यति । नित्योदकः स्मृत्युक्तोदककर्मेत्यर्थः अतो मार्जनादि कार्यमिति तु नारायणवृत्तिः । अतिक्रान्तायां सन्ध्यायां महाव्या-हृत्यादि जपित्वा सन्ध्यामुपास्तइत्यन्वयः । स्वस्त्ययनानि स्व-

स्तिप्रकाशकानि स्वस्तिनइन्द्रोवृद्धश्रवा इत्यादीनि । एवमित्यनेन प्रातःसन्ध्याकालातिक्रमेऽपि सायंसन्ध्याकालातिक्रमोक्तं महाव्याहृत्यादिजपरूपं प्रायश्चित्तमतिदिश्यते । एवं मध्याह्नसन्ध्याकालातिक्रमेऽपि इदमेव प्रायश्चित्तम् । एकत्र दृष्टत्वात् । अत्र च सायंसन्ध्यायां मध्याह्नसन्ध्यातर्पणादेः सायंसन्ध्यायाश्च करणोपस्थितौ पाठक्रमादि बाधित्वा सायंसन्ध्यामेवादौ कुर्यात्ततोऽन्यत्संध्यातर्पणादिकम् । सायंसन्ध्याया मुख्यकालस्य बाधानौचित्यात् । मध्याह्नसन्ध्यातर्पणादेर्मुख्यकालस्य स्वत एव बाधितत्वात् । गौणकालस्य च शर्वरीप्रथमयामपर्यन्तं सत्त्वात् । एवं प्रारब्धकर्मणोऽपि मध्ये मुख्यसन्ध्याकालप्रसक्तौ आरब्धकर्मणः प्रयोगप्राशुभावं बाधित्वाऽपि मुख्यकालानुरोधान्मध्ये सन्ध्याऽनुष्ठेया । अत एव प्रारब्धायाः सान्तपनीयेष्टेरन्तरा सायंहोमप्रसक्तौ तस्य नोत्कर्षोऽपि तु स्वकालएवानुष्ठानमिति न्यायविदः ।

अन्ये तु,

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।

इत्यादिना तत्सन्ध्योत्तरकर्मसु कृततत्सन्ध्यस्यैवाधिकारप्रतीतेर्मध्याह्नसन्ध्योपासनस्यैव प्राथम्यं सायंसन्ध्यायास्तूत्कर्ष एवेति वदन्ति । दिङ्नियममाह—

कूर्मपुराणम्,

प्राङ्मुखः सततं विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत् । इति ।

योगियाज्ञवल्क्यस्तु,

ऐशान्यभिमुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः ।

इत्यनेनैशान्यभिमुखत्वमाह । तेनानयोर्दिशोर्विकल्पः ।

सन्ध्योपक्रमे व्यासः,

स्मृत्वोंकारं च गायत्रीं निबध्नीयात् शिखां ततः ।

पुनराचम्य हृदयं नाभिं स्कन्धं च संस्पृशेत ॥ इति ।

यदि तस्मिन्काले दैवान्मुक्तशिखः स्यात्तदाऽनेन शिखां बध्वा ऽऽचामेदित्यर्थः ।

छन्दोगपरिशिष्टम्,

अतः परं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनकं विधिम् ।
अनर्हः कर्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः ॥
सव्ये पाणौ कुशान्कृत्वा कुर्यादाचमनक्रियाम् ।
ह्रस्वाः प्रचरणीयाः स्युः कुशा दीर्घाश्च बर्हिषः ॥
दर्भाः पवित्रमित्युक्तमतः सन्ध्यादिकर्मसु ।
सव्यः सोपग्रहः कार्यो दक्षिणः सपवित्रकः ॥ इति ।

यतो ह्रस्वाः कुशाः पञ्चयज्ञादिकर्मानुष्ठानार्हाः, दीर्घाश्च स्तरणार्थं बर्हिषो भवन्ति, दर्भा एवानन्तर्गर्भिणमित्यादिलक्षणं पवित्रमित्युक्तम् । अतस्तेषां सर्वकर्मसूपयोगात्सन्ध्यादिकर्मसु वामकरो बहुतरकुशसहितो दक्षिणश्च यथोक्तलक्षणकपवित्रसहितः कार्य इत्यर्थः । उपग्रहः कुशाः । श्रीदत्तस्तु कुशान् कृत्वेति पूर्वोक्तकुशत्रयसमीपे अग्रिमकर्मोपयुक्ता अन्ये कुशा धर्त्तव्याः । देशस्याकाङ्क्षितत्वात् उप समीपे गृह्यत इति व्युत्पत्तिसम्भवाच्चेति व्याख्यातवान् ।

लघुहारीतः,

आचम्य प्रयतो नित्यं पवित्रेण द्विजोत्तमः । इति ।

तथा,

दर्भहीना तु या सन्ध्या यच्च दानं विनोदकम् ।
असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥

योगियाज्ञवल्क्यः,

एवं ज्ञात्वा तु मन्त्राणां प्रयोगं वै द्विजोत्तमाः ।

सन्ध्यामुपासते यद्वद्यथावत्तन्निबोधत ॥
ईशान्यभिमुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
आचान्तः पुनराचामेदृतमित्यभिमन्त्र्य च ॥
आन्तरं शुद्ध्यति ह्येवमन्नपानमलीकृतम् ।

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण। मन्त्राणामघमर्षणसूक्तादीनां, प्रयोगम् ऋषिच्छन्दोदैवतविनियोगरूपम् । इदं च ऋष्यादिज्ञानं तत्तन्मन्त्रपाठात्पूर्वं कर्त्तव्ये ऋष्यादिस्मरणे उपयुज्यते । न तु एतद्वचनबलात्सन्ध्यावन्दनात्पूर्वमेव सर्वेषां मन्त्राणाम् ऋष्यादिस्मरणं कार्यमिति भ्रमः कार्यः । तथासत्यङ्गभूतेन ऋष्यादिस्मरणेन सह सर्वेषां मन्त्राणां न्यायागतानन्तर्यबाधप्रसङ्गात् । यत्र तु मिलितानां मन्त्राणामेकस्मिन्कर्मणि विनियोगस्तत्र तेषां मिलितानामेव ऋष्यादिस्मरणं प्राक् कर्त्तव्यम् । तत्स्मरणं च–

आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः ॥

इतिवचनपाठक्रमेण कार्यम् । एतेषां च चतुर्णामेव स्मरणमावश्यकम् ।

अविदित्वा मुनिच्छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयान्स प्रजायते ॥

इत्यनेन तथैवाभिधानात् । यत्तु–

एवं पञ्चविधं योगं जपकाले ह्यनुस्मरेत् ।
होमे चान्तर्ज्जले यागे स्वाध्याये याजने तथा ॥

इति ब्राह्मणान्तर्भावेन पञ्चविधत्वमुक्तं, तद् अधिकफलार्थमित्यादि परिभाषायामभिहितम् । अन्तर्जले अन्तर्ज्जलसाध्येऽघमर्षणजपादौ । ऋतमित्यभिमन्त्र्य चेति । ऋतं च सत्यं चेत्यादिसूक्तेनाभिमन्त्र्य पुनराचामेदित्यर्थः । इदं च योगियाज्ञवल्क्योक्तत्वात्तदन्य-

प्रकारेण सन्ध्याकरणे नावश्यकम्। अशुद्धिनिवारकत्वात्तत्रापि वा नावश्यकमिति केचित्।

वस्तुतस्तु—

आचान्तः पुनराचामेदत्रामित्यभिमन्त्र्य तु।

इति कूर्मपुराणेऽपि तद्दर्शनात् तत्र दोषश्रवाकथनाच्च सर्वैरेव कर्त्तुमुचितमिति। सन्ध्योपक्रमे सङ्कल्पमाह—

मदनपारिजाते संवर्त्तः,

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षमुपात्तागःप्रशान्तये।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातःसन्ध्यामुपास्महे॥
इत्थं कृत्वाऽथ संकल्पं कुशानादाय पाणिना। इति।

पुनर्योगियाज्ञवल्क्यः,

त्रिरावर्त्य तु सावित्रीं प्रणवं व्याहृतीस्तथा।
मार्जनं च तथा कृत्वा आपोहिष्ठेति मार्जयेत्॥
सार्धामृचं तु प्रक्षिप्य ऊर्ध्वं सार्धामधः क्षिपेत्।
अधोभागविसृष्टायाममुरा यान्ति सङ्क्षयम्॥
सर्वतीर्थाभिषेकश्च ऊर्ध्वं संमार्ज्जनात् भवेत्।
अघमर्षणसूक्तेन मार्जनं कारयेत्ततः॥
शन्नआपश्च द्रुपदां कामतः सम्प्रयोजयेत्।
ॐकारपूर्वां गायत्रीमब्लिङ्गाघमर्षणम्॥
सातत्यं ब्रह्म चैतद्वै पुरा दृष्टं स्वयम्भुवा।
एवं संमार्ज्जनं कृत्वा बाह्यशुद्ध्यर्थकारणम्॥
तथाऽभ्यन्तरशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्समाचरेत्।

इत्यभिधानात्, संमार्ज्य मन्त्रैरात्मानमिति सन्ध्योपक्रमे कूर्मपुराणेप्यभिहितम्।

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्ज्जनं प्राणसंयमः।

सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥

इतियाज्ञवल्क्यपाठक्रमादपि प्राणायामात्पूर्वं मार्ज्जनं प्रतीयते।

छन्दोगपरिशिष्टेऽपि,

रक्षाऽन्ते वारिणाऽऽत्मानं परिवेष्ट्य समन्ततः ।
शिरसो मार्ज्जनं कुर्यात्कुशैः सोदकबिन्दुभिः ॥
प्रणवो भूर्भुवःस्वश्च गायत्री च तृतीयिका ।
अब्दैवत्यस्तृचश्चैव चतुर्थ इति मार्ज्जनम् ॥

इत्यभिधाय प्राणायामप्रकार उक्तः । अन्ते—

सव्ये पाणौ कुशान् कृत्वा कुर्यादाचमनक्रियाम् ।

इति पूर्वश्लोकोक्ताचमनान्ते । वारिणाऽऽत्मानं वेष्टयित्वा रक्षा, कार्येति शेषः ।

श्रीदत्तस्तु प्राणायामात्पूर्वमभिहितमिदं मार्ज्जनं स्नानासामर्थ्ये शारीरशौचार्थमेव, बाह्यशुद्ध्यर्थकारणमिति योगियाज्ञवल्क्ये श्रवणादित्याह । तच्चिन्त्यं, बाह्यशुद्ध्यर्थकारणत्वेऽपि स्नानानुकल्पे मानाभावात् । आपोहिष्ठेति त्र्यृचेन मार्ज्जने प्रकारान्तरमाह—

व्यासः,

आपोहिष्ठेत्यृचा कुर्यान्मार्ज्जनं च कुशोदकैः ।
प्रणवेन तु संयुक्तं क्षिपेद्वारि पदेपदे ॥
विप्लुषोऽष्टौ क्षिपेन्मूर्ध्नि अधो यस्य क्षयाय च ।
रजस्तमोमोहजातान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिजान् ॥
वाङ्मनःकर्मजान् दोषान्नवैतान्नवभिर्दहेत् ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह स्मृतिचन्द्रिकायाम्,

ऋगन्ते मार्ज्जनं कुर्यात्पादान्ते वा समाहितः ।
त्र्यृचस्यान्ते ऽथवा कुर्याच्छिष्टानां मतमीदृशम् ॥

प्रकारान्तरमाह—

अग्निपुराणम्,

आपोहिष्ठेति संमार्गं कुर्यात्प्रयतमानसः ।
मूर्ध्नि भूमौ तथाऽऽकाशे आकाशे च पुनर्भुवि ॥
मूर्ध्नि भूमौ पुनर्मूर्ध्नि भूमौ कुर्वीत मार्ज्जनम् ।

स्मृतिचन्द्रिकायां योगियाज्ञवल्क्यः,

आपोहिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिस्तु प्रयतः शुचिः ।
नवप्रणवयुक्ताभिर्जलं शिरसि निक्षिपेत् ॥

कुशालाभे तु दैवतीर्थेन मार्ज्जनं कुर्यात् । मार्ज्जनार्चनबलिकर्मभोजनानि दैवतीर्थेन कुर्यादिति हारीतवचनात् ।

भृगुः,

धाराच्युतेन तोयेन सन्ध्योपास्तिर्विगर्हिता ।
पितरो न प्रशंसन्ति न प्रशंसन्ति देवताः ॥
नद्यां तीर्थे ह्रदे वापि भाजने मृन्मयेऽपि वा ।
औदुम्बरे च सौवर्णे राजते दारुसम्भवे ॥
कृत्वा वा वामहस्तेन सन्ध्योपास्तिं समाचरेत् ।

औदुम्बरे ताम्रमये । एवं च—

वामहस्ते जलं कृत्वा ये तु सन्ध्यामुपासते ।
सा सन्ध्या विफला ज्ञेया असुरास्तेन तर्प्पिताः ॥

इति वामहस्तनिषेधवचनं पात्रान्तरसद्भावविषयम् । मार्जनमन्त्राणां च ऋष्यादयो वक्ष्यन्ते ।

बृहस्पतिः,

बध्वाऽऽसनं नियम्य स्वं स्मृत्वा ऋष्यादिकं ततः ।
सन्निमीलितदृग् मौनी प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥

आसनम्,

पद्ममर्द्धासनं वापि तथा स्वस्तिकमासनम् ।

इति पद्मपुराणोक्तम्। स्वम् आत्मानम्। नियम्यासूनिति पाठे प्राणायामपदं मन्त्रपरम्।

### अथ प्राणायामः।

छन्दोगपरिशिष्टे,

भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
महर्जनस्तपः सत्यं गायत्री च शिरस्तथा॥
आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरिति शिरः।
प्रतिप्रतीकं प्रणवमुच्चारयेदन्ते च शिरसः॥
एता एतां सहानेन तथैभिर्दशभिः सह।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।

एताः पूर्वश्लोकोक्ताः भूर्भुवःस्वःस्वरूपाः। अव्ययफलकत्वादव्ययाः। प्रतिप्रतीकमिति। एतस्मिन्समुदाये प्रत्यवयवमादावोंकारमुच्चारयेच्छिरसश्चान्तेऽपीत्यर्थः। ततश्च भूरादिव्याहृतिसप्तकादौ सप्त गायत्र्यादौ चैकः शिरसश्चादावन्तेचेति द्वौ इत्येवं दश प्रणवाः। एताः सप्तव्याहृतीः एतां गायत्रीम् अनेन शिरसा एभिर्दशभिः प्रणवैः सह निरुद्धप्राणः सन् त्रिर्जपेत्। निरुद्धप्राणत्वं च नियतवातत्वम्। नियमश्च पूरकेणादानमेव कुम्भकेन धारणमेव रेचकेन त्याग एवेत्येवंरूपः।

तथाच योगियाज्ञवल्क्यः,

एवं संमार्जनं कृत्वा बाह्यशुद्ध्यर्थकारकम्।
तथाऽभ्यन्तरशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् समभ्यसेत्॥
भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्यं तथैवच।
प्रत्योङ्कारसमायुक्तं तथा तत्सवितुर्परम्॥
ओमापोज्योतिरित्येतच्छिरः पश्चाच्च योजयेत्।
त्रिरावर्त्तनयोगात्तु प्राणायामांस्तु शक्तितः॥

पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः।
नासिकाकृष्टउच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते॥
कुम्भको निश्चलश्वासो रिच्यमानस्तु रेचकः।
नीलोत्पलदलश्यामं नाभिदेशे प्रतिष्ठितम्॥
चतुर्भुजं महात्मानं पूरकेणैव चिन्तयेत्।
कुम्भकेन हृदि स्थाने ध्यायेच्च कमलासनम्॥
ब्रह्माणं रक्तगौराङ्गं चतुर्वक्त्रं पितामहम्।
रेचकेनेश्वरं ध्यायेल्ललाटस्थं महेश्वरम्॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निर्म्मलं पापनाशनम्।

पूरकेणेत्यादौ तृतीया सप्तम्यर्थे। पूरकादिपदं स्वस्वकालोपलक्षणम्। गौरसर्वाङ्गमिति पाठे गौरपदं रक्तपरं, नानार्थत्वात्। रक्तं प्रजापतिं ध्यायेदिति व्यासवाक्यैकवाक्यत्वात्। यत्तु—

आदानं रोधमुत्सर्गं वायोस्त्रिस्त्रिः समभ्यसेत्।
ब्रह्माणं केशवं शम्भुं ध्यायन्नेतानानुक्रमात्॥
इति व्यासवचने—
ब्रह्माणं केशवं शम्भुं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात्।

इति बृहस्पतिवचने च पूरककाले ब्रह्मध्यानं कुम्भककाले विष्णुध्यानमुक्तं, तत् पक्षान्तराभिप्रायम्। व्यासवचनव्याख्यायामनुक्रमादित्यस्य शास्त्रान्तरोक्तक्रमेणेत्यर्थः। तेन विष्णुपूर्वकमेव ध्यानमिति पारिजातरत्नाकरौ। पूरणं च वामनासापुटस्थयेडया नाड्या। रेचनं च दक्षिणनासापुटस्थया पिङ्गलया नाड्या।

इडया कर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया।
धारयेत्पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥
सुषुम्णामध्यगं सम्यक् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः।
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद्योगवित्तमः॥

प्राणायाममिमं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ।
भूयोभूयः समभ्यस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ॥

इति मार्कण्डेयपुराणवाक्येन योगाङ्गप्राणायामे तथा प्रतीते रेचकदृष्टन्यायेनात्रापि तथात्वात् ।

अत्र मात्रानियमो योगिप्राणायामविषयः । सन्ध्याप्राणायामकालस्य मन्त्रपाठेनैवावच्छेदात् । मात्राकालस्तु निमेषानन्तरं यावता कालेन स्वभावत उन्मेषो भवति तावान्कालः ।

निमेषोन्मेषणं मात्राकालस्तु ह्यक्षरस्तथा ।

इति तत्रैवाभिधानात् । व्यत्यासेन पिङ्गलया कर्षणम् इडया त्याग इत्येवंरूपेण । अत्र ततोऽन्तः शुध्यति त्रिभिरिति योगियाज्ञवल्क्येनोपसंहारात्त्रिः प्राणायामाः कार्याः।तत्र च पूरकादीनुक्त्वा—

एवं त्रिविधमुद्दिष्टं प्राणायामस्य लक्षणम् ।

इति प्राणायामास्त्रिलक्षण इति च याज्ञवल्क्येनाभिहितम् । त्रिविधः प्राणायामः पूरणं कुम्भनं रेचनमिति अन्यत्राप्यभिहितम् । विधाशब्दो ह्यवान्तरभेदवाची । अतः सामान्यस्य प्राणायामस्यैते त्रयः प्रभेदाः इति प्रत्येकमेव पूरकादीनां प्राणायामत्वम् । प्राणायामसामान्यलक्षणं तु—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥

इति वसिष्ठेन,

गायत्रीं शिरसा सार्द्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥

इति याज्ञवल्क्येनचोक्तम् ।

अत्र व्याहृतयः सप्त ग्राह्याः। छन्दोगपरिशिष्टैकवाक्यत्वात् । द्वितीयश्लोके त्रिर्जपेदित्यन्वयः । एवं च पूरकादिषु प्रत्येकमेव

त्रिर्मन्त्रपाठः । एतावतैव च प्राणायामत्रयसिद्धिः ।

ततश्च,

आदानं रोधमुत्सर्गं वायोस्त्रिस्त्रिः समभ्यसेत् ।

इति व्यासवाक्यस्य च आदानादिकं कुर्वत्सु प्रत्येकं मन्त्रस्य त्रिरावृत्तपाठेन मन्त्रं त्रिस्त्रिरभ्यसेदित्यर्थः । पक्षान्तरं वा तत् ।

त्रिविधं केचिदिच्छन्ति तथैव नवधा परे ।

इत्यनेन तथैव प्रतीतेरिति मैथिलनिबन्धारः । पूर्वोक्तवाक्येभ्यः प्रकारत्रयविशिष्टस्यैव वाक्येषु प्राणायामे त्रिर्मन्त्रपाठ एव श्रूयते । एवं च एतादृशप्राणायामत्रयाभिप्रायेण आदानं रोधमुत्सर्गम् इत्यादिव्यासवाक्यं साधु संगच्छते । एतस्य प्राणायामस्याभ्यासे नानुष्ठानेचाघमर्षणरेचनयोर्मार्कण्डेयपुराणोक्तं नाडीव्यत्यासमिच्छन्ति गौडनिबन्धारः । मिताक्षराकारस्तु मुखनासिकासञ्चारिवायुं निरुध्य भूर्भुवःस्वःपूर्विकाम् आपोज्योतिरित्यादिशिरसा सहितां प्रतिव्याहृतिप्रणवसंयुक्तां गायत्रीं त्रिर्मनसा जपेत् इत्ययं सर्वत्र प्राणायाम इति गायत्रीं शिरसा सार्द्धमित्यादियाज्ञवल्क्यश्लोकव्याख्यायामुक्तवान् । तत्र छन्दोगपरिशिष्टयोगियाज्ञवल्क्यादिवचनविरोधोद्धारप्रकारश्चिन्तनीयः ।

मदनपारिजाते व्यासः,

अङ्गुष्ठेन पुटं धार्य्यं नासाया दक्षिणं पुनः ।
कनिष्ठानामिकाभ्यां तु वामं प्राणस्य संग्रहे ॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च ऋग्वेदी सामगायनः ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु प्रायं सर्वमथर्वणा ॥

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्याम् ऋग्वेदी उक्तरीत्या नासापुटद्वयं गृह्णीयात् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु सामगायन इत्यर्थः । एवं च प्रथमोक्तं यजुर्वेदिविषयम् ।

एतेषाम् ऋष्यादीनाह संवर्त्तः,

ओँकारस्य ब्रह्मऋषिर्देवोऽग्निस्तस्य कथ्यते ।
गायत्री च भवेच्छन्दो नियोगः सर्वकर्मसु ॥
त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः प्रारम्भे सर्वकर्मसु ।
व्याहृतीनां च सर्वासामृषिश्चैव प्रजापतिः ॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती त्रिष्टुबेवच ।
पङ्क्तिश्च जगती चैव छन्दांस्येतानि सप्त वै ॥
अग्निर्वायुस्तथा सूर्यो बृहस्पतिरपाम्पतिः ।
इन्द्रश्च विश्वे देवाश्च देवताः समुदाहृताः ॥
प्राणस्यायमने चैव विनियोग उदाहृतः ।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री सविता तथा ॥
जपहोमोपनयने विनियोगो विधीयते ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकः ।
प्रजापतिमुखोत्पन्नस्तपःसिद्धस्य वै पुरा ॥
तेनोपात्तमतस्तस्य ब्रह्मार्षं च स्वयम्भुवः ।
गायत्री च भवेच्छन्द अग्निर्दैवतमुच्यते ॥
आदौ सर्वत्र युञ्जीत विविधेष्वेव कर्मसु ।
विनियोगः समुद्दिष्टः श्वेतो वर्ण उदाहृतः ॥
व्याहृतीनां च सर्वासामार्षं चैव प्रजापतिः ।
सप्त छन्दांसि यान्यासां तानि सम्यक् प्रवर्त्तयेत् ॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेवच ।
त्रिष्टुप् च जगती चैव छन्दांस्येतानि सप्त वै ॥
अग्निर्वायुस्तथाऽऽदित्यो बृहस्पत्याप एवच ।
इन्द्रश्च विश्वे देवाश्च देवताः समुदाहृताः ॥

अनादिष्टेषु सर्वेषु प्रायश्चित्तेषु सर्वशः ।
प्राणायामप्रयोगे च विनियोग उदाहृतः ॥
सविता देवता यस्या मुखमग्निस्त्रिपाच्च या ।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री सा विशिष्यते ॥
विनियोग उपनयने प्राणायामे तथैवच ।
आपो ज्योती रस इति मन्त्रो यस्तु प्रकीर्त्यते ॥
तस्य प्रजापतिश्चार्षं यजुश्छन्दो विवक्षितम् ।
ब्रह्माग्निवायुसूर्याश्च देवताः समुदाहृताः ॥
यजुरिति यजुष्ट्वाच्छन्दो नास्तीत्यर्थः । तथा,
अघमर्षणसूक्तस्य ऋषिरेवाघमर्षणः ।
आनुष्टुभं भवेच्छन्दो भाववृत्तश्च दैवतम् ॥
अश्वमेधावभृथके विनियोगस्तु कल्पितः ।
सर्वपापापनोदार्थं स्मृतिकारैरुदाहृतम् ॥
भाववृत्तः भावे भावात्मके जगति वृत्तः प्रवृत्तो धाता इति कल्पतरुः । तथा,
सिन्धुद्वीपो भवेदार्षं गायत्रं छन्द उच्यते ।
आपस्तु दैवतं प्रोक्तं विनियोगस्तु मार्जने ॥
सर्वत्र पावनं कर्म अब्लिङ्गानामुदाहृतम् ।
कोकिलो राजपुत्रस्तु द्रुपदादार्षमुच्यते ॥
आनुष्टुभं भवेच्छन्द आपश्चैव तु दैवतम् ।
सौत्रामण्यवभृथके स्नाने तद्विनियोजनम् ॥
प्राणायामानन्तरं पुनः स एव,
प्राणस्यायमनं कृत्वा आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ।
आन्तरं क्षिप्यते यस्मात्तस्मादाचमनं स्मृतम् ॥
अत्र हेतुनिर्देशः सर्वास्वपि प्राणायामे आचमनप्राप्त्यर्थः ।

मैत्रायणीयगृह्यपरिशिष्टम् ।

प्रातः सूर्यश्चमेत्युक्त्वा सायमग्निश्चमेतिच ।
आपः पुनन्तु मध्याह्ने कुर्यादाचमनं ततः ॥

भारद्वाजोऽपि,

सायमग्निश्चमेत्युक्त्वा प्रातः सूर्येत्युपस्पृशेत् ।
आपःपुनन्तु मध्याह्ने तथा आचमनं चरेत् ॥

बौधायनः,

अथातः सन्ध्योपासनविधिं व्याख्यास्यामः तीर्थं गत्वाऽप्रयतोऽभिषिक्तः प्रयतो वानऽभिषिक्तः प्रक्षालितपाणिपादोऽप आचम्य अग्निश्च मामन्युश्चेति सायमपः पीत्वा सूर्यश्च मामन्युश्चेति प्रातः सपवित्रेण पाणिना सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति ।

अथाप्युदाहरन्ति ।

अम्भोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम् ।
मन्त्रवत्प्रोक्षणं चापि द्विजातीनां विशिष्यते ॥

सर्वकर्मणां चारम्भेषु प्राक्सन्ध्योपासनकालाच्चैतेन पवित्रसमूहेनात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति ।

अथाप्युदाहरन्ति दर्भेष्वासीनो दर्भान्धारयमाणः सोदकेन पाणिना प्राङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्त्तयेदपरिमितकृत्वः प्राणायामशो वा शतकृत्व उभयतःप्रणवां ससप्तव्याहृतिकां मनसा वा दशकृत्वस्त्रिभिस्तु प्राणायामैः श्रान्तो ब्रह्महृदयेन वारुणीभ्यां रात्रिमुपातिष्ठते इमं मे वरुण तत्त्वायामीति द्वाभ्यामेवं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठेन् मैत्रीभ्यामहरुपातिष्ठते मित्रस्य चर्षणीधृतो मित्रोजनान् यातयति प्रजानन्निति द्वाभ्यामिति ।

अभिषिक्तः स्नातः । अप आचम्येति । एतदनन्तरं च मार्जनप्राणायामावन्यमुन्युक्तावुपसंहरणीयौ । कल्पान्तरं वेदम् । अग्निश्चेत्यादि । इदं च समन्त्रकमाचमनं प्राणस्यायमनं कृत्वेत्यादियोगियाज्ञवल्क्यवाक्यैकवाक्यतया प्राणायामोत्तरं बोध्यम् । सन्ध्याप्राक्कालीनाचमनस्य अप आचम्येत्यनेनैवाभिधानात् । सुरभिमत्येत्यादि । इदं च मार्ज्जनम्—

प्राणानायम्य सम्प्रोक्ष्य त्र्यृचेनाब्दैवतेन तु ।

इत्यादियाज्ञवल्क्यादिवाक्यैकवाक्यतया प्राणायामानन्तरं बोध्यम् । अत एव एतदनन्तरमनेन गायत्रीजप एवाभिधास्यते । एतेन सूर्यश्चेत्यादिबौधायनवाक्यं सन्ध्याप्राक्कालीनप्रोक्षणात्प्राक् श्रुतमिति तत्रैव मन्त्रान्वयबोधकम् । प्राणायामोत्तरकालीनाचमने मन्त्रसम्बन्धे आचार एव प्रमाणमिति श्रीदत्तपारिजाताद्युक्तमनादेयम् । सुरभिमती दधिक्राव्ण इत्यादिका । अब्लिङ्गाभिः आपोहिष्ठेत्यादिभिः । वारुणीभिः वरुणदेवताकाभिः यच्चिद्धि ते विश इत्याद्याभिस्तिसृभिः । हिरण्यवर्णाभिः हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यादिचतसृभिः । पावमानीभिः पवमानः सुवर्ज्जन इत्यादिकाभिः । एतच्च मार्ज्जनं स्नातस्यापि । योगियाज्ञवल्कीयं शन्न आप इत्यादिनोक्तमार्ज्जनं तु अप्रयतस्य कर्माङ्गमुख्यस्नानाशक्तौ बोद्धव्यम् ।

असामर्थ्यात् शरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ।
मन्त्रस्नानादितः सप्त केचिदिच्छन्ति सूरयः ॥

इति कालदोषादसामर्थ्यादिति च योगियाज्ञवल्क्यवचनात् । सर्वकर्मणां श्राद्धादीनामपि । पवित्रसमूहः सुरभिमत्याद्यनन्तरोक्तमन्त्रसमूहः । अपरिमितकृत्व इति पूर्वोक्तसंख्यातिरिक्तसंख्यत्वं विवक्षितं न त्वसंख्यत्वम् ।

असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।

इत्यनेन लघुहारीतवाक्येन असंख्यातजपनिषेधात् । प्राणायामशो वा शतकृत्व इति । प्राणायामशः प्राणायामेन । एतदुक्तं भवति–यावद्भिः प्राणायामैः सावित्र्याः शतं भवति तावतः प्राणायामान्कुर्यादिति । प्राणायामश्चात्र प्राणनिरोधमात्रमभिमतं, पूर्वं सावित्रीमात्रस्य प्रक्रान्तत्वात् । उभयतःप्रणवां ससप्तव्याहृतिकां मनसा वा दशकृत्व इति । उभयतः आदावन्ते च सावित्र्या ॐकारं कुर्यादित्यर्थः । एतेषां च त्रयाणां पक्षाणां शक्त्यपेक्षया विकल्पः । त्रिभिश्च प्राणायामैः श्रान्तो ब्रह्महृदयेनेति । पूर्वोक्तानामेकं कल्पमनुष्ठाय ततो ब्रह्महृदयेन प्रणवेन त्रीन् प्राणायामान्कृत्वा तैः श्रान्तः खिन्न इत्यर्थः । एवम्भूतः सन् इमं मे वरुण तत्त्वायामीति द्वाभ्यां वारुणीभ्यां रात्रिमुपतिष्ठते । वरुणदेवताकत्वाद्रात्रेर्वरुणोपस्थानेन तस्या उपस्थानं कृतं भवतीति । एतेन मैत्रीभ्यामहरुपतिष्ठतइति व्याख्येयम् ।

तथाच तैत्तिरीयकश्रुतिः, मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिरिति ।

अयं च सन्ध्याप्रयोगो बौधायनानामेव । अन्येषां प्रकारान्तराभिधानात् । अत्र अग्निश्चमा इत्यस्य रुद्र ऋषिः प्रकृतिश्छन्दः अग्निर्देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

सूर्यश्चेत्यस्य ब्रह्मऋषिः प्रकृतिश्छन्दः सूर्यो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

आपः पुनन्त्वित्यस्य विष्णुऋषिः अनुष्टुप्छन्दः आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

अत्र पानव्यक्तिभेदेऽपि आचमनकर्मण ऐक्यान्न प्रतिजलपानं मन्त्रावृत्तिः। छन्दोगानां तु अहश्च माऽऽदित्यश्च मा पुनातु

प्रातः, आपः पुनन्त्विति मध्याह्ने, रात्रिश्च मा वरुणश्च मा पुनातु स्वाहेति सायमिति वदन्ति। अमन्त्रकमेवैतेषामिदमाचमनमिति तु श्रीदत्तः।

याज्ञवल्क्यः,

प्राणानायम्य सम्प्रोक्ष्य त्र्यृचेनाब्दैवतेन तु। इति।

अब्दैवतेन आपोहिष्ठेत्यादिकेन। अत्र यद्यपि प्राणायामाव्यवहितोत्तरमेव मार्ज्जनं प्रतीयते, तथापि-

प्राणस्यायमनं कृत्वा आचामेत्प्रयतोऽपि सन्।

इति पूर्वोदाहृतयोगियाज्ञवल्क्यवचनात् आचमनानन्तरं ज्ञेयम्। अत्र मार्ज्जनप्रकारस्तु विप्लुषोऽष्टौ क्षिपेदित्यादिना प्रागुक्तः। छन्दोगैस्तु प्रणवेन महाव्याहृतिभिर्गायत्र्या च मार्जनं कृत्वा आपोहिष्ठा इत्यादिभिर्मार्ज्जनं कार्यम्। प्राणायाममुक्त्वा ततो मार्जनं प्रणवेन व्याहृतिभिर्गायत्र्या आपोहिष्ठीयाभिस्तिसृभिरिति गोभिलवचनात्। अत्र मार्ज्जनानन्तरं वक्ष्यमाणद्रुपदाप्रयोगो बोध्यः।

सर्वत्र मार्ज्जनङ्कुर्य्य अब्लिङ्गानामुदाहृतम्।

इत्यनन्तरं द्रुपदाकृत्यादिकमुक्त्वा-

अपः पाण्योः समादाय त्रिः पठेद् द्रुपदामृचम्।

तत्तोयं मूर्ध्नि विन्यस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

इति द्रुपदाप्रयोगमुक्त्वा-

एवं ज्ञात्वा तु मन्त्राणां प्रयोगं वै द्विजोत्तमाः।

इत्यादिना योगियाज्ञवल्क्येन सन्ध्याप्रयोगाभिधानात्। मार्ज्जनानन्तरमुक्तरीत्या द्रुपदामन्त्राभिमन्त्रितं जलं शिरसि देयमिति श्रीदत्तादयः। वस्तुतस्तु सन्ध्याप्रयोगकथनं प्रतिज्ञाय योगियाज्ञवल्क्येन द्रुपदामन्त्रकरणकैतत्प्रयोगानभिधानादेतत्प्रयोगस्य सन्ध्याङ्गत्वे मानाभावः। यच्च—

एवं ज्ञात्वा तु मन्त्राणां प्रयोगं वै द्विजोत्तमाः ।

इत्यनेन द्रुपदामन्त्रस्यापि ऋष्यादिज्ञानं सन्ध्याङ्गत्वेन प्रतिपादितं, तत् सन्ध्यान्तर्गतप्राणायामप्राक्तनमार्ज्जने ।

शन्न आपस्तु द्रुपदां कामतः संप्रयोजयेत् ।

इत्यनेन विनियुक्तद्रुपदामन्त्रविनियोगेऽप्युपपन्नम् । अपः पाण्योः समादायेत्यादिकं तु—

द्रुपदा नाम सा देवी यजुर्वेदे प्रतिष्ठिता ।
अन्तर्ज्जले त्रिरावर्त्त्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥

इत्येतत्पूर्वश्लोकवत्फलोत्कर्षकथनेन स्तुतिमात्रम् । अन्यथा अन्तर्ज्जलत्रिरावर्त्तनस्यापि सन्ध्याप्रयोगान्तर्गतत्वापत्तिः ।

## मार्ज्जनानन्तरमघमर्षणप्रयोगः ।

तत्र कात्यायनः,

करेणोद्धृत्य सलिलं घ्राणमासज्य तत्र च ।
जपेदनायतासुर्वा त्रिः सकृद्वाऽघमर्षणम् ॥

आसज्य अर्पयित्वा । अनायतासुः अनिरुद्धश्वासः । वाशब्दान्निरुद्धश्वासोऽपि ।

**ब्रह्मपुराणम्,**

जलपूर्णं तथा हस्तं नासिकाग्रे समर्पयेत् ।
ऋतंचेति पठित्वा तु तज्जलं तु क्षितौ क्षिपेत् ॥

अत्र निरुद्धासुत्वपक्षे प्राणायामानन्तरं—

प्राणस्यायमनं कृत्वा आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ।

इत्यनेन योगियाज्ञवल्क्यवचनेनाचमनविधानाच्छङ्खोक्तम् अन्तश्चरसि भूतेषु इत्यादिकमन्त्रकरणकमाचमनमघमर्षणानतरं केचिदुपसंहरन्ति । वस्तुतस्तु शङ्खोक्तस्य कल्पान्तरत्वादत्राचमनेऽनाकाङ्क्षितस्य मन्त्रस्योपसंहारे मूलं चिन्त्यम् ।

यथा शङ्खः,

आचम्यैवं पुरा प्रोक्तास्तीर्थसम्मार्ज्जने तु ये।
मन्त्रास्तैर्मन्त्रितं तोयं मूर्द्ध्नि भूमौ तथा क्षिपेत्॥
क्षिप्तेन मूर्द्ध्नि तोयेन पापमस्य प्रणश्यति।
भूमौ क्षिप्तेन हन्यन्ते असुरा एव शात्रवः॥
व्याहृतीः कीर्त्तयेच्चैव तथैवाव्ययमक्षरम्।
उपस्पर्शेत्ततः पश्चान्मन्त्रेणानेन धर्मतः॥
अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥
आचम्य तु ततः पश्चादादित्याभिमुखो जलम्।
उदुत्यं जातवेदेति मन्त्रेणानेन च क्षिपेत्॥
एष एव विधिः प्रोक्तः सन्ध्ययोश्च द्विजातिषु।
पूर्वां सन्ध्यां जपेत्तिष्ठन्नासीनः पश्चिमां तथा॥
ततो जपेत्पवित्राणि पवित्रं वा स्वशक्तितः।
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥ इति।

एवम् अनन्तरोक्ताचमनकल्पेन। तीर्थसम्मार्ज्जने स्नानाङ्गभूतान्तर्ज्जलमार्ज्जने। ते च मन्त्राः,

आपोहिष्ठाभिस्तिसृभिर्यथावदनुपूर्वशः।
हिरण्यवर्णेति च वै ऋग्भिश्चतसृभिस्तथा॥
शन्नोदेवीरिति तथा शन्नआपस्तथैवच।
इदमापःप्रवहतं तथा मन्त्रमुदीरयेत्॥

इत्यनेन स्नानप्रकरणे तेनैवोक्ताः। अव्ययम् ओङ्कारम्। उपस्पृशेत् आचामेत्। एष एवेति। एष मध्याह्नसन्ध्योक्तः। पवित्राणि अघमर्षणादीनि। दीर्घसन्ध्यत्वं दीर्घकालव्यापिगायत्रीजपेन। एतच्च दीर्घसन्ध्यत्वं दीर्घायुष्कामस्य।

अथार्घक्षेपः ।

अघमर्षणजपानन्तरं छन्दोगपरिशिष्टम्,

उत्थायार्कं प्रति प्रोहेत्त्रिकेणाञ्जलिमम्भसः ।

अर्कं प्रति सूर्याभिमुखं, प्रोहेत् क्षिपेत् त्रिकेण ।

प्रणवो भूर्भुवःस्वश्च गायत्री च तृतीयिका ।

इत्यनन्तरोक्तप्रणवमहाव्याहृतिगायत्र्यात्मकत्रिकेण । अत्राञ्जलिमित्येकत्वस्य विवक्षितत्वादञ्जलित्रयदानमशुद्धमिति श्रीदत्तपारिजातौ ।

वस्तुतस्तु अघमर्षणजपानन्तरं त्रीनुदकाञ्जलीनादित्यउत्क्षिपेदिति गोभिलवचनादञ्जलित्रयदानमपि शास्त्रार्थः ।

एवं च,

कराभ्यां तोयमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।

आदित्याभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरूर्ध्वं संध्ययोः क्षिपेत् ॥

सकृदेव तु मध्याह्ने क्षेपणीयं द्विजातिभिः ।

इति व्यासवाक्यव्यवस्थाऽवसेया । अत्राभिमन्त्रितजलस्य त्रिः प्रक्षेपाभिधानात्प्रत्यञ्जलि मन्त्रपाठः ।

कात्यायनः,

पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं क्षिप्त्वोर्द्ध्वबाहुः सूर्यमुदीक्षेतोद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरिति गायत्र्या च यथाशक्ति इति ।

अत्र मध्याह्ने सजलपुष्पश्रवणात् छन्दोगपरिशिष्टादौ अम्भस इति पुष्पस्याप्युपलक्षणम् । प्रातःसायंविषयं वा परिशिष्टवचनम् ।

तथाच तैत्तिरीयश्रुतिः,

ब्रह्मवादिनः सूर्याभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याऽभिमन्त्रिता अप ऊर्ध्वं क्षिपन्ति ताः पूता आपो वज्रीभूतास्तानि रक्षांसि मन्दे-

हान् वारुणे द्वीपे क्षिपन्ति यत्प्रदक्षिणं प्रक्रामन्ति तेन पाप्मानमवधुन्वन्ति उद्यन्तमस्तमयन्तमादित्यमभिध्यायन् ब्राह्मणो विद्वान्सकलं भद्रमश्नुतइति ।

ऊर्ध्वबाहुरिति मध्याह्नविषयकम् । सायंप्रातः कृताञ्जलित्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सूर्यमुदीक्षेतेति सूर्याभिमुखत्वतात्पर्यकम् । तेन मेघादिच्छन्नत्वेऽपि तदविरोधः । गायत्र्योपस्थानं च वक्ष्यमाणक्रमेण गायत्रीजप एव । अत एव वक्ष्यमाणवचनैर्बहुविधतज्जपसंख्याविधानाद्यथाशक्तीत्युक्तम् । युक्तं चैतत् । कात्यायनेन पृथक् तज्जपानभिधानाद्दृष्टान्तरसंवादाच्च ।

स्मृतिचन्द्रिकायां पुराणम्,

सायं मन्त्रवदाचम्य प्रोक्ष्य सूर्यस्य चाञ्जलिम् ।
दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा जलं स्पृष्ट्वा विशुध्यति ॥

अञ्जलिदानानन्तरं श्रुतिः, यत्प्रदक्षिणं प्रक्रामन्ति तेन पाप्मानमवधुन्वन्तीति ।

छन्दोगपरिशिष्टम्,

उच्चित्रमित्यृग्द्वयेन चोपतिष्ठेदनन्तरम् ।
सन्ध्याद्वयेऽप्युपस्थानमेतदाहुर्मनीषिणः ॥
मध्ये त्वह्न उदये च विभ्राडादीच्छया जपेत् ।
तदसंसक्तपार्ष्णिर्वा एकपादर्धपादपि ॥
कुर्यात्कृताञ्जलिर्वापि ऊर्ध्वबाहुरथापि वा ।
यत्र स्यात्कृच्छ्रभूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनीषिणः ॥
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्छ्रेयो ह्यवाप्यते ।

उत् उदुसंजातवेदसमित्यादिकं, चित्रं चित्रंदेवानामित्यादिकम्। अनन्तरं पूर्वार्द्धोक्ताञ्जलिदानानन्तरम्। सन्ध्याद्वयेऽपीति। एतत् प्रातःसन्ध्यामुपक्रम्योक्तम् उपस्थानं मध्याह्नसायंसन्ध्ययोरपीत्यर्थः ।

प्रातर्मध्याह्नसन्ध्ययोर्विशेषमाह मध्याह्ने इति । अह्नो मध्ये मध्याह्न-सन्ध्यायाम्। उदये प्रातःसन्ध्यायाम्। विभ्राडादीति। विभ्राड्बृहदि-त्याद्यनुवाकम्। आदिग्रहणात् शिवसङ्कल्पं पुरुषसूक्तं मण्डलब्राह्मणं चेच्छया जपेन्नत्ववश्यमिति परिशिष्टप्रकाशः। तदित्यादि। तत् उप-स्थानम्। असंसक्तपार्ष्णिः भूम्यलग्नगुल्फतलभागः। एकपाद् भू-मिष्ठैकमात्रचरणः। अर्द्धपाद् भूमिष्ठैकचरणार्द्धमात्रो वा, कुर्यादि-त्यर्थः। लघुगुरुप्रयाससाध्यानां कथं विकल्प इत्यत आह, यत्र स्यादिति। प्रयासभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वमिति वाक्यार्थः।

हारीतः,

सायं प्रातरुपस्थानं कुर्यात्प्राञ्जलिराननः।
ऊर्द्ध्वबाहुस्तु मध्याह्ने यथा सूर्यस्य दर्शनात्॥

एवं च छन्दोगपरिशिष्टे वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। छन्दोगैः सायम्प्रातःसन्ध्ययोः उदुत्यं चित्रम् उद्वयन्तमसस्परि इति ऋक्त्रयेण सूर्य उपस्थातव्य इति श्रीदत्तः। तन्मूलं च सायम्प्रा-तः सन्ध्यामुपासीत उदुत्यं चित्रम् उद्वयन्तमसस्परीत्यादि गोभि-लीयवाक्यम्। अत एव छन्दोगपरिशिष्टे उच्चित्रमित्यृग्द्वयेनेत्यत्र उच्चित्रमुद्वयेनैत्रमिति कल्पतरुपारिजातादौ पाठः। उद्वयेन उद्वयन्त-मसस्परीत्यादिनेति व्याख्यातं च। एवं मध्याह्ने उदुत्यं चित्रंदेवानाम् आयङ्गौः अपत्येतायवः तरणिर्विश्वदर्शतो विभ्रामेषिरज इत्येतैः षड्भिर्मन्त्रैश्छन्दोगानां सूर्योपस्थानमिति श्रीदत्तादयः। तन्मूलं च मध्याह्नकृत्यप्रकरणे नित्यवत्सन्ध्यामुपासीतोदुत्यं चित्रमायङ्गौ-रपत्ये तरणिर्विभ्रामेड्साभिर्ऋग्भिरुपस्थानमिति गोभिलीयसूत्रम्। किं तु तल्लिखितोच्चित्रमुद्वयेनैत्रमिति छन्दोगपरिशिष्टपाठानुसारेण मध्याह्नेऽप्युद्वयमित्येतत्पाठस्योचितत्वात्तत्त्यागे मूलं चिन्त्यम्।

कात्यायनीयानाम् उद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरितिमन्त्रचतुष्टयेन

सन्ध्यात्रयेऽप्युपस्थानं, पूर्वोदाहृतकात्यायनवचनात्। ऋग्वेदिनां तु सन्ध्याप्रयोगोऽपि वक्ष्यते।

एतेषाम् ऋष्यादिकमाह कात्यायनः,

उदुत्यं जातवेदेति ऋषिः प्रस्कण्व उच्यते।
छन्दो गायत्रमेवास्य सूर्यो दैवतमेव च॥
अग्निष्टोमउपस्थाने विनियोगः प्रकीर्त्तितः।
चित्रंदेवेति मन्त्रस्य ऋषिः कौत्स उदाहृतः॥
त्रिष्टुप् छन्दो दैवतं च सूर्यस्तु परिकीर्त्तितः।
अग्निष्टोमउपस्थाने विनियोगस्तथैव च॥
उद्वयमित्यस्य हिरण्यस्तूप ऋषिः
अनुष्टुप् छन्दः सूर्योपस्थाने विनियोगः।

तच्चक्षुरित्यस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिरक्षरातीतपुरः उष्णिक् छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

आयङ्गौरित्यस्य सर्पराज्ञी ऋषिर्गायत्री छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

अपत्येतायव इत्यादिऋक्त्रयस्य प्रस्तुतण्वऋषिर्गायत्रीछन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

छन्दोगैरुपस्थानानन्तरं नमो ब्राह्मणेभ्यो नम आचार्य्येभ्यो नम ऋषिभ्यो देवेभ्यो नमो वेदेभ्यो नमो वयवे च मृत्यवे च विष्णवे च वैश्रवणाय चोपजायचेत्यनेनाञ्जलिं दत्त्वा देवर्षिपितृतर्प्पणं कार्यम्। ततो गायत्रीजपः कार्य इति गोभिलसंमतम्।

यथा गोभिलः,

नमो ब्रह्मणे इत्युपजायचेत्यन्तेनाग्निस्तृप्यात्विति च देवांस्तर्पयेयुरित्यादिना तर्पणमुक्त्वा गायत्र्यष्टशतादीनि कृत्वेत्यादि गायत्रीजपादिकमुक्तवान्।

योगियाज्ञवल्क्यः,

प्रणवो भूर्भुवःस्वश्च अङ्गानि हृदयादयः ।
त्रिरावृत्य ततः पश्चादार्षं छन्दश्च दैवतम् ॥
विनियोगस्तथा रूपं ध्यातव्यं क्रमशस्तु वै ।
श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा ॥
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता ।
आदित्यमण्डलान्तस्था ब्रह्मलोकगताऽथवा ॥
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा ।
आवाह्य यजुषाऽनेन तेजोऽसीति विधानतः ॥
तत्र वाह्यं जपित्वा च नमस्कृत्य विसर्ज्जयेत् ।
ॐकारः पूर्वमुच्चार्यो भूर्भुवःस्वस्ततः परम् ॥
गायत्री प्रणवश्चान्ते जपो ह्येवमुदाहृतः ।

प्रणव इत्यादि । ॐहृदयायनमः ॐभूः शिरसे स्वाहा भुवः शिखायै वषट् स्वः कवचायहुं ॐभूर्भुवः श्रोत्राभ्यां वौषट् ॐ भूर्भुवः स्वरस्त्राय फट् इतिमन्त्रैर्हृदयशिरःशिखासर्वाङ्गनेत्रद्वयकरद्वयेषु न्यसेदिति । एवं च ॐभूर्भुवःस्वरिति मन्त्रस्य त्रिरावर्त्तनं भवतीति श्रीदत्तादिसम्मतः पक्षः । ॐभूर्भुवः स्वरित्यक्षर— पञ्चकं हृदयशिरःशिखानेत्रद्वयकरद्वयेषु न्यसेदेवमपरं वारद्वयमित्यनिरुद्धादिसंमता व्याख्या । ॐभूर्भुवः स्वरित्यक्षरपञ्चकस्य हृदयशिरःशिखासु स्थानत्रये एकैकवारं न्यासेन तदक्षरपञ्चकं त्रिरावर्त्तयेदित्यर्थः इति ब्राह्मणसर्वस्वे हलायुधः ।

न्यासे प्रकारान्तरमाह स्मृतिचन्द्रिकायां ब्रह्मा,

पादयोश्च तथा जान्वोर्जङ्घयोर्जठरेऽपिच ।
कण्ठे मुखे तथा मूर्ध्नि क्रमेण व्याहृतीर्न्यसेत् ॥
भूरङ्गुष्ठद्वये न्यस्य भुवस्तर्ज्जनिकाद्वये ।

ज्येष्ठाङ्गुलिद्वये धीमान् स्वःपदं विनियोजयेत् ॥
करन्यासविधिं कृत्वा अङ्गन्यासं समारभेत् ।
भूःपदं हृदि विन्यस्य भुवः शिरसि विन्यसेत् ॥
शिखायां स्वःपदं न्यस्य कवचे तत्पदं न्यसेत् ।
अक्ष्णोर्भर्गपदं न्यस्य दिग्विदिक्षु धियःपदम् ॥ इति ।

तत्पदमिति । प्रथमपादमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । तत ॐमापो ज्योतिरिति सर्वाङ्गन्यासः ।

शिरस्तस्यास्तु सर्वाङ्गे प्राणायामे परं न्यसेत् ।

इति व्याससमरणादित्यपि स्मृतिचन्द्रिकायाम् । आर्षं छन्दश्चेत्यादि । आर्षादिकं तु प्रागेवोक्तम् । रूपमाह श्वेतवर्णेत्यादि । इदं च मध्याह्नसन्ध्याभिप्रायेण । योगियाज्ञवल्क्येनैव प्रातरादिसन्ध्यात्रये गायत्रीसावित्रीसरस्वतीति नामत्रयमुक्त्वा—

रक्ता भवति गायत्री सावित्री शुक्लवर्णिका ।
कृष्णा सरस्वती ज्ञेया सन्ध्यात्रयमुदाहृतम् ॥

इत्यनेन प्रातःसायंसन्ध्योर्वर्णान्तराभिधानात् । वस्तुतस्तु एतद्वाक्यस्य मध्याह्नसन्ध्यापरत्वं नोपपद्यते । तस्या वक्ष्यमाणगोभिलादिवाक्यैस्त्रिशूलादिकरत्वाभिधानेनाक्षसूत्रधरत्वानुपपत्तेः । तस्मात्सन्ध्यावदादितीर्थप्राप्तौ विहिता या सन्ध्या तत्परं स्वतन्त्रगायत्रीजपादिपरं च श्वेतवर्णेत्यादिध्यानकथनम् । सन्ध्यात्रये ध्यानभेदस्य रक्ता भवति गायत्रीत्यादिना अनेनैव प्रागुक्तत्वात् । न च तत्सन्ध्याध्यानमिदं च गायत्रीध्यानमिति श्रीदत्ताद्युक्तमादरणीयम् । या सन्ध्या सैव गायत्रीत्यादिनाऽनेनैव सन्ध्यागायत्र्योरभेदकीर्तनादिति । सर्वत्र जपे मन्त्रप्रकाश्यमन्त्राधिष्ठातृदेवतयोर्ध्यानविधानादत्रापि तद्ध्यानमुचितम् । प्रकृते च सर्वभूतान्तर्यामिपरमात्मैव मन्त्रप्रकाश्य इति सोऽपि—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

इत्युक्तक्रमेण ध्येयः । मन्त्राधिष्ठातृदेवतात्वाद् गायत्र्यपि ध्येयेति वदन्ति ।

स्मृतिचन्द्रिकायां गोभिलः,

प्रातर्गायत्रीं रविमध्यस्थितां रक्तवर्णां कुमारीमक्षमालाहस्तां हंसासनमारूढां ब्रह्मदैवत्याम् ऋग्वेदमुदाहरन्तीं, मध्यन्दिने सावित्रीं रविमध्यस्थितां श्वेतवर्णां यौवनस्थां त्रिनेत्रां त्रिशूलहस्तां वृषभासनमारूढां रुद्रदैवत्यां यजुर्वेदमुदाहरन्तीं, सायं सरस्वतीं रविमध्यस्थां श्यामवर्णां वृद्धां चतुर्भुजां चक्रहस्तां सुपर्णासनमारूढां विष्णुदैवत्यां सामवेदमुदाहरन्तीमिति । ध्यायेदिति शेषः ।

तत्रैव गायत्रीनिर्णये,

बालां च विद्धि गायत्रीं व्यक्षां च चतुराननाम् ।
रक्तां रक्ताम्बरोपेतामक्षसूत्रधरां तथा ॥
कमण्डलुधरां देवीं हंसवाहनसंस्थिताम् ।
ब्राह्मणीं ब्रह्मदैवत्यां ब्रह्मलोकनिवासिनीम् ॥
आवाहयेत्तु मन्त्रेण आयान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
तथा मध्यमसन्ध्यायां सावित्रीं युवतिं तथा ॥
शुक्लाङ्गीं शुक्लवस्त्रां च वृषारूढां त्रिलोचनाम् ।
त्रिशूलडमरूहस्तां रुद्राणीं रुद्रदैवताम् ॥
कैलासनिलयां देवीमायान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
एवं पश्चिमसन्ध्यायां वृद्धावस्थां सरस्वतीम् ॥
वर्णतः कृष्णवर्णां च चारुरूपां चतुर्भुजाम् ।

शङ्खचक्रगदापद्मधारिणीं विष्णुदैवताम् ॥
बदर्याश्रमवासां तामायान्तीं सूर्यमण्डलात् । इति ।
आवाहेति । अयंचावाहनमन्त्रो वाजसनेयिनाम् ।
छन्दोगादीनां गोभिलादिभिर्मन्त्रान्तराभिधानात् । यथा

**गोभिलः,**

आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि ।
गायत्रि छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोऽस्तुते ॥

**व्यासोऽपि,**

आवाहयेत्तु गायत्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
आगच्छ वरदे देवि जप्ये मे सन्निधौ भव ॥
गायन्तं त्रायसे यस्माद्गायत्री समुदाहृता ।

तेजोऽसीत्यस्य देवा ऋषयः गायत्री छन्दः शुक्रं दैवतं गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

आवाहनानन्तरमुपस्थानमाह स एव,

तुरीयं तु पदं तस्याः परे ब्रह्मपदे स्थितम् ।
उपस्थाय तुरीयेण जपेत्तां तु समाहितः ॥

तुरीयेण गायत्र्यस्येकपदीत्यादिना । तथाच गायत्रीमधिकृत्य—

**शतपथश्रुतिः,**

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदोमाप्रापदितीति ।

**बौधायनोऽपि,**

उपतिष्ठेद्वा एतां देवीं तुरीयेण पदेन अथाप्युदाहरन्ति गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसे ऽसावदोमाप्रापदिति ।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

इत्युक्तक्रमेण ध्येयः । मन्त्राधिष्ठातृदेवतात्वाद् गायत्र्यपि ध्येयेति वदन्ति ।

स्मृतिचन्द्रिकायां गोभिलः,

प्रातर्गायत्रीं रविमध्यस्थितां रक्तवर्णां कुमारीमक्षमालाहस्तां हंसासनमारूढां ब्रह्मदैवत्याम् ऋग्वेदमुदाहरन्तीं, मध्यन्दिने सावित्रीं रविमध्यस्थितां श्वेतवर्णां यौवनस्थां त्रिनेत्रां त्रिशूलहस्तां वृषभासनमारूढां रुद्रदैवत्यां यजुर्वेदमुदाहरन्तीं, सायं सरस्वतीं रविमध्यस्थां श्यामवर्णां वृद्धां चतुर्भुजां चक्रहस्तां सुपर्णासनमारूढां विष्णुदैवत्यां सामवेदमुदाहरन्तीमिति । ध्यायेदिति शेषः ।

तत्रैव गायत्रीनिर्णये,

बालां च विद्धि गायत्रीं त्र्यक्षां च चतुराननाम् ।
रक्तां रक्ताम्बरोपेतामक्षसूत्रधरां तथा ॥
कमण्डलुधरां देवीं हंसवाहनसंस्थिताम् ।
ब्राह्मणीं ब्रह्मदैवत्यां ब्रह्मलोकनिवासिनीम् ॥
आवाहयेत्तु मन्त्रेण आयान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
तथा मध्यमसन्ध्यायां सावित्रीं युवतिं तथा ॥
शुक्लाङ्गीं शुक्लवस्त्रां च वृषारूढां त्रिलोचनाम् ।
त्रिशूलडमरूहस्तां रुद्राणीं रुद्रदैवताम् ॥
कैलासनिलयां देवीमायान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
एवं पश्चिमसन्ध्यायां वृद्धावस्थां सरस्वतीम् ॥
वर्णतः कृष्णवर्णां च चारुरूपां चतुर्भुजाम् ।

शङ्खचक्रगदापद्मधारिणीं विष्णुदैवताम् ॥
बदर्याश्रमवासां तामायान्तीं सूर्यमण्डलात् । इति ।
आवाह्येति । अयंचावाहनमन्त्रो वाजसनेयिनाम् ।
छन्दोगादीनां गोभिलादिभिर्मन्त्रान्तराभिधानात् । यथा

**गोभिलः,**

आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि ।
गायत्रि छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते ॥

**व्यासोऽपि,**

आवाहयेत्तु गायत्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
आगच्छ वरदे देवि जप्ये मे सन्निधौ भव ॥
गायन्तं त्रायसे यस्माद्गायत्री समुदाहृता ।

तेजोऽसीत्यस्य देवा ऋषयः गायत्री छन्दः शुक्रं दैवतं गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

आवाहनानन्तरमुपस्थानमाह स एव,

तुरीयं तु पदं तस्याः परे ब्रह्मपदे स्थितम् ।
उपस्थाय तुरीयेण जपेत्तां तु समाहितः ॥

तुरीयेण गायत्र्यस्येकपदीत्यादिना । तथाच गायत्रीमधिकृत्य—

**शतपथश्रुतिः,**

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदोमाप्रापदितीति ।

**बौधायनोऽपि,**

उपतिष्ठेद्वा एतां देवीं तुरीयेण पदेन अथाप्युदाहरन्ति गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदोमाप्रापदिति ।

तुरीयं पदं परोरजसेऽसावदोमित्यष्टाक्षरमिति तु स्मृतिचन्द्रिका ।

जपप्रकारमाह ओंकारः पूर्वमुच्चार्य इत्यादिना । एवं च गायत्र्यादावोंकारोच्चारणं न भवति किं तु व्याहृत्यादावेवेति सिद्धम् । जपोह्येवमित्यभिधानाद्यत्रयत्र गायत्र्या जप उक्तस्तत्रतत्र प्रणवादिव्याहृतित्रयपूर्विकायाः प्रणवान्तायास्तस्या जप इति परिभाषा । तेन श्राद्धादौ गायत्रीजपोऽप्येवमेवेति । अत्र केचित्,

तिष्ठेदोदयनात्पूर्वां मध्यमामपि शक्तितः ।
आसीतोडुद्गमाच्चान्त्यां सन्ध्यां पूर्वत्रिकं जपन् ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनेन त्रिकस्य प्रणवव्याहृतिगायत्र्यात्मकस्य जपविधानादन्ते प्रणवो नास्ति । अन्त्यप्रणवविधायकं योगियाज्ञवल्क्यं च सन्ध्यातिरिक्तजपपरमित्याहुः । तन्न । छन्दोगपरिशिष्टवचनवद्योगियाज्ञवल्क्यवचनस्यापि सन्ध्याप्रकरणीयत्वेन सन्ध्यातिरिक्तजपमात्रपरत्वे प्रमाणाभावात् । योगियाज्ञवल्क्यवचनानुसारेण प्रणवस्याप्यन्त्यजपेऽपि त्रिकातिरिक्ताजपेन त्रिकजपविधायकवाक्याविरोधाच्च । किं च परिशिष्टवाक्यस्य जपानुवादेनोत्थानादिविधायकत्वम् । अनुवादश्चैकदेशस्यापि । किं च गायत्र्याः प्रत्यहं जप इति जपविधायकयाज्ञवल्क्यवाक्ये गायत्रीमात्रश्रवणेऽपि वचनान्तरैकवाक्यतया प्रथमप्रणवव्याहृतिप्राप्तिवदन्त्यप्रणवप्राप्तिरप्यप्रत्यूहैवेति ।

**स्मृतिचन्द्रिकायां तु विशेषः** । तत्र ब्रह्मा,

छन्दो गायत्री गायत्र्याः सविता चैव देवता ।
शुक्लो वर्णो मुखं चाग्निर्विश्वामित्र ऋषिस्तथा ॥
त्रयी शिरः शिखा रुद्रो विष्णुर्हृदयमेव च ।
उपनयने विनियोगः सांख्यायनसगोत्रजा ॥
त्रैलोक्यं चरणं ज्ञेयं पृथिवी कुक्षिरेव च ।

एवं ध्यात्वा तु गायत्रीं जपेद् द्वादशलक्षणाम् ॥ इति ।

गायत्रीकल्पे तु प्रतिपादमप्यार्षादिकमुक्तम् । यथा

तत्सवितुरित्यस्य गायत्रीच्छन्दः विश्वामित्र ऋषिः ब्रह्मा देवता । भर्गो देवस्येत्यस्य गायत्री छन्दः विश्वामित्र ऋषिः विष्णुर्देवता । धियोयोन इत्यस्य गायत्री छन्दः विश्वामित्र ऋषिः रुद्रो देवता । अक्षराणां तु सर्वेषां प्रजापतिर्ऋषिः गायत्री छन्दः विनियोगोऽङ्गन्यासे देवतास्तु ब्रह्मोक्ता वेदितव्याः । यथा—

ब्रह्मा,

आग्नेयं प्रथमं तु स्याद्वायव्यन्तु द्वितीयकम् ।
तृतीयं सूर्यदैवत्यं चतुर्थं वैद्युतं तथा ॥
पञ्चमं यमदैवत्यं वारुणं षष्ठमुच्यते ।
बार्हस्पत्यं सप्तमन्तु पार्जन्यं चाष्टमं विदुः ॥
ऐन्द्रं तु नवमं प्रोक्तं गान्धर्वं दशमं स्मृतम् ।
पौष्णमेकादशं प्रोक्तं शैवं द्वादशकं स्मृतम् ॥
त्वाष्ट्रं त्रयोदशं प्रोक्तं वासवं तु चतुर्दशम् ।
मारुतं पञ्चदशकं सौम्यं षोडशकं स्मृतम् ॥
सप्तदशं त्वाङ्गिरसं वैश्वदेवमतः परम् ।
आश्विनं चैकोनविंशं प्राजापत्यं च विंशकम् ॥
सर्वदेवमयं प्रोक्तमेकविंशकमक्षरम् ।
रौद्रं द्वाविंशकं प्रोक्तं ब्राह्मं चैव ततः परम् ॥
वैष्णवं तु चतुर्विंशमेता अक्षरदेवताः ।
जपकाले तु मन्त्रिस्य तासां सायुज्यमाप्नुयात् ॥

तथाऽक्षरतत्त्वानि ।

अथ तत्त्वानि वक्ष्यामि अक्षराणां विशेषतः ।
पृथिवी ह्युदकं तेजो वायुरम्बरमेवच ॥

तुरीयं पदं परोरजसेऽसावदोमित्यष्टाक्षरमिति तु स्मृतिचन्द्रिका ।

जपप्रकारमाह ओंकारः पूर्वमुच्चार्य इत्यादिना । एवं च गायत्र्यादावोंकारोच्चारणं न भवति किं तु व्याहृत्यादावेवेति सिद्धम् । जपोह्येवमित्यभिधानाद्यत्रयत्र गायत्र्या जप उक्तस्तत्रतत्र प्रणवादिव्याहृतित्रयपूर्विकायाः प्रणवान्तायास्तस्या जप इति परिभाषा । तेन श्राद्धादौ गायत्रीजपोऽप्येवमेवेति । अत्र केचित्,

तिष्ठेदोदयनात्पूर्वां मध्यमामपि शक्तितः ।
आसीतोद्गमाच्चान्त्यां सन्ध्यां पूर्वत्रिकं जपन् ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनेन त्रिकस्य प्रणवव्याहृतिगायत्र्यात्मकस्य जपविधानादन्ते प्रणवो नास्ति । अन्त्यप्रणवविधायकं योगियाज्ञवल्क्यं च सन्ध्यातिरिक्तजपपरमित्याहुः । तन्न । छन्दोगपरिशिष्टवचनवद्योगियाज्ञवल्क्यवचनस्यापि सन्ध्याप्रकरणीयत्वेन सन्ध्यातिरिक्तजपमात्रपरत्वे प्रमाणाभावात् । योगियाज्ञवल्क्यवचनानुसारेण प्रणवस्याद्यन्तयोर्जपेऽपि त्रिकातिरिक्ताजपेन त्रिकजपविधायकवाक्याविरोधाच्च । किं च परिशिष्टवाक्यस्य जपानुवादेनोत्थानादिविधायकत्वम् । अनुवादश्चैकदेशस्यापि । किं च गायत्र्याः प्रत्यहं जप इति जपविधायकयाज्ञवल्क्यवाक्ये गायत्रीमात्रश्रवणेऽपि वचनान्तरैकवाक्यतया प्रथमप्रणवव्याहृतिप्राप्तिवदन्त्यप्रणवप्राप्तिरप्यप्रत्यूहैवेति ।

**स्मृतिचन्द्रिकायां तु विशेषः** । तत्र ब्रह्मा,

छन्दो गायत्री गायत्र्याः सविता चैव देवता ।
शुक्लो वर्णो मुखं चाग्निर्विश्वामित्र ऋषिस्तथा ॥
त्रयी शिरः शिखा रुद्रो विष्णुर्हृदयमेवच ।
उपनयने विनियोगः सांख्यायनसगोत्रजा ॥
त्रैलोक्यं चरणं ज्ञेयं पृथिवी कुक्षिरेवच ।

एवं ध्यात्वा तु गायत्रीं जपेद् द्वादशलक्षणाम् ॥ इति ।

गायत्रीकल्पे तु प्रतिपादमप्यार्षादिकमुक्तम् । यथा

तत्सवितुरित्यस्य गायत्रीच्छन्दः विश्वामित्र ऋषिः ब्रह्मा देवता । भर्गो देवस्येत्यस्य गायत्री छन्दः विश्वामित्र ऋषिः विष्णुर्देवता । धियोयोन इत्यस्य गायत्री छन्दः विश्वामित्र ऋषिः रुद्रो देवता । अक्षराणां तु सर्वेषां प्रजापतिर्ऋषिः गायत्री छन्दः विनियोगोऽङ्गन्यासे देवतास्तु ब्रह्मोक्ता वेदितव्याः । यथा—

ब्रह्मा,

आग्नेयं प्रथमं तु स्याद्वायव्यन्तु द्वितीयकम् ।
तृतीयं सूर्यदैवत्यं चतुर्थं वैद्युतं तथा ॥
पञ्चमं यमदैवत्यं वारुणं षष्ठमुच्यते ।
बार्हस्पत्यं सप्तमन्तु पार्ज्जन्यं चाष्टमं विदुः ॥
ऐन्द्रं तु नवमं प्रोक्तं गान्धर्वं दशमं स्मृतम् ।
पौष्णमेकादशं प्रोक्तं मैत्रं द्वादशकं स्मृतम् ॥
त्वाष्ट्रं त्रयोदशं प्रोक्तं वासवं तु चतुर्दशम् ।
मारुतं पञ्चदशकं सौम्यं षोडशकं स्मृतम् ॥
सप्तदशं त्वाङ्गिरसं वैश्वदेवमतः परम् ।
आश्विनं चैकोनविंशं प्राजापत्यं च विंशकम् ॥
सर्वदेवमयं प्रोक्तमेकविंशकमक्षरम् ।
रौद्रं द्वाविंशकं प्रोक्तं ब्राह्मं चैव ततः परम् ॥
वैष्णवं तु चतुर्विंशमेता अक्षरदेवताः ।
जपकाले तु सञ्चिन्त्य तासु सायुज्यमाप्नुयात् ॥

तथाऽक्षरतत्त्वानि ।

अथ तत्त्वानि वक्ष्यामि अक्षराणां विशेषतः ।
पृथिवी ह्युदकं तेजो वायुरम्बरमेवच ॥

गन्धो रसोऽथ रूपं च स्पर्शः शब्दोऽथ वागपि ।
हस्तावुपस्थं पायुश्च पच्छ्रोत्रं त्वक् च चक्षुषी ॥
जिह्वा घ्राणं मनस्तत्त्वमहङ्कारो महांस्तथा ।
गुणत्रयं च सततं क्रमशस्तत्त्वनिश्चयः ॥ इति ।

तथाऽक्षरशक्तयोऽपि ।

सद्दा नित्या विश्वहृदया विलासिनी प्रभावती लोला शान्ता शान्तिः दुर्गा सरस्वती विष्णुरूपा विशा लीलावती विमला तमोमयी हिरण्यरूपा सुकर्मा विश्वयोनिर्ज्जयावहा पद्मालया वरा शोभना गदा रूपेति शक्तयः इति ।

तत्रैव व्यासः,

हृदि तत्सवितुर्न्यस्य न्यसेत्कण्ठे वरेणियम् ।
भर्गोदेवस्येति खण्डं शिखायां तु ततो न्यसेत् ॥
धीमहीति न्यसेद्वक्त्रे धियोयोनश्च नेत्रयोः ।
प्रचोदयादिति पदमस्त्रार्थे विनियोजयेत् ॥
ॐभूरङ्गुष्ठयोर्न्यस्य ॐभुवस्तर्ज्जनीद्वये ।
ॐस्वश्चैव तथा न्यस्य मध्यमायां यतेन्द्रियः ॥
अनामिकाद्वये धीमान्न्यसेत्तत्पदमग्रतः ।
कनिष्ठिकाद्वये भर्गः पाण्योर्मध्ये धियःपदम् ॥
ॐभूर्विन्यस्य हृदये ॐभुवः शिरसि न्यसेत् ।
ॐस्वः शिखायां विन्यस्य गायत्र्याः प्रथमं पदम् ॥
विन्यसेत्कवचे धीमान्द्वितीयं नेत्रयोर्न्यसेत् ।
तृतीयेनास्त्रं विन्यस्य चतुर्थं सर्वतो न्यसेत् ॥ इति ॥

तत्रैव ब्रह्मा,

तत्कारं विन्यसेत्स्वाङ्गे पादाङ्गुष्ठद्वये द्विजः ।
सकारं गुल्फदेशे तु विकारं जङ्घयोर्न्यसेत् ॥

जान्वास्तु विद्धि तुःकारं वकारं चोरुदेशतः ।
रेकारं विन्यसेद् गुह्ये णिकारं वृषणे न्यसेत् ॥
कटिदेशे तु यकारं भकारं नाभिमण्डले ।
र्गोकारं जठरे योगी देकारं स्तनयोर्न्यसेत् ॥
वकारं हृदि विन्यस्य स्यकारं कण्ठएवतु ।
धीकारमास्ये विन्यस्य मकारं तालु मध्यतः ॥
हिकारं नासिकाग्रे तु धिकारं नयनद्वये ।
भ्रुवोर्मध्ये तु योकारं ललाटे योद्वितीयकम् ॥
पूर्वानने तु नःकारं प्रकारं दक्षिणानने ।
चोकारं पश्चिमे न्यस्य दकारं चांमउत्तरे ॥
विन्यसेन्मूर्ध्नि यात्कारं सर्वव्यापिनमीश्वरम् ।
अत्र सर्वे मन्त्राः सप्रणवा नमोऽन्ताश्च ।
तथाच भृगुः,
ॐकारमादावुच्चार्य मन्त्रबीजमनन्तरम् ।
नाम ग्राह्यं नमोऽन्तं च जपन्यासः प्रकीर्त्तितः ॥ इति ।
ततो वर्णध्यानं कुर्यात् । तदाह—
ब्रह्मा,
कृत्वा चैवेदृशं न्यासमशेषं पापनाशनम् ।
पश्चात्समाचरेत् ध्यानं वर्णरूपसमन्वितम् ॥
तत्कारं चम्पकाकारं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
शान्तं पद्मासनारूढं ध्यायेत्स्वस्थानसंस्थितम् ॥
सकारं चिन्तयेद्व्यामामतसीपुष्पसन्निभम् ।
पद्ममध्यस्थितं सौम्यमुपपातकनाशनम् ॥
विकारं कपिलं चिन्त्य कपिलासनसंस्थितम् ।
ध्यायेच्छान्तं द्विजश्रेष्ठ महापातकनाशनम् ॥

तुःकारं चिन्तयेत्प्राज्ञ इन्द्रनीलसमप्रभम् ।
निर्दहेत्सर्वदुःखं तु उग्ररोगसमुद्भवम् ॥
वकारं वह्निदीप्ताभं चिन्तयेत्तु विचक्षणः ।
भ्रूणहत्याकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
रेकारं विमलं ध्यायेत् शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
पापं नश्यति तत्क्षिप्रमगम्यागमनोद्भवम् ॥
णिकारं चिन्तयेद्योगी विद्युतस्फटिकसन्निभम् ।
अभक्ष्यभक्षजं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
यकारं तारकावर्णमिन्दुरेखाविभूषितम् ।
योगिनां वरदं ध्यायेद् ब्रह्महत्याविनाशनम् ॥
भकारं कृष्णवर्णं तु नीलमेघसमप्रभम् ।
ध्यात्वा पुरुषहत्यादिपापं नाशयति द्विजः ॥
र्गोकारं रक्तवर्णं तु कमलासनसंस्थितम् ।
गोहत्यादिकृतं पापं नाशयन्तं विचिन्तयेत् ॥
देकारं रक्तसङ्काशं कमलासनसंस्थितम् ।
सन्ततं चिन्तयेद्योगी स्त्रीहत्यादहनं परम् ॥
वकारं शुक्लवर्णं तु जातीपुष्पसमप्रभम् ।
गुरुतल्पकृतं पापं ध्यात्वा दहति तत्क्षणात् ॥
स्यकारं तु तथा पीतं सुवर्णसदृशप्रभम् ।
मनसा चिन्तितं पापं ध्यात्वा दहति चानघ ॥
धीकारं चिन्तयेच्छुक्लं कुन्दपुष्पसमप्रभम् ।
पितृमातृवधात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
मकारं पद्मरागाभं चिन्तयेद्दीप्ततेजसम् ।
पूर्वजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
हिकारं शङ्खवर्णं तु पूर्णचन्द्रसमप्रभम् ।

अशेषपापदहनं ध्यायेन्नित्यं विचक्षणः ॥
धिकारं पाण्डुरं ध्यायेत्पद्मस्योपरि संस्थितम् ।
प्रतिग्रहकृतं पापं स्मरणादेव नश्यति ॥
योकारं रक्तवर्णं तु इन्द्रगोपसमप्रभम् ।
ज्ञात्वा प्राणिवधे पापं निर्दहेन्मुनिपुङ्गव ॥
द्वितीयश्चैव यः प्रोक्तो योकारो रुक्मसन्निभः ।
निर्दहेत्सर्वपापानि नान्यैः पापैश्च लिप्यते ॥
नःकारं तु मुखं पूर्वमादित्योदयसन्निभम् ।
सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठ स गच्छेदीश्वरं पदम् ॥
नीलोत्पलदलश्यामं प्रकारं दक्षिणामुखम् ।
सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठ स गच्छेद्वैष्णवं पदम् ॥
सौम्यं गोरोचनापीतं चोकारं चोत्तराननम् ।
सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठ स गच्छेद्दैवतं पदम् ॥
शुक्लवर्णेपुसङ्काशं दकारं पश्चिमाननम् ।
सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठ स गच्छेद् ब्रह्मणः पदम् ॥
यात्कारस्तु शिरः प्रोक्तं चतुर्वदनसन्निभः ।
प्रत्यक्षफलदो ब्रह्मविष्णुरुद्रा इति स्थितिः ॥
एतद् ज्ञात्वा तु मेधावी जपं होमं करोति यः ।
न भवेत् सूतकं तस्य मृतकं च न विद्यते ॥
साक्षाद्भवत्यसौ ब्रह्मा स्वयम्भूः परमेश्वरः ।
यस्त्वेवं न विजानाति गायत्रीं तु यथाविधि ॥
कथितं सूतकं तस्य मृतकं च मयाऽनघ ।
नैव दानफलं तस्य नैव यज्ञफलं भवेत् ॥
न च तीर्थफलं प्रोक्तं तस्यैवं सूतके सति । इति ।
गायत्रीमुद्राऽपि तत्रैव यथा ब्रह्मा,

अथातो दर्शयेन्मुद्राः सुमुखं सम्पुटं तथा ।
ततो विततविस्तीर्णे द्विमुखत्रिमुखे ततः ॥
चतुर्मुखं पञ्चमुखं षण्मुखाधोमुखे ततः ।
व्यापकाञ्जलिकाख्यं च शकटं तदनन्तरम् ॥
यमपाशं च ग्रथितं ततः स्यात्संमुखोन्मुखम् ।
प्रलम्बो मुष्टिको मीनः कूर्मो वाराह एवच ॥
सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं ततो मुद्गरपल्लवौ ॥ इति ।
एतासां लक्षणमाह स एव,
सुमुखं सन्धितौ हस्तावुत्तानौ कुञ्चिताङ्गुली ।
सम्पुटं पद्मकोशाभौ करावन्योन्यसंहतौ ॥
विततं संहतौ हस्तावुत्तानावायताङ्गुली ।
विस्तीर्ण संहतौ पाणी मिथो मुक्ताङ्गुलिद्वयौ ॥
संमुखासक्तयोः पाण्योः कनिष्ठाद्वययोगतः ।
शेषाङ्गुलीनां वैकल्ये द्विमुखत्रिमुखादयः ॥
शेषाङ्गुलीनां संयोगात्पूर्वसंयोगनाशनम् ।
तिर्यक् संयुज्यमानाग्रौ संयुक्ताङ्गुलिमण्डलौ ॥
हस्तौ षण्मुखमित्युक्ता मुद्रा मुद्राविशारदैः ।
आकुञ्चिताग्रौ संयुक्तौ न्युब्जौ हस्तावधोमुखम् ॥
उत्तानौ तादृशावेव व्यापकाकुञ्चितौ करौ ।
अधोमुखौ बद्धमुष्टी मुक्ताग्राङ्गुष्ठकौ करौ ।
शकटं नाम कथितं यमपाशमतः परम् ॥
बद्धमुष्टिकयोः पाण्योरुत्ताना वामतर्ज्जनी ।
कुञ्चिताग्राऽन्यया मुक्ता तर्ज्जन्या न्युब्जवक्रया ॥
उत्तानसन्धिसंलीनबद्धाङ्गुलिदलौ-करौ ।
संमुखौ घटितौ दीर्घाङ्गुष्ठौ ग्रथितमुच्यते ॥

सन्धितोर्ध्वाङ्गुलिर्वामस्तादृशा दक्षिणेन तु ।
अधोमुखेन संयुक्तः संमुखोन्मुखमुच्यते ॥
उत्तानोन्नतकोटी च प्रलम्बः कथितौ करौ ।
मुष्टी चान्योन्यसंयुक्तावुत्तानौ मुष्टिकौ भवेत् ॥
मत्स्यस्तु संमुखीभूतौ युक्तानामिकनिष्ठिकौ ।
ऊर्ध्वसंयुक्तवक्त्राग्रा शेषाङ्गुलिदलौ करौ ॥
अधोमुखः करो वामस्तादृशा दक्षिणेन तु ।
पृष्ठदेशे समाक्रान्तः कूर्मो नामाभिधीयते ॥
ऊर्ध्वमध्ये वामभुजः कक्षाभ्यामाश्रयेत्करे ।
वराहः कथ्यते कक्षसमीपाश्रयके करे ॥
सिंहाक्रान्तं समाख्यातं कर्णार्पितकरावुभौ ।
किञ्चिदाकुञ्चिताग्रौ च महाक्रान्तं ततः परम् ॥
ऊर्ध्वं किञ्चिद् गतौ पाणी मुद्गरो नाम तर्जनी ।
ग्रस्ता दक्षिणहस्तेनेत्याहुर्मुद्राविशारदाः ॥
अधोमुखः स्थितो मूर्ध्नि पल्लवो दक्षिणः करः । इति ।

अत्र महासंहितोक्तो विशेषः ।

न जानन् दर्शयेन्मुद्रा महाजनसमागमे ।
क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य विफलं च भवेदिति ॥ इति ।
गायत्रीकवचमपि तत्रैव ।

ॐमिति हृदये भूरिति मुखे भुव इति शिरसि स्वरिति सर्वाङ्गइति ।

तत्रैव व्यासः,

विन्यस्यैवं जपेद्यस्तु गायत्रीं वेदमातरम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति व्यासस्य वचनं यथा ॥
स्वरूपं यः पुनस्तस्या ज्ञात्वोपास्ते यथाविधि ।

गृह्णन् दोषैर्न लिप्येत रत्नपूर्णां वसुन्धराम् ॥
यथाकथञ्चिज्जप्ता सा देवी परमपावनी ।
सर्वकामप्रदा प्रोक्ता किं पुनर्विधिना नृप ॥ इति ।

एते च न्यासादयो योगियाज्ञवल्क्यादिभिरनभिहिता अपि फलाधिक्यार्थं षडङ्गन्यासावसरे कैश्चिच्छिष्टैरनुष्ठीयन्ते नत्वावश्यकत्वेनेति ध्येयम् । ततश्च—

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् ।
सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदाऽऽदित्यदर्शनात् ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनानुसारेण,

तिष्ठेदोदयनात्पूर्वां मध्यमामपि शक्तितः ।
आसीतोद्गमाच्चान्त्यां सन्ध्यां पूर्वत्रिकं जपन् ॥

इतिछन्दोगपरिशिष्टवचनानुसारेण,

उपास्य सन्ध्यां मध्याह्ने क्षिपेदर्घं च पूर्ववत् ।
गायत्रीं च जपेत्सम्यक् तिष्ठन्नासीन एव वा ॥

इति बृहन्नारदीयवचनानुसारेण,

तिष्ठंश्चेद्वीक्षमाणोऽर्कं जपं कुर्यात्समाहितः ।
अन्यथा प्राङ्मुखः कुर्याद्वक्ष्यमाणक्रमेण तु ॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवचनानुसारेण च वक्ष्यमाणजपविधिना गायत्रीं जपेत् । ततश्च—

तत्रावाह्य जपित्वा च नमस्कृत्य विसर्जयेत् ।

इतियोगियाज्ञवल्क्यवचनान्नमस्कृत्य तां विसर्जयेत् । अत्र विसर्जने—

महेशवदनोत्पन्ना विष्णोर्हृदयसंस्थिता ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता गच्छ देवि यथेच्छया ॥

इति मन्त्रः पाठ्य इत्यनिरुद्धादयः ।

उत्तरे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतवासिनि।
ब्रह्मणा समनुज्ञाते गच्छ देवि यथोदितम्॥

इति विसर्ज्जनमन्त्र इति तु पारिजातः। केचित्तु देवागात्विति मन्त्रेण विसर्ज्जनं वदन्ति। अनिरुद्धस्तु गायत्रीजपानन्तरं छन्दोगानां विशेषमाह। यथा,

अनेन जपेन भगवन्तावादित्यशुक्रौ प्रीयेतामित्युच्चार्य आदित्यशुक्राभ्यां नम इति सपुष्पं जलाञ्जलिं दद्यात्। ततः कश्यप ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दोऽग्निर्देवता आत्मरक्षार्थे विनियोगः इति स्मृत्वा जातवेदसे इत्यादिमन्त्रेण शिरसि रक्षां कुर्यात्। ततः कालाग्नि ऋषिरनुष्टुप्छन्दो रुद्रो देवता रुद्रोपस्थाने विनियोगः इति स्मृत्वा,

ॐ ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वलिङ्गं विरूपाक्षं विश्वरूपं नमोनमः॥

इति रुद्रमुपतिष्ठेत। ततश्च ब्रह्मणे नमः। अद्भ्यो नमः। वरुणाय नमः। विष्णवे नमः। रुद्राय नमः। इति प्रत्येकमञ्जलिं दद्यादित्याह। तत्रात्मरक्षायां रक्षाऽन्ते वारिणाऽऽत्मानमिति परिशिष्टवचनमेव प्रमाणम्। अन्ते रक्षा कार्येति तदर्थकरणात्। रुद्रोपस्थाने तु—

वेदमादित आरभ्य शक्तितोऽहरहर्जपेत्।
उपतिष्ठेत्ततो रुद्रमर्वाग्वा वैदिकाज्जपात्॥

इति सन्ध्याप्रयोगानन्तरोक्तं परिशिष्टवचनमेव प्रमाणम्। अन्यत्रचाचार एव प्रमाणमिति।

केचित्सन्ध्याप्रयोगानन्तरं सूर्यायार्घं प्रयच्छन्ति नृसिंहपुराणीयं वाक्यं पठन्ति च। यथा,

अर्घं दद्यात्तु सूर्याय त्रिकालेषु यथाक्रमात्।
अशक्त एककाले तु मध्याह्ने तु विशेषतः॥
सन्ध्यां कृत्वाऽञ्जिर्दत्त्वाऽर्घं ततः पश्येद्दिवाकरम्। इति।

वस्तुतस्तु सन्ध्यां कृत्वेति तर्प्पणाकरणे बोध्यम्। तर्प्पणकरणे तु वक्ष्यमाणविष्णुपुराणादिवाक्येन तर्प्पणानन्तरं तत्प्रतिपादनात्तदेव तदुचितमित्यस्माभिरपि तत्रैव तल्लिख्यम्। अत्रायं निर्णयः। स्वस्वगृह्यानुसारेण सन्ध्याप्रयोगेऽनुष्ठितएव प्रत्यवायपरिहारः, अधिकानुष्ठानं त्वानुषङ्गिकफलभूयस्त्वार्थमेव।

बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम्।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत्॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनात्।

यत्र स्यात्कृच्छ्रभूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनीषिणः।
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्छ्रेयो ह्यवाप्यते॥

इति तद्वचनाच्च। ऋग्वेदिनां तु यथायथं प्रागुक्ते सांख्यायनोक्ते आश्वलायनोक्ते वा प्रयोगेऽनुष्ठिते एव प्रत्यवायपरिहारः। वक्ष्यमाणशौनकोक्तप्रयोगस्त्वानुषङ्गिकफलभूमार्थः। येषां तु स्वगृह्ये संध्याप्रयोगो नोक्तस्तैः—

यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि यत्।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमितिछन्दोगपरिशिष्टवचनानुसारेण योगियाज्ञवल्क्याद्युक्तः पौराणिको वा प्रयोगो ग्राह्यः। तत्र कूर्मपुराणीयः प्रयोगो बृहन्नारदीयप्रयोगश्च सन्ध्यापदार्थनिर्णयप्रसङ्गे प्रागभिहितः। नृसिंहपुराणीयस्तु—

दर्भेषु दर्भपाणिः सन्प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
प्राणायामांस्तु कुर्वीत यथाशास्त्रमतन्द्रितः॥
जपेदहरहः स्नात्वा सावित्रीं जपविद् द्विजः।
अथ पुष्पाञ्जलिं क्षिप्त्वा भावने चोर्ध्वबाहुकः॥
उदुत्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि।
प्रदक्षिणमुपावृत्य नमस्कृत्य ततः प्रभुम्॥

दर्भेष्विति श्रवणेन स्थलएवेदं सन्ध्यावन्दनं, यत्र तु जले स्थले वेति विशेषो नोपलभ्यते तत्रोभयत्रापि तदनुष्ठानमविरुद्धम्। अत एव—

मार्ज्जनं जलमध्ये तु प्राणायामो यतस्ततः।
उपस्थानं ततः पश्चात्सावित्रीजप उच्यते॥

इत्यनेन बृहस्पतिना स्नानाङ्गभूतं मार्जनं जलमध्ये उक्त्वा सन्ध्याङ्गभूतप्राणायामो यतस्ततो जले स्थले वेत्युक्तम्। एवं चोपस्थानपर्यन्ता सन्ध्या जलेऽप्यविरुद्धा, गायत्रीजपस्तु स्थलएव।

कदाचिदपि नो विद्वान् गायत्रीमुदके जपेत्।
गायत्र्यग्निमुखी यस्मात्तस्मादुत्थाय ताञ्जपेत्॥

इति गोभिलवाक्यात्। अत्र प्रतिप्रसववाक्यं वृद्धमनुनाम्ना केचित्पठन्ति,

यदि स्यात् क्लिन्नवासा वै गायत्रीमुदके जपेत्।
अन्यथा तु शुचौ भूम्यां कुशोपरि समाहितः॥ इति।

## अथ शौनकोक्तं सन्ध्यावन्दनम्।

अथ वक्ष्ये बहृचानां सन्ध्याकर्मविधिक्रमम्।
त्रैवर्णिकानां सर्वेषां चतुराश्रमवासिनाम्॥
यत्सन्ध्यावन्दनं सर्वस्मृतिष्वत्र तथोच्यते।
तत्रापामन्तिकं प्राप्य ब्रह्मसूत्रधरो भवेत्॥
नासिकामङ्गुलीभिश्च तर्ज्जनीमध्यमादृते।
दक्षिणेन समाकृष्य सव्येन तु विसर्ज्जयेत्॥
प्रणवं व्याहृतीः सप्त गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥
शनैर्नासापुटे वायुमुत्सृजेन्नतु वेगतः।
न कम्पयेच्छरीरं तु स योगी परमो मतः॥

प्राणानायम्य विधिवद्वाग्यतः संयतेन्द्रियः ।
अथ सन्ध्यामुपासिष्यइति सङ्कल्प्य मार्ज्जयेत् ॥
तिसृभिर्मार्ज्जनं कुर्यादापोहीति कुशोदकैः ।
पादेपादे क्षिपेन्मूर्ध्नि प्रतिप्रणवसंयुतम् ॥
आत्मानं प्रणवेनैव परिषिच्य जलैस्ततः ।
सूर्यश्चेत्यनुवाकेन प्रातःकाले पिबेदपः ॥
अग्निश्चेत्यनुवाकेन सायङ्काले पिबेदपः ।
आपः पुनन्तु मध्याह्ने मन्त्राचमनमाचरेत् ॥
विसृज्य दर्भानाचम्य कुशपाणिश्च मार्ज्जयेत् ।
प्रणवेनैव व्याहृत्या गायत्र्या प्रणवाद्यया ॥
आपोहिष्ठेन सूक्तेन मार्जनं हि चतुर्थकम् ।
ऋगादौ प्रणवं चोक्त्वा ऋगन्ते मार्ज्जनं ततः ॥
उद्धृत्य दक्षिणेनैव जलं गोकर्णवत्कृतम् ।
निश्वासं नासिकाग्रे तु पाप्मानं पुरुषं स्मरेत् ॥
ऋतञ्चेतामृचं वापि द्रुपदां वा जपेत् ऋचम् ।
दक्षनासापुटेनैव पापात्मानमपोहयेत् ॥
तज्जलं नावलोक्यार्थं वामभागे क्षितौ क्षिपेत् ।
विसृज्य दर्भांस्तत्रैव धृत्वा दर्भांस्ततः परम् ॥
पाणिभ्यां जलमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
रवेरभिमुखस्तिष्ठन् त्रिरूर्ध्वं सन्ध्ययोः क्षिपेत् ॥
असावादित्यमन्त्रेण प्रदक्षिणमतः परम् ।
अपः स्पृष्ट्वा दक्षिणे तु पश्चाद्दर्भान् विसर्ज्जयेत् ॥
मध्याह्ने तु विशेषोऽयमुपस्थानं तथाऽर्घ्यकम् ।
अपामञ्जलिना पूर्णम् आकृष्णेनेति निक्षिपेत् ॥
समाप्तौ तु कुशान् भूमौ तत्र तिष्ठन्समाहितः ।

धृत्वा पवित्रं सम्प्रोक्ष्य जपस्थानं कुशोदकैः ॥
आधारादीन्नमस्कृत्य कुशाग्रैरासनं ततः।
बध्वा पद्मासनं वापि स्वस्तिकं वा यथाविधि ॥
दिशोऽष्टधा विभक्तायाः प्रतीच्या भागसप्तकम्।
हित्वा दक्षिणतोऽन्यस्तु योऽष्टमो भाग उत्तरः ॥
अस्याभिमुखतां प्राप्तो भूत्वा प्रयतमानसः।
जपन्नासीत सावित्रीं सन्ध्यां कृत्स्नामतन्द्रितः ॥
प्रभातकाले चागस्य पुरस्तादुदकान्तिकम्।
सर्वाण्युदककार्याणि प्राग्सन्ध्यावदाचरेत् ॥
अपामाचमनं तत्र सूर्यश्चेत्यनुवाकतः।
पूर्वोत्तराशाभिमुखो भूत्वा प्रयतमानसः ॥
जपंस्तिष्ठेत्तु सावित्रीं संध्यां तां सकलां ततः।
प्राणायामत्रयं कृत्वा यथाविधि अतन्द्रितः ॥
अहोरात्रकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति।
प्राणायामैर्य आत्मानं संयम्यास्ते पुनः पुनः ॥
दशद्वादशभिर्वापि चतुस्त्रिर्वा परन्तपः।
ॐकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयस्तथा ॥
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।
भूर्भुवः स्वरोमिति जप्त्वाऽऽहृत्यासनं ततः ॥
व्याहृतिभिर्हि विन्यस्य सावित्र्याच षडङ्गकम्।
प्राणायामं धारयेत्त्रिर्यथाविधि समाहितः ॥
आयात्वित्यनुवाकेन सावित्रीमाह्वयेत्क्रमात्।
ऋष्यादीनि ततः स्मृत्वा सायामीनो जपेत्सदा ॥
सायं प्रातश्च मध्याह्ने सावित्रीं वाग्यतो जपेत्।
आरम्भयज्ञात् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ॥

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ॥
शुद्धिकामः प्रयुञ्जीत सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
ऋष्यादिलक्षणं ज्ञात्वा गुरुप्रोक्तेन मार्गतः ॥
षडङ्गमन्त्रैर्विन्यस्य योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
गायत्रीं संस्मरेद्धीमान् हृदि वा सूर्यमण्डले ॥
कल्पोक्तलक्षणेनैव ध्यात्वाऽभ्यर्च्य ततो जपेत् ।
मनःसन्तोषणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः ।
कृत्वोत्तानौ करौ प्रातः सायं चाधोमुखौ ततः ॥
मध्ये स्तब्धकराभ्यां तु जप एवमुदाहृतः ।
नक्षत्रदर्शनादूर्ध्वं जपेदासूर्यदर्शनात् ॥
अर्द्धास्तमयमारभ्य जपेदाऋक्षदर्शनात् ।
तत उद्वास्य सावित्रीमुत्तमेत्यनुवाकतः ॥
सायम्प्रातरुपस्थानं कुर्यान्मन्त्रैर्यथाक्रमम् ।
जातवेदस इत्येका तच्छंयोरावृणीमहे ॥
नमोब्रह्मण इत्येतां त्रिरुक्त्वाऽथ दिशो नमेत् ।
इमं मे वरुण तत्त्वेति सायङ्काले विशेषतः ॥
मित्रस्यचर्षणी द्वाभ्यां प्रातःकाले विशेषतः ।
सवितुर्मण्डलं पश्यन्नुपतिष्ठेद्दिवाकरम् ॥
ऊर्ध्वबाहुः पठेत्सूक्तम् उदुत्यञ्जातवेदसम् ।
तच्चक्षुरितिसूक्तं च हंसःशुचिषदित्यपि ॥
एवमन्यानि सौर्याणि जपन्पश्येद्दिवाकरम् ।
आत्मपादौ तथा भूमिं सन्ध्याकालेऽभिवादयेत् ॥
नत्वा गुरूंस्तथा सूर्यं द्विजांश्चापि विशेषतः । इति ।

अस्यार्थः । सन्ध्याकर्मविधिक्रममिति । सन्ध्याकर्मानुष्ठानक्रमित्यर्थः । चतुराश्रमवासिनामिति चतुर्थाश्रमविशेषाभिप्रायेण । परमहंसस्य सन्ध्यानिषेधात् । तद्यथा सन्ध्यावदनं सर्वस्मृतिष्वभिहितं तथाऽत्रोच्यते इत्यर्थः । अपामन्तिकं प्राप्येति देशान्तरस्याप्युपलक्षणम् ।

गृहे तु प्राकृती सन्ध्या गोष्ठे शतगुणा स्मृता ।
नदीषु शतसाहस्री अनन्ता देवसन्निधौ ॥

इति शातातपवाक्येन सन्ध्यावन्दने देशान्तरस्याप्यभिधानात् । नासिकामिति । तर्जनीमध्यमे विहायेतराङ्गुलीभिर्नासिकां, धृत्वेति शेषः । दक्षिणेनेति । सव्येन समाकृष्य दक्षिणेन विसर्जयेदित्यर्थः । प्रणवमिति । प्रणवं सप्तव्याहृतीः गायत्रीं तच्छिरश्च कुम्भके त्रिः पठेदित्येष प्राणायाम इत्यर्थः । अयमेवार्थः स्पष्टतयोक्तः शङ्खस्मृतौ,

दक्षिणे रेचकं कुर्याद्वामेनापूर्य चोदरम् ।
कुम्भकेन जपं कुर्यात्प्राणायामस्य लक्षणम् ॥

इति प्रयोगपारिजाते । गायत्रीशिरश्च ओमापो ज्योतिरित्यादि । प्रणवश्च सप्तव्याहृतीनां प्रत्येकमुपक्रमेषु गायत्र्याश्चोपक्रमे, शिरसश्चाद्यन्तयोः पठनीयः ।

यथाह कात्यायनः,

एता एतां सहानेन तथैभिर्दशभिः सह ।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ इति ।

एता व्याहृतीः, एतां गायत्रीम्, अनेन शिरसा, एभिः प्रणवैः सह । रेचके गुणं विधातुमाह शनैरिति । न कम्पयेदिति । प्राणायामं कुर्वता शरीरकम्पनं न कर्त्तव्यमित्यर्थः । प्राणानायम्येति पूर्वोक्तानुवादः सन्ध्योपासनसङ्कल्पस्य प्राणायामोत्तरत्वज्ञापनार्थः । प्रा-

ज्जयेदित्युक्तम् मार्ज्जनं विशिष्याह तिसृभिरिति । आपोहिष्ठे-त्याद्या एका ऋक् । योवः शिवतम इत्याद्या अपरा । तस्माअर-ङ्गेत्याद्या अपरा । एवं तिसृभिर्ऋग्भिरित्यर्थः । पादेपादइति । ऋचः प्रतिपादम् । आदौ प्रणवमुच्चार्य पादान्ते मूर्ध्नि कुशोदकं क्षिपेदि-त्यर्थः । आत्मानमिति । केवलप्रणवेनात्मानं परिषिञ्चेदित्यर्थः । मन्त्राचमनोत्तरभाविनि मार्ज्जने विशेषमाह प्रणवेनैवेति । आ-पोहिष्ठेनेति । आपोहिष्ठेत्याद्या नव ऋचः सूक्तमिति प्रसिद्धाः । मार्जनं हि चतुर्थकम् इति प्रणवादिगता संख्या मार्ज्जने उपचर्यते । ऋगादावित्यादिना पृथङ्मार्ज्जनानां वक्ष्यमाणतया मार्ज्जनाना-माधिकत्वात् प्रणवादिभिश्चतुर्भिर्मार्जनं कुर्यादित्यर्थः । ऋगादा-विति । आद्यमार्जनं पादेपादे इदं तु ऋगन्तइति विशेषः । उद्धृत्ये-ति । दक्षिणहस्तेन जलं गृहीत्वा तद्धस्तं गोकर्णवत् कृत्वं श्वासरहि-तनासाग्रे धृत्वा पाप्मा पुरुषः स्वदेहं व्याप्यावस्थित इति चिन्त-येदित्यर्थः । दक्षेति । दक्षिणपुटनासाग्रमार्गेण स पाप्मा नासाधृत-जले प्रविष्ट इति चिन्तयेदित्यर्थः । अनयोरिव सन्ध्ययोः प्रातः-सन्ध्यासायंसन्ध्ययोः । मध्याह्नसन्ध्यायां विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अर्घ्यदाने च गायत्र्याऽपि त्रिरावृत्तिमिति प्रागेवाभिहितम् । असा-वादित्येति । असावादित्यो ब्रह्मेति मन्त्रेणेत्यर्थः । दक्षिणे अपः स्पृष्ट्वेत्यन्वयः । दक्षिणे दक्षिणहस्तइत्यर्थः । उपस्थानमिति । उप-स्थाने विशिष्य कर्त्तव्यमित्यर्थः । उपस्थाने विशेषश्चाग्रे वक्ष्यते । तथार्घ्यकमिति । एकवचनेन त्रित्वनिवृत्तिः । आकृष्णेनेति । आ-कृष्णेन रजसेत्यादिमन्त्रेणेत्यर्थः । अनेन गायत्री निवर्त्यते । समा-प्ताविति । अर्घ्यदानान्तकर्मवृन्दसमाप्तावित्यर्थः । कुशान् भूमौ, वि-सृज्येति शेषः । आधारादीन्नमस्कृत्येति । आधारशक्त्यै नमः । कूर्माय नमः । अनन्ताय नमः । पृथिव्यै नमः । वास्तुपुरुषाय नमः ।

विश्वशक्त्यै नमः। मायाशक्त्यै नमः। इत्येवमाधारशक्त्यादीन्नमस्कृत्य इत्यर्थः। आसनं कुर्यादिति शेषः। बद्ध्वा पद्मासनं वापीतिबद्ध्वा कृत्वेत्यर्थः। पद्मासनादिलक्षणं च—

कूर्मपुराणे उक्तम्,

आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्द्धासनं तथा ।
आसनानां च सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे ।
समासीतात्मनः प्रोक्तमेतत्पद्मासनं शुभम् ॥
एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि सत्तमः ।
आसनार्धमिति ज्ञेयं योगसाधनमुत्तमम् ॥
उभे कृते पादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ।
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥ इति ।

दिश इति। प्रतीचीं दिशमष्टधा विभज्य दक्षिणतो भागसप्तकं हित्वोत्तरतो योऽष्टमो भागस्तदभिमुख इत्यर्थः। सन्ध्यां कृत्स्नामिति। अत्र सन्ध्याशब्देन सन्ध्याकालोऽभिप्रेतः। सर्वाण्युदककार्याणीत्युक्त्वा मन्त्राचमनमपि सायंसन्ध्यावदिति भ्रमः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं पूर्वोक्तमेव विशेषं स्मारयति अपामिति। पूर्वोत्तराशा ईशानी दिक् तदभिमुख इत्यर्थः। विशेषान्तरमाह जपंस्तिष्ठेत्त्विति। सर्वसन्ध्यासु गायत्रीजपश्च प्राणायामत्रयोत्तरं कर्तव्य इत्याह प्राणायामत्रयमिति। एतत्प्रकारस्तु भूर्भुवःस्वरित्यादिनाऽग्रे वक्ष्यते। यथाविधि अतन्द्रित इति। अत्र सन्ध्यभावो वैकल्पिकः। प्राणायामे संख्यान्तरविधानायोक्तम् अहोरात्रकृतमित्यादि। दशद्वादशादिसंख्यायुक्तैः प्राणायामैर्य आत्मानं नियम्यास्ते तस्याहोरात्रकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यतीत्यन्वयः। गायत्रीजपप्रशंसार्थमाह ॐकारेति। व्याहृतिभिर्हि विन्यस्येति प्रणवस्याप्युपलक्षणम्।

योगियाज्ञवल्क्ये तथा दर्शनात् । तद्विन्यासप्रकारो—

योगियाज्ञवल्क्येनोक्तः,

प्रणवो भूर्भुवः स्वश्च अङ्गानि हृदयादयः ।

त्रिरावर्त्येति । व्याख्यातं चैतत् श्रीदत्तेन । ॐहृदयाय नमः ॐभूः शिरसे स्वाहा ॐभुवः शिखायै वषट् ॐस्वः कवचाय हुं ॐभूर्भुवःस्वर्नेत्राभ्यां वौषट् ॐभूर्भुवः स्वः अस्त्राय फट् इत्युक्तमन्त्रोक्ताङ्गेषु त्रिरावृत्त्येति । सावित्र्या च षडङ्गकमिति । तथा षडङ्गन्यासो व्यासेन दर्शितः,

हृदि तत्सवितुर्न्यस्य न्यसेत्कण्ठे वरेणियम् ।
भर्गोदेवस्येति खण्डं शिखायां तु ततो न्यसेत् ॥
धीमहीतिं न्यसेद्वक्त्रे धियोयोनश्च नेत्रयोः ।
प्रचोदयादिति पदमस्त्रार्थे विनियोजयेत् ॥ इति ।
तथाऽन्यदपि प्रकारद्वयं तेनैव दर्शितम्,
ॐभूरङ्गुष्ठयोर्न्यस्य ॐभुवस्तर्जनीद्वये ।
ॐस्वश्चैवं तथा न्यस्य मध्यमायां यतेन्द्रियः ॥
अनामिकाद्वये धीमान् न्यसेत् तत्पदमग्रतः ।
कनिष्ठिकाद्वये भर्गः पाण्योर्मध्ये धियःपदम् ॥
ॐभूर्विन्यस्य हृदये ॐभुवः शिरसे न्यसेत् ।
ॐस्वः शिखायां विन्यस्य गायत्र्याः प्रथमं पदम् ॥
विन्यसेत्कवचे धीमान् द्वितीयं नेत्रयोर्न्यसेत् ।
तृतीयेनास्त्रं विन्यस्य चतुर्थं सर्वतो न्यसेत् ॥ इति ।

प्रथमं पदं प्रथमं पादमित्यर्थः । चतुर्थं पदं परोरजसेऽसावदोमिति ।

केचित्तु अन्यथा षडङ्गन्यासमिच्छन्ति । तत्सवितुर्हृदयाय नमइति हृदये । वरेण्यं शिरसे स्वाहेति शिरसि । भर्गो देवस्य शि-

स्वायै वौषडिति शिखायाम्। धीमहि कवचाय हुमित्युरसि। धियो-योनो नेत्रत्रयाय वौषडिति नेत्रललाटेषु न्यस्याथ प्रचोदयादस्त्राय फडिति करतलेऽस्त्रं प्राच्यादिषु दशसु दिक्षु न्यसेदिति । आयात्विति । आयातु वरदा देवीत्याद्यनुवाकेन । यदुक्तं जपन्नासीत सावित्रीमिति तत् सायंसन्ध्यायामिति वक्तुं प्रायासीन इत्युक्तम्। आरम्भयज्ञादिति । मन्त्रोच्चारणपूर्वकमनुष्ठेयो यज्ञ आरम्भयज्ञः । ततो जपयज्ञः श्रेष्ठः ।

तथाच भगवद्गीतायां भगवता उक्तं, यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मीति ।

उपांशुत्वमानसत्वयोश्च स्वरूपं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्,

विना शब्दं जपो यस्तु चलज्जिह्वाद्विजच्छदः ।

उपांशुं तं जपं प्राहुर्मनसा मानसं बुधाः ॥ इति ।

देवीं गायत्रीमित्यर्थः । षडङ्गन्यासानन्तरं योनिमुद्राप्रदर्शन-गायत्रीध्यानयोर्विधानार्थं प्रागुक्तमनुवदति ऋष्यादिलक्षणमित्यादि । ऋष्यादिज्ञानं तु जपाव्यवहितपूर्वमेव प्रागुक्तक्रमानुसारात् । प्रातःसन्ध्यायां गायत्रीजपपूर्वोत्तरावधी आह नक्षत्रदर्शनादिति । सायं सन्ध्यायां तावाह अर्द्धास्तमयमिति । उत्तमेति । उत्तमे शिखरे देवीत्यादिना । मध्याह्नसन्ध्यासूर्योपस्थानमधिकृत्याह सवितुरित्यादि । सर्वसन्ध्यासु अनुष्ठेयमाह आत्मपादाविति । अभिवादयेत् स्पृशेदित्यर्थः । नत्वागुरूनिति । गुरवः पित्रादयः । इति शौनकोक्तं सन्ध्यावन्दनम् ।

## अथ जपविधिः ।

तत्र मध्याह्नसन्ध्यामभिधाय शङ्खः,

ततो जपेत्पवित्राणि पवित्रं वा स्वशक्तितः । इति ।

पवित्राणि अघमर्षणसूक्तादीनि तेनैवोक्तानि ।

पुनः शङ्खः,

इति वेदपवित्राण्यभिहितानि एतेभ्यः सावित्री विशिष्यते नाघमर्षणात्परतरमन्तर्जले, न व्याहृतिभ्यः परं होमे, न सावित्र्याः परं जप्ये, कुशवृष्यामासीनः कुशोत्तरायां वा कुशपवित्रपाणिरुदङ्मुखः सूर्याभिमुखो वा अक्षमालामादाय देवतां ध्यायन् जपं कुर्यात् । सुवर्णमणिमुक्ताफलस्फटिकपद्माक्षेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्कुशग्रन्थिकृतां वा हस्तोपयामैर्वा गणयेत् । आदौ देवतामार्षं छन्दश्च संस्मरेत् । ततः सप्रणवा व्याहृतीरादावावर्त्य गायत्रीमावर्तयेत् । अथास्याः सविता देवता ऋषिर्विश्वामित्रो गायत्री छन्दः ॐकारस्य प्रणवाख्या ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यमिति व्याहृतयः । ॐआपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमिति शीर्षम् । अत्र च भवति ।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ॥
शतं जप्ता तु सा देवी सर्वपापप्रणाशिनी ।
सहस्रजप्तातु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥
दशसाहस्रजप्येन सर्वपापप्रणाशिनी ॥
लक्षजप्तातु सा देवी महापातकनाशिनी ।
सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
सुरापश्च विशुध्यन्ति लक्षजप्यान्न संशयः ॥
प्राणायामत्रयं कृत्वा कल्पं कल्पं समाहितः ।
अहोरात्रकृतात्पापात्तत्क्षणादेव मुच्यते ।
सव्याहृतयः सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।

गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।
तस्मात्तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो हृदये शुचिः ॥
गायत्रीं जप्यनिरतो हव्यकव्येषु यो जपेत् ।
तस्मिन्न तिष्ठते पापमब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥
जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।
नोच्चैर्जप्यं बुधः कुर्यात्सावित्र्यास्तु विशेषतः ॥
सावीत्रीजप्यनिरतः स्वर्गमाप्नोति मानवः ।
सावित्रीजप्यनिरतो मोक्षोपायं च विन्दति ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः ।
गायत्रीं च जपेच्छक्त्या सर्वकल्मषनाशिनीम् ॥ इति ।

वृषी स्वल्पमासनमिति कल्पतरुः । कुशपवित्रपाणिः । वामेऽनियतकुशपाणिर्दक्षिणे पवित्रपाणिरित्यर्थः । देवतां विशेषतोऽभिहितां तदभावे मन्त्रप्रकाश्याम् । पद्माक्षं पद्मबीजम् इन्द्राक्षम् आरुकमिति कल्पतरुः । हस्तोपयामः अङ्गुलीनमनमिति कल्पतरुः । आदौ जपारम्भे । कल्यंकल्यं प्रातःप्रातः । हृदये शुचिः शुद्धमनाः । मित्रमेव मैत्रः, सर्वभूतानामिति शेषः । सर्वभूतमित्रत्वं च हिंसाङ्गकक्रतुव्यतिरिक्ताहिंसाङ्गकजपयज्ञानुष्ठानेनेति कल्पतरुः । उपांश्वादिलक्षणं वक्ष्यते । नोच्चैर्जप्यमिति । स्वातिरिक्तश्रवणयोग्यमन्त्रोच्चारणेन जपं न कुर्यादित्यर्थः । तेन न नृसिंहपुराणादिना वाचिकजपविधानानुपपत्तिः । मोक्षोपायं तत्त्वज्ञानम् । योगियाज्ञवल्क्यो मनुवसिष्ठहारीताश्चाद्यश्लोकद्वये,

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
न चङ्क्रमन्न विहसन्न पार्श्वमवलोकयन् ।
नापाश्रितो न जल्पंश्च न प्रावृतशिरास्तथा ॥
न पदा पादमाक्रम्य नचैवाहि तथा करौ ।
न चासमाहितमना न च संश्रावयन् जपेत् ॥
प्रच्छन्नानि च दानानि ज्ञानं च निरहङ्कृतम् ।
जप्यानि हि सुगुप्तानि तेषां फलमनन्तकम् ॥
उपांशुजपयुक्तस्य शंस्यात् शतगुणो भवेत् ।
साहस्रो मानसः प्रोक्तो यस्माद्ध्यानमयो हि सः ॥
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण यत्रोपांशु तदध्वनि ।
कृत्वा जिह्वां निर्विकल्पां चिन्तनं तद्धि मानसम् ॥
तिष्ठंश्चेद्वीक्षमाणोऽर्कं जपं कुर्यात्समाहितः ।
अन्यथा प्राङ्मुखः कुर्याद्वक्ष्यमाणक्रमेण तु ॥
प्राक्कूलेषु कुशेष्वेव आसीनश्चासने शुभे ।
नात्युच्छ्रिते नातिनीचे दर्भपाणिः सुसंयतः ॥
स्फटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः ।
अक्षमाला तु कर्त्तव्या उत्तमा ह्युत्तरोत्तरा ॥
कोट्यादिका भवेद्वृद्धिरक्षमाला विशेषतः ।
जपस्य क्रियमाणस्य तस्माच्छतपरापरा ॥
अभावे त्वक्षमालायाः कुशग्रन्थ्याऽग्रपाणिना ।
जप एव हि कर्तव्य एकाग्रमनसैव तु ॥
ध्यायेत मनसा मन्त्रं जिह्वोष्ठौ न च चालयेत् ।
यक्षराक्षसभूतानि सिद्धविद्याधरोरगाः ॥

हरन्ति प्रसभं यस्मात्तस्माद्गुप्तं समाचरेत् ।
जलान्ते वाऽग्न्यगारे वा जले देवालयेऽपि वा ॥
गवां गोष्ठे पुण्यतीर्थे सिद्धक्षेत्रेऽथवा गृहे ।
गृहे ह्येकगुणं प्रोक्तं नद्यां तु द्विगुणं स्मृतम् ॥
गवां गोष्ठे दशगुणमग्न्यगारे दशाधिकम् ।
सिद्धक्षेत्रेषु तीर्थेषु देवतायाश्च सन्निधौ ॥
सहस्रं शतकोटीनामनन्तं विष्णुसन्निधौ ।
शाकयावकभैक्षाणि पयोमूलफलानि च ॥
दधि सर्पिस्तथा ह्यापः प्रशस्तान्युत्तरोत्तरम् ।
चरवो ह्युपवासश्च भैक्षं नक्तमयाचितम् ॥
बिसशृङ्गाटशालूकहविष्यान्नानि यानि तु ।
एतान्यनुव्रतान्याहुः शस्तानि जपकर्मणि ॥
जपकाले नापभाषेच्छ्रतहोमादिकेषु च ।
एतेष्वेवावसक्तं तु यद्यागच्छेद् द्विजोत्तमः ॥
अभिवाद्य ततो विप्रं योगक्षेमं च कीर्तयेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव रासभं च रजस्वलाम् ॥
जपकाले न भाषेत व्रतहोमादिकेषु च ।
तूष्णीमासीत तु जपंश्चाण्डालपतितादिकान् ॥
दृष्ट्वा तान्वार्युपस्पृश्याभाष्य स्नात्वा पुनर्जपेत् ।
आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ॥
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ।
रौद्रपित्र्यासुरान्मन्त्रान् राक्षसानाभिचारिकान् ॥
व्याहृत्यालभ्य चात्मानमपः स्पृष्ट्वाऽन्यदाचरेत् ।
एतान्व्याहृत्य रौद्रादीनस्पृष्ट्वाऽऽशु जलं द्विजः ॥
ऊर्ध्वं यत्कुरुते कर्म तद्भवत्ययथापथम् ।

यदि वाग्यमलोपः स्याज्जपादिषु कथञ्चन ॥

व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्पृशेद्वा विष्णुमव्ययम् । इति ।

पाकयज्ञा ब्रह्मयज्ञातिरिक्ता देवयज्ञादय इति कल्पतरुः । चत्वारः पाकयज्ञा हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति पारस्करोक्ता इत्यपरे। विधियज्ञा ज्योतिष्टोमादयः। मैत्रो व्याख्यातः। चङ्क्रमणमितस्ततश्चलनम्। अपाश्रितः, कुड्यादाविति शेषः। करौ, पदाऽऽक्रम्येति शेषः । संश्रावयन्, परानिति शेषः । शंस्यात् शंस कथने इति धात्वनुसाराद्वाचिकात् । उपांशुजपयुक्तस्य यो जपः स वाचिकाच्छतगुणो भवेदित्यर्थः। 'साहस्र इत्यत्रापि शंस्यादिसनुषङ्गः। ओष्ठेति। यत्र जपे अध्वनि ध्वनिरहितमोष्ठस्पन्दनमात्रेण जप्यते तदुपांशिवत्यर्थः। निर्विकल्पां निष्क्रियाम्। प्राक्कूलेषु प्रागग्रेषु। कोट्यादिकेत्यत्रादिशब्देनार्बुदादिसंख्यापरिग्रहः। अग्रपाणिना पाण्यग्रेण। अङ्गुलिनमनैर्वक्ष्यमाणक्रमेण अङ्गुलिपर्वभिर्वा। प्रसभं हठात्। चरवोऽन्नस्थालीपाकविशेषाः। पुनर्भैक्ष्यस्योपादानं प्रशंसार्थमिति श्रीदत्तरत्नाकरौ। बिसं मृणालम्। हविष्यान्नानि–

हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः ।

इत्यादिना उक्तानि । अनुव्रतानि जपयज्ञव्रतस्याङ्गभूतव्रतानि। एतेषु जपहोमादिषु। अवसक्तं व्यासक्तम्। रासभश्चेति। रासभसम्भाषणं च तदुद्देश्यकः शब्दप्रयोगः। तानाभाष्येति सम्बन्धः। आत्मानं हृदयम्। अयथायथं निष्फलम् ।

नृसिंहपुराणे,

त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत ।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसश्च त्रिधा मतः ॥
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान्स्यादुत्तरोत्तरः ।
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः ॥

मन्त्रमुच्चारयेद्व्यक्तं जपयज्ञः स वाचिकः।
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ॥
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः।
धिया यदक्षरश्रेण्यो वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् ॥
शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः।
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यात् यथा तं ध्वनिमन्यो न जानातीत्यर्थः।

बौधायनः,

अप आचम्य दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणः प्राङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्त्तयेच्छतकृत्व अपरिमितकृत्वो वा दशावराम् अथादित्यमुपतिष्ठेत उद्वयन्तमसस्परि उदुत्यं चित्रं तच्चक्षुर्देवहितं उदगादिति अथाप्युदाहरन्ति प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेते पञ्च ब्रह्मयज्ञा अहरहर्ब्राह्मणं किल्बिषात् पावयन्ति।

अपरिमितकृत्व इत्यनेन दशभ्य ऊर्ध्वम् उक्तशतादिसङ्ख्याव्यतिक्रेणापि सङ्ख्याऽभिमता। दशावरामित्यभिधानात्। असङ्ख्यातजपस्य च निषिद्धत्वात्। उदगात् उदगादयमादित्य इत्यादिका ऋक्।

योगियाज्ञवल्क्यः,

आचान्तः पुनराचामेन्मन्त्रवत्स्नानभोजने।
द्रुपदां वा त्रिरावर्त्य तथा चैवाघमर्षणम् ॥
गायत्रीं वा त्रिरावर्त्य महाव्याहृतिभिस्तथा।
सोपांशुप्रणवेनापि आपः पीता अघापहाः ॥
आचम्य प्राश्य चात्मानं त्रिरायम्य शनैरसून्।
अथोपतिष्ठेतादित्यमूर्ध्वं पुष्पान्वितं जलम् ॥
प्रक्षिप्योद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि।
हंसः शुचिषदेतानि शुभानि पावनानि च ॥
एतज्जपेदूर्ध्वबाहुः सूर्यं वीक्ष्य समाहितः।

गायत्र्या च यथाशक्ति चोपस्थाय दिवाकरम् ॥
विभ्राडित्यनुवाकेन सूक्तेन पुरुषस्य च ।
शिवसङ्कल्पेन तथा मण्डलब्राह्मणेन वा ॥
दिवाकीर्त्यैश्च सौरैश्च मन्त्रैरन्यैश्च शक्तितः ।
जपयज्ञो हि कर्त्तव्यः सर्ववेदप्रणीतकैः ॥
पवित्रैर्विविधैश्चान्यैर्गुह्योपनिषदा तथा ।
अध्यात्मविद्या विविधा जप्तव्या जपसिद्धये ॥
प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्योपविश्य च ।
दर्भेषु दर्भपाणिः स्यात् प्राङ्मुखस्तु कृताञ्जलिः ॥
स्वाध्यायं च यथाशक्ति ब्रह्मयज्ञार्थमाचरेत् ।
आकेशादानखाग्रात्स परमं तप्यते तपः ॥
यः सुख्यपि द्विजो वा तैः स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ।
आदावरभ्य वेदं तु स्नात्वोपर्युपरि क्रमात् ॥
यदिवा तेऽन्वहं शक्त्या सुमध्येया इति स्मृतिः । इति ।

मन्त्रवत् वक्ष्यमाणद्रुपदादिवेत्याद्यन्यतममन्त्रान्वितम् । अयं च मन्त्रविकल्पः फलविशेषापेक्षया व्यवस्थित इति कल्पतरुः । पाव्य माज्र्जनं कृत्वा । शिवसङ्कल्पः यज्जाग्रतो दूरमित्यादि । मण्डलब्राह्मणं यदेतन्मण्डलं तपतीत्यादि । दिवाकीर्त्यैरध्येतृसंप्रदायाद्दिवा पठनीयैः शतरुद्रियादिभिः । सौरैः नमोमित्रस्येत्याद्यैः । सर्ववेदप्रणीतकैः सर्ववेदपठितैः । इदं च पवित्रैरित्यस्य विशेषणम् । पवित्रैः पावनैः । गुह्योपनिषदा साक्षात्परमात्मप्रकाशकोपनिषदा । अध्यात्मविद्या उपनिषद्भ्यो न्यायः । सुख्यपीति । यः सुखवानपि भोगं कुर्वाणोऽपि तैः पूर्वोक्तमन्त्रैः स्वाध्यायं समाचरेत्स सर्वशरीरदुःखदं तपस्तप्यत इत्यर्थः । आदावारभ्येत्यादि । आदावारभ्य समाप्तिपर्यन्तमुपर्युपरि क्रमेण प्रत्यहं वेदः पठनीय इत्येकः कल्पः । यद्वा पूर्वोक्ता एव

मन्त्रा यथाशक्ति प्रत्यहं पाठ्या इति द्वितीयः कल्प इति ।

वसिष्ठः शङ्खलिखितौ च,

सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः ॥
अघमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः ।
कूष्माण्ड्यः पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यथैवच ॥
अभीषङ्गाः पदस्तोमाः सामानि व्याहृतीस्तथा ।
भारुण्डानि च सामानि गायत्रं रैवतं तथा ॥
पुरुषव्रतं च भासं च तथा देवव्रतानि च ।
अब्लिङ्गा बार्हस्पत्यं च वाक्सूक्तं मध्वृचस्तथा ॥
शतरुद्रियमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् ।
गोसूक्तं चाश्वसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ॥
त्रीण्याज्यदोहानि रथन्तरं च अग्निव्रतं वामदेव्यं बृहच्च ।
एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तून् जातिस्मरत्वं लभते य इच्छेत् ॥ इति ।

देवकृतं देवकृतस्यैनम इत्यादिमन्त्रः ।शुद्धवत्यः एतोन्विन्द्रंस्तवाम इत्यादिकाः।तरत्समाः तरत्समन्दीधावतीत्यादिकाः । कूष्माण्ड्यः यद्देवादेवहेडनमित्यादिकाः।पावमान्यः पावमानीः स्वस्त्ययनीरित्यादिकाः।दुर्गा दुर्गाप्रकाशिका जातवेदस इत्यादिका ऋक्।सावित्री तत्सवितुरित्यादिका । अभीषङ्गाः पुरोजातीरोधस इत्यादि सामत्रयम्।पदस्तोमाः युञ्जे इत्यादिसामचतुष्टयम् । सामानि व्याहृतीस्तथेति। व्याहृतीः सामानीत्यर्थः। भारुण्डानि यत्रेकृष्ण इत्येकविंशतिसामानि।अब्लिङ्गा आपोहिष्ठेत्यादयः । बार्हस्पत्यं गणानां त्वा गणपतिमित्यादिका ऋक् । वाक्सूक्तं बृहस्पतेः प्रथममित्यादि । मध्वृचः मधुवाता इत्यादिकास्तिस्रः।शतरुद्रियं नमस्ते-

रुद्रमन्यव उतोत इत्याद्या एकादशानुवाकाः। अथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं ब्रह्मसेतुमित्याद्यनुवाकत्रयं तैत्तिरीयाणां प्रसिद्धम्। महाव्रतं राजतं साम। गोसूक्ताश्वसूक्ते सामनी यदिन्द्राहं यथात्वमित्यस्यां ऋचि प्रसिद्धे।

अत्रिस्मृतौ चैतान्यधिकानि। यथा,

विमलं शिवसङ्कल्पं विवर्णं रोहितं ततः।

विमलं हंसःशुचिषदित्यादि। विष्णुस्मृतौ च नारायणीयमधिकम्। नारायणीयं च तैत्तिरीयाणामुपनिषत्।

**मनुः,**

वेदमेव जपेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैवच।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्।
संस्मृत्य पौर्विकीं जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते द्विजः॥
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमधिकं सुखमश्नुते।

उपधर्मः अल्पफलको धर्मः। तपः कृच्छ्रादि।

ब्रह्म वेदः। अनन्तं चिरकालोपभोग्यम्।

**याज्ञवल्क्यः,**

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञार्थसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥

**विष्णुः,**

स्नातश्च पवित्राणि यथाशक्ति जपेत् विशेषतः सावित्रीं पुरुषसूक्तं वा नैताभ्यामधिकमस्ति।

पवित्राणि अघमर्षणादीनि।

**मनुर्यमश्च प्रथमे,**

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥

एतां गायत्रीम् । वायुभूतः वायुवत् शीघ्रगतिः लिङ्गशरीरनिष्ठो वेति कल्पतरुः । खमूर्त्तिमान् आकाशवद्व्यापी सन् परमात्मा भवति । क्षरन्ति विनाशिन्यो भवन्ति । अक्षरम् ओंकारः । तस्य मोक्षरूपं फलं न क्षरतीत्यक्षरम् । प्रजापतित्वं च तत्प्रतिपादकत्वेनोङ्कारस्य मन्तव्यम् ।

यमम् ऋषय ऊचुः ।
किं वै परमकं ब्रह्म किं वै परमकं तपः ।
उपवासात्परं किं वै किं च मौनात्प्रशस्यते ॥
यम उवाच ।
ओंकारः परमं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥
क्षरन्तीह क्रियाः सर्वाः प्रयुक्ता वैदिकीर्भुवि ।
अक्षरं त्वक्षरं विद्याद्ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म पावनं परमं स्मृतम् ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं तु जपेन्नित्यं सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥

गायत्रीं चैव वेदांश्च तुलयाऽतोलयत् प्रभुः ।
एकतश्चतुरो वेदान् साङ्गांश्च सपदक्रमान् ॥
एकतश्चैव गायत्रीं तुल्यरूपा तु सा स्मृता ।

सः प्रजापतिः । सपदक्रमान् पदक्रमसहितान् ।

अङ्गिराः,

प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्युपस्थिताः ।
वाङ्मयं प्रणवः सर्वमभ्यसेत्प्रणवं ततः ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्य व्याहृतीषु च सप्तसु ।
त्रिपदायां च गायत्र्यां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

दक्षः,

सविता देवता यस्या मुखमग्निस्त्रिपात् स्थिता ।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री सा विशिष्यते ॥

यमः,

न तथा वेदजप्येन पापं निर्दहति द्विजः ।
यथा सावित्रिजप्येन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

ब्रह्मयज्ञाधिकारे आपस्तम्बः,

तस्य विधिरकृतप्रातराशः उदकान्ते गत्वा प्रयतः शुचौ देशे अधीयीत यथाध्यायमुत्सृजन् वाचा मनसा चानध्याये यथाध्यायमुत्सृजन्निति ।

यदधीतं तत्त्यजन् वाचा अधीयीत, अनध्याये पुनर्मनसाऽधीयीतेत्यर्थः । एवं चानध्याये मनसा ऽध्ययनविधानात्—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

इति मनूक्तं मानसविषयमेव ।

वसिष्ठः,

यथाऽग्निर्वायुना धूतो हविषा चैव दीप्यते ।

एवं जप्यपरो नित्यं मन्त्रयुक्तः सदा द्विजः ॥

हारीतः,

प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेति सावित्रं येन पापेभ्यो मुच्यते शतं जप्त्वा मानसात्पूतो भवति सहस्रं जप्त्वा वाक्कृतात्पूतो भवति दश सहस्राणि जप्त्वा सर्वतः पूतात्मा भवतीति ।

बौधायनः,

शताक्षरां त्रिरावर्त्य चतुर्वेदफलं लभेत् ।

शताक्षरा च गायत्री जातवेदसे त्र्यम्बकं यजामहे इति मन्त्राभ्यामेकीकृता सती भवतीति तत्रैवोक्तम् ।

लघुहारीतः,

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे ।

अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः ॥

योगियाज्ञवल्क्यः,

न क्लिन्नवासाः स्थलगो जपादीनाचरेद्बुधः ।

वस्त्रनिश्च्योतनं प्रेताः परिवार्य पिबन्ति हि ॥

व्रतादृते नार्द्रवासा नैकवासाः समाचरेत् ।

न जीर्णेन न नीलेन परिक्लिष्टेन वा जपेत् ॥

व्रतादृते तथाविहितव्रतादृते । परिक्लिष्टेन मलिनेन ।

वसिष्ठः,

जपहोमोपवासेषु धौतवस्त्रधरो भवेत् ।

अलङ्कृतः शुचिर्मौनी श्राद्धादौ विजितेन्द्रियः ॥

व्यासः,

आर्द्रवासाश्च यः कुर्याज्जपहोमं प्रतिग्रहम् ।

सर्वं तद्राक्षसं विद्याद्बहिर्जानु च यत्कृतम् ॥

छन्दोगपरिशिष्टम्,

यत्र दिङ्नियमो नास्ति जपहोमादिकर्मसु ।
तिस्रस्तत्र दिशः प्रोक्ता ऐन्द्री सौम्याऽपराजिता ॥
आसीन ऊर्ध्वः प्रह्वो वा नियमो यत्र नेदृशः ।
तदासीनेन कर्त्तव्यं न प्रह्वेण न तिष्ठता ॥
यत्रोपदिश्यते कर्म कर्त्तुरङ्गं नचोच्यते ।
दक्षिणस्तत्र विज्ञेयः कर्मणां पारगः करः ॥

सौम्या उत्तरा । अपराजिता ऐशानी । अत्रायं निर्णयः । आरब्धजपस्य जपसमाप्तिपर्यन्तमाहारनियमः प्रागुक्तः । तत्र शाकादीनां विकल्पाद्भक्ष्यविशेषेण जपारम्भे एकादश्युपवासोऽपि न कर्त्तव्य इति हरिहरादयः ।

रत्नाकरादयस्तु रागप्राप्तत्वाद्भोजनं न विधीयते अपितु प्राप्ते भोजने शाकादिकं नियम्यते । ततश्च जपप्रवृत्तो यदि भुङ्क्ते तदा शाकादिकमेव नतु शाकादिकं भुङ्क्तएवेत्यर्थ इत्याहुः ।

अन्ये तु अनुव्रतानीत्युपसंहाराद् व्रतरूपतया शाकादिभोजनातिरिक्तभोजनाभावे तात्पर्यं, तत्रापि प्रशस्तमुत्तरोत्तरमित्यभिधानादेकैकभोजनाभावे तात्पर्यमिति, स चाभोजनेऽप्युपपद्यतइति एकादश्युपवासे ऽपि न व्रतहानिरित्याहुः ।

वस्तुतस्तु यत्र भोजनस्यालौकिकसम्बन्धो विधिना प्रत्याय्यते व्रतरूपता च प्रतीयते तत्र तन्मात्रभोजनं विना फलं नोत्पद्यतएव । अत एव चान्द्रायणादावेकादश्यामपि नियमितग्रासान् भुञ्जते । यत्र तु तद्भोजनस्य न व्रतरूपता तद्भोजनं फलार्थमनुष्ठीयते न तु भोजने तदितरव्यावृत्तिरपि शास्त्रानुमता, यथा—

शाकान् भुक्त्वा चतुर्दश्यां न प्रेतो जायते नरः ।

इत्यादौ देवतानैवेद्यभोजनादौ च, न हि तद्भोजनं विना तत्र फलसिद्धिः ।

एवं च प्रकृते शाकादिभक्षणव्रतारम्भपक्षे शाकाद्यन्यतरमात्रभोजनं विना तत्कथं फलसिद्धिः । परं तु प्रत्यहं शाकभोजनविधानाभावाज्जपारम्भोत्तरं तत्समाप्तिपूर्वं कादाचित्कशाकभोजनेनापि तदुपपद्यतइति एकादश्यां न मोक्तव्यमेवेति युक्तम् ।

हविष्यान्नान्याह स्मृतिः,

हैमन्तिकं सिता स्विन्नं धान्यं मुद्रास्तिला यवाः ।
कलायककुनीवारा वास्तूकं हिलमोचिका ॥
षष्टिका कलशाकश्च मूलकं केमुकेतरत् ।
लवणे सैन्धवसामुद्रौ गव्ये च दधिसर्पिषी ॥
पयोऽनुद्धृतसारं च पनसाम्रहरीतकी ।
पिप्पली जीरकं चैव नागरं चैव तिन्तिडी ॥
कदली लवली धात्री फलान्यगुडमैक्षवम् ।
अतैलपक्कं मुनयो हविष्यान्नं प्रचक्षते ॥

छन्दोगपरिशिष्टं,

हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः ।
माषकोद्रवगौरादीन् सर्वालाभे विवर्ज्जयेत् ॥

व्रीहिः शरत्पक्वधान्यम् । गौरः श्वेतसर्षपः । भट्टभाष्ये तु कोरेति पठित्वा कोरो वरवट इति व्याख्यातम् । आदिपदग्राह्याश्च कोद्रवचणकचीणकमाषमसूरकुलत्थकुद्दालकवर्ज्जमितिशङ्खलिखितवचनस्था एतद्वचनानुपात्ताः । एवं च व्रीहियवालाभे माषादिवर्ज्जग्रैष्मिकहैमन्तिकधान्यगोधूममुद्गादि सर्वमेव विहितमिति । यत्तु—

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥

इति मनुवाक्येन मांसस्य हविष्यत्वमुक्तं, तत् श्राद्धप्रकरणपाठात् श्राद्धपरम् । अतएव हविष्याणि च मांसानीति रामायणे-

ऽप्युक्तम् । सामान्यतो हविष्यत्वेऽपि व्रते मधुमांसवर्जनाद् व्रते तत्त्याग इत्यपि वदन्ति। अनुपस्कृतम् अशटितम् इति श्राद्धकाण्डे कल्पतरुः । अक्षमालायां विशेष उक्तः—

कालिकापुराणे,

स्फटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः ।
सुवर्णमणिभिः सम्यक् प्रवालैरथवाऽब्जकैः ॥
अक्षमाला तु कर्त्तव्या देवीप्रीतिकरी परा ।
जपेदुपांशु सततं कुशग्रन्थ्याऽग्रपाणिना ॥
प्रवालैरथवा कुर्यादष्टाविंशतिबीजकैः ।
पञ्चपञ्चाशता वापि न न्यूनैर्नाधिकैश्च वा ॥
रुद्राक्षैर्यदि जप्येत इन्द्राक्षैः स्फाटिकैस्तथा ।
नान्यन्मध्ये प्रयोक्तव्यं पुत्रजीवादिकं च यत् ॥
एको मेरुस्तत्र देयः सर्वेभ्यः स्थूलसंभवः ।
आद्यं स्थूलं ततस्तस्मात् न्यूनं न्यूनतरं तथा ॥
विन्यसेत्क्रमतस्तस्मात् सर्प्पाकारा हि सा यतः ।
ब्रह्मग्रन्थियुतं कुर्यात्प्रतिबीजं यथातथा ॥
अथवा ग्रन्थिरहितं दृढरज्ज्वा समन्वितम् ।
त्रिरावृत्त्याथ मध्ये वै वाऽर्द्धावृत्त्यन्तदेशतः ॥
ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञकः ।
नात्मना योजयेन्मालां नामन्त्रो योजयेन्नरः ॥
दृढं सूत्रं नियुञ्जीत जप्ये त्रुट्यति नो यथा ।
यथा हस्तान्न च्यवते जपतः स्रक् तथाऽऽचरेत् ॥
हस्तच्युतायां विघ्नः स्याच्छिन्नायां मरणं भवेत् ।
एवं यः कुरुते मालां जप्यं च मम कोटितः ॥
स प्राप्नोतीप्सितं कामं हीने स्यात्तु विपर्ययः ।

अञ्जकं पद्मबीजम् । प्रवालानां च पुनरुपादानमतिप्रियत्वं ज्ञापयितुम् ।

**तथा,**

जपादौ पूजयेन्मालां तोयैरभ्युक्ष्य यत्नतः ।
निधाय मण्डलस्यान्तः सव्यहस्तगतां च वा ॥
ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि ।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥
पूजयित्वा ततो मालां गृह्णीयाद्दक्षिणे करे ।
मध्यमाया मध्यभागे वर्जयित्वा च तर्जनीम् ॥
अनामिकाकनिष्ठाभ्यां युतायां नम्रमागतः ।
स्थापयित्वा तत्र मालामङ्गुष्ठाग्रेण तद्गताम् ॥
प्रत्येकं बीजमादाय जप्यादूर्ध्वेण भैरव ।
प्रतिवारं पठेन्मन्त्रं शनैरोष्ठौ न चालयेत् ॥
मालाबीजं तु जप्तव्यं स्पर्शेन हि परंपरम् ।
पूर्वजप्यप्रयुक्तेन अङ्गुष्ठाग्रेण भैरव ॥
पूर्वबीजं जपन्यस्तु परबीजं च संस्पृशेत् ।
अङ्गुष्ठेन भवेत्तेन निष्फलस्तस्य तज्जपः ॥
मालां स्वहृदयासन्ने कृत्वा दक्षिणपाणिना ।
देवीं विचिन्तयन् जप्यं कुर्याद्वामेन न स्पृशेत् ॥

**तथा,**

यथाशक्ति जपं कुर्यात्सङ्ख्ययैव प्रयत्नतः ।
असङ्ख्यातं च यज्जप्तं यस्मात्तन्निष्फलं भवेत् ॥
कुशग्रन्थिपाण्योर्विधानं तु अक्षमालाया अभावे ।
अभावे त्वक्षमालायाः कुशग्रन्थ्याऽग्रपाणिना ।

इति पूर्वोदाहृतयोगियाज्ञवल्क्यवचनेन,पाण्यग्रं चाङ्गुलिपर्वरूपम्,

पद्माक्षैश्चैव रुद्राक्षैर्विद्रुमैर्मणिमौक्तिकैः ।
राजतेन्द्राक्षकैर्माला तथैवाङ्गुलिपर्वभिः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायाः हारीतवचनैकवाक्यत्वात् । पर्वभिश्च जपप्रकारः स्मृत्यन्तरे उक्तः ।

कनिष्ठाऽनामिका मध्या चतुर्थी तर्जनी मता ।
तिस्रोऽङ्गुल्यस्त्रिपर्वाणो मध्यमा चैकपर्विका ॥
मध्यमाद्यद्वयं पर्व जपकाले तु वर्जयेत् ।
एतन्मेरुं विजानीयाद् दूषितं ब्रह्मणा पुरा ॥
अनामिकायत्रो मध्यस्तस्मादधः क्रमेण तु ।
तर्जन्यादौ जपान्तश्च जपमाला करे स्थिता ॥

तथा,

अङ्गुल्यग्रे तु यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥

अग्रपाणिना जपश्च कनिष्ठादिक्रमेणाङ्गुलीनां नमनोन्नमनैरित्यपरे ।

स्मृत्यन्तरे,

तुलसीकाष्ठघटितैर्मणिभिर्जपमालिका ।
सर्वकर्मणि सर्वेषामीप्सितार्थफलप्रदा ॥

अथ कात्यायनीयब्रह्मयज्ञः ।

कात्यायनः, विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरुपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेद्दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदामिति ।

विभ्राडित्यादिना आदित्योपस्थानं काम्यम् ।
मध्येत्वह्न उदये च विभ्राडादीच्छया जपेत् ।

इतिच्छन्दोगपरिशिष्टदर्शनात् ।

उपविशेद्दर्भेषु प्रशस्तदारुनिर्मितपीठोपरि निहितेषु त्रिषु प्रागग्रेषूदग्रेषु वा कुशेषु। आसीनश्च प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा दर्भपाणिः।

पवित्रोपग्रहव्यतिरिक्तदर्भाः पाण्योर्यस्य स दर्भपाणिः सन्, स्वाध्यायं कुर्यादिति शेषः। आदावारभ्य वेदमिति। आदितः आरभ्य वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं स्वाध्यायं कुर्यात्। अयमर्थः। अत्र स्वाध्यायशब्देन विषयवाचिना विषयि अध्ययनं लक्ष्यते। तत्र अनेकशाखाध्यायिनाऽपि वेदमित्येकवचनात् एकामेव शाखाम् आदित इषेत्वोर्जेत्वेत्यतः आरभ्य यथाशक्ति किञ्चित् दूरं पठित्वा पुनर्दिनान्तरे तत आरभ्य पठनीयमित्येवं क्रमेणैकां शाखां समाप्य तथैव शाखान्तरं पठनीयम्। ततः अथर्वपुराणेतिहासादीनपि तथैव-आरभ्यैकैकं समाप्यापरमारभ्य समापयेत् न पुनर्यदृच्छया यं कञ्चिदेकदेशम् अनियतपौर्वापर्येण यदाकदाचित्पठेत्। आदावारभ्येति नियमविधानात्। वेदशब्दोऽत्रान्योपलक्षणार्थः।

यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः,

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥ इति।

एकदेशाध्यायिना पुरुषसूक्तादिपाठेन सावित्रीमात्राध्यायिना प्रणवपाठेन नित्यं ब्रह्मयज्ञः कर्त्तव्यः। तस्य कालमाह—

छन्दोगपरिशिष्टं,

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः।
स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः॥
वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रर्त्ते निमित्तकात्। इति।

अथाश्वलायनानां ब्रह्मयज्ञविधिः।

तत्र तद्सूत्रम्,

अथ स्वाध्यायविधिः प्राग्वोदग्वा ग्रामान्निष्क्रम्याप आप्लुत्य शुचौ देशे यज्ञोपवीत्याचम्याक्लिन्नवासा दर्भाणां महदुपस्तीर्य प्राक्कूलानां तेषु प्राङ्मुख उपविश्योपस्थं कृत्वा दक्षिणोत्तरौ पाणी सन्धाय पवित्रवन्तौ विज्ञायतेऽपां वा ओषधीनां रसो यद्दर्भाः सरसमेव तद्ब्रह्म करोति द्यावापृथिव्योः सन्धिमीक्षमाणः संमील्य वा यथा वा युक्तमात्मानं मन्येत तथा युक्तोऽधीयीत स्वाध्यायम् ॐपूर्वा व्याहृतयः सावित्रीमन्वाह पच्छोऽर्धर्चशः सर्वामिति तृतीयम्। अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति विज्ञायते यदृचोऽधीते पयआहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति यद्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुतिभिर्यत् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणान्यमृताहुतिभिः। यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः स यावन्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति नमो ब्रह्मणे नमोऽस्त्वग्नये नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे महते करोमीति ।

स्वाध्यायविधिरिति। स्वाध्यायाध्ययनरूपब्रह्मयज्ञविधिरित्यर्थः । विधिग्रहणं विधिरेव वक्ष्यते न तु क्रम इत्येवमर्थं, तेन प्रागुक्तेभ्यो वैश्वदेवबलिपितृयज्ञेभ्यः पुरस्तादुपरिष्टाद्वाऽध्येतव्यं न क्रमनियम इति वृत्तिकृत् ।

स्वगृह्यविधिना कृत्वा ब्रह्मयज्ञं पुरो द्विजः ।
स्वाध्यायतर्पणाभ्यां च गृहमेत्याचरेत् परान् ॥

इति आश्वलायनाचार्यवचनादप्ययमर्थः सिध्यति। स्वाध्यायतर्प-

णाभ्यां ब्रह्मयज्ञं कृत्वेत्यन्वयः। आश्वलायनीयतर्पणस्य ब्रह्मयज्ञाङ्गत्वं वक्ष्यते। परान् वैश्वदेवादीन्। प्रागोदग्वेति। एकेनैव वाशब्देन दिग्विकल्पसिद्धेः द्वितीयवाशब्दस्य अन्यस्यां वा ऽनिन्दितायां दिशि कर्त्तव्यमित्येवमभिप्रायः । बहिरसम्भवे ग्रामेऽध्येतव्यं, ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीतेति श्रुतेरिति वा द्वितीयवाशब्दार्थः। अप आप्लुत्येति । अपोऽवगाह्य स्नात्वेत्यर्थः । इदं तु मध्याह्नसन्ध्यावन्दनस्याप्युपलक्षणम् । मध्याह्नसन्ध्योपासनानन्तरमेव कात्यायनादिभिर्ब्रह्मयज्ञविधानात्। शुचौ देशे इति वचनं शुचौ देशे यत्र क्वापि अधीयीत न तीरनियम इत्येवमर्थम् । आचम्येति कर्माङ्गमाचमनं विधीयते। अक्लिन्नवासा अनार्द्रवासा इत्यर्थः। दर्भाणां महदुपस्तीर्य प्राक्कूलानां प्रागग्राणां महत् समुदायमित्यर्थः। तेषु दर्भेषु । प्राङ्मुख उपविश्येति प्राङ्मुखवचनं नियमेनात्र प्राङ्मुखः स्यादित्येवमर्थम्। तेन यत्र क्वचिदुदङ्मुखताऽपि सिद्धा। उपस्थं कृत्वेति। दक्षिणोत्तरेणोपस्थं कृत्वेत्यर्थः। दक्षिणोत्तरौ पाणी इति। दक्षिण उत्तरो ययोः पाण्योस्तौ दक्षिणोत्तरौ पाणी। पवित्रवन्तौ, अच्छिन्नानन्तर्गर्भौ प्रादेशमात्रौ कुशौ पवित्रे, तद्वन्तौ पाणी। सन्धाय सव्यं पाणिं प्रागङ्गुलिमुत्तानं निधाय तस्मिन् प्रागग्रे पवित्रे निधाय दक्षिणं पाणिं न्यञ्चं प्रागङ्गुलिं तेन सन्दध्यात् इति वृत्तिकृत्।

शौनकस्मृतौ त्वन्यथैवोक्तम्,

सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठप्रदेशिन्योस्तु मध्यतः।
दक्षिणस्याङ्गुलीर्न्यस्येद्यथास्तोऽङ्गुष्ठवर्जिताः ॥
तथा सव्यकराङ्गुष्ठं दक्षिणाङ्गुष्ठवेष्टितम्।
कुर्वीत नैवं संबद्धौ पाणी दक्षिणसव्यथनि ॥

विज्ञायते श्रूयत इत्यर्थः । श्रुत्याकर्षो गृह्यशास्त्रस्य श्रु-

तिमूलत्वप्रदर्शनार्थः । द्यावापृथिव्योः संधिमीक्षमाणः नोर्ध्वमधस्तिर्यग् वेक्षेतेत्यर्थः। संमील्य वाऽक्षिणी । अन्येन वा येन केन प्रकारेणात्मानं समाहितं मन्यते तथा युक्तोऽधीयीत न संधीक्षणसंमीलननियमः । स्वाध्यायवचनं सावित्र्या अपि स्वाध्यायधर्मसिद्ध्यर्थम् । तेन सावित्रीमन्वाहेति सावित्र्या अनुवचनत्वे सत्यपि सामिधेनीधर्म ऐकश्रुत्यमृगन्ते च प्रणवो न भवतीति सिद्धम् । ओँपूर्वा व्याहृतय इति । प्रणवमादौ सकृदुक्त्वा ततस्तिस्रो व्याहृतीः समस्ता ब्रूयात्।व्याहृतयः भूर्भुवः स्व इत्येताः। भूर्भुवः स्व इत्येता व्याहृतय इति श्रुतेः । सावित्रीमन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वामिति । प्रथमं पच्छः प्रतिपादं विच्छिद्य पठेदित्यर्थः । अर्धर्चशः तदनन्तरम् अर्धं विच्छिद्येत्यर्थः। सर्वामिति । तदनन्तरमविच्छेदेन सर्वां पठेदित्यर्थः । अथ स्वाध्यायमधीयीतेति । अथशब्दः पूर्वेण सम्बन्धार्थः । तेन प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेत्येतान्त्रितयं स्वाध्यायाङ्गमिति सिद्धम् । स्वाध्यायवचनमृगादिरेव स्वाध्यायो न प्रणवादित्रयमित्येवमर्थम् । तेन ऋचमपि ब्रह्मयज्ञं कुर्यादित्यस्मिन् पक्षे प्रणवादिसावित्रीपर्यन्तम् उक्त्वा ऋचमधीयीत ततो नम इत्येतया परिदध्यात् । तेन प्रणवादित्रयस्य परिधानीयायाश्च नित्यत्वमुक्तं भवति । कल्पशब्देन सूत्राण्युच्यन्ते । गाथा नाम ऋग्विशेषाः इन्द्रगाथादयः । यदिन्द्रादो दाशराज्ञ इतीन्द्रगाथाः पञ्चर्चः। नाराशंस्यश्च ऋच एव इदं जना उपश्रुतेत्यादयः। ऋक्त्वादेव सिद्धेः पुनर्वचनं फलविशेषसिद्ध्यर्थम् ।इतिहासो भारतम् । यत्र स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः कथ्यन्ते तत्पुराणम्। अस्य पितॄन् स्वधा उपक्षरन्तीति। स्वधेति पितॄणामन्नमुच्यते। पयसो नद्यः स्वधाभूताः पितॄन् उपतिष्ठन्तीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् । स यावन्मन्येतेति । ऋगादिदशकमध्येतव्यमित्युक्तं, तत्र नियमेन दशानामध्ययने प्राप्ते

इदमुच्यते। स यावत्कालमेकाग्रमनसमात्मानं मन्येत तावत्कालमेवा-धीयीत न दशाध्येतव्यानीति नियमः ।

संकल्प्य मनसा पूर्वमिदध्येष्यइत्यथ ।

इति शौनकवचनात्प्राक् संकल्पः कार्यः। एतयेति वचनं सदा एतया परिदध्यादित्येवमर्थम्। तेनास्या अपि नित्यत्वं सिद्धम्। एषा च त्रिर्वाच्या । प्रथमायां दृष्टत्वात् । नमो ब्रह्मणे इति परिधानीयां त्रिरन्वाहेति तैत्तिरीयश्रुतिदर्शनाच्च । देवतास्तर्पयतीत्यादिवक्ष्यमा-णाश्वलायनोक्तरीत्या तर्पणं कृत्वा गृहमागत्य भिक्षादानादिरूपं द-क्षिणादानमित्येतावान्कर्मकलाप आश्वलायनानां ब्रह्मयज्ञः।यतः"अथ स्वाध्यायविधिः"इत्युपक्रम्य करोमीत्यन्तेन जपमुक्त्वा प्रतिपुरुषं पि-तॄँस्तर्पयित्वेत्यनेन तर्पणमुक्त्वा गृहानेत्य यद्दाति सा दक्षिणा अथापि विज्ञायते यदि तिष्ठन् व्रजन्नासीनः शयानो वा यंयं क्रतुमधीते तेन-तेन हास्य क्रतुनेष्टं भवतीति विज्ञायते तस्य द्वावनध्यायौ यदात्मा-ऽशुचिर्यद्देश इत्याश्वलायनेनाभिहितम्। ततश्च उपक्रमोपसंहारयोर्ब्र-ह्मयज्ञाभिधानात्तन्मध्यपठिततर्पणस्याङ्गत्वं प्रतीयते। अतएवाश्वलाय-नेन पञ्चयज्ञमध्ये तर्पणं नोक्तम्। यथा आश्वलायनः, अथातः पञ्चय-ज्ञाः देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति । तद्यदग्नौ जुहोति स देवयज्ञो यद्बलिं करोति स भूतयज्ञो यत्पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञो यत् स्वाध्यायमधीते स ब्रह्मयज्ञो यन्मनुष्येभ्यो ददा-ति स मनुष्ययज्ञ इति तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीतेति ।

एतेषां स्वरूपमाह.तदित्यादि । वैश्वदेवे त्रयो यज्ञा उक्ताः। तत्र यदग्नौ दशाहुतीर्जुहोति स देवयज्ञः। पश्चाच्च बलिहरणमित्या-द्युक्तं बलिं करोति स भूतयज्ञः। यच्च स्वधा पितृभ्य इति पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः। यच्चाथ स्वाध्यायविधिरित्युक्तेन विधानेन स्वाध्यायमधीते स ब्रह्मयज्ञः । यच्च स्मृत्यन्तरोक्तातिथिभोजन-

विधिना मनुष्येभ्यो ददाति स मनुष्ययज्ञः । उक्तं च स्मृत्यन्तरे, नृयज्ञोऽतिथिभोजनमिति । अपूर्वाणां तु विधाने तथदग्नौ जुहोतीति सिद्धवन्निर्देशो नोपपद्यते । अग्नौ जुहुयादित्येवत्ववक्ष्यदिति वृत्तिकृत् । तस्मादाश्वलायनानां ब्रह्मयज्ञाङ्गं तर्पणादिकमिति । किंतु तस्मिन्कृते स्वतन्त्रतर्पणस्यापि सिद्धिरिति न पृथगनुष्ठानमिति। गृहानेत्य यद्ददातीत्यादिसूत्रस्यायमर्थः । यद्ददातीति । यदतिथिभोजनभिक्षादानादि सा ब्रह्मयज्ञस्य दक्षिणेत्यर्थः । यद्ददातीति सिद्धवन्निर्देशान्नापूर्वविधिरित्यवगम्यते । तथासति गृहानेत्य दद्यादित्येवावक्ष्यदिति वृत्तिकृत् । पूर्वोक्तपरिपाट्या ब्रह्मयज्ञाकरणे यथा कुर्यात्तथा आह अथापीत्यादि। आत्मनोऽशुचित्वं सूतकादिना देशस्याशुचित्वम् अमेध्यादिना । कालस्तस्य श्रुतौ श्रूयते, मध्यन्दिने प्रबलमधीयीत य एवं विद्वान्महारात्रउषस्युदितइतिचेति । इत्याश्वलायनब्रह्मयज्ञः ।

## अथ छन्दोगानां ब्रह्मयज्ञः ।

तत्र गोभिलपरिशिष्टं,

आदावारभ्य यथाशक्त्याऽहरहर्ब्रह्मयज्ञ इति। आदित आरभ्य वेदस्य यथाशक्ति जपो ब्रह्मयज्ञ इत्यर्थः । तत्स्वरूपं छन्दोगपरिशिष्टे अध्ययनं ब्रह्मयज्ञ इति । तथा,

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्स उच्यते । इति ।

अस्यार्थः । वेदमादित आरभ्य शक्तितोऽहरहर्जपेत् इत्यनेन छन्दोगपरिशिष्टएव यः श्रुतिजप उक्तः सोऽपि ब्रह्मयज्ञः उच्यतइति । वेदमृगादिरूपमादित आरभ्य यथाशक्ति जपेदित्यर्थः । एतेन द्वौ ब्रह्मयज्ञावित्युक्तम् ।

गुरावध्ययनं कुर्वन् शुश्रूषादि समाचरेत् ।
स सर्वो ब्रह्मयज्ञः स्यात्तत्तपः परमुच्यते ॥

इति भट्टभाष्यधृतवचनाद्ग्रहणाध्ययनमपि ब्रह्मयज्ञ इति सिध्यति । एतेषां च संभवासंभवाभ्यां समुचितानामेकैकस्य वाऽनुष्ठानं, नित्यश्राद्धतर्पणपित्र्यबलिरूपाणां पितृयज्ञानामिव ।

तस्य कालः छन्दोगपरिशिष्टे,

स चार्वाक् तर्पणात् कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ।
वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेति निमित्तकात् ॥

अस्यार्थः । यः श्रुतिजपरूपो ब्रह्मयज्ञः स तर्पणात्प्राक्कार्यः । अतएव वेदमादित आरभ्य शक्तितोऽहरहर्जपेदित्येतदनन्तरमेव यत्राद्भिस्तर्पयेदित्यादिना तर्पणमभिहितम् । यश्चाध्ययनरूपो ब्रह्मयज्ञः स प्रातराहुतेः पश्चात्कार्यः ।

द्वितीये तु तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते ।
वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः ॥
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ।

इत्यनेन दक्षवचनेन अष्टधा विभक्तदिवसद्वितीयभागे पञ्चविधवेदाभ्यासविधानात् । एतेन गुरावध्ययनं कुर्वन्नित्यादिना तस्य ग्रहणाध्ययनरूपब्रह्मयज्ञस्याप्ययमेव कालः । वैश्वदेवावसाने वामदेव्यगानरूपो ब्रह्मयज्ञः कार्य इति परिशिष्टप्रकाशे । गोभिलभाष्येऽपि बलयन्ते वामदेव्यगानात्मको यो जपः स ब्रह्मयज्ञ इत्युक्तम् । वस्तुतस्तु स चार्वाक् तर्पणात्कार्य इत्यत्र तच्छब्देन वेदमादित आरभ्येत्यनेनोक्तस्य श्रुतिजपरूपस्य ब्रह्मयज्ञस्य परामर्शाद्वैश्वदेवावसानेऽपि तादृशश्रुतिजपरूप एव ब्रह्मयज्ञः कार्यः । नान्यत्रेति निमित्तकादिति । निमित्तमेव निमित्तकम् । इति कालरूपनिमित्तत्रितयं विना न ब्रह्मयज्ञः कार्यः इत्यर्थः । नचोक्तकालातिरिक्तकालस्याप्राप्तत्वात्तन्निषेधोऽनुपपन्न इति वाच्यम् ।

यदि स्यात्तर्पणादर्वाक् ब्रह्मयज्ञः कृतो न हि ।
कृत्वा मनुष्ययज्ञं तु ततः स्वाध्यायमारभेत् ॥

इति कूर्मपुराणाद्युक्तकालेऽपि प्रसक्तेस्तन्निषेधपरत्वात् । श्रीदत्तादौ तु नान्यत्रर्त्ते निमित्तकादिति पठित्वा जलस्थतर्पणादिनिमित्तं विनेति व्याख्यातम् ।

ब्रह्मयज्ञस्य प्रशंसा छन्दोगपरिशिष्टे,

न ब्रह्मयज्ञादधिकोऽस्ति यज्ञो न तत्प्रदानात्परमस्ति दानम् ।
सर्वेऽन्तवन्तः क्रतवः सदाना नान्तो दृष्टः कैश्चिदस्य द्विकस्य ॥

इति ब्रह्मयज्ञः ॥

## अथ तर्पणम् ॥

तच्च द्विविधं स्वतन्त्रम् अङ्गं च । तत्र स्वतन्त्रमाह—

शातातपः,

तर्पणं तु शुचिः कुर्यात्प्रत्यहं स्नातको द्विजः ।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम् ॥

शुचिर्मन्त्रस्नानादिनाऽपि । अनेन च प्रधानतया नित्यतर्पणं विधीयते । प्रत्यहमित्यभिधानात् । तर्पणमुपक्रम्य—

तस्मात्सदैव कर्तव्यमकुर्वन् महतैनसा ।
युज्यते ब्राह्मणः कुर्वन् विश्वमेतद्बिभर्ति हि ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनात्,

नास्तिक्यभावाद्यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहनिस्रावं पितरो वै जलार्थिनः ॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवचनाच्च ।

द्वितीयमाह ब्रह्मपुराणं,

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।
तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन व्यवस्थितम् ॥

विवृतमिदं प्राक्।

**विष्णुः,**

स्नातश्चार्द्रवासा देवपितृतर्पणमम्भःस्थ एव कुर्यात् परिवर्तितवासाश्चेत्तीर्थतीरमुत्तीर्य। अत्र जले तर्पणविधानात्तर्पणस्य च गायत्रीजपानन्तर्यश्रौव्याज्जलेऽपि गायत्रीजपोऽनुमतः। एवंच

कदाचिदपि नो विद्वान् गायत्रीमुदके जपेत्।

इति गोभिलीयवचनं छन्दोगपरम्।

आप्लवने तु सम्प्राप्ते तर्पणं तदनन्तरम्।
गायत्रीं च जपेत्पश्चात्स्वाध्यायं चैव शक्तितः॥
आप्लवने तु सम्प्राप्ते गायत्रीं जपतः पुरा।
तर्पणं कुर्वतः पश्चात्स्नानमेव वृथा भवेत्॥

इति गोभिलीयवचनाभ्यां तर्पणोत्तरमेव गायत्रीजपाभिधानात्। यदि च शुष्कवस्त्राभावः स्थलाशुद्ध्यादिना वा सन्ध्यादिकं जले क्रियते तदा जले गायत्रीजपः सर्वैरेव कार्यः। न तु स्थानान्तरे कालान्तरे वा व्युत्क्रमेण गायत्रीजपः कार्यः। कात्यायनादौ "अथातो नित्यस्नानम्" इत्युपक्रम्य स्नानसन्ध्याब्रह्मयज्ञतर्पणदेवपूजाविसर्जनान्तमभिधाय एषस्नानविधिरित्युपसंहारेण स्नानादिविसर्जनपर्यन्तस्यैकप्रयोगत्वनिर्णयात्। प्राप्तक्रमत्यागायोगाच्च। एतेन वाजसनेयिनां जलतर्पणपक्षे उपस्थानपर्यन्ता सन्ध्या जले ततः तर्पणं तत उत्तीर्य गायत्रीजप इति श्रीदत्तोक्तं विचारणीयम्। एवं च निषेधकं वाक्यं स्थले जपसम्भवाभिप्रायं काम्यजपाभिप्रायं च।

**ब्राह्मे,**

भूम्यां यद्दीयते तोयं दाता चैव जले स्थितः।
वृथा तन्मुनिशार्दूल नोपतिष्ठति कस्यचित्॥
स्थले स्थितो जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः।

नोपतिष्ठेत पितॄणां तु सलिलं तन्निरर्थकम् ॥
उदके नोदकं कुर्यात्पितृभ्यस्तु कदाचन ।
उत्तीर्य च शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥
नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।
नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते ॥

तथा,

आस्तीर्य च कुशान्साग्रांस्तानावाह्य स्वमन्त्रतः ।
प्राचीनाग्रेषु वै देवान् याम्याग्रेषु च वै पितॄन् ॥

अयं च जलतर्पणनिषेधः स्थलतर्पणे सम्भवति, येषां बौधायनादीनां स्थलस्थानां जले तर्पणं विहितं तदितरविषयकः । आवाह्य स्वमन्त्रतःदेवान्देवावाहनमन्त्रेण पितॄन्पित्रावाहनमन्त्रेण॥

आवाहनमन्त्रमाह काष्र्णाजिनिः,

नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयेदूर्ध्वमानसः ।
आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम् ॥

एवञ्च देवावाहनमपि मे पितर इत्यत्र देवा इतिपदोहेन बोध्यम् । इदं चावाहनं पौराणिकत्वात्सर्वशाखिसाधारणमिति वदन्ति ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

यत्राशुचिस्थलं वा स्यादुदके देवताः पितॄन् ।
तर्पयेत्तु यथाकालमप्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

काष्र्णाजिनिः,

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणाः स्मृताः ।
तस्माज्जले जलं देयं पितृभ्यो दत्तमक्षयम् ॥

तथा,

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥

एवं च जलतर्पणपक्षेऽप्यसंस्कृतप्रमीतानां स्थलएव दानम् ।

उद्धृतोदकतर्पणे पितामहः,

पात्रादुद्धृत्य वा तोयं शुभे पात्रे विनिक्षिपेत् ।
जलपूर्णेऽथवा गर्त्ते न तु भूमौ विवर्हिषि ॥

एवं च न पात्रेष्विति पात्रतर्पणनिषेधः कुशास्तृतानिषिद्धभूमिसद्भावविषयः । एवं च वक्ष्यमाणबौधायनवाक्येन वासःपरिधानानन्तरमप्सु तर्पणविधानात् यत् स्थलस्थस्य जले तर्पणं तत् तदुक्ततर्पणप्रयोगएव प्रयोगान्तरे च इष्टकाचितत्वादिना स्थलतर्पणायोग्यत्वे ।

हरिहरस्तु जलसमीपस्थेन तर्पणजलं जलएव प्रक्षेप्तव्यम् । यदा चोद्धृतोदकेन तर्पणं तदैव स्थले जलप्रक्षेपः । तद्विषयमेव स्थलस्थस्य जलतर्पणनिषेधकं वाक्यम् ।

आवाह्य पूर्ववन्मन्त्रैरास्तीर्य च कुशान् शुचीन् ।
प्रागग्रेषु सुरान् सर्वान् दक्षिणाग्रेच वै पितॄन् ॥

इति योगियाज्ञवल्क्यवाक्याच्चेत्याह । तच्चिन्त्यम् । यतः,

उदके नोदकं कुर्यात्पितृभ्यश्च कदाचन ।
उत्तीर्य च शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥

इति शङ्खेन जलस्थतर्पणं निवार्य शुचौ देशे तर्पणं विधाय

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।
नोपातिष्ठति तत्तोयं यन्न भूमौ प्रदीयते ॥

इत्यनेन पुनरुदकनिषेधस्तीरस्थस्यापि जलप्रक्षेपे कृत इति । तस्मादुक्तैव व्यवस्थेति ।

हारीतः,

देवाश्च पितरश्चैव काङ्क्षन्ति सरितं प्रति ।
अदत्ते च निराशास्ते प्रतियान्ति यथागतम् ॥

अदत्ते, उदके इति शेषः ।

पितृगाथासु यमः,

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्याज्जलाञ्जलीन् ।
नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥

शङ्खलिखितौ,

वापीतडागोदपानेषु सप्त पञ्च त्रीन् वा पिण्डानुद्धृत्य देवर्षिपितॄंस्तर्पयेत् ।

अयं च वाप्यादौ यथासंख्यं सप्तपिण्डाद्युद्धारोऽसामर्थ्यात् स्नानाभावेऽपि तर्पणाङ्गत्वात् कार्यः । स्नानपक्षे तु स्नानस्य पूर्वप्रवृत्तत्वात्स्नानाङ्गतर्पणेनैव प्रसङ्गात्स्वतन्त्रतर्पणसिद्धिः । अतो न पृथक्पिण्डोद्धारः, एकप्रयोगत्वात् ।

तथाच योगियाज्ञवल्क्यः,

उपस्थानादिर्यस्तासां मन्त्रवान् कीर्त्तितो विधिः ।
निवेदनान्तं तत्स्नानमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥

उपस्थानम् उरुंहीत्यादिमन्त्रैः । तासाम् अपाम् । निवेदनं देवागातुविद इत्यादिना वक्ष्यमाणम् इति श्रीदत्तः ।

वसिष्ठः,

ऋक्सामाथर्ववेदोक्तान् जपेन्मन्त्रान् यजूंषि च ।
जपित्वैवं ततः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ॥

छन्दोगपरिशिष्टं,

यवाद्भिस्तर्पयेद्देवांस्तिलाद्भिश्च पितॄनपि ।

कूर्मपुराणे,

देवान् ब्रह्मऋषींश्चैव तर्पयेदक्षतोदकैः ।
पितॄन् भक्त्या तिलैः कृष्णैः स्वसूत्रोक्तविधानतः ॥

अक्षता यवाः ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

यद्युदुधृतं प्रसिञ्चेत्तु तिलान्संमिश्रयेज्जले ।

अतोऽन्यथा तु सव्येन तिला ग्राह्या विचक्षणैः ॥

यदि उदुधृतोदकमादाय तर्पणं करोति तदा जलपात्रे तिलाः प्रक्षेप्तव्याः । यदा च जलाशयस्थजलमादाय तदा वामहस्तेन तिलग्रहणम् ।

मरीचिः,

मुक्तहस्तं तु दातव्यं मुद्रां तत्र न दर्शयेत् ।

वामहस्ते तिला ग्राह्या मुक्त्वा हस्तं तु दक्षिणम् ॥

मुद्रा पितृतीर्थविरोधकः तर्जन्यङ्गुष्ठसंयोगविशेषः।मुक्त्वा हस्तन्तुदक्षिणमिति। दक्षिणहस्तं तिलरहितं कुर्यादित्यर्थः इति कल्पतरुः।

नारदीये,

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु दक्षिणस्येतरात्करात् ।

तिलान् गृहीत्वा पात्रस्थान् ध्यायन् सन्तर्पयेत्पितॄन् ॥

स्मृत्यर्थसारे,

वामहस्ते तिलान् क्षिप्त्वा जलमध्ये तु तर्पयेत् ।

स्नानशाट्यञ्चले पात्रे रोमकूपे न कुत्रचित् ॥

देवलः,

लोमसंस्थान् तिलान् कृत्वा यः सन्तर्पयते पितॄन् ।

पितरस्तर्पितास्तेन रुधिरेण मलेन च ॥

वृद्धमनुः,

यथा योधसहस्रेभ्यो राजा गच्छति धार्मिकः ।

एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥

स्मृतिचन्द्रिकायाम्—

गोभिलः,

शुक्लैस्तु तर्पयेद्देवान् मनुष्यान् शबलैस्तिलैः ।
पितॄंस्तु तर्पयेत्कृष्णैस्तर्पयंस्तु सदा द्विजः ॥

**मरीचिः**,

तिलानामप्यभावे तु सुवर्णरजतान्वितम् ।
तदभावे निषिञ्चेत्तु मन्त्रैर्दर्भेण वा पुनः ॥

एवं च तिलहीनं च तर्पणमिति निन्दार्थवादो, यश्च रामायणे तिलहीनतर्पणादिकमुपक्रम्य—

तत्सर्वं त्रिजटे तुभ्यं यद्यत् श्राद्धमदक्षिणम्।

इति निन्दार्थवादः, स तिलसद्भावविषयकः। तिलं विनाऽपि मरीचिना तर्पणविधानात् । तिलादीनां सर्वेषामभावे—

**शङ्खः**,

विना रूप्यसुवर्णेन विना ताम्रतिलैस्तथा ।
विना दर्भैश्च मन्त्रैश्च पितॄणां नोपतिष्ठते ॥

मन्त्रैस्तर्पणविहितमन्त्रैः। एवञ्च तिलादीनां सर्वेषामभावे मन्त्रैरपि तर्पणं कार्यमेव । गुणलोपे न प्रधानस्येति न्यायादप्ययमर्थः सिध्यति ।

स्मृतिचन्द्रिकायां **मरीचिः**,

संक्रान्त्यां रविवारे च गृहे जन्मदिने तथा ।
भृत्यपुत्रकलत्रार्थी न कुर्यात्तिलतर्पणम् ॥
पक्षयोरुभयोश्चैव सप्तम्यां निशि सन्ध्ययोः ।
विद्यापुत्रकलत्रार्थी तिलान् पञ्चसु वर्जयेत् ॥

निबन्धान्तरे स्मृत्यन्तरं च,

रविशुक्रदिने चैव द्वादश्यां श्राद्धवासरे ।
सप्तम्यां जन्मदिवसे न कुर्यात् तिलतर्पणम् ॥

तथा,

न जीवत्पितृकः कृष्णैस्तिलैस्तर्पणमाचरेत् ।

प्रतिप्रसवस्तत्रैव,

अयने विषुवे चैव संक्रान्त्यां ग्रहणेषु च ।
उपाकर्मणि चोत्सर्गे युगादौ मृतवासरे ॥
सूर्यशुक्रादिने चापि न दोषस्तिलतर्पणे ।

एतानि निषेधवचनानि काम्यतर्पणविषयाणि । नित्यतर्पणे नित्यवत्प्राप्ततिलबाधायोगात् ।

शङ्खः,

सौवर्णेन हि पात्रेण राजतौदुम्बरेण च ।
खड्गपात्रेण वा शङ्कुनाऽप्युदकं पितृतीर्थं स्पृशन् दद्यात् ।

इदं च सौवर्णादिपात्रमञ्जलिना सह विकल्पितं, समुच्चयासम्भवात्। तानि च पात्राणि अष्टाङ्गुलन्यूनानि न कार्याणि ।

वस्वङ्गुलविहीनं तु न पात्रं कारयेत्कचित् ।

इति वाक्यात् । शङ्कुः कीलकः । स च सुवर्णादिनिर्मितः, प्रक्रान्तत्वात् ।

एतत्फलमाह स एव,

सौवर्णराजताभ्यां तु खड्गेनौदुम्बरेण वा ।
दत्तमक्षयतां याति पितॄणां तु तिलोदकम् ॥
हिमेन सह यद्दत्तं क्षीरेण मधुनाऽथवा ।
तदप्यक्षयतां याति पितॄणां तु तिलोदकम् ॥

हिमं कर्पूरम् ।

स्मृतिचन्द्रिकायां पितामहः,

हेमरूप्यमयं पात्रं ताम्रं कांस्यसमुद्भवम् ।
पितॄणां तर्पणे पात्रं मृन्मयं तु परित्यजेत् ॥

तत्रैव स्मृत्यन्तरे

खड्गमौक्तिकहस्तेन कर्त्तव्यं पितृतर्पणम् ।
मणिकाञ्चनदर्भैर्वा न शुद्धेन कदाचन ॥

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

अनामिकाधृतं हेम तर्ज्जन्यां रूप्यमेवच ।
कनिष्ठिकाधृतं खड्गं तेन पूतो भवेन्नरः ॥

**स्मृतिचन्द्रिकायां सत्यतपाः,**

देवपितृमनुष्यादीन् स्वशाखाविधिचोदितान् ।
एकैकाञ्जलिना तृप्तिः प्रथमान्तेन कारयेत् ॥

**तत्रैव व्यासः,**

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौद्वौ तु सनकादयः ।
अर्हन्ति पितरस्त्रींस्त्रींस्त्रियश्चैकैकमञ्जलिम् ॥

एवं मनुष्यतर्पणे स्वगृह्ये विशेषानुक्तौ एकाञ्जलिना अञ्जलिद्वयस्य विकल्पः। एवं सत्यतपोवचने आदिपदग्राह्यऋषितर्पणेऽपि स्वगृह्ये विशेषानुक्तौ एकाञ्जलिः। दिव्यपितृतर्पणेऽप्येक एवाञ्जलिः। दिव्यपितॄनभिधाय सकृदिति छन्दोगपरिशिष्टोक्तेः। स्वपितॄणां तु अथ स्वान् पितॄन्मातामहान् त्रिः प्रतिपुरुषमभ्यसेत् इति छन्दोगपरिशिष्टवाक्यात्प्रत्येकमञ्जलित्रयम्। एवं च पूर्वोदाहृतवाक्यद्वये पितृपदं स्वपितृपरम्। पितृव्यादीनां तु एक एवाञ्जलिः। छन्दोगपरिशिष्टेन पित्रादीनां षण्णामेवाभ्यासाभिधानात्। स्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिमित्युक्तेः स्त्रीणामेकैक एवाञ्जलिः। आचारमाधवधृतप्रचेतोवाक्यात्पुनर्मात्रादितिसृणां प्रत्येकमञ्जलित्रयं सिध्यति।

यथा,

मातृमुख्याश्च यास्तिस्रस्तासां दद्यात्त्रिरञ्जलीन्।

यमतर्पणे तु यमानुक्त्वा—

एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन् दद्याज्जलाञ्जलीन्।

इति कात्यायनवाक्यात्प्रत्येकमञ्जलित्रयमिति श्रीदत्तादयः ।

अत्राञ्जल्यावृत्त्या प्रत्यञ्जलि त्यागबोधकमन्त्रावृत्तिः ।

तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना ।

इत्यनेन सेके मन्त्रस्य करणत्वावगमात् । अत एव एकमन्त्रकरणकैकदेवताकनानाहोमेषु मन्त्रावृत्तिः संमता ।

**स्मृतिचन्द्रिकायां कूर्मपुराणे,**

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

देवर्षींस्तर्पयेद्धीमानुदकाञ्जलिभिः पितॄन् ॥

एतेन देवादितर्पणं वामपाण्यन्वारब्धेन दक्षिणपाणिना, पितृतर्पणं तु अञ्जलिनेति सिद्धम् ।

देवादीनुक्त्वा **योगियाज्ञवल्क्योऽपि,**

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना ॥ इति ।

एकैकमञ्जलिं देवा इत्यादिपूर्वोदाहृतव्यासवाक्यात् देवादीनामप्यञ्जलिः सिद्ध्यति । एवं च देवादितर्पणे स्वामहस्तेनान्वारब्धदक्षिणपाणिना समम्ञ्जलेर्विकल्पः ।

**छन्दोगपरिशिष्टम्,**

दक्षिणं पातयेज्जानुं देवान्परिचरन्सदा ।

पातयेदितरं जानुं पितॄन्परिचरन्नपि ॥

**मनुः,**

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।

पित्र्यमानिधनात् कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥

अतन्द्रिणा अनलसेन। आनिधनात् मरणमारभ्य। मैथिलास्तु कर्मसमाप्तिपर्यन्तमिति व्याचक्षते ।

**अग्निपुराणे,**

प्रागग्रैस्तु सुरांस्तर्पेन्मनुष्यांश्चैव मध्यतः ।
पितॄंश्च दक्षिणाग्रैस्तु एकद्वित्रिजलाञ्जलीन् ॥

**वृद्धमनुः,**

प्रादेशमात्रमुद्धृत्य सलिलं प्राङ्मुखः सुरान् ।
उदङ् मनुष्यांस्तर्पेत पितॄन् दक्षिणतस्तथा ॥
अग्रैस्तु तर्पयेद्देवान्मनुष्यान् कुशमध्यतः ।
पितॄंस्तु कुशमूलाग्रैर्विधिः कौशोऽयमुच्यते ॥

उदक् उदङ्मुखः । दक्षिणतो दक्षिणामुखः ।

**यमः,**

त्रींस्त्रीन् जलाञ्जलीन् दद्यादुच्चैरुच्चतरं ततः ।
गोशृङ्गमात्रमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ॥

उच्चैरिति । पित्रादिषट्काञ्जलित्रये उत्तरोत्तरवृद्धिः कर्त्तव्या । गोशृङ्गमात्रमिति तृतीयाञ्जल्युच्चत्वनिर्देशः । प्रथमाञ्जलेर्वा गोशृङ्गमात्रता बोध्या । जलमध्यइति पक्षप्राप्तानुवादः ।

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

दक्षिणे पितृतीर्थेन जलं सिञ्चेद्यथाविधि ।

दक्षिणइति । करइति शेषः ।

**शङ्खः,** नेष्टकाचिते पितॄंस्तर्पयेत् ।

उशना, न वेष्टितशिराः न कृष्णकाषायवाससा देवपितृकार्यं कुर्यात् ।

**वायुपुराणे,**

मेघे वर्षति यः कुर्यात्तर्पणं स्नानदुर्बलः ।
पितॄणां नरके घोरे गतिस्तस्य भवेद् ध्रुवा ॥

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

सवर्णे भोजनं दद्यान्नासवर्णे कदाचन ।

मित्रत्वादिप्रसक्तजलदाननिषेधोऽयम्। भीष्मतर्पणं ब्राह्मणादीनामपि विहितमिति न तस्य निषेधः। यथा माघशुक्लाष्टमीमधिकृत्य—

**स्मृतिः,**

भीष्माय सलिलं दद्युस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। इति।

**स्मृतिचन्द्रिकायां पुराणं च,**

शुक्लाष्टम्यां च माघस्य दद्याद्भीष्माय यो जलम्।
संवत्सरकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

तत्तर्पणमन्त्रोऽपि तत्रैव,

वैयाघ्रपद्यगोत्राय साङ्कृतिप्रवराय च।
गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम्॥
अपुत्राय ददाम्येतत्सलिलं भीष्मवर्मणे। इति।

इदं च आगन्तुकानामन्ते निवेश इति न्यायात् सर्वतर्पणान्ते कार्यम्। इदं च तर्पणं पितृतर्पणवत्कार्यमिति वदन्ति।

**पारस्करः,**

ब्राह्मणेनैव कर्त्तव्यं शूद्रस्य त्वौर्ध्वदेहिकम्।
शूद्रेण वा ब्राह्मणस्य विना पारशवात्क्वचित्॥

और्ध्वदेहिकमिति सामान्यनिर्देशात् श्राद्धादिपरिग्रहः। ब्राह्मणशूद्रपदे विजातीयोपलक्षके। नामवर्णे इत्यादियोगियाज्ञवल्क्यवचनस्वरसात्। पारशवः शूद्रायां ब्राह्मणेनोत्पादितः। इदं च विजातीयपुत्रपौत्राद्युपलक्षणम्। तेन मित्रत्वादिप्रसक्तस्य असवर्णश्राद्धादेर्निषेधो ननु पुत्रत्वादिना प्रसक्तस्येति सिद्धम्।

**लघुविष्णुः,**

निवीती हन्तकारेण मनुष्यांस्तर्पयेदथ।
कुशस्य मध्यदेशेन तृतीर्थेन ह्युदङ्मुखः॥

तत्पितुस्तत्पितुश्चापि नामगोत्रादिपूर्वकम् ॥

मरीचिः,

देवान्पितॄंस्तर्पयेत्तु तृप्तैस्तैर्मुदितो भवेत् ।
अनभ्यर्च्य यदा याति तदा भवति निष्फलः ॥
राजते मनसा यायात् सुवर्णे हस्तनिर्गतम् ।
तिलेषु च क्षणं गच्छेत् ताम्रे तु द्विमुहूर्त्ततः ॥
दर्भे सप्तमुहूर्त्तेन मन्त्रयुक्तं तदक्षयम् ।
यत्रयत्र हि यो यस्य तत्र तस्योपतिष्ठते ॥
बहुगोषु यथा नष्टां मातरं लभते सुतः ।
मनसा यस्य यद्दत्तं तद्धि तस्योपतिष्ठते ॥

राजतइत्यादि । राजतपात्रेण तर्पणे यदा मनसा संकल्पयति तदैव तदुदकं यत्र पित्रादयस्तिष्ठन्ति तत्र तद्गामि भवतीत्यर्थः ।

यमः,

सपिण्डानां च बन्धूनां कृत्वा ऽऽदावुदकक्रियाम् ।
सुहृत्सम्बन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥

## अथ कात्यायनतर्पणप्रयोगः ।

तत्र कात्यायनः, तर्पयेद् ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिं देवान् छन्दांसि वेदान् ऋषीन् पुराणानाचार्यान् गन्धर्वानितराना-चार्यान् संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरा-न्पर्वतान्सरितो मनुष्यान् यक्षान् रक्षांसि पिशाचान् सुपर्णान् भूतानि पशून्वनस्पतीन् ओषधीर्भूतग्रामं चतुर्विधं तृप्यतामित्यो-ङ्कारपूर्वम् । ततो निवीती मनुष्यान् ।

सनकं च सनन्दं च तृतीयं च सनातनम् ।
कपिलं चासुरिं चैव वोढुं पञ्चशिखं तथा ॥

ततोऽपसव्यं तिलमिश्रं कव्यवाडनलं सोमं यममर्यमणम् अ-

ग्निष्वात्तान् सोमपान् बर्हिषदो, यमांश्चैके,

यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च।
वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च॥
औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः॥
एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन् दद्याज्जलाञ्जलीन्।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

जीवत्पितृकोप्येतान् अन्यांश्चेतर उदीरतामङ्गिरस आयन्तु-न ऊर्जं पितृभ्यो येचेह मधुवाता इति त्र्यृचं जपन् प्रसिञ्चेत्। तृप्यध्वमिति त्रिर्नमोव इत्युक्त्वा मातामहाचार्यगुरुशिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान्। अन्यपिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति।

अत्र च प्रयोगप्रकारप्रदर्शनावसरे तृप्यतामित्योङ्कारपूर्वमित्यभिधानात् ॐब्रह्मा तृप्यतामित्येवं तर्पणप्रयोगसिद्धिः। पाठक्रमादेव च ब्रह्मणः पूर्वत्वसिद्धौ पूर्वमिति वचनं ब्रह्मादीनां प्रत्येकं तर्पणीयत्वसिद्ध्यर्थम्। अन्यथा ब्रह्माविष्णुरित्याद्युक्त्वा सकृदेव तृप्यतामितिप्रयोगापत्तेः। ॐकारश्च नाम्नः पूर्वमेवोच्चार्यः।

यथा योगियाज्ञवल्क्यः,

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु।
तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना॥

तथा च तृप्यतामित्योङ्कारपूर्वमित्येतदपि प्रत्येकमेव सम्बध्यते। देवान् छन्दांसीत्यादौ तु देवतागतबहुत्वान्वयार्थं तृप्यन्तामिति तर्पणक्रियावाचकबहुवचनान्तं पदं पठनीयम्। पुराणपदमितरपदं चाचार्यविशेषणम्। कुत्रचित्पुराणाचार्यानितराचार्यानित्येव पाठः। सावयवपदं च साकाङ्क्षत्वात् संवत्सरपदेनान्वेति। एवं चतुर्विधमित्यपि भूतग्रामविशेषणम्। अत्र च मनुष्यतर्पणानन्तरं मरीच्यादि-

ऋषितर्पणं द्रष्टव्यम् । पद्मपुराणे मनुष्यतर्प्पणानन्तरमेव तदाभिधानात् ।

तर्प्पणं तु शुचिः कुर्यात्प्रत्यहं स्नातको द्विजः ।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम् ॥

इति शातातपवचनेन च तस्यावश्यकत्वम् । श्रीदत्तादिभिस्तु मनुष्यतर्पणात्पूर्वमेव ऋषितर्पणमभिहितम् ।

ते च पद्मपुराणे दर्शिताः,

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेवच ॥ इति ।

तच्च निवीतिना कार्यम् ।

निवीतीतु भवेत्ततः ।
मनुष्यांस्तर्प्पयेद्भक्त्या ऋषिपुत्रान् ऋषींस्तथा ॥

इति पद्मपुराणे निवीतस्य ऋषितर्प्पणाङ्गत्वप्रतीतेः । अथ निवीती ऋषींस्तर्प्पयामीति बौधायनोक्तेश्चेति वदन्ति ।

वस्तुतस्तु कात्यायनेन ऋषीनित्यनेन ऋषितर्पणस्योक्तत्वान्नैतस्मिन्प्रयोगे पृथक् ऋषितर्पणम् । अतएव योगियाज्ञवल्क्येन—

ततः संतर्पयेद्देवानृषीन् देवगणांस्तथा ।

इति अनेन ऋषितर्पणस्य कर्त्तव्यतामुक्त्वा ऋषींश्चैव तपोधनानित्येव ऋषितर्प्पणमुक्तमिति । तस्मादेतत्प्रयोगे मरीच्यादितर्पणप्रवेशो नैव युक्त इति प्रतिभाति । अत्र ततो निवीतीत्यभिधानात्पूर्वमुत्सर्गसिद्धमुपवीतीत्वमेव ।

उक्तं च योगियाज्ञवल्क्येन,

ब्रह्मादीनुपवीती तु देवतीर्थेन तर्पयेत् ।
निवीती कायतीर्थेन मनुष्यान्सनकादिकान् ॥ इति ।

मनुष्यतर्पणमपि ॐ सनकः तृप्यतामित्याकारमेव । तृप्यता-

मिश्रस्योपस्थितत्वात्। तृप्यन्तामिति प्रेक्षध्यमिति योगियाज्ञव-ल्क्यवचनस्य मनुष्यतर्पणविध्युत्तरं पाठाच्च। ततोऽपसव्यमिति द-क्षिणामुखत्वपातितवामजानुत्वादिपितृधर्मोपलक्षणम्। कव्यवाडा-दिदिव्यपितृतर्पणे च "नमस्कारस्वधान्वितान्" इति योगियाज्ञवल्क्य-वचनात्स्वधा नम इति प्रयोज्यम्। एवं पितृतर्पणेऽपि। कव्यवाडनल इति एका देवता। हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितॄणामि-ति श्रुतेः। तेन कव्यं वहतीति कव्यवाट् कव्यवाट् चासौ अनल-श्चेति कव्यवाड्गुणविशिष्टोऽनल एको देवतेति कल्पतरुहरिह-रादयः। श्रीदत्तस्तु कव्यवाडादयो दिव्या इति गोभिलवचनात् कव्यवाडं नलमिति कामधेन्वादौ पाठाच्च द्वे एव देवते इत्याह। यमांश्चैकइति मतान्तराभिधानादनावश्यकत्वम्। नम इति सर्वत्र च-तुर्थ्यन्तसम्बद्धम्। यमतर्पणेऽञ्जलिसंख्यामाह एकैकस्येति। फलमाह यावज्जीवेति। एतान् यमान्तान्। अन्यान् पित्रादीन्। इतरो मृतपि-तृकः। एवं पितृपितामहप्रपितामहांस्तर्पयित्वा प्रसेकाख्यं कर्म कुर्या-दित्याह उदीरतामित्यादिना जपन् प्रसिञ्चेदित्यन्तेन। एता नवर्चो जपन् उपांशु आम्नायस्वरेण च पठन् प्रसिञ्चेत् अञ्जलिना अपः प्रक्षिपेत्। न च उदीरतामित्यादेः पूर्वोक्तपित्रादितर्पणएव करणत्वम-स्त्विति वाच्यम्। करणत्वे मन्त्रान्ते कर्मादिः सन्निपात्य इति परि-भाषया मन्त्रसमाप्तौ अञ्जलिदानापत्तेः। तथाच सतिशतृप्रत्ययार्थ-बाधः, प्रसेकपदस्य च दानार्थत्वे लक्षणापत्तिश्च। तस्मात्प्रसेकाख्यं कर्मान्तरमेवेति हरिहरादयः।

श्रीदत्तादयस्तु मन्त्रैस्तु देयमुदकमित्यादियोगियाज्ञवल्क्यवचनेन मन्त्राणामुदकदानकरणत्वावगतेः प्रसेकशब्दस्य च—

यद्युद्धृतं प्रसिञ्चेत्तु तिलान्संमिश्रयेज्जले।

इत्यत्र तर्पणवाचित्वावसायात् शतृप्रत्ययस्यच वर्तमानसा-

मीप्येऽपि निर्देशोपपत्तेः पूर्वोक्तपित्रादित्रिकाञ्जलिनवके मन्त्रनवकस्य करणत्वमिति आहुः। मन्त्रपाठानन्तरमेवामुकगोत्रः पितेत्यादिवाक्यप्रयोगस्ततो जलादिप्रक्षेप इति वदन्ति। तृप्यध्वमिति त्रिरिति। अत्रापि प्रसिञ्चेदित्यस्यान्वयात्पित्रादिकं मिलितमुद्दिश्य प्रत्यञ्जलि तृप्यध्वमित्युक्त्वा त्रिः प्रसिञ्चेदित्यर्थः। ततो नमोव इत्यष्टौ यजूंषि सकृत्पठित्वा मातामहादींस्त्रींस्तर्पयेत्। अत्र च षट्पुरुषतर्पणे पितॄन्मातामहानिति प्रतिपुरुषमभ्यसेत् इति छन्दोगपरिशिष्टेन षट्पुरुषतर्पणे अभ्यासविधानादञ्जलित्रयं कार्यम्। अत्र च मातृपितामहीप्रपितामह्यः मातामहीप्रमातामहीवृद्धप्रमातामह्यश्च तर्पणीयाः। पत्न्यश्च पितृतर्पणमिति गोभिलवचनात्। अत्र चैकोऽञ्जलिर्देयः। स्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिमिति पूर्वोक्तव्यासवचनात्। तत आचार्यादींस्तर्पयेत्। आचार्यो गुरुश्च पूर्वोक्तलक्षणो द्रष्टव्यः। ज्ञातिः पितृव्यादिः। बान्धवा मातुलादयः। हरिहरेण तु मातामहानां चैवं गुरुशिष्येति पाठं लिखित्वा गुरुशब्देन आचार्यो व्याख्यातः। पितृव्यादीनां च अञ्जलित्रयमिति हलायुधः। अत्र च दिव्यपितृतर्पणे कव्यवालस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति प्रयोज्यम्। एवं पितृतर्पणे अमुकगोत्रः पिता अमुकशर्मा तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति। एवं मातृतर्पणे अमुकगोत्रा माताऽमुकीदेवी तृप्यतामिदं जलं तस्यै स्वधा नम इति प्रयोज्यम्। कल्पतरुणाऽप्येवमेव प्रयोगोऽभिहितः।

पद्मपुराणे,

ब्रह्माणं तर्पयेत्पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम्।
देवा यक्षास्तथा नागा गन्धर्वाप्सरसोऽसुराः॥
क्रूराः सर्पाः सुपर्णाश्च तरवो जम्भकाः खगाः।
विद्याधरा जलधरास्तथैवाकाशगामिनः॥

निराधाराश्च ये जीवाः पापे धर्मे रताश्च ये।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥
कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती तु भवेत्ततः।
मनुष्यांस्तर्पयेत् भक्त्या ऋषिपुत्रानृषींस्तथा॥
सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥
सर्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्॥
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेवच।
देवान्ब्रह्मऋषीन् सर्वान् तर्पयेदक्षतोदकैः॥
अपसव्यं ततः कृत्वा सव्यं जान्वाच्य भूतले।
अग्निष्वात्तांस्तथा सौम्यान् हविष्मन्तस्तथोष्मपान्॥
सुकालिनो बर्हिषदस्तथैव ह्याज्यपाः पुनः।
तर्पयेत पितॄन् भक्त्या सतिलोदकचन्दनैः॥
दर्भपाणिस्तु विधिना प्रेतांस्तांस्तर्पयेत्ततः।
पित्रादीन्नामगोत्रेण तथा मातामहानपि॥
सन्तर्प्य भक्त्या विधिवदिमं मन्त्रमुदीरयेत्।
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः॥
ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति।

अत्र ब्रह्मादीनां चतुर्णाम् ॐब्रह्मा तृप्यतामित्यादिवाक्यैस्तर्पणम्। देवा यक्षा इत्यादिसार्द्धश्लोकद्वयेनैकाञ्जलिः। सनकश्चेत्यादिसार्द्धश्लोकेनैकेनाञ्जलिना मनुष्यास्तर्पणीयाः। मरीचिमित्यादौ तर्पयेदिति शेषः। वाक्यरचना तु मरीचिस्तृप्यतामत्रिस्तृप्यतामित्यादिः। आच्य पातयित्वा। अग्निष्वात्तान् इत्यादि। अत्र अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्तामिदं जलं तेभ्यः स्वधा नम इत्यादिवाक्यम-

योगाः। अत्र हविष्मन्तमित्येकवचनान्तः पाठो दृश्यते तथापि प्रयोगे बहुवचनान्तमेव प्रयुञ्जते । क्वचित्तु हविष्मन्त इति पाठः, तत्र द्वितीयार्थे प्रथमा। चन्दनं चास्मिन्नेव प्रयोगे। प्रेतान्मृतान्। तानिति पितॄनित्यनेनान्वितम्। क्रमार्थमाह पित्रादीनित्यादि। तत्पत्नीनां पितृव्यादीनां च तर्पणं स्मृत्यन्तरसिद्धमत्र प्रयोगेऽपि ग्राह्यम्। मन्त्रमुदीरयेदिति च मन्त्रपाठपूर्वकजलसेकोपलक्षणम्। तस्यैव तृप्त्यर्थत्वात्समाचाराच्च।

## अथ शङ्खोक्ततर्पणविधिः।

**तत्र शङ्खः**, स्नातः कृतजप्योऽन्तर्जानुरुदङ्मुखो दिव्येन तीर्थेन देवानुदकेन तर्पयेत्।

अथतर्पणविधिः। ॐभगवन्तं शेषं तर्पयामि ततः कालाग्निरुद्रं सन्तानवराहमजिनं रुक्मभौमं शैलभौमं ललाटभौमं कृत्स्नभौममिति पातालसप्तकं, ततो जम्बूद्वीपं शाकद्वीपं कुशद्वीपं क्रौञ्चद्वीपं शाल्मलिद्वीपं प्लक्षद्वीपं पुष्करद्वीपमिति द्वीपसप्तकं, लोकालोकाख्यं पर्वतं स्वधानामानं शम्पदं केतुमन्तं हिरण्यरोमाणमिति कल्पस्थायिनो लोकालोकपालान्, ततो लवणोदकं क्षीरोदकं घृतोदकं दध्युदकं रसोदकम् इक्षुरसोदकम् स्वादूदकमिति समुद्रसप्तकं सागरचतुष्कं, शृङ्गवन्तं श्वेतं नीलं मेरुं माल्यवन्तं गन्धमादनं निषधं हेमकूटं हिमवन्तमिति महापर्वतान्, महेन्द्रं मलयं सह्यं शुक्तिमन्तम् ऋक्षवन्तं विन्ध्यं पारियात्रकमिति सप्त कुलपर्वतान्, कैलासमैनाकमुखान् पर्वतांश्च बिन्दुसरःप्रमुखानि सरांसि सप्तप्रवाहां गङ्गां त्रिलोकप्रवाहिनीं गङ्गां सप्तसरस्वतीं यमुनां प्रथमं पुष्करं द्वितीयं पुष्करं तृतीयं पुष्करं प्रयागं नैमिषं गयाशीर्षं सर्वतीर्थानि सर्वप्रस्रवणानि सर्वाः सरितस्तु इन्द्रतीर्थं अश्वत्थप्रमुखान् वनस्पतीन् यवप्रमुखान् ओषधीन् मानसोत्त-

रारुयं पर्व्वतं लोकपालांस्तु इन्द्रं शचीं वज्रमैरावतं मातलिं चित्रसेनप्रमुखान् गन्धर्व्वाप्सरसः मुदोनामाप्सरसः पशुनोनामाप्सरसः असुरोनामाप्सरसः भारानामाप्सरसः पृष्ठमोनामाप्सरसः ऊर्जोनामाप्सरसः अग्निमन्तां स्वाहाम् अग्नीधं यमं धर्मं श्रियं सत्यं तपः सयज्ञं दक्षिणां दीक्षां ब्रह्मचर्यं व्यवमायं धर्मराजानं दण्डं पिङ्गलं कालपाशौ आयुधं स्वर्गं मृत्युं चित्रगुप्तं यमपुरुषान् श्यावशबलौ विरूपाक्षं नैर्ऋतं धर्मप्रधानान् दैत्यान् दानवान् विद्याधरान् यक्षान् राक्षसान् पिशाचान् रोगान् ज्वरं रोगाधिपम् आरोग्यं वरुणं गौरीर्नागान् वासुकिम् अनन्तं सर्पान् वनस्पतीन् वायुं शिरां प्राणापानसमानोदानव्यानान् इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थान् जीवं सोमं नक्षत्राणि वर्त्तमानं नक्षत्रं पितॄन् आभासुरं बर्हिषदोऽग्निष्वात्तान् क्रव्यादान् तत्तद्भुपान् आज्यपान् सुकालिनः महादेवं पार्व्वतीं सेनानीं स्कन्दं विशाखं स्कन्दग्रहान् बालग्रहान् स्कन्दपार्षदान् रुद्रपार्षदान् भूतानि भौमान् रुद्रान् अन्तरिक्षान् रुद्रान् विद्यारुद्रान् सर्व्वगतान् रुद्रान् मातृयोगीश्वरीं देवपत्नीं देवमातृगणान् धराधिपान् विनायकं मितसम्मितं शालकटङ्कटौ कूष्माण्डं राजपुत्रान् धर्ममन्वं कामं गतिं निद्रां क्षुधम् अदितिम् आयतिं नियतिं कीर्त्तिं प्रज्ञां धृतिं मेधां क्षान्तिं रुचिं श्रद्धां वाणीं सरस्वतीं दक्षं दाक्षायणीं प्रजापतीन् सनकं सनातनं सनन्दनं सनत्कुमारं क्रतुं पितॄन् ब्रह्मऋषीन् देवर्षीन् राजर्षीन् ऋषिकान् ऋषिपत्नीं ऋषिपुत्रान् गायत्रीम् उष्णिहम् अनुष्टुभं बृहतीं पङ्क्तिं जगतीं सर्व्वच्छन्दांसि गरुडम् अरुणं हव्यजातं सुरभिं दिङ्नागान् वैश्रवसं धन्वन्तरिं भुवननागान् दिव्यनागान् विश्वकर्माणं वैश्रवणम् ऋद्धिं नलकूवरं रेवन्तं शङ्खपद्मौ नहुषपुत्रं तत्पत्नीं तत्प्रजां काश्यपं तत्पत्नीं तत्प्रजां धनदं तत्पत्नीं तत्प्रजां प्रजापतिं तत्पत्नीं तत्प्रजां

चन्द्रं तत्पत्नीं तत्प्रजाम् अरिष्टनेमिं तत्पत्नीं तत्प्रजां कृशानुं जयाम-जामस्त्राणि शस्त्राणि शास्त्राणि ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्ववेदम् इतिहासं पुराणं धनुर्वेदं गान्धर्ववेदम् आयुर्वेदम् कुलवेदं ज्योतिषं शिक्षां कल्पं व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिं धर्मशास्त्रं भारतं मनुं विष्णुं यमं वसिष्ठं नारदं दक्षं संवर्त्तं शातातपं पराशरम् आ-पस्तम्बमौशनसं कृष्णद्वैपायनं कात्यायनं बृहस्पतिं गौतमं शङ्खं लिखितं हारीतमत्रिं याज्ञवल्क्यम् अथ भगवन्तं धर्ममुत्तानपादं यज्ञं नारायणं नासत्यं वरुणार्यमणौ संवत्सरं मित्रम् इन्द्राग्नी मरीचिक-श्यपौ ध्रुवमगस्त्यं धातारं मार्त्तण्डं रामं वाल्मीकिं महाकल्पं कल्पं मन्वन्तरं वर्त्तमानम् इन्द्रमोजस्विनं स्वायम्भुवं स्वारोचिषम् औत्तमं तामसं रैवतं चाक्षुषं महातेजसं वैवस्वतम् अर्कं सावर्णं ब्रह्मसावर्णं रुद्रसावर्णं दक्षसावर्णं धर्मसावर्णं रौच्यं भौत्यं युगं वर्त्तमानं संव-त्सरं वर्त्तमानमयनं वर्त्तमानमृतुं वर्त्तमानं मासं वर्त्तमानं पक्षं वर्त्त-मानमादित्यं सोमं बुधं जीवं शुक्रं शनैश्चरं राहुं केतुमृक्षाणि वर्त्त-मानं दिवसं रात्रिमन्ध्ये किंपुरुषान् सर्वाणि भूतानि देवान् वरान् देवानुगान् ॐएकज्योतिषं त्रिज्योतिषं चतुर्ज्योतिषम् एकशक्रं द्विशक्रं त्रिशक्रम् इन्द्रं गाथादसं नभं शङ्कुपितं संमितं सितम् ऋत-जितं सत्यजितं सुषेणम् अतिमित्रवन्मित्रं पुरुपमित्रं धृतं धर्त्तारं विधर्त्तारं धरणं ध्रुवं विधातारमीदृक्षमेतादृक्षं सदृक्षं प्रतिसदृक्षममृ-ताशिनं प्रीतिनं शुगदृक्षं सभवमतिं धर्त्तारमुखं धनिभीममातियुक्त-मृक्षपादं सहं द्युतिं वपुराधृक्षवासं कामं जयं विजयम् इत्येकोनप-ञ्चाशतं मरुतो भुवनं भावनं पर्जन्यं स्वजनं क्रतुं वसुं मूर्द्धानं राजं वास्तवं प्रणवमाप्यायनमृक्षमिति द्वादश भृगून् मनुं मन्वन्तरं प्रा-णायामं चितिं छयं मयं हंसं नरनारायणं विभुं प्रभुमिति द्वादश-साध्यान् सवितारं धातारं मित्रम् अर्यमणं पूषणमंशं त्वष्टारं विव-

स्वन्तं मित्रं विष्णुं वरुणं भगमिति द्वादशादित्यान् अपावकं सूर्यं निर्ऋतिं खमजैकपादमहिर्बुध्नं धूमकेतुं कलापिनमेकादशरुद्रान् आत्मानमजमनीम् ऋक्षं दमं प्राणं हविष्मन्तं गरिष्ठम ऋतं सत्यमिति द्वादशाङ्गिरसः क्रतुं दक्षं वसुं सत्यं कालं कामं धुरिं रोचनं माद्रवं पुरूरवसमिति दश विश्वान्देवान् धवं ध्रुवं सोमम् आपम् अनलम् अनिलं प्रत्यूषं प्रभासमित्यष्टौ वसून् नासत्यं दस्रमित्यश्विनौ एतान् नरगणान् सानुचरान् स्वायम्भुवं सावित्रीं सर्वान् देवान् सर्वां देवीं लक्ष्मीं धराम् अनिरुद्धं प्रद्युम्नं सङ्कर्षणं वासुदेवं भूर्लोकं भुवर्लोकं स्वर्लोकं महर्लोकं जनोलोकं तपोलोकं सत्यलोकं ब्रह्माण्डं पृथिवीमपो वह्निं वायुम् आकाशं मनः बुद्धिम् आत्मानमव्यक्तं पुरुषं तर्पयामि।

इदं चान्ते प्रत्यृचं पुरुषसूक्तेनाञ्जलीन् दद्यात् पुष्पाञ्जलिं च भक्त्या। अथ कृतापसव्यो दक्षिणामुखोऽन्तर्जानुः पित्र्येण तीर्थेन पितॄन् यथाश्रद्धं यथाप्रकाशमुदकं दद्यात् सौवर्णेन पात्रेण राजतेन औदुम्बरेण खड्गपात्रेण वा शङ्खनाऽप्युदकं पितृतीर्थं स्पृशन् दद्यात्। पित्रे पितामहाय प्रपितामहाय मात्रे पितामह्यै प्रपितामह्यै मातामहाय प्रमातामहाय वृद्धप्रमातामहाय मातामह्यै प्रमातामह्यै वृद्धप्रमातामह्यै च आसप्तमात् पुरुषात् पितृपक्षे यावतां नाम जानीयात् पितृपक्षाणामुदकतर्पणं कृत्वा गुरूणां कुर्यात् गुरूणां कृत्वा मातृपक्षाणां कुर्यात् मातृपक्षाणां कृत्वा सम्बन्धिबान्धवानां कुर्यात् तेषां कृत्वा सुहृदां कुर्यात्। भवति चात्र वचनम्,

विना रूप्यसुवर्णेन विना ताम्रतिलेन च।<br>
विना दर्भैश्च मन्त्रैश्च पितॄणां नोपतिष्ठते॥<br>
सौवर्णराजताभ्यां तु खड्गेनौदुम्बरेण वा।<br>
दत्तमक्षयतां याति पितॄणां तु तिलोदकम्॥

हिमेन सह यद्दत्तं क्षीरेण मधुना ऽथवा ।
तदप्यक्षयतां याति पितॄणां तु तिलोदकम् ॥

अन्तर्जानुरिति । जानुनोरन्तःकृतहस्त इत्यर्थः । दिव्येन तीर्थेन देवतीर्थेनेत्यर्थः । अत्र च यद्यपि आद्यन्तयोरेव तर्पयामीति पदं पठितं तथापि कालाग्निरुद्रादिष्वपि तत्सम्बन्धनीयम् । कर्मत्वेन क्रियापेक्षत्वात् । क्रियान्तरस्य चानिर्देशात् । इदं च प्रत्यृचं पुरुषसूक्तेन जलाञ्जलिदानं पुष्पदानं च अव्यक्तं पुरुषन्तर्पयामीत्यस्यान्ते कर्त्तव्यम् । पित्र्यं तीर्थं तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यदेशः । यथाश्रद्धं ज्ञायमानेष्वपि येषु श्रद्धा भवति । यथाप्रकाशं यथानामज्ञानम् । शङ्कुना कीलकेन प्रस्तुतसुवर्णादिद्रव्यनिर्मितेनेत्यर्थः । गुरवोऽत्राचार्यादयः। पित्रादेः कण्ठरवेणोक्तत्वात् । सुवर्णरजतताम्रखड्गादीनां प्रत्येकं सामस्त्येन वा यथासम्भवमङ्गत्वम् । हिमक्षीरादेर्विधानं तु गुणफलसम्बन्धविधानमिति केचित् । अन्ये तु तदप्यक्षयतां यातीत्यस्यार्थवादत्वान्न गुणफलविधानं युक्तमिति सुवर्णादिवत्तर्पणाङ्गतैव युक्तेत्याहुः । इति शङ्खोक्ततर्पणविधिः ।

## अथ बौधायनतर्पणप्रयोगः ।

तत्र बौधायनः,

पूतःपञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञैरद्भिरेवाप्सु यथोत्तरं देवतास्तर्पयेदिति अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रो दितिर्बृहस्पतिः सर्पा इत्येतानि प्राग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्त्तानि तर्पयामि पितरो ऽर्यमा भगः सविता त्वष्टा वायुरिन्द्राग्नी इत्येतानि दक्षिणद्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्त्तानि तर्पयामि रुद्रांश्च तर्पयामि मित्ररुद्रौ महापितर आपो विश्वेदेवा ब्रह्मा विष्णुरित्येतानि प्रत्यग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्त्तानि तर्पयामि आदित्यांश्च

तर्पयामि वसवो वरुणोऽज एकपादहिर्बुध्नः पूषाऽश्विनौ यम इत्येतान्युदग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्त्तानि तर्पयामि विश्वान्देवांश्च तर्पयामि साध्यांश्च तर्पयामि ब्रह्माणं तर्प्पयामि प्रजापतिं तर्पयामि परमेष्ठिनं तर्पयामि चतुर्मुखं तर्पयामि हिरण्यगर्भं तर्पयामि स्वयम्भुवं तर्पयामि ब्रह्मपार्षदांस्तर्पयामि ब्रह्मपार्षदार्दींश्च तर्पयामि ॐभूः पुरुषं तर्पयामि ॐ भुवः पुरुषं तर्पयामि ॐस्वः पुरुषं तर्पयामि ॐभूर्भुवः स्वः पुरुषं तर्पयामि ॐभूस्तर्पयामि ॐभुवस्तर्पयामि ॐस्वस्तर्पयामि ॐमहस्तर्पयामि ॐजनस्तर्पयामि ॐतपस्तर्पयामि ॐसत्यं तर्पयामि ॐभवं देवं तर्पयामि ॐशर्वं देवं तर्पयामि ॐईशानं देवं तर्पयामि ॐपशुपतिं देवं तर्पयामि ॐरुद्रं देवं तर्पयामि ॐउग्रं देवं तर्पयामि ॐभीमं देवं तर्पयामि ॐमहान्तं देवं तर्पयामि भवस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि शर्वस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि ईशानस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि पशुपतेर्देवस्य पत्नीं तर्पयामि रुद्रस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि उग्रस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि भीमस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि महतो देवस्य पत्नीं तर्पयामि भवस्य देवस्य सुतं तर्पयामि शर्वस्य देवस्य सुतं तर्पयामि ईशानस्य देवस्य सुतं तर्पयामि पशुपतेर्देवस्य सुतं तर्पयामि रुद्रस्य देवस्य सुतं तर्पयामि उग्रस्य देवस्य सुतं तर्पयामि भीमस्य देवस्य सुतं तर्पयामि महतो देवस्य सुतं तर्पयामि रुद्रांस्तर्पयामि रुद्रपार्षदांस्तर्पयामि रुद्रपार्षदार्दींश्च तर्पयामि विघ्नं तर्पयामि विनायकं तर्पयामि वीरं तर्पयामि शूरं तर्पयामि उग्रं तर्पयामि वरदं तर्पयामि हस्तिमुखं तर्पयामि एकदंष्ट्रं तर्पयामि लम्बोदरं तर्पयामि विघ्नपार्षदांस्तर्पयामि विघ्नपार्षदार्दींश्च तर्पयामि सनत्कुमारं तर्पयामि स्कन्दं तर्पयामि इन्द्रं तर्पयामि षष्ठीं तर्पयामि षण्मुखं तर्पयामि विशाखं तर्पयामि सुब्रह्मण्यं

तर्पयामि महासेनं तर्पयामि स्कन्दपार्षदांस्तर्पयामि स्कन्द-पार्षदार्दीश्च तर्पयामि केशवं तर्पयामि नारायणं तर्पयामि माधवं तर्पयामि गोविन्दं तर्पयामि विष्णुं तर्पयामि मधुसूदनं तर्पयामि त्रिविक्रमं तर्पयामि वामनं तर्पयामि श्रीधरं तर्पयामि हृषीकेशं तर्पयामि पद्मनाभं तर्पयामि दामोदरं तर्पयामि श्रियं देवीं तर्पयामि सरस्वतीं देवीं तर्पयामि पुष्टिं तर्पयामि तुष्टिं तर्पयामि गरुत्मन्तं तर्पयामि विष्णुपार्षदांस्तर्पयामि विष्णुपार्षदार्दीश्च तर्पयामि यमं तर्पयामि यमराजं तर्पयामि धर्मं तर्पयामि धर्मराजं तर्पयामि कालं तर्पयामि नीलं तर्पयामि मृत्युं तर्पयामि वैवस्वतं तर्पयामि चित्रगुप्तं तर्पयामि वैवस्वतपार्षदांस्तर्पयामि वैवस्वतपार्षदार्दीश्च तर्पयामि भूमिं देवीं तर्पयामि कश्यपं तर्पयामि विद्यां तर्पयामि धन्वन्तरिं तर्पयामि धन्वन्तरिपार्षदांस्तर्पयामि धन्वन्तरिपार्षदार्दीश्च तर्पयामि । अथ निवीती ऋषींस्तर्पयामि महर्षींस्तर्पयामि परमर्षींस्तर्पयामि ब्रह्मर्षींस्तर्पयामि देवर्षींस्तर्पयामि राजर्षींस्तर्पयामि श्रुतर्षींस्तर्पयामि तपर्षींस्तर्पयामि सत्यर्षींस्तर्पयामि सप्तर्षींस्तर्पयामि काण्डर्षींस्तर्पयामि ऋषिकांस्तर्पयामि ऋषीकांस्तर्पयामि ऋषिपत्नीस्तर्पयामि ऋषिपुत्रांस्तर्पयामि काण्डबोधायनं तर्पयामि आपस्तम्बं सूत्रकारं तर्पयामि सत्याषाढं हिरण्यकेशं तर्पयामि ध्यानं तर्पयामि प्रणवं तर्पयामि व्याहृतीस्तर्पयामि सावित्रीं तर्पयामि गायत्रीं तर्पयामि छन्दांसि तर्पयामि ऋग्वेदं तर्पयामि यजुर्वेदं तर्पयामि सामवेदं तर्पयामि अथर्ववेदं तर्पयामि अथर्वाङ्गिरसं तर्पयामि इतिहासपुराणं तर्पयामि सर्ववेदवजनांस्तर्पयामि सर्वभूतानि तर्पयामि । अथ दक्षिणतः प्राचीनावीती पितॄन् स्वधा नमस्तर्पयामि पितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि प्रपितामहान्स्वधा नमस्तर्पयामि मातॄः स्वधा नमस्तर्पयामि पितामहीः स्वधा नमस्तर्प-

यामि प्रपितामहीः स्वधा नमस्तर्पयामि मातामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि मातुः पितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि मातुः प्रपितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि मातामहीः स्वधा नमस्तर्पयामि मातुः पितामहीः स्वधा नमस्तर्पयामि मातुः प्रपितामहीः स्वधा नमस्तर्पयामि आचार्यान्स्वधा नमस्तर्पयामि आचार्यपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि गुरून्स्वधा नमस्तर्पयामि गुरुपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि सखीन्स्वधा नमस्तर्पयामि सखिपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि स्वज्ञातीन्स्वधा नमस्तर्पयामि ज्ञातिपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि अमात्यान्स्वधा नमस्तर्पयामि अमात्यपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि सर्वान्स्वधा नमस्तर्पयामि सर्वपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि इत्यनुतीर्थमप उत्सिञ्चति ॥

ॐऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ तृप्यत तृप्यत तृप्यतेति। न आर्द्रवासा नैकवस्त्रो दैवानि कर्माण्यनुसञ्चरेत् पितृकर्माणि चेत्येकेषामिति।

पूतः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञैः "प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेत्येते पञ्च ब्रह्मयज्ञा" इत्युपक्रमे बौधायनेनोक्तत्वात् प्रणवव्याहृतित्रयसावित्रीजपरूपैः पञ्चभिः ब्रह्मयज्ञैः पूतः सन्। अद्भिरेवाप्स्वित्येवकारः अप्स्वित्यनेन सम्बध्यते। तथाच अपाम् अधिकरणत्वनियमात् बौधायनीयानां स्थलस्थतर्पणेऽपि तर्पणजलस्य स्थलाधिकरणत्वव्यावृत्तिः। एवञ्च स्थलस्थितेन स्थलएव तर्पणं कर्त्तव्यमिति नियमस्यान्यविषयत्वं निश्चीयते। नचेदं बौधायनवाक्यं जलस्थपरमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। प्रणवव्याहृतित्रयसावित्रीरूपपञ्चब्रह्मयज्ञानां वस्त्रपरिधानोत्तरकालं बौधायनेन विधानात्। यत्तु वासः पीडयित्वेत्युक्त्वा तेन वस्त्रपरिधानमभिहितं, तद् बौधायनीयानां तर्पणप्राच्यं स्नानाङ्गवस्त्रनिष्पीडनमिति न ततोऽप्यस्य जलस्थतर्पणविष-

यता। यथोत्तरं पाठक्रममनतिक्रम्य। अनुतीर्थं पित्रादितीर्थमनु लक्षीकृत्य। न आर्द्रवासा इत्युक्त्वा एकेषामित्यभिधानात् बौधायनमते स्थलस्थतर्पणे आर्द्रवस्त्रताऽप्यभिमता। उभयविधतर्पणे एकवस्त्रताऽपि॥

अथ विष्णुपुराणोक्ततर्पणविधिः।

शुचिवस्त्रधरः स्नातो देवर्षिपितृतर्पणम्।
तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः॥
त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवानामपवर्जयेत्।
ऋषीणां च यथान्यायं सकृच्चापि प्रजापतेः॥
पितॄणां तर्पणार्थाय त्रिरपः पृथिवीपते।
पितामहेभ्यश्च तथा प्रीणयेत्प्रपितामहान्॥
मातामहाय तत्पित्रे तत्पित्रे च समाहितः।
दद्यात्पित्र्येण तीर्थेन काम्यं चान्यच्छृणुष्व मे॥
मात्रे प्रमात्रे तन्मात्रे गुरुपत्न्यै तथैव च।
गुरवे मातुलादीनां स्निग्धमित्राय भूभुजे॥
इदं चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप।
उपकाराय भूतानां कृतदेवादितर्पणः॥
देवासुरास्तथा नागा यक्षा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूमिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाऽखिलाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति॥

त्रिरपः प्रीणनार्थायेति। एतस्माद्वचनाद्देवानामृषीणां प्रत्येकमञ्जलित्रयप्रदानं, प्रजापतेस्तन्मध्ये एक एवाञ्जलिः। पित्रादीनां तु वृद्धप्रमातामहान्तानामञ्जलित्रयं प्रत्येकम्। मात्रादितर्पणे काम्यत्वाभिधानं फलविशेषकथनार्थं नित्यता तु स्मृत्यन्तरानुसारादिति कल्पतरुः।

श्रीदत्तस्तु—देवास्तृप्यन्तामिति त्रिः, ऋषयस्तृप्यन्तामिति त्रिः, प्रजापतिः तृप्यतामिति सकृत्, इति देवविधिना कृत्वा पित्र्यविधिना षट्पुरुषतर्पणं कुर्यादित्यावश्यकम् मात्रइत्यादिकं त्वेतस्मिन्प्रयोगे काम्यमेव। ततो देवासुरा इत्यादि पठन् देवविधिना कृत्वा दद्यात् अम्बु ददादित्यभिधानात्। इदं च देवासुरा इत्यादिकाम्बुतर्पणं कल्पान्तरेऽप्यविरुद्धम्। यत्तु त्रिरपः प्रीणनार्थायेत्यादिश्लोकेन कल्पान्तरप्राप्ततद्देवादितर्पणे त्रिरावृत्तिरूपो गुणो विधीयतइति। तन्न। अप्रतिविधौ गुणविध्ययोगात्। अत एव निबन्धेषु कल्पान्तरमध्यएवास्य लिखनं नैतिकर्त्तव्यतामध्ये। तस्मात्कल्पान्तरमेवैतदित्याह। पितृतर्पणशेषेऽभिधानाद्देवासुरा इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन पित्र्यविधिनैव जलदानमिति केचित्। आद्यश्लोकद्वयेन देवविधिनाऽन्त्यश्लोकद्वयेन पित्र्यविधिना दानं, तथैवोद्देश्यप्रतीतेरित्यपरे।

### अथ योगियाज्ञवल्क्यतर्पणम्।

जपानन्तरं योगियाज्ञवल्क्यः,

ततः संतर्पयेद्देवानृषीन्मर्त्यान्पितॄंस्तथा।
ब्रह्माणं तर्पयेत्पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम्॥
देवांश्छन्दांसि वेदांश्च ऋषींश्चैव तपोधनान्।
आचार्यांश्चैव गन्धर्वानाचार्यानितरांस्तथा॥
संवत्सरं सावयवं देवीश्चाप्सरसस्तथा।

तथा देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतांस्तथा ॥
सरितोऽथ मनुष्यांश्च यक्षरक्षांसि चैवहि ।
पिशाचांश्च सुपर्णांश्च भूतान्यथ पशूंस्तथा ॥
वनस्पतींश्चौषधीश्च भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन च ॥
तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना ।
आवाह्य पूर्ववन्मन्त्रैरास्तीर्य च कुशान् शुचीन् ॥
प्रागग्रेषु सुरान्सम्यग्दक्षिणाग्रेषु वै पितॄन् ।
सव्यं जानुं ततोऽन्वाच्य पाणिभ्यां दक्षिणामुखः ॥
तल्लिङ्गैस्तर्पयेन्मन्त्रैः सर्वान्पितृगणांस्तथा ।
मातामहांश्च सततं श्रद्धया तर्पयेद् बुधः ॥
प्राचीनावीत्युदकं तु प्रसिञ्चेद्वै तिलान्वितम् ।
यद्युद्धृतं प्रसिञ्चेतु तिलान्संमिश्रयेज्जले ॥
अतोऽन्यथा तु सव्येन तिला ग्राह्या विचक्षणैः ।
दक्षिणे पितृतीर्थेन जलं सिञ्चेद्यथाविधि ॥
दक्षिणेन तु गृह्णीयात्पितृतीर्थसमीपतः ।
तिलानामप्यलाभे तु सुवर्णरजतान्वितम् ॥
तदभावे निषिञ्चेत्तु दर्भैर्मन्त्रेण वाऽप्यथ ।
येभ्यो वाऽपि पिता दद्यात्तेभ्य एव प्रदापयेत् ॥
एतांश्च वक्ष्यमाणांश्च प्रमीतपितृको द्विजः ।
वसून् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्नमस्कारस्वधान्वितान् ॥
एते सर्वस्य पितर एष्वायत्ताश्च मानुषाः ।
आचार्यांश्च पितॄंश्चापि पितृप्रभृतिनामतः ॥
मन्त्रैश्च देयमुदकं पितॄणां प्रीतिवर्द्धनैः ।
उदीरतामङ्गिरसआयन्त्वित्यूर्जमित्यपि ॥

पितृभ्य इति येचेह मधुवाता इति त्र्यृचम् ।
पितॄन्ध्यायन्प्रसिञ्चेद्वै जपेन्मन्त्रान्यथाक्रमम् ॥
तृप्यध्वमिति च त्रिर्वै दद्याच्च सलिलाञ्जलिम् ।
नमोव इति जप्त्वा वै ततो मातामहान्सखीन् ॥
तर्पयेदानृशंस्यार्थं धर्मं परममास्थितः ।
माता मातृष्वसा चैव मातुलानी पितृष्वसा ॥
दुहिता च स्वसा चैव शिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवाः ।
नामतस्तु स्वधाकारैस्तर्प्याः स्युरनुपूर्वशः ॥
सवर्णेभ्यो जलं दद्यान्नासवर्णे कदाचन ।
सन्तर्प्य स्वान्पितॄन्पूर्वं पश्चादन्यांश्च तर्पयेत् ॥
नास्तिक्यभावाद्यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहनिस्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः ॥ इति ।

आवाह्य पूर्ववन्मन्त्रैरिति। विश्वेदेवासआगत उशन्तस्त्वा इत्यादिभिः पूर्वं याज्ञवल्क्यसंहितायां श्राद्धप्रकरणे आवाहनमधिकृत्य पठितैरिति कल्पतरुः। श्रीदत्तस्तु—"पूर्ववत्तर्पयेदिति सम्बन्धः। तेन पितृतर्पणेऽप्योङ्कारस्तृप्यतामिति च लभ्यते। कल्पतरुव्याख्या तु योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तमिति याज्ञवल्क्यसंहितायामभिधानाद्योगियाज्ञवल्क्यसंहितैव पूर्वेति न साधीयसी। मन्त्रैः उदीरतामवर इत्यादिभि"रित्याह। तन्न। सन्निहितयोजनायां सम्भवन्त्यां व्यवहितयोजनानौचित्यात्। उदीरतामित्यादिमन्त्रसम्बन्धे मानाभावाच्च। याज्ञवल्क्यसंहितायाश्च योगियाज्ञवल्क्यसंहितापेक्षया प्राक्तनत्वं परिभाषाप्रकाशेऽस्माभिर्बहुधा व्यवस्थापितम्। यच्च विश्वेदेवास उशन्तस्त्वेत्येतयोरेवाभिधानान्मन्त्रैरिति बहुवचनमनुपपन्नमिति। तदपि न। आवाहनाङ्गीभूतायन्तुनइतिमन्त्रमादाय बहुत्वोपपत्तेरिति। कव्यवाडनलान्वक्ष्यमाणान्वस्वादीन्स्वपितॄंश्च नमस्कारस्वधान्वि-

तांस्तर्पयेदिति शेषः । अत्र च ओँब्रह्मा तृप्यतामित्येवं देवतर्पणे, ओँकव्यवाडनलस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति दिव्यपितृतर्पणे । अग्निष्वात्तादित्रितयतर्पणे तु बहुवचनान्त एव प्रयोगः । ओँवसवस्तृप्यन्तामिदं जलं तेभ्यः स्वधा नम इतिवस्वादितर्पणे । अमुकगोत्रः पिता अमुकशर्मा तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति स्वपितृतर्पणे प्रतिदैवतं वाक्यानि वक्तव्यानि । अत्र च सवर्णेभ्यो जलं दद्यादिति ददातिप्रयोगे तर्पणं न सेचनमात्रं किन्तु पितॄनुद्दिश्य जलत्यागमात्रम् ॥

## अथ छन्दोगपरिशिष्टोक्ततर्पणप्रयोगः ।

तत्र गायत्रीजपानन्तरं ब्रह्मयज्ञमुक्त्वा—

कात्यायनः,

यवाद्भिस्तर्पयेद्देवान् तिलाद्भिश्च पितॄनपि ।
नामान्ते तर्पयामीति आदावोमितिच ब्रुवन् ॥

ब्रह्माणं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिं वेदांश्छन्दांसि देवानृषीन् पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यान् संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्सागरान् पर्वतान्सरितो दिव्यान्मनुष्यानितरान्मनुष्यान् यक्षान् रक्षांसि सुपर्णान् पिशाचान् पृथिवीं पशून् वनस्पतीन् ओषधीर्भूतग्रामं चतुर्विधमुपवीती । अथ प्राचीनावीती यमपुरुषं कव्यवाडं नलं सोममर्यमणमग्निष्वात्तान्सोमपान् बर्हिषदः सकृत् सकृत् । अथ स्वान् पितॄन् पितामहान् इति त्रिः प्रतिपुरुषमभ्यसेत् । ज्येष्ठभ्रातृश्वशुरपितृव्यमातुलांश्च पितृमातृवंश्या ये चान्ये मत्त उदकमर्हन्ति तांस्तर्पयामीत्ययमवसानाञ्जलिः ।

अथ श्लोकाः,

छायां यथेच्छेच्छरदातपार्त्तः पयः पिपासुः क्षुधितोऽत्तुमन्नम् ।
बालो जनित्रीं जननी च बालं योषित्पुमांसं पुरुषांश्च योषित् ॥

तथा भूतानि सर्वाणि स्थावराणि चराणि च।
विप्रादुदकमिच्छन्ति सर्वेऽप्युदककाङ्क्षिणः॥
तस्मात्सदैव कर्त्तव्यमकुर्वन्महतैनसा।
युज्यते, ब्राह्मणः कुर्वन् विश्वमेतद् बिभर्त्ति हि॥ इति।

नामान्ते तर्पणीयनामान्ते। आदौ तर्पणीयनामादौ। तथाच ॐब्रह्माणं तर्पयामीत्यादिप्रयोगः सिध्यति। तर्पणीयदेवानाह ब्रह्माणमित्यादि। सर्वत्र तर्पयेदित्यनुषङ्गः। पुराणानित्याचार्यविशेषणम्। प्रतिपुरुषमभ्यसेदिति। अनेन पित्रादीनां मातामहादीनां च त्रयाणामुदकाञ्जलींस्त्रिरावर्त्तयेदित्युक्तम्। एवं च षट्पुरुषेष्वेवाभ्यासदर्शनात् ज्येष्ठभ्रातृश्वशुरप्रभृतिषु नाभ्यासः।

पितरर्घ्यादिके प्रोक्तं पिता तर्पणकर्मणि।
पितुरक्षय्यकाले तु कर्त्ता एवं न मुह्यति॥

इति गोभिलवचनं तु गोभिलोक्ततर्पणविषयम्। परिशिष्टोक्ततर्पणे तु द्वितीयान्तत्वस्य नामान्ते तर्पयामीति परिशिष्टवचनेनैवानुमतत्वात् अमुकगोत्रं पितरं तर्पयामीति वाक्यं प्रयोज्यम्।

गोत्रनामानुवादादि तर्पयामीति चोत्तरम्।

इति प्रेततर्पणस्थच्छन्दोगपरिशिष्टवाक्यात्प्रेततर्पणेऽपि छन्दोगानाममुकगोत्रं प्रेतं तर्पयामीतिवाक्यरचना। गोत्रनामनी, अनु मरणादनन्तरम् उद्यते उच्चार्यतइत्यनुवादः प्रेतशब्दः, एतानि आदौ यथा भवन्ति तर्पयामीति च उत्तरं यथा भवति तथा वाक्यमुच्चार्य तर्पयेदित्यर्थः॥

## अथाश्वलायनतर्पणविधिः॥

तत्र नमो ब्रह्मणइत्यादिब्रह्मयज्ञाङ्गपरिधानीयपाठानन्तरं तत्सूत्रं,

देवतास्तर्पयति प्रजापतिर्ब्रह्मा वेदा देवा ऋषयः सर्वाणि छन्दांस्योंकारो वषट्कारो व्याहृतयः सावित्री यज्ञा द्यावापृथिवी

अन्तरिक्षमहोरात्राणि सांख्याः सिद्धाः समुद्रा नद्यो गिरयः क्षेत्रौ-षधिवनस्पतिगन्धर्वाप्सरसो नागा वयांसि गावः साध्या विप्रा यक्षा रक्षांसि भूतान्येवमन्तानि ।

वक्ष्यमाणदेवतास्तर्पयत्युदकेन । तर्पणे उदकस्य स्मृत्यन्तरसिद्धत्वात् । तच्चैवं— प्रजापतिस्तृप्यतु । ब्रह्मा तृप्यतु । वेदास्तृप्यन्तु । ऋषयस्तृप्यन्तु । सर्वाणि छन्दांसि तृप्यन्तु । ओंकारस्तृप्यतु । वषट्कारस्तृप्यतु । व्याहृतयस्तृप्यन्तु । सावित्री तृप्यतु । यज्ञास्तृप्यन्तु । द्यावापृथिवी तृप्यताम् । अन्तरिक्षं तृप्यतु । अहोरात्राणि तृप्यन्तु । सांख्यास्तृप्यन्तु । सिद्धास्तृप्यन्तु । समुद्रास्तृप्यन्तु नद्यस्तृप्यन्तु । गिरयस्तृप्यन्तु । क्षेत्रौषधिवनस्पतिगन्धर्वाप्सरसस्तृप्यन्तु । नागास्तृप्यन्तु । वयांसि तृप्यन्तु । गावस्तृप्यन्तु । साध्यास्तृप्यन्तु । विप्रास्तृप्यन्तु । यक्षास्तृप्यन्तु । रक्षांसि तृप्यन्तु । भूतानि तृप्यन्तु । एवमन्तानि तृप्यन्तु ।

अथ ऋषयः । शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति ।

अत्रापि वाक्यभेदः पूर्ववत् । शतर्चिप्रभृतीन् द्वादशऋषींस्तर्पयति । ऋषिग्रहणं निवीतादिप्राप्त्यर्थम् । शतर्चिनस्तृप्यन्तु । माध्यमास्तृप्यन्तु । गृत्समदस्तृप्यतु । विश्वामित्रस्तृप्यतु । वामदेवस्तृप्यतु । अत्रिस्तृप्यतु । भरद्वाजस्तृप्यतु । वसिष्ठस्तृप्यतु । प्रगाथास्तृप्यन्तु । पावमान्यस्तृप्यतु । क्षुद्रसूक्तास्तृप्यन्तु । महासूक्तास्तृप्यन्तु ।

प्राचीनावीती सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्या जानन्तिबाहविगार्ग्यगौतमशाकल्यबाभ्रव्यमाण्डव्यमाण्डूकेया गर्गी वाचक्नवी वडवा प्रातिथेयी सुलभा मैत्रेयी कहोलं कौषीतकं महाकौषीतकं भारद्वाजं पैग्यं महा-

पैग्यं सुयज्ञं सांख्यायनमैतरेयं महैतरेयं बाष्कलं सुजातवक्त्रमौदवाहिं महौदवाहिं सौजामिं शौनकमाश्वलायनं ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्त्विति ।

एतानि त्रयोविंशतिवाक्यानि । तत्र कहोलमित्यादिष्वर्थात्तर्पयामिशब्दः प्रयोज्यः । प्राचीनावीती भूत्वा सुमन्तुप्रभृतींस्तर्पयति । प्राचीनावीतित्वं पित्र्यधर्मान्तरोपलक्षणार्थम् । सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्यास्तृप्यन्तु । जानन्तिबाहविगार्ग्यगौतमशाकल्यबाभ्रव्यमाण्डव्यमाण्डूकेयास्तृप्यन्तु । गर्गी वाचक्नवी तृप्यतु । वडवा प्रातिथेयी तृप्यतु । सुलभा मैत्रेयी तृप्यतु । कहोलं तर्पयामि । कौषीतकं तर्पयामि । महाकौषीतकं तर्पयामि । भारद्वाजं तर्पयामि । पैग्यं तर्पयामि । महापैग्यं तर्पयामि । सुयज्ञं तर्पयामि । सांख्यायनं तर्पयामि । ऐतरेयं तर्पयामि । महैतरेयं तर्पयामि । बाष्कलं तर्पयामि । सुजातवक्त्रं तर्पयामि । औदवाहिं तर्पयामि । महौदवाहिं तर्पयामि । सौजामिं तर्पयामि । शौनकं तर्पयामि । आश्वलायनं तर्पयामि । ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्तु ।

प्रतिपुरुषं पितॄंस्तर्पयित्वेति ।

पितरं पितामहं प्रपितामहं च प्रत्येकं स्वधा नमः तर्पयामीति तर्पयेत् इत्यर्थः ।

बौधायनेन " अथ दक्षिणतः प्राचीनावीती पितॄन्स्वधा नमस्तर्पयामी"त्यभिधानात् । सूत्रकृता श्राद्धप्रकरणे नत्वेवैकं सर्वेषामित्यनेन एकैकमुभयत्र वेति स्मृत्यन्तरोक्तैकब्राह्मणस्य निषेधादन्यस्य स्मृत्यन्तरोक्तस्याभ्यनुज्ञानात् समानन्यायत्वाच्च तर्पणस्य स्मृत्यन्तरोक्तमात्रादितर्पणमपि कार्यम् ।

तर्पणीयक्रममाह सत्यव्रतः,

पितृभ्यः प्रथमं दद्यात्ततो मातृभ्य एवच ।
ततो मातामहानां च पितृव्यस्य सुतस्य च ॥

हारीतोऽपि,

पित्रादीन्मात्रादीन्मातामहादीन्पितृव्यांस्तत्पत्नीर्ज्येष्ठभ्रातृंस्तत्पत्नीर्मातुलांस्तत्पत्नीर्गुर्वाचार्योपाध्यायान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् द्रव्यान्नदातृपोषकारिकथिनस्तत्पत्नीश्च तर्पयेत् ।

बौधायनोऽप्येवमेव । इत्याश्वलायनतर्पणविधिः ।

अथ गोभिलीयतर्पणविधिः ।

तत्र स्नानमुक्त्वा गोभिलः,

अथ नित्यवत्सन्ध्यामुपासीतोदुत्यं चित्रमायज्ञैरपसे तरणिरुद्यामेत्याभिः ऋग्भिरुपस्थानं नमो ब्रह्मणे इत्युपजायचेत्यन्तेनाग्निस्तृप्यत्विति च देवांस्तर्पयेयुःअथापसव्येन राणायनी शाटीत्यथ कव्यवालादयो दिव्या यमाश्चाथात्मीयांश्च त्रीन्पितॄनस्त्रीन्मातॄनस्तत्पत्न्यश्च पितृतर्पणं सनकादयश्च निवीतमिति मनुष्यधर्माः ततो गायत्र्यष्टशतमादौ कृत्वा भासं दशस्तोभमुन्नयं गायत्रीसामौशनसं शुद्धाशुद्धीये राजनरौहिणके, बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसामानि दैवतानि पुरुषव्रतानुगानं तवश्यावीयमादित्यव्रतमेकविंशत्यनुगानं पर्वादावारभ्य यथाशक्त्यहरहर्ब्रह्मयज्ञ इति गोभिलीयात् गोभिलीयात् ।

आप्लवने तु सम्प्राप्ते तर्पणं तदनन्तरम् ।
गायत्रीं च जपेत् पश्चात्स्वाध्यायं चैव शक्तितः ॥ १ ॥
आप्लवने तु सम्प्राप्ते गायत्रीं जपतः पुरा ।
तर्पणं कुर्वतः पश्चात्स्नानमेव वृथा भवेत् ॥ २ ॥
स्नायान्नदीदेवखातह्रदेषु च सरस्सु च ।
पिण्डानुद्धृत्य न स्नायात्र स्नायात् परवारिणा ॥ ३ ॥

नित्यवदित्यनेन सकलाङ्गोपसंहारासम्भवेऽपि कर्त्तव्यता बोधिता। आदित्योपस्थानानन्तरं तर्पणं कुर्यात्। तत्र प्रथमं देवतर्पणम्।

ॐनमो ब्रह्मणे नमो ब्राह्मणेभ्यो नम आचार्य्येभ्यो नम ऋषिभ्यो नमो देवेभ्यो नमो वायवे च मृत्यवे च विष्णवे च नमो वैश्रवणाय चोपजाय च।

अयमेको मन्त्रः। अनेनैकाञ्जलिं दत्त्वा वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् एकैकमञ्जलिं दद्यात्।

ॐअग्निस्तृप्यतु। ॐप्रजापतिस्तृप्यतु। ॐविश्वेदेवास्तृप्यन्तु। ॐओङ्कारस्तृप्यतु। ॐमहाव्याहृतयस्तृप्यन्तु। ॐगायत्री तृप्यतु। ॐसाविवी तृप्यतु। ॐसरस्वती तृप्यतु। ॐब्रह्मा तृप्यतु। ॐवेदास्तृप्यन्तु। ॐदेवास्तृप्यन्तु। ॐऋषयस्तृप्यन्तु। ॐछन्दांसि तृप्यन्तु। ॐआचार्य्यास्तृप्यन्तु। ॐयज्ञास्तृप्यन्तु। ॐअध्ययनं तृप्यतु। ॐद्यावापृथिवी तृप्यताम्। ॐअहोरात्राणि तृप्यन्तु। ॐअन्तरिक्षं तृप्यतु। ॐसमुद्रास्तृप्यन्तु। ॐनद्यस्तृप्यन्तु। ॐगिरयस्तृप्यन्तु। ॐक्षेत्राणि तृप्यन्तु। ॐओषधयस्तृप्यन्तु। ॐवनस्पतयस्तृप्यन्तु। ॐवनानि तृप्यन्तु। ॐनागास्तृप्यन्तु। ॐगावस्तृप्यन्तु। ॐवसवस्तृप्यन्तु। ॐरुद्रास्तृप्यन्तु। ॐआदित्यास्तृप्यन्तु। ॐसिद्धास्तृप्यन्तु। ॐसाध्यास्तृप्यन्तु। ॐग्रहास्तृप्यन्तु। ॐनक्षत्राणि तृप्यन्तु। ॐअसुरास्तृप्यन्तु। ॐभूतानि तृप्यन्तु। ॐपिशाचास्तृप्यन्तु। ॐयक्षास्तृप्यन्तु। ॐरक्षांसि तृप्यन्तु। ॐगन्धर्व्वास्तृप्यन्तु। ॐअप्सरसस्तृप्यन्तु। एवमादयः स्वस्ति कुर्व्वन्तु तर्पिताः। स्वस्ति कुर्व्वन्तु तर्पिताः।

एवमादय इत्यादिर्न तर्पणमन्त्रः। तर्पणविनियोजकप्रमाणा-

भावात् । किन्तु प्रार्थनामन्त्रः । मन्त्रलिङ्गात् । एवमग्रेऽपि । अथा-पसव्येन राणायनीशटीति राणायन्यादितर्पणेऽपसव्यपित्र्यधर्म-विधानाद्दक्षिणामुखत्वपितृतीर्थादयोऽपि धर्मा भवन्ति । इदं च प्रा-चीनावीतित्वादि सनकादितर्पणात्प्राक् । सनकादयश्च निवीतमिति मनुष्यधर्मंइ इत्यग्रेऽभिधानात् ।

अत्र प्रयोगः । ॐ राणायनी तृप्यतु । ओंशाट्यमुग्रिस्तृ-प्यतु । ॐव्यासस्तृप्यतु । ॐभागुरिस्तृप्यतु । ॐगौर्गुण्डी तृप्यतु । ॐगौल्गुलवी तृप्यतु । ॐभगवानौपमन्यवस्तृप्यतु । ओम् ओंका-रादिस्तृप्यतु ॐमशकोगार्ग्यस्तृप्यतु । ॐवार्षगण्यस्तृप्यतु । ॐ कुथुमिस्तृप्यतु । ॐशालिहोत्रस्तृप्यतु । ॐजैमिनिस्तृप्यतु । ॐ त्रयोदशैते सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः ।

ॐशाटिस्तृप्यतु । ॐभाल्लविस्तृप्यतु । ओंकालविस्तृप्यतु । ॐताण्ड्योरस्तृप्यतु । ॐवृषाणकस्तृप्यतु । ॐरुरुकिस्तृप्यतु । ॐ समबाहुस्तृप्यतु । ॐअगस्त्यस्तृप्यतु । ॐवष्काशिरास्तृप्यतु । ॐ हूहूस्तृप्यतु । ॐदशैते प्रवचनकर्त्तारः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । स्वस्ति कुर्वन्तुतर्पिताः ।

अथ कव्यवालादयः । ॐकव्यवालस्तृप्यतु । ॐनलस्तृप्य-तु । ॐसोमस्तृप्यतु । ॐयमस्तृप्यतु । ॐअर्यमा तृप्यतु । ॐअ-ग्निष्वात्तास्तृप्यन्तु । ॐसोमपास्तृप्यन्तु । ॐबर्हिषदस्तृप्यन्तु । ॐ अष्टाविमे दिव्याः पितरः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । स्वस्ति कुर्व-न्तु तर्पिताः ।

अथ यमतर्पणम् । एकैकेन नमोऽन्तनाम्ना अञ्जलित्रयमञ्जलि-त्रयं देयम् ।

एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन्दद्याज्जलाञ्जलीन् ।

यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥

इति कात्यायनवचनात् । ॐयमाय नमः । ॐधर्मराजाय नमः । ॐमृत्यवे नमः । ॐअन्तकाय नमः । ॐवैवस्वताय नमः । ॐकालाय नमः । ॐसर्वभूतक्षयाय नमः । ॐऔदुम्बराय नमः। ॐदध्नाय नमः । ॐनीलाय नमः । ॐपरमेष्ठिने नमः । ॐवृकोदराय नमः । ॐचित्राय नमः । ॐचित्रगुप्ताय नमः । ॐचतुर्दशैते यमाः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः ।

अथात्मीयपितृतर्पणम् । अमुकगोत्रः पिता अमुकशर्मा तृप्यत्विदं तिलोदकं तस्मै स्वधा । एवं पितामहादिषु वृद्धप्रमातामहान्तेषु । अमुकगोत्रा माता ऽमुकदेवी तृप्यत्विदं तिलोदकं तस्यै स्वधा । एवं पितामह्यादिवृद्धप्रमातामहीपर्यन्तासु । ततो यदीच्छेत्तदा ज्येष्ठभ्रातृश्वशुरपितृव्यमातुलसुहृत्सम्बन्धिबान्धवांस्तर्पयेत् । ततो मनुष्यतीर्थेन निवीती सनकादींस्तर्पयेत् । ॐसनकस्तृप्यतु । ॐसनन्दनस्तृप्यतु । ॐसनातनस्तृप्यतु । ॐकपिलस्तृप्यतु । ॐआसुरिस्तृप्यतु । ॐवोढुस्तृप्यतु । ॐपञ्चशिखस्तृप्यतु । ॐसप्तैते मनुष्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः । इति गोभिलीयतर्पणविधिः ।

मनुशातातपयोगियाज्ञवल्क्याः,

य एवं तर्पयेदद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव सर्वमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥

शङ्खः,

स्नातः सन्तर्पणं कृत्वा पितॄणां तु तिलाम्भसा ।
पितृयज्ञमवाप्नोति प्रीणाति च तथा पितॄन् ॥

हारीतः,

न स्रवन्तीं वृथाऽतिक्रामेत् । एवं स्राह,

देवाश्च पितरश्चैव काङ्क्षन्ति सरितं प्रति ।
अदत्ते तु निराशास्ते प्रतियान्ति यथागतम् ॥

पितृगाथासु यमः,

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥

योगियाज्ञवल्क्यः,

वस्त्रनिष्पीडनं तोयं स्नातस्योच्छिष्टभागिनाम् ।
भागधेयं श्रुतिः प्राह तस्मान्निष्पीडयेत्स्थले ॥
पूर्वं निष्पीडनं केचित्प्राग्देवपितृतर्पणात् ।
स्नानवस्त्रस्य नेच्छन्ति तस्मादूर्ध्वं निपीडयेत् ॥
अत्र प्रकरणात्तस्य अपसव्येन पीडनम् ।
पीडयित्वा ततः पश्चाज्जपं कुर्यात्सुविस्तरम् ॥

उच्छिष्टभागिनो मनूक्ताः ।

यथा मनुः,

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥
उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥

तेन एतान् बुद्धिस्थीकृत्य वस्त्रनिष्पीडनोदकं दातव्यम् । पूर्वे आचार्याः । अत्र प्रकारः श्राद्धे विकिरदानं तद्वत् । तेन भूमौ सतिलदक्षिणाग्रकुशोपरि दानं सिद्ध्यति । अपसव्येनेत्यनेन पि-त्र्यतीर्थदक्षिणामुखत्वाद्युपलक्षणम् । पीडयित्वा पीडनार्थं स्थाप-यित्वा । जपोत्तरकालीनतर्पणानन्तरमेव निपीडनस्य तस्मादूर्ध्वं निपीडयेदित्यनेन कथनात् । अत एव एतदग्रे आचान्तः पुनरा-चामेदित्यादिना सेतिकर्त्तव्यताकं जपमुक्त्वा ऽनन्तरं तर्पणमुक्त्वा

निपीड्य स्नानवस्त्रं त्विरयनेन तेनैव तर्पणोत्तरं वस्त्रनिष्पीडनमुक्तम्। श्रीदत्तस्तु "पीडयित्वेत्यादिना दर्शितो जपः छन्दोगविषयः। कात्यायनादिभिरन्यथाऽभिधानात्। गोभिलसंवादाच्च" इत्याह। जपविस्तरस्तु जपप्रकरणेऽभिहितः। अत्र मन्त्रोऽपि गोभिलेन दर्शितः,

ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः।
ते पिबन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥ इति।

पराशरः,

जलमध्ये तु यः कश्चित् द्विजातिर्ज्ञानदुर्बलः।
निष्पीडयाति तद्वस्त्रं स्नानं तस्य वृथा भवेत्॥

## अथ तर्पणोत्तरं कर्म।

तत्र योगियाज्ञवल्क्यः,

निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु आचम्य प्रयतः शुचिः।
देवानामर्चनं कुर्यात् ब्रह्मादीनाममत्सरः॥
ब्राह्मवैष्णवरौद्रैश्च सावित्रैर्मैत्रवारुणैः।
तल्लिङ्गैरर्चयेन्मन्त्रैः सर्वान् देवान्समाहितः॥

तर्पणानन्तरं विष्णुपुराणम्,

आचम्य च ततो दद्यात्सूर्याय सलिलाञ्जलिम्।
नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे॥
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने।
ततो गृहार्चनं कुर्यादभीष्टसुरपूजनम्॥
जलाभिषेकपुष्पाणां धूपादीनां निवेदनैः।

कात्यायनः,

निपीड्य वस्त्रमाचम्य ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणैस्तल्लिङ्गैरर्चयेत्। अदृश्यं हंस इत्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य

दिशश्च देवताश्च ब्रह्माग्निपृथिव्योषधिवाग्वाचस्पतिविष्णुमह-द्भ्यो ऽद्भ्यो ऽपांपतये वरुणाय नम इति सर्वत्र संवर्चसेति मुखं विमृज्य देवागातुविद इति विसर्जयेत्स्नानविधिरेष स्नानविधिरेषः ।

अर्चयेत्, ब्रह्मादीनिति शेषः । कात्यायनेन स्नानात्पूर्वं सुमनस आहृत्येत्यनेन यत्पुष्पाहरणमुक्तं तस्यात्रोपयोगः । तल्लिङ्गैः, मन्त्रैरिति शेषः । दिशश्चेत्यादावपि नमस्कुर्यादित्यनुषङ्गः । देवताश्च दिशामेव । संनिधानात् । तेन दिग्भ्यो नमः दिग्देवताभ्यो नम इत्येवात्र प्रयोग इति श्रीदत्तः । ब्रह्माग्नीत्यादौ समासनिर्दिष्टत्वेऽपि पृथक् नमस्कार्यत्वम् ।

ब्रह्मणेऽग्नये पृथिव्यै चौषधीभ्यस्तथैवच ।

इत्यादियोगियाज्ञवल्क्ये तथा दर्शनात् । एष स्नानविधिरित्यस्याभिप्रायश्च प्राक् प्रपञ्चितः ।

**पद्मपुराणे,**

आचम्य विधिवत्सम्यगालिखेत्पद्ममग्रजः ।
अक्षताद्भिः सपुष्पाभिः सलिलारुणचन्दनैः ॥
अर्घ्यपात्रे प्रयत्नेन सूर्यनामानुकीर्त्तनैः ।
नमस्ते विष्णुरूपाय नमस्ते ब्रह्मरूपिणे ॥
सहस्ररश्मये नित्यं नमस्ते सर्वतेजसे ।
नमस्ते रुद्रपुरुष नमस्ते भक्तवत्सल ॥
पद्मनाभ नमस्तेऽस्तु कुण्डलाङ्गदभूषित ।
नमस्ते सर्वलोकेश सुप्तानामपि बुध्यसे ॥
सुकृतं दुष्कृतं चैव सर्वं पश्यसि सर्वदा ।
सत्यदेव नमस्तेऽस्तु प्रसीद मम भास्कर ॥
दिवाकर नमस्तेऽस्तु प्रभाकर नमोऽस्तुते ।

एवं सूर्यं नमस्कृत्य त्रिः कृत्वा च प्रदक्षिणम् ॥
द्विजं गां काञ्चनं स्पृष्ट्वा ततो विष्णुगृहं व्रजेत् ।
आश्रयस्थं ततः पूज्यं प्रतिमां चापि पूजयेत् ॥

अरुणचन्दनं रक्तचन्दनम् । तैरर्घ्यं दत्त्वा पाद्यं दद्यादित्यर्थः। आश्रयस्थं शालग्रामशिलादिस्थम् । जलस्थमिति तु श्रीदत्तः ।

नृसिंहपुराणे,

ततोऽर्घं भानवे दद्यात्तिलपुष्पजलान्वितम् ।
उत्थाप्य मूर्द्धपर्यन्तं हंसः शुचिषदित्यपि ॥
जलदेवं नमस्कृत्य ततो गृहगतः पुनः ।
विधिना पुरुषसूक्तस्य तत्र विष्णुं समर्च्चयेत् ॥
वैश्वदेवं ततः कुर्याद्बलिकर्म यथाविधि ।

पुरुषसूक्तविधिस्तु पूजाप्रकरणे वक्ष्यते ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

स्रवन्त्यादिष्वथाचम्य सोपानत्को ह्यसंस्पृशन् ।
आगतः सोदपात्रस्तु यत्नेन शुचिरेव सः ॥
तेनोदकेन द्रव्याणि प्रोक्ष्याचम्य पुनर्गृहे ।
ततः कर्माणि कुर्वीत नित्यं वै यानिकानिचित् ॥
पात्रादिरहितन्तोयमुद्धृतं सव्यपाणिना ।
न तेन प्रोक्षणं कुर्याद्वस्त्रनिष्पीडनेन च ॥
सौवर्णं राजतं ताम्रं मुख्यं पात्रं प्रकीर्त्तितम् ।
तदभावे स्मृतं पात्रं स्रवते यन्न धारितम् ॥

असंस्पृशन्, अशुच्यादीनिति शेषः ।
द्रव्याणि पूजोपकरणानि पुष्पादीनि ॥
यन्न धारितमिति नारिकेलादिपात्रमुपात्तमिति कल्पतरुः ।

शातातपः,

बहिर्नद्यादिष्वाचान्तः सोदकः किञ्चिदस्पृशन् ।
रथ्यागतोऽपि यत्नेन शुचिरेवहि मानवः ॥
तत्पात्ररहितं तोयं हृतं सव्येन पाणिना ।
न तेन प्रोक्षयेद् द्रव्यं वस्त्रनिष्पीडनेन च ॥
नाधोवस्त्रैकदेशेन शुद्ध्यर्थमपहारयेत् ।
यद्यानीतं तु सव्येन प्रोक्षयेद्दक्षिणेन तु ॥

यत्नेनास्पृशन्निति सम्बन्धः । तदनन्तरम्,

जलदेवं नमस्कृत्य ततो गृहगतः पुनः ।
विधिना पुरुषसूक्तस्य तत्र विष्णुं समर्चयेत् ॥

इति नृसिंहपुराणवाक्यात्,

द्विजं गां काञ्चनं स्पृष्ट्वा ततो विष्णुगृहं व्रजेत् ।
आश्रयस्थं ततः पूज्यं प्रतिमाश्चापि पूजयेत् ॥

इति पद्मपुराणवाक्यात्,

ततो गृहार्चनं कुर्यादभीष्टसुरपूजनम् ।

इति विष्णुपुराणवाक्याच्च देवपूजा कार्या । यत्तु व्यासेन वैश्वदेवानन्तरं देवपूजनमभिहितं तत् कल्पान्तरम् ।

## अथ सङ्क्षेपतः पूजा ।

तत्र यमः,

देवमाल्यापनयनं देवागारसमूहनम् ।
स्नपनं सर्वदेवानां गोप्रदानफलं स्मृतम् ॥

माल्यं निर्माल्यम् । समूहनं मार्जनम् । स्नपनमुदकादिना । दधिदुग्धादिस्नपनमधिकफलम् ।

तत्परिमाणमाह ब्रह्मपुराणम्,

देवानां प्रतिमा यत्र घृताभ्यङ्गक्षमा भवेत् ।
पलानि तस्मै देयानि श्रद्धया पञ्चविंशतिः ॥

अष्टोत्तरं पलशतं स्नात्वा देयं तु सर्वदा ।
द्वे सहस्रे पलानां तु महास्नाने च संख्यया ॥
दातव्यं येन सर्वासु दिक्षु निर्याति तद् घृतम् ।
ब्रह्माङ्गलग्नं विप्रेभ्यो वैष्णवं च प्रदीयते ॥
रुद्राङ्गलग्नमग्नौ तु दहेत्सर्वं च तत्क्षणात् ।
शिष्टेभ्यस्त्वथ तद्देयं ब्रह्मणे यन्निवेदितम् ॥
वैष्णवं सात्वतेभ्यश्च भस्माङ्गेभ्यश्च शाम्भवम् ।
सौरं मगेभ्यः शाक्येभ्यस्तापिने यन्निवेदितम् ॥
स्त्रीभ्यश्च देयं मातृभ्यो यत्किञ्चित् विनिवेदितम् ।
भूतप्रेतपिशाचेभ्यो यत्तद्दीनेषु निक्षिपेत् ॥

प्रतिमेत्युपलक्षणम् । तेन लिङ्गेऽपीयमेव व्यवस्था । पलं चतुःसुवर्णपरिमितम् । पलं सुवर्णाश्चत्वार इत्यभिधानात् । सुवर्णश्चाशीतिगुञ्जापरिमितः ।

पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ।

इत्यभिधानात् । अत्र यद्यपि घृतं प्रकृतं तथापि दुग्धादावप्ययमेव प्रकारः । एकत्र दृष्टत्वात् । ब्रह्माङ्गलग्नमित्यादिना स्नानघृतादिप्रतिपत्तिः । विप्रेभ्यस्त्वथेत्यादिना तु दत्तनैवेद्यादिप्रतिपत्तिः। सात्वतस्तु—

ब्रह्मपुराणे दर्शितः । यथा—

पञ्चमः सात्वतो नाम विष्णोरायतनान्यपि ।

पूजयत्याज्ञया राज्ञो यदि स्यात् संयतेन्द्रियः ॥ इति श्रीदत्तः। सात्वता वैष्णवा इत्यपरे । मगाः सूर्यद्विजत्वेन ख्याताः । तापिने बुद्धाय । एतत्तु तिथिकृत्यादौ यत्र बुद्धपूजा विशेषतोऽभिहिता तत्परम् । मातृभ्य इति देवीमात्रोपलक्षणम् ।

पूजाधारमाह शातातपः,

भूमावप्सु तथाऽग्नौ च दिवि सूर्ये च देवताः ।
नित्यमन्ने हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च ॥
अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।
काष्ठलोष्ठेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता ॥

दिवि आकाशे । एषु स्थानेषु देवाः पूज्याः स्युरिति तात्पर्यार्थः । व्यक्तं चैतत्—

**कालिकापुराणे,**

स्थण्डिले ज्वलदग्नौ च तोये सूर्यमरीचिषु ।
प्रतिमासु च शुद्धासु शालग्रामशिलासु च ॥
शिवलिङ्गशिलायां च पूजा कार्या विभूतये ।

तथा—

लिङ्गस्थां पूजयेद्देवीं पुस्तकस्थां तथैवच ।

शातातपवाक्यादन्नादीनां न देवतापूजाधारत्वम् । आचाराविरोधात् । किं तु देवतात्वेन पूज्यत्वं सिद्ध्यति ।

तथाच मनुः,

पूजयेदशनं नित्यमिति ।

**नारदोऽपि,**

लोकेऽस्मिन्मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।
हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः ॥
एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेच्च यः ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत तथा ऽस्यायुर्न हीयते ॥

युक्तस्यात्मनि देवता इति योगिनो बाह्योपचारासम्भवाद न्तर्यजनकर्त्तव्यतापरम् । गृहस्थस्य जले शिवपूजा निषिद्धेति वदन्ति । प्रतिमासु स्वस्वप्रतिमासु । पूजोपचारादयः पदार्थाः सर्वेऽपि सविस्तराः पूजाप्रकरणेऽवगन्तव्याः ।

सङ्क्षिप्तपूजाप्रयोगस्तु निबन्धानुसारेणापेक्षितत्वादत्र लिख्यते।

यथा, स्नातः शुचिवस्त्रद्वयधरः सुप्रक्षालितपाणिपादो दर्भपाणिराचान्तः शुचौ नीचासने सुखोपविष्टो मौनी ध्यानपरः कामरागभयद्वन्द्वमात्सर्यत्वराक्रोधरहितस्तन्मनाः सुलिप्तेऽनिष्टगन्धशब्दवर्जिते गृहे दक्षिणपार्श्वे पुष्पकरण्डकं वामे जलपात्रम् इतरच्च पूजोपकरणं यथासन्निवेशमासाद्य जलपूर्णमर्घपात्रमग्रतो धृत्वा तज्जलेन पूजास्थानं द्रव्याणि च सिक्त्वा गन्धादिना आत्मानमभ्यर्च्य यथोक्तपूजाधारे आगच्छेतिपदानन्तरं सम्बोधनान्तेन देवतानाम्ना देवमावाह्य स्थापयित्वा यथालाभमासनपाद्यार्घाचमनीयमधुपर्कान्दत्त्वा स्नापयित्वा वस्त्रालङ्कारयज्ञोपवीतनेत्राञ्जनगन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि दत्त्वा प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य जप्त्वा स्तुत्वा पुनः प्रणम्य भगवन् भगवति वा क्षमस्वेति विसर्जयेत्। सर्वेषां देवानामोङ्कारादिचतुर्थ्यन्तं स्वनामापि मन्त्रो भवति। सर्वोपचारानभिधाय—

**भविष्यपुराणम्,**

अयं विनैव मन्त्रेण पुण्यराशिः प्रकीर्त्तितः।
स्यादयं मन्त्रयुक्तश्चेत्पुण्यं शतगुणोत्तरम्॥

विष्णोरष्टाक्षरमन्त्रस्तु वेदज्ञावेदज्ञसाधारणः। तथाहि—

**नृसिंहपुराणे,**

षोडशकलात्मकपुरुषसूक्तस्य प्रत्यृचमावाहनादिषोडशोपचारात्मके पूजाविधावुक्ते—

अनेन विधिना देवः पूज्यते मधुसूदनः।
वेदज्ञैरेव नान्यैस्तु तस्मात्सर्वहितं वद॥

इतिप्रश्नानन्तरमाह,

अष्टाक्षरेण देवेशं नरसिंहमनामयम्।

गन्धपुष्पादिभिर्नित्यमर्चयेदच्युतं नरः ॥
गन्धेतिपूर्वोक्तसकलोपचारोपलक्षणम् ।

तथा,

एकान्ते विजने स्थाने विष्णवग्रे वा जलान्तिके ।
जपेदष्टाक्षरं मन्त्रं चित्ते विष्णुं निधाय वै ॥
आयुष्यं धनपुत्रांश्च पशून् विद्यां महद्यशः ।
धर्मार्थकाममोक्षांश्च लभते जपकृन्नरः ॥

तथा,

इममष्टाक्षरं मन्त्रं जपन् नारायणं स्मरेत् ।

तथा,

अष्टाक्षरस्य मन्त्रस्य ऋषिर्नारायणः स्वयम् ।
छन्दस्तु देवी गायत्री परमात्मा च देवता ॥

तथा,

शुक्लवर्णं च ॐकारं नकारं रक्तमुच्यते ।
मोकारं वर्णतः कृष्णं नाकारं रक्तमुच्यते ॥
राकारं कुङ्कुमाभं तु यकारं पीतमुच्यते ।
णाकारमञ्जनाभं तु यकारं बहुवर्णकम् ॥

एवं च नमःपदान्तो ऽयं मन्त्र इति व्यामोहस्त्याज्यः । नारायणध्यानं तु—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥ इति ।

हिरण्मयवपुः कनकप्रभः । धृतशङ्खचक्र इति प्रदर्शनमात्रं, नारायणमूर्त्तेश्चतुर्भुजत्वात् ।

तथाच व्यास,ः

ततो नारायणं ध्यायेदेकाग्रः श्रद्धयाऽन्वितः।
शङ्खचक्रगदापद्मपाणिना दिव्यभूषितम्॥

दक्षिणहस्तद्वये ऊर्ध्वाधः क्रमेण पद्मशङ्खौ वामहस्तद्वये गदाचक्रे इति बोद्धव्यम्।

अत्र्यङ्गिरसौ,

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायान्निमिषमच्युतम्।
पुनस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावकः॥

नरसिंहपुराणे,

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकन्तु निष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

इति संक्षेपः।

## अथ नारदोक्तविष्णुपूजनविधिः।

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो भगवानृषिः।
नरनारायणाभ्यां च तैर्मुनीन्द्रैश्च संगतैः॥
नारायणार्चनविधिं श्रोतुं नो वक्तुमर्हसि।
धर्मार्थकामापवर्गान् येन प्राप्नोति पुष्कलान्॥
श्रुत्वैतत्सुचिरं ध्यात्वा सस्मार च पुरातनम्।
क्षीराब्धौ यत्कृतं पूर्वं पुष्कराक्षमुखाच्च्युतम्॥
शृण्वन्तु मुनयः सम्यक् पुरुषोत्तमपूजनम्।
यत्कृत्वा मुनयः सर्वे ब्रह्मनिर्वाणमाप्नुयुः॥
स्नात्वा यथोक्तविधिना प्राङ्मुखः शुद्धमानसः।
स्वशाखोक्तक्रियां कृत्वा हुत्वा चैवाग्निहोत्रकम्॥
कुर्यादाराधनं विष्णोर्देवदेवस्य चक्रिणः।
अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च॥

षट्स्वेतेषु हरेः सम्यगर्चनं स्तुतिभिः स्मृतम् ।
अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम् ॥
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ।
आपो ह्यायतनं तस्य तस्मात्तासु सदा हरिः ॥
तस्य सर्वगतत्वाच्च स्थण्डिले भावितात्मनाम् ।
ऋग्वेदे पौरुषं सूक्तम् अर्चितं गुह्यमुत्तमम् ॥
आनुष्टुभस्य सूक्तस्य त्रिष्टुभं तस्य देवता ।
पुरुषो यो जगद्बीजमृषिर्नारायणः स्मृतः ॥
प्रथमां विन्यसेद्वामे द्वितीयां दक्षिणे करे ।
तृतीयां वामपादे तु चतुर्थीं दक्षिणे तथा ॥
पञ्चमीं वामजङ्घायां दक्षिणस्यां तथोत्तराम् ।
सप्तमीं वामकट्यां तु दक्षिणायां तथाऽष्टमीम् ॥
नवमीं नाभिमध्ये तु दशमीं हृदि विन्यसेत् ।
एकादशीं कण्ठदेशे द्वादशीं वामबाहुके ॥
त्रयोदशीं दक्षिणे तु आस्यदेशे चतुर्दशीम् ।
अक्ष्णोः पञ्चदशीं न्यस्य षोडशीं मूर्ध्नि विन्यसेत् ॥
यथाऽऽत्मनि तथा देवे न्यासकर्म समाचरेत् ।
एवं न्यासं तु कृत्वाऽऽदौ पश्चाद्देवस्य पूजनम् ॥
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरात्मानं चार्चयेद् बुधः ।
ततः पीठं समाराध्य गन्धपुष्पाक्षतैः शुभैः ॥
आद्ययाऽऽवाहयेद्देवम् ऋचा तु पुरुषोत्तमम् ।
द्वितीयया ऽऽसनं दद्यात् पाद्यं चैव तृतीयया ॥
चतुर्थ्याऽर्घ्यं प्रदातव्यं पञ्चम्याऽऽचमनीयकम् ।
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत सप्तम्या वस्त्रमेवच ॥
यज्ञोपवीतमष्टम्या नवम्या गन्धमेवच ।

दशम्या पुष्पदानं स्यादेकादश्या तु धूपकम् ॥
द्वादश्या च तथा दीपं त्रयोदश्या चरुं तथा ।
चतुर्दश्या नमस्कुर्यात् पञ्चदश्या प्रदक्षिणम् ॥
षोडश्योद्वासनं कुर्यात् शेषकर्माणि पूर्ववत् ।
स्नाने वस्त्रे चोपवीते चरौ चाचमनीयकम् ॥
हुत्वा षोडशभिर्मन्त्रैः षोडशर्चस्य चाहुतीः ।
शेषं निवेदयेत्तस्मै दद्यादाचमनं ततः ॥
पुनः षोडशभिर्मन्त्रैः दद्यात् पुष्पाणि षोडश ।
तच्च सर्वं जपेत् भूयः पौरुषं सूक्तमुत्तमम् ॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा नारायणमनामयम् ।
शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यात्वा विष्णुं विसर्जयेत् ॥
षण्मासात् सिद्धिमाप्नोति एवमेव समर्चयन् ।
संवत्सरेण तेनैव सायुज्यमधिगच्छति ॥
ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥
इति नारदोक्तविष्णुपूजनविधिः ।
विस्तरस्तु पूजाप्रकाशे द्रष्टव्यः ॥

## अथ पञ्चमभागकृत्यम् ।

तत्र दक्षः,
पञ्चमे च तथा भागे संविभागो यथार्हतः ।
देवपितृमनुष्याणां कीटानां चोपदिश्यते ॥
संविभागो विभज्य प्रतिपादनम् । यथार्हतः यथायोग्यम् । अत्र पञ्चमे भागइति मुख्यकालाभिप्रायम् । अशक्तौ रात्रिप्रथम-

यामपर्यन्तस्य गौणकालस्य प्रागव्यवस्थापितत्वात् ।

व्यासः,

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत पाकयज्ञानशेषतः ।

आपद्यपिहि कष्टायां पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥

स्वर्गापवर्गयोः प्राप्तिं पञ्चयज्ञैः प्रचक्षते ।

वैवाहिकोऽग्निरावसथ्यः ।

उद्वाहानन्तरं संवर्त्तः,

ततः पञ्चमहायज्ञान् कुर्यादहरहर्द्विजः ।

न हापयेत्तु तान् प्राज्ञः श्रूयते हि श्रुतावपि ॥

जाबालिः,

अहन्यहनि कर्त्तव्यं पितृदैवतपूजनम् ।

हन्तेति हन्तकारं च मनुष्येभ्योऽपि पावनम् ॥

शङ्खलिखितौ,

शेषभुक् महायज्ञानहरहर्निर्वपेदापन्नः शाकोदकेभ्यः ।

उद्वाहानन्तरं देवलः,

तदनन्तरमग्नीनादधीत गृहीताग्निहोत्रो देवपितृऋष्यातिथ्य भ्यागतभृत्यात्मपूजनं सुचरित्रानुष्ठानं च कुर्यात् । अत्र हव्यक व्यस्वाध्यायैर्देवपितृऋषीन् पृथक् पृथक् पूजयेत् स्वाहेत्यग्निहोत्रप्रवृत्ति हव्यं तद्देवान् प्रसादयति स्वधेति पैतृकप्रवृत्ति कव्यं तत्पितॄन प्रीणयति ओँमित्यध्ययनप्रवृत्तिः स्वाध्यायः स मुनींस्तोषयतीति

अभ्यागतोऽतिथेरन्योऽपि प्राघुणकः । सुचरित्रं सदाचारः अग्निहोत्रप्रवृत्ति अग्निहोत्रे प्रवृत्तिर्यस्य । एवमग्रेऽपि । अग्निहोत्रशब्दोऽत्राग्निमात्रहोमपर इति कल्पतरुः ।

गौतमः,

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजको नित्यस्वाध्यायः पितृभ्यश्चोदक-

दानं यथोत्साहमन्यदिति।

मनुष्यपूजा अतिथिपूजा। ऋषिपूजा स्वाध्यायाध्ययनम्। "ऋषियज्ञपितृयज्ञयोः पूर्वमभिहितयोरपि नित्यस्वाध्याय इत्यादिना पुनरभिधानमितरयज्ञत्रयानुष्ठानासम्पत्तावपि किञ्चिदङ्गवैकल्येन उदकद्रव्येणाप्यादरेणावश्यानुष्ठेयत्वार्थम्। एतदेवोक्तं यथोत्साहमन्यदित्यनेन" इति कल्पतरुः।

मनुः,

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बाध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

सूना प्राणिवधस्थानम्। उपस्करः गृहोपकरणं संमार्जनीभाण्डदण्डादि। बाध्यते, हिंसाजन्यदुरितेनेति शेषः। वाहयन् प्रवर्त्तयन्।

हारीतः,

अथ सूना व्याख्यास्यामः। जङ्गमस्थावरादीन् प्राणिनः सूदयन्तीति सूनाः ताः पञ्चविधा भवन्ति। दुतावतरणावगाहनविक्षोभणविक्षेपणापूतग्रहणयानादिभिराद्यां कुर्वन्ति, अवेलाविसर्पद्रुतगमनाक्रमणादिभिर्द्वितीयाम्, आहननग्रहणबन्धनकुट्टनोत्पाटनादिभिस्तृतीयाम्, आक्रमणघर्षणपेषणादिभिश्चतुर्थीम्, आदीपनतापनस्वेदनभर्जनपचनादिभिः पञ्चमीं, तदेताः पञ्चसूना निरययोनीरहरहः प्रजाः कुर्वन्ति। अग्निगुरुशुश्रूषास्वाध्यायैरादितः सूनात्रयं ब्रह्मचारिणः पावयन्ति। पञ्च पञ्चभिः पाकयज्ञैर्गृहिवानप्रस्थाः पावयन्ति। पवित्रज्ञानध्यानैर्भिक्षवः सूनाद्वयं पावयन्ति। अनिर्जयो दन्तसूनायाः इति।

स्थावराः प्राणिनो वृक्षादयः। सूदयन्ति प्राणैर्वियोजयन्ति।

द्रुतावतरणं शीघ्रं जलप्रवेशः। विक्षोभणमालोडनम्। विक्षेपणम्। इतस्ततो जलप्रक्षेपः। अपूतग्रहणं वस्त्रादिना कृमिकीटादिनिवारणमकृत्वा जलग्रहणम्। आद्यां प्रथमाम्। अवेला अन्धकारादि। अविस्पष्ट उन्मार्गादिः। द्रुतं शीघ्रम्। त्रयाणां गमनेनान्वयः। आक्रमणं पादादिना कृम्यादेः। आहननं कुठारादिना वृक्षादेः। ग्रहणं पुष्पादेः। आक्रमणं वृषादिना सस्यादीनाम्। आदीपनं काष्ठादीनाम्। स्वेदनं धान्यादेः। तापनं जलादेः। भर्जनं यवादेः। पचनं तण्डुलादेः। अग्निगुरुशुश्रूषास्वाध्यायास्त्रयः आद्यसूनात्रयनिवर्त्तकाः। पञ्चभिः पाकयज्ञैरिति ब्रह्मयज्ञे पाकयज्ञपदयोगात्पाकयज्ञपदं रूढमेवेत्याहुः। पवित्रं विहितं परमात्मविषयकं तादृशं ज्ञानं ध्यानं चेति द्वयमपि सूनाद्वयनिवर्त्तकम्। प्रथमसूनाद्वयस्यैव संन्यासिनः सम्भवात्। "अत्र गृहिवनिनोः पञ्चमहायज्ञविधानादनाश्रमिणा वैश्वदेवादि न कार्यम्। साधारण्यात् स्वाध्यायतर्पणे एव कार्ये" इति कश्चित्। वस्तुतस्तु गृहस्थ उद्वहेद्भार्यामित्यादौ समावृत्तमात्रे गृहस्थशब्दप्रयोगो गृहस्थधर्मेष्वधिकारप्राप्त्यर्थ इति समावृत्तमात्रस्य संन्यासात् पूर्वं पञ्चयज्ञाधिकारः। कल्पतरुस्वरसोऽप्येवम्। दन्तसूना दन्तैश्चर्वणादिभिर्बीजाङ्कुरादिहिंसा, तस्या उक्तैर्न शोधनमित्यर्थः। एवंच बीजभोजननिषेधोऽपि दन्तैर्बीजहिंसादिपर एव। तेन वह्निपक्वभग्नबीजादेर्भक्षणे न दोषः। अङ्कुरिणोऽङ्कुरयोग्यस्थावरबीजादेर्भक्षणे परं दोष इति।

छन्दोगपरिशिष्टं,

पञ्चानामथ यज्ञानां महतामुच्यते विधिः।
यैरिष्ट्वा सततं विप्रः प्राप्नुयात्सद्म शाश्वतम्॥
देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात्तएव हि महामखाः॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्पित्र्यो बलिरथापि वा।

श्राद्धं नित्यश्राद्धम्। एतेन त्रयाणां पितृयज्ञत्वादसंभवे एकेनापि कृतेन पितृयज्ञनिष्पत्तेः पितृयज्ञाकरणप्रसक्तः प्रत्यवायः परिहृतो भवति।

तथाच मनुः

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव सर्वमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥

समुच्चयेन त्रयाणामनुष्ठानं च संभवे बोध्यमिति पारिशिष्टप्रकाशः। कल्पतरावपि तर्पणश्राद्धपितृबलीनां पितृयज्ञत्वं यथासंभवमधिकारिभेदेन व्यवस्थितं न पुनस्तुल्यो विकल्प इत्युक्तम्। अत्रानुक्रमादित्यभिधानात् प्रथमं देवयज्ञस्ततो भूतयज्ञस्ततः पित्र्यबलिरूपः श्राद्धरूपश्च पितृयज्ञस्ततो मनुष्ययज्ञ इति क्रमः। ब्रह्मयज्ञकालस्तु स चार्वाक् तर्पणात्कार्य इत्यादिना प्रागेवाभिहितः।

जाबालः,

स्नात्वा पञ्चमखानां तु प्रथमं तर्पणं स्मृतम्।

शातातपः,

भूतयज्ञस्तथा श्राद्धं नित्यं चातिथिपूजनम्।
क्रमेणानेन कर्त्तव्यं स्वाध्यायाध्ययनं सदा ॥

भूतयज्ञादि अतिथिपूजनपर्यन्तं क्रमेण कर्त्तव्यम्। स्वाध्यायाध्ययनं च यथाविहितकाले कर्त्तव्यमित्यर्थः। तेन न विरोधः। कल्पतरौ तु स्वाध्यायाध्ययनान्तर्भावेनायं क्रमः शाखिभेदव्यवस्थित इत्युक्तम्।

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषात् भूतबलिं हरेत्।

इति याज्ञवल्क्यवचनेन हुतशेषणान्नेन भूतयज्ञविधानादेव-

यज्ञो भूतयज्ञात्पूर्वमेव । एवंच—

कृत्वैतद्बलिकर्मैवम् अतिथिं पूर्वमाशयेत् ।

इति मनूक्तम् अतिथिभोजनस्य बलिकर्मानन्तर्यं श्राद्धाकरणे बोद्धव्यम् । संभवति च जीवत्पितृकस्य बलिकर्मानुष्ठानेऽपि श्राद्धाकरणम् । एवं श्राद्धासंपत्तावपि । श्राद्धानन्तरं ततोऽतिथीन् भोजयेदिति वसिष्ठवाक्ये नृयज्ञोऽतिथिपूजनमिति छन्दोगपरिशिष्टवाक्ये चातिथित्वमविवक्षितम् । अतिथेरनियतत्वात् । मनुष्ययज्ञस्य च नियतत्वात् । अतएवाहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादामूलफलशाकेभ्योऽथैनं मनुष्ययज्ञं समाप्नोतीति बौधायनवाक्ये ब्राह्मणमात्रमुक्तमिति ।

**मनुः,**

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति भूतानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥
अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेवच ।
ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पञ्च यज्ञान् प्रचक्षते ॥
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्मं कृतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥

**तथा,**

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यातिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥
स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धेन नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥

जाबालः,

स्नात्वा महामखानां तु प्रथमं तर्पणं स्मृतम्।
दिव्यो होमस्तु सावित्र्या भौतं तु बलिकर्मणा॥
ब्राह्मो वेदजपेनैव नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।

दिव्योहोम इति। यः सावित्र्या होमः स दिव्यो यज्ञः। अयं च दिव्यहोमः शाखाविशेषव्यवस्थितः।

शातातपः,

लौकिके वैदिके वापि हुतोत्सृष्टे जले क्षितौ।
वैश्वदेवस्तु कर्त्तव्यः पञ्चसूनापनुत्तये॥
वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन विवर्जिताः।
सर्वे ते वृषला ज्ञेयाः प्राप्तवेदा अपि द्विजाः॥

लौकिके पाकसाधने।

यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तत्र होमो विधीयते।

इत्यङ्गिरोवचनैकवाक्यत्वात्। वैदिके आवसथ्ये।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत पाकयज्ञानशेषतः।

इति व्यासवाक्यात्। हुतोत्सृष्टे अन्येन होमं विधाय त्यक्ते इति कल्पतरुः। अनन्तरोक्ताग्नित्रयासंभवे जलं, तदसम्भवे भूमिरित्यपि स एव। जलक्षित्याधारतापक्षे भूसंस्कारादिकं नास्तीति श्रीदत्तः।

अङ्गिराः,

शालाग्नौ वा पचेदन्नं लौकिकेवापि नित्यशः।
यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तस्मिन् होमो विधीयते॥

शालाग्निरावसथ्यः।

याज्ञवल्क्यः,

कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।

दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥

वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु ।

**व्यासः,**

वैश्वदेवं प्रकुर्वीत स्वशाखाविहितं च यत् ।
संस्कृतान्नैर्हविष्यैश्च हविष्यव्यञ्जनान्वितैः ॥
तैरेवान्नैर्बलिं दद्याच्छेषमाप्लाव्य वारिणा ।
कृतापसव्यः स्वधया सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥
सुरार्चनं ततः कुर्याद्गन्धमाल्यैः सुगन्धिभिः ॥

संस्कृतान्नैः सिद्धान्नैः । हविष्यैरिति मुख्यः कल्पः । अन्येषामपि विधानात् ।

यथा **शङ्खलिखितौ,**

अत ऊर्ध्वं देवयज्ञः सर्वेषामुपादिश्यते ।

आश्रमधर्माविरोधेन प्रतिनियतानामोषधीनां कोद्रवचणकमाषमसूरकुलत्थोद्दालकवर्ज्जं निर्वपणीयम् ।

आश्रमधर्माविरोधेनेति वानप्रस्थार्थं, तेन वानप्रस्थेनाश्रमविहिताफालकृष्टनीवाराद्यन्नेन देवकृत्यादि निर्वर्त्तनीयम् । सुरार्चनं ततः कुर्यादिति तु पूजायां कल्पान्तरमिति प्रागुक्तम् ।

**गोभिलगृह्यम्,**

यद्येकस्मिन्काले व्रीहियवौ प्रक्रियेतां अन्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत यद्येकस्मिन्काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीतेति ।

व्रीहियवाविति नानाजातीयोपलक्षणम् । तेनायमर्थः । एकस्मिन्काले दिवा रात्रौ वा । एवं च "सर्वस्यैवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वा, यज्ञान्निवर्त्तते" इति वाक्यं कालभेदपाकाभिप्रायम् । यज्ञो देवार्थं पक्वमन्नं तस्मान्निवर्त्तते । तदग्र-

भागेन वैश्वदेवं न कुर्यादित्यर्थः ।

छन्दोगपरिशिष्टम्,

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च ।
अनश्नताऽपि कर्त्तव्यमन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥

अत्र सायंप्रातःशब्दौ रात्रिदिवसपरौ । अत्र—

देवान् ऋषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुक् भवेत् ॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥

इति मनुवचनाद् भुञ्जानेन सकृदेव वैश्वदेवबलिकर्मणी कर्त्तव्ये इत्याशङ्कानिरासार्थं सायं प्रातरनश्नताऽपीत्युक्तम् । किंतु इयान् विशेषः, अश्नतोऽकरणे प्रत्यवायद्वयं भोजनकृतोऽकरणकृतश्च अनश्नतस्त्वकरणकृत एव । अत एव अन्यथा किल्बिषी भवेदित्युक्तम् । एवञ्च एकादश्यादौ भोजनाभावेऽपि वैश्वदेवादि कर्त्तव्यमेव । तत्र च सिद्धस्य हविष्यस्य मुख्यत्वात्तदर्थं पाकः कर्त्तव्यः । तत्रासामर्थ्ये तु अपक्वेनापि वैश्वदेवः कर्त्तव्यः । हविष्याभावे अहविष्येणापि ।

यथा शङ्खलिखितौ,

अहरहः पञ्चयज्ञान्निर्वपेदापत्रशाकोदकेभ्यः ।

श्रुतिश्च, अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठादिति ।

उक्तं चेत्युक्त्वा नारायणवृत्तावप्युक्तम्, आपत्रमपि दातव्यमा काष्ठमपि जुहुयात् आऋचमपि ब्रह्मयज्ञं कुर्यादिति ।

नचेदुत्पद्यतेऽन्नं तु अद्भिरेतान्समापयेत् । इति च ।

एवं च,

पुनःपाकमुपादाय सायमप्यवनीपते ।

वैश्वदेवनिमित्तं हि पत्न्या सार्द्धं वलिं हरेत् ॥

इति यमवचने पाकश्रुतिः पक्षमाप्तानुवादमात्रम् । कालमात्रविधिपरत्वात्तस्य । एतेन पुनःपाकमित्यादियमवाक्यात् पाके सत्येव सायं वैश्वदेवबलिकर्मणी कर्त्तव्ये इति श्रीदत्तोक्तं विचारणीयम् । अन्यथा प्रातर्वैश्वदेवोऽपि पाके सत्येव स्यात् । तत्रापि सायंप्रातः सिद्धस्येत्यादिवाक्यैः पाकावगतेः ।

आपस्तम्बः,

न क्षारलवणहोमो विद्यते, तथा परान्नसंसृष्टस्य चाहविष्यस्य होमः । उदीचीनमुष्णं भस्मापोह्य तस्मिन् जुहुयात् । तद्धुतमहुतं चाग्नौ भवति। न स्त्रीजुहुयान्नानुपेतः ।

क्षारलवणमूषरलवणम् । परान्नसंसृष्टम् अन्नान्तरसम्बद्धम् । अहविष्यं माषादि । होम इत्यत्र न विद्यते इत्यस्यानुषङ्गः । यदि तु क्षारलवणमेव होम्यं भवति तदा उदीचीनमुत्तरदिग्विभागभवम् उष्णं भस्मापोह्य तस्मिन्नग्नौ जुहुयादित्यर्थः । न स्त्रीत्यादि । साग्नेः प्रवासे ऋत्विगसन्निधाने सति प्रसक्तस्य निषेधोऽयम् । एवमग्रेऽपि । अनुपेतः अनुपनीतः । अत्र "सर्वतः पाकादग्रमुद्धृत्य जुहुयादितिविष्णुवाक्यादिभिरग्रभागेन वैश्वदेवकर्त्तव्यताभिधानात्तेन देवतानैवेद्यादि न देयम् । किं तु–

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षार्थं गृहमागते ।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत् ॥

इति नृसिंहपुराणवाक्येन विनापि वैश्वदेवं वैश्वदेवार्थमग्रभागस्थापनानन्तरभिक्षादानस्य कथनेन तद्वदत्रापि अग्रभागस्थापनानन्तरं नैवेद्यादिकरणे न क्षतिः । बलिदानादाविव नैवेद्यदाने तच्छेषत्वस्य कुत्राप्यदर्शनात् । यदि च देवतानैवेद्यार्थमेव पचति तदा तदग्रभागेन वैश्वदेवाशङ्कापि नास्ति । यस्मान्निवर्त्तते इति

प्रागुदाहृतवाक्येन ततो वैश्वदेवनित्यत्वकथनात्" इति वदन्ति। अन्येतु वैश्वदेवबली उक्त्वा—

एवं कृते स्थावरान्नं जङ्गमान्नं च शुध्यति।

इति वराहपुराणवाक्यात्तौ विना नैवेद्यं न देयमेव। भिक्षादानं तु वाचनिकमिति वदन्ति। एते चाविभक्तानां विभज्य संस्पृष्टानां च मध्ये एकेन गृहपतिना कार्याः।

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।

एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहेगृहे॥

इति वचनात्। अत्र च सर्वेषामेकं भवेदित्यभिधानात्सर्वेषामेवाधिकारप्रतिपत्तौ यत्र गृहपतेरेव श्वशुरमरणादितोऽशौचं तत्राविभक्तेनान्येनापि वैश्वदेवादयः कार्याः। अन्यथा प्रत्यवायप्रसङ्गात्। सर्वस्वामिकद्रव्यसाध्यत्वं चात्र मूलम्। तेन यत्रासाधारणाविभाज्यद्रव्येण गृहपतिना तदनुष्ठीयते तत्र तदन्येन तत्पृथक् कर्त्तुमुचितमिति प्रतीयते। अत एव तर्पणस्वाध्याययोः पृथगनुष्ठानाचारः। इदं तु नित्यनैमित्तिककाम्यसाधारणम्। संकोचे मानाभावात्। फलं तु सर्वेषामेव। दंपत्योरिव यागफलं सर्वेषामेकं भवेदित्यनेन सर्वेषां फलभागित्वप्रतिपादनात्। पितामहादिभिरविभक्तस्य प्रमीतपितृकस्य पौत्रादेः पितामहादिनित्यश्राद्धेन तन्नित्यश्राद्धानिर्वाहात् पौत्रादिना नित्यश्राद्धं पृथक् कार्यमेव। स्वपित्रुद्देश्यकद्रव्यत्यागरूपस्य तच्छ्राद्धस्याजातत्वात्।

यत्तु गोभिलेन,

यद्येकस्मिन्काले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसादेवैतद्बलितन्त्रं कुर्वन्ति इत्युक्तं, तद् अविभक्तानामपि प्रत्येकं पाकसम्भवे गृहपतिपाकादेवेति नियमार्थं, न तु गृहपत्यकरणेऽप्यन्यकरणनिषेधार्थम्। नित्यबाधप्रसङ्गात्। यदि च गृहपतेरन्यस्याप्रमादौ सिद्धेव

स स्वकीयपाकाद्वैश्वदेवादि कृत्वा भुञ्जीत।

तथाच तदनन्तरं गोभिलः,

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येत् स नियुक्तमग्नौ कृत्वा भुञ्जीतेति।

श्रीदत्तस्तु गृहपतिना वैश्वदेवादि करिष्यते अन्येन तु किंचिदेव तूष्णीं वह्नौ हुत्वा भोक्तव्यं न तु वैश्वदेवादि कार्यमित्यर्थमाह। यस्य तु पश्चादन्नं सिध्यति स वैश्वदेवादेर्जातत्वाद्वैश्वदेवाद्यकृत्वैव भुञ्जीत। एवं दिवा नक्तं वा एकस्मिन्काले एकेनैव कृतेन बलिवैश्वदेवेन बहुधा कृतानामन्नानां शुद्धिः। यद्येकस्मिन्काले व्रीहियवावित्याद्युदाहृतगोभिलवाक्यात्। एवं पाकसमाप्तावातिथ्यागमने पुनः पाकेऽपि न वैश्वदेवान्तरमित्यपि प्रागुक्तम्। एवम् आमान्नफलादीनामप्येकेन तस्मिन्कृतेऽपि सर्वेषामेव शुद्धिः। युक्तितौल्यात्। यद्यपि—

एवं कृते स्थावरान्नं जंगमान्नं च शुध्यति।

इति वराहपुराणवचनाद्वैश्वदेवबल्योरन्नशुद्ध्यर्थकत्वं प्रतीयते तथापि "सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्रर्थस्य वा स्वस्त्ययनस्य वा स्वार्थस्य वा, यज्ञान्निवर्त्तते"इति गोभिलवचनेन पित्रर्थेऽप्यन्ने प्राप्तयोस्तयोः प्रागुदाहृतमत्स्यपुराणादिवाक्येन श्राद्धोत्तरं विधानात्तयोः पूर्वमपि श्राद्धार्थान्नस्य शुद्धिरिति प्रतीयते। एवं जीवत्पितृकेणापि विभक्तेन वैश्वदेवादि कार्यम्।

सपितुः पितृकृत्येषु अधिकारो न विद्यते।

इत्यनेन सपितृकस्य पित्र्ये कर्मणि अधिकारनिषेधात्पित्र्यबलिदाननित्यश्राद्धे परं न कार्ये। यश्चाविभक्तेन पित्रा स्वासामर्थ्यादिना गृहकृत्ये नियुक्तस्तेन पितृप्रतिनिधिभूततया तत्सर्वं कार्यमेव। श्राद्धे मातामहादयस्तेन पितुरेव ग्राह्याः। यश्च पितुः पातित्येन संन्यासादिना वा गृहपतित्वं प्राप्तः सोऽपि तत्कुर्यादेव। सपि-

तुरिति वाक्ये पितृपदस्याधिकारिपितृपरत्वात् । मातामहादय-स्तु स्वकीया एव ग्राह्याः । स्वस्यैवाधिकारित्वात् ।

ब्राह्मणादिहते ताते पतिते सङ्गवर्जिते ।
व्युत्क्रमाच्च मृते देयं येभ्य एव ददात्यसौ ॥

इत्यस्य छन्दोगपरिशिष्टवाक्यस्य पितामहादित्रिकपरत्वात् । साग्निस्तु प्रवासादावशक्तौ वाऽन्येन ऋत्विगादिना वैश्वदेवादि कार्यम् । यद्यपि—

सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते ।
स्वयं होमफलं यत्तु तदन्येन न लभ्यते ॥
ऋत्विक् पुत्रो गुरुर्भ्राता भागिनेयोऽथ विट्पतिः ।
एभिरेव हुतं यत्तु तद्धुतं स्वयमेव हि ॥

इति दक्षवचनं प्रातर्होमे श्रुतं तथापि युक्तितौल्यात्सायंहोमवैश्वदेवादिष्वपीयमेव व्यवस्था । एवं निरग्नेरप्यसामर्थ्ये अन्येन वैश्वदेवादि कार्यम् । युक्तेस्तौल्यात् ।

अत्रिरपि,

पुत्रो भ्राता तथा ऋत्विक् शिष्यश्वशुरमातुलाः ।
पत्नी श्रोत्रिययाज्याश्च दृष्टास्ते बलिकर्मणि ॥

यदि गृहे कर्त्ता नास्ति तदा प्रवासेऽपि स्वयमेव कुर्यात् ।

तदाह स्मृतिचन्द्रिकायां मनुः,

प्रवासं गच्छतो यस्य गृहे कर्त्ता न विद्यते ।
पञ्चानां महतामेष स यज्ञैः सह गच्छति ॥ इति ।

एवं च,

प्रवसेदाहिताग्निश्चेत्कदाचित्कालपर्ययात् ।
यस्मिन्नग्नौ भवेत्पाको वैश्वदेवस्तु तत्र वै ॥
तत्राहुत्वा तु यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते किल्बिषं नरः ।

प्रोषितोऽप्यात्मसंस्कारं कुर्यादेवाविचारयन् ॥

इति वसिष्ठवचनमप्येतत्परमेव । अयं तु विशेषः । साग्नेर्निसपाकस्यावसथ्ये विधानात्प्रवासेऽपि स्वगृहएव वैश्वदेवादि पत्नी कारयेत् ।

तदुक्तम्,

अमावास्यादिनियमं प्रोषिते सहचारिणी ।

पत्यौ तु कारयेन्नित्यमन्येनाप्यृत्विगादिना ॥ इति ।

प्रोषितसाग्नेस्तु पाकं विनैव कालयापनम् । तदसामर्थ्ये तु क्रव्यादांशपरित्यागादिविधिना पाकमपि कुर्यात् ।

तदुक्तम्,

प्रवसन्नग्निमान् विप्रः पयोमूलफलादिभिः ।

कालं नयेदशक्तौ तु विधिना पाकमाचरेत् ॥ इति ।

सर्वाधानपक्षे तु आवसथ्याभावाद् गृहेऽपि लौकिकाग्निना पाक इति प्रवासेऽपि पाको न निषिद्धः । प्रवसन्नग्निमानिति वचनस्य पाकासम्भवमूलकत्वात् । एतद्वचनबलात्सर्वाधानिनोऽपि पाकोऽनुचित इति केचित् । एतन्मते प्रोषितसाग्निना परपकान्नमपि न भोक्तव्यम्। एवमाशौचे वैश्वदेवानधिकारे तदर्थकपाकस्यावसथ्ये विहितस्याभावात् । गृहस्थितेनापि साग्निना फलाहारादिकमेव कार्यम् । एवं निरग्नेरपि । न पचेदन्नमात्मनइति याज्ञवल्क्यवाक्येन स्वार्थपाकनिषेधात् । अशौचे वैश्वदेवाद्यभावात्पाको न भवति । अतएव तत्र लब्धक्रीताशना वा स्युरित्युक्तम् । यदि चान्यार्थं पाकः क्रियते तदा तच्छेषः स्वयं भोक्तव्यो नोचेत्फलादिभोजनमेवोचितमिति । शूद्रेणापि शूद्रा वाजसनेयिन इति वाक्यात् पारस्करोक्तविधिना पौराणिकाग्निना वा वैदिकपौराणिकमन्त्रवर्ज्जम् नम इति मन्त्रेण पञ्चमहायज्ञाः कार्याः ।

भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्त्ता श्राद्धक्रियापरः।
नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्॥
इति याज्ञवल्क्यवाक्यात्,
दानं दद्याच्च शूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च।
इति विष्णुपुराणवाक्याच्च। तत्रच—
आमं शूद्रस्य पक्वान्नं पक्वमुच्छिष्टमुच्यते।

इति पक्वान्ननिन्दार्थवादात्सकलदेशीयशिष्टाचाराच्च आमान्नेनैव तेषां वैश्वदेवादिविधिः। तेषां चाग्नावपि होमो न निषिद्धः।

उक्तं च मिताक्षरायाम्,

शूद्रेण लौकिकाग्नौ वैवाहिकाग्नौ वा वैश्वदेवः कार्य इति सङ्क्षेपः। परिमाणमाह—

छन्दोगपरिशिष्टम्, मषावराघ्या बलयो भवन्ति महामार्ज्जारश्रवणप्रमाणात्। एकत्र चेत् कृत्स्ना भवन्तीतरेतरमसंसक्ताः। महाबिडालकर्णपरिमाणादपकृष्टा अल्पपरिमाणा बलयो न भवन्तीत्यर्थः।

व्यासोऽपि,

आर्द्रामलकमानेन कुर्याद्धोमहविर्बलीन्।
प्राणाहुतिं बलिं चैव मृदं गात्रविशोधिनीम्॥

गद्यव्यासोऽपि, उत्तानकरपञ्चाङ्गुल्यग्रैर्बलिं हरेत् हृपवक्त्राकारेणोत्तानेनाङ्गुष्ठाङ्गुलिद्वयाग्रपर्वमात्रं प्रपूर्य जुहुयात्। एवं च पाण्याहुतिर्द्वादशपर्वपूरिकेति छन्दोगपरिशिष्टवचनं सम्भवपरम्।

व्यासः,

जुहुयात्सर्पिषा युक्तं तैलक्षारविवर्ज्जितम्।
दध्यक्तं पयसाऽक्तं वा तदभावेऽम्भसाऽपिवा॥ इति।

अनयोरारम्भे तन्त्रेण वृद्धिश्राद्धं कर्त्तव्यम् ।

यथा छन्दोगपरिशिष्टम्,

आधाने होमयोश्चैव वैश्वदेवे तथैवच ।

बलिकर्मणि दर्शे च पौर्णमासे तथैवच ॥

नवयज्ञेषु यज्ञज्ञा वदन्त्येवं मनीषिणः ।

एकमेव भवेत् श्राद्धमेतेषु न पृथक् पृथक् ॥

होमयोः सायंप्रातर्होमयोः । नवयज्ञः आग्रयणेष्टिः ।

तथा—

असकृद्यानि कर्माणि क्रियेरन् कर्मकारिणा ।

प्रतिप्रयोगं नैव स्युर्मातरः श्राद्धमेवच ॥

पितुरशौचान्तदिने तु तदारम्भे न वृद्धिश्राद्धम्। तदाह स एव

न तत्पूर्वं यतः प्रोक्तः सपिण्डनविधिः क्वचित् ।

वृद्धिश्राद्धस्य लोपः स्यादुभयोरपि पक्षयोः ॥

न तत्पूर्वं न एकादशाहश्राद्धात्पूर्वम्। उभयोः पक्षयोः आधानं विना केवलवैश्वदेवादिकरणपक्षे आधानपक्षे च ।

मनुः,

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।

विश्वेषां चैव देवानां धन्वन्तरयएवच ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतयएवच ।

सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृते ततः ॥

एवं सम्यक् हविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥

मरुद्भ्य इति तद्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।

वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै तु पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां च वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाशउत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चरेभ्य एव च ॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वानुभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निक्षिपेद् भुवि ॥
एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्त्तिः पथर्जुना ॥

तथा,

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥

इति। समस्तयोः अग्नीषोमाभ्यामित्येवम्। सहद्यावापृथिव्योः द्यावापृथिवीभ्यामित्येवम्। एवं देवयज्ञप्रकारेण । उच्छीर्षके गृहस्थशय्याशिरःप्रदेशे । पादतः गृहस्थशय्यापादप्रदेशे । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यामिति । एवमेव बलिदाने प्रयोगः । पृष्ठवास्तुनि पश्चाद्गृहे मूत्रोच्चारकरणस्थानइत्यर्थः । सर्वानुभूतये सर्वानुभूतिदेवतायै । हरेत् दद्यात् । शनकैः यथाऽन्नोपघातः कथमपि न भवति । वायसादीनां चोपकाराय बलिः क्रियमाणस्तत्र देशे दातव्यो यत्र तेषामुपयोगः सम्भवति । अर्चतीत्यनेन श्वादीनामपि बलिदाने ऽनादरो न कर्त्तव्य इति सूचितम् । पथर्ज्जुना ऋजुना पथा। सायंत्विति। इदं च सायं सिद्धेनान्नेन पत्न्या अमन्त्रकं बलिहरणं यजमानतत्पुत्रादीनामसन्निधाने । न स्त्री जुहुयादित्यापस्तम्बेन होम-

निषेधात् ।

विष्णुः, अथाग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य परिसमाधा-य सर्वतः पाकादग्रमुद्धृत्य जुहुयात् । वासुदेवाय संकर्षणाय प्र-द्युम्नायानिरुद्धाय पुरुषाय सत्यायाच्युताय वासुदेवाय अग्न-ये सोमाय मित्राय वरुणाय इन्द्राय इन्द्राग्निभ्यां विश्वेभ्योदेवेभ्यः प्रजापतये अनुमत्यै धन्वन्तरये वास्तोष्पतये स्विष्टकृतइति ।

शङ्खलिखितौ,

अत ऊर्ध्वं देवयज्ञः सर्वेषामुपदिश्यते ।

आश्रमधर्माविरोधेन प्रतिनियतानामोषधीनां कोद्रवचणकमा-षमसूरकुलत्थोद्दालकवर्जं निर्वपणीयं तण्डुलान् वा प्रातः पत्न्यै दद्या-त् । स्वयं वाऽधिश्रयेत् । सुसंमृष्टगृहद्वारोपलेपनधूपजपप्रयतो नियतः सायं प्रातरन्नादावश्यकानि कुर्यात् । अग्नये जातवेदसे स्वाहा इत्यग्नौ, तूष्णीं द्वितीयाम्, उदुत्यं जातवेदसमित्यादित्यमुपति-ष्ठेत, ब्रह्मणे नम इति ब्रह्मस्थले बलिं हरेत्, सोमायेत्युदकुम्भे, वा-यवइति वास्तुगृहे, गृहपतयइति गृहद्वारे, प्रजापतयइति गर्भगृहे, शन्नोदेवीरित्यग्निकार्ये, दिक्पतिभ्यस्तत्पुरुषेभ्य इति प्रतिदिशं, नक्षत्रग्रहदेवताभ्योऽन्तरिक्षे, सर्वतः पशूनांपतये, नमो देवेभ्यः इति प्रागुदीच्यां, ब्रह्मस्थले स्वधा पितृभ्य इति दक्षिणेन निवा-प्य गोदोहमात्रं कालमन्वाचक्षतेऽतिथिमिति ।

आश्रमधर्माविरोधेनेति व्याख्यातम् । पत्न्यै दद्यात्, अधिश्रय-णार्थमिति शेषः । स्वयंवेति पत्नीकर्तृकपाकासम्भवविषयम् । सुसंमृष्टे-ति । सुसंमृष्टयोर्गृहद्वारयोरुपलेपने देवताद्यर्थधूपे पवित्राणां जपे प्रयतः शुचिः । नियतो नियमवान् । अन्नात् अदनीयात् । आ-वश्यकानि देवयज्ञादीनि । अग्नौ, जुहुयादिति शेषः । द्वितीयाम्, आहुतिमिति शेषः । ब्रह्मस्थले गृहमध्ये । अन्वाचक्षते प्रतीक्षते ।

मार्कण्डेयपुराणे,

संपूजयेत्ततो वह्निं देयाश्चाहुतयः क्रमात् ।
प्रथमं ब्रह्मणे दद्यात् प्रजानां पतये ततः ॥
तृतीयां चैव गृह्याभ्यः कश्यपाय तथा पराम् ।
ततोऽनुमतये दद्याद्दद्याद् गृहबलिं ततः ॥
पूर्वाख्यातं मया यत्तु नित्यधर्मक्रियाविधौ ।
वैश्वदेवं ततः कुर्याद्बलयस्तत्र मे शृणु ॥
यथास्थानविभागं तु देवानुद्दिश्य वै पृथक् ।
पर्जन्याब्धो धरित्रीणां दद्यात्तु मणिके त्रयम् ॥
वायवे प्रतिदिग्भ्यश्च दिग्भ्यः प्राच्यादिभिः क्रमात् ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो विश्वभूतेभ्य एवच ॥
उषसे भूतपतये दद्याच्चोत्तरतस्ततः ।
स्वधा नम इत्युक्त्वा ऽपि पितृभ्यश्चापि दक्षिणे ॥
कृत्वाऽपसव्यं वायव्यां यक्ष्मैतत्तेऽवनेजनम् ।
अन्नावशेषमिश्रं वै तोयं दद्याद्यथाविधि ॥

तथा,

ततस्तोयमुपादाय तेषामाचमनाय वै ।
स्थानेषु निक्षिपेत्प्राज्ञो नाम्ना तूद्दिश्य देवताः ॥

विष्णुपुराणे,

अपूर्वमग्निहोमं तु कुर्यात्प्रागुदक्षिणे त्वतः ।
प्रजापतिं समुद्दिश्य दद्यादाहुतिमादरात् ॥
गृह्याभ्यः काश्यपायाथ ततोऽनुमतये क्रमात् ।
तच्छेषं मणिके पृथ्वीपर्जन्याद्भ्यः क्षिपेत्ततः ॥
द्वारे धातुर्विधातुश्च मध्ये च ब्रह्मणे क्षिपेत् ।
गृहस्य, पुरुषव्याघ्र दिग्देवानां च मे शृणु ॥

इन्द्राय धर्मराजाय वरुणाय तथेन्दवे ।
प्राच्यादिषु बुधो दद्याद् हुतशेषात्मकं बलिम् ॥
प्रागुत्तरे च दिग्भागे धन्वन्तरिबलिं बुधः ।
निर्वपेद्वैश्वदेवं च कर्म कुर्यादतः परम् ॥
वायव्ये वायवे दिक्षु समन्ताच्च ततो दिशाम् ।
ब्रह्मणे चान्तरिक्षाय भानवे च क्षिपेद्बलिम् ॥
विश्वदेवान् विश्वभूतान् ततो विश्वपतीन्पितॄन् ।
यक्ष्माणं च समुद्दिश्य बलिं दद्यान्नरेश्वर ॥

अग्नौ होमः अग्निहोमः। प्राग्दक्षिणे आग्नेय्याम्। प्रजापतिं समुद्दिश्य प्रजापतये स्वाहेत्याहुतिं दद्यात्। मणिके मणिकदेशे । गृहस्य मध्ये ब्रह्मणे। प्रागुत्तरे ऐशाने। प्रतिदिक्षु वायव्य दिग्भ्यश्च बलिं दद्यात्। तथा—

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः ।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः ॥
देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगभूतसंघाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता येचान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्याः बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयाऽन्नं तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न तथाऽन्नमस्ति।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्ते यान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु ॥
भूतानि सर्वाणि तथाऽन्नमेतदहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥
चतुर्दशो भूतगणो य एष तत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥
इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितम् ।

भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥

श्वचाण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात्ततो नरः ।

स्वेच्छयेत्युपादानादिदं काम्यम् । पञ्चश्लोकपाठानन्तरं चैको बलिर्देयः । इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नमिति श्रवणात् । अन्नमिति विधेयगतैकत्वविवक्षणात् । एवं च मन्त्रमध्ये विसृष्टं दत्तमित्येतयोरादिकर्मणोः क्तः । इदं च सर्वशाखिसाधारणम् । एवं श्वचाण्डालविहङ्गानामित्यपि । एवं शुनां च पतितानां चेत्यादिना मनूक्तमपि । एवं वक्ष्यमाणव्यासवाक्योक्तममन्त्रकपिण्डद्वयदानमपि । बहुभिस्तथाऽभिधानादिति श्रीदत्तादयः ।

व्यासः,

ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा ।

वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयाऽर्पितम् ॥

श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।

ताभ्यामन्नं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥

दत्त्वाऽनेन विधानेन बलिं पश्चादुपस्पृशेत् । इति ।

## अथ आश्वलायनवैश्वदेवप्रयोगः ।

तत्र तत्सूत्रम्,

अथ सायं प्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयादग्निहोत्रदेवताभ्यः सोमाय वनस्पतयेऽग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां धन्वन्तरये इन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे स्वाहेति अथ बलिहरणमेताभ्यश्चैव देवताभ्योऽद्भ्य ओषधिवनस्पतिभ्यो गृहाय गृहदेवताभ्यो वास्तुदेवताभ्य, इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्यो यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति प्रतिदिशं, ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्य इति मध्ये विश्वेभ्यो देवेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो दिवाचारिभ्य इति दिवा नक्तंचारिभ्य इति नक्तं,

रक्षोभ्य इत्युत्तरतः, स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणा निनयेत् ।

सायंप्रातःशब्दाभ्यां लक्षणया अहोरात्रग्रहणम् । स्मृतौ सायं प्रातरशनान्यभिजुषेदित्यत्र प्रातःशब्दस्य मध्याह्नपरत्वावगमात् । पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्णः पितॄणामित्यस्यां श्रुतौ मनुष्यसम्बन्ध्यातिथ्यकर्मणि वैश्वदेवोत्तरकालीनमध्याह्नकालविधानात् । तदुत्तरकालत्वाच्च भोजनस्य । अतः स्मृतौ सायंप्रातरशनाभिधायिन्यां प्रातःशब्दोऽहःपरो निर्णीयते । तद्वत्सूत्रेऽपि । सायंप्रातरशनान्यभिजुषेदित्यत्र स्मृतौ सायंप्रातःशब्दयो रात्रिदिनवाचित्वं,

मुनिभिर्द्विरशनमुक्तं विप्राणां मर्त्यवासिनां नित्यम् ।
अहनि च तमस्विन्यां सार्द्धप्रहरयामान्तः ॥

इतिछन्दोगपरिशिष्टवचनैकवाक्यतया स्पष्टमेवावगम्यते । सिद्धस्य पक्वस्य । तेन च पाकशब्दवाच्यविक्लेदनरहितस्य दधिदुग्धादेर्व्यावृत्तिः । मुख्यः कल्पोऽयम् । तेन तदसम्भवे अपक्वेनाप्यहविष्येणापि कर्त्तव्यमेवेति प्रागुक्तम् । अग्निहोत्रदेवताभ्य इति । अग्निहोत्रे अव्यभिचारिण्यो या देवताः सूर्यप्रजापत्यग्निप्रजापतिरूपास्तासां प्रापकाणां सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्येवमादीनां वाक्यानां विनियोगः । अत्र प्रातः सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति, सायं चाग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति । सोमाय वनस्पतये इत्येकाहुतिः । सोमो वनस्पतिरिति अन्यत्र वनस्पतेर्गुणत्वदर्शनात् । ब्रह्मणे इत्यन्तो देवयज्ञः । स्वाहेत्यथ बलिहरणमित्यत्र स्वाहाकारवचनं यजेति प्रैषोत्तरकालविहिते यागे वषट्कारस्तद्रहिते स्वाहाकार इत्यन्यत एव बलिहरणेऽपि स्वाहाकारप्राप्तेः अन्यत्र चैत्ययज्ञादौ स्वाहाकारो न भवति अपितु नमःशब्द एवेति

ज्ञापनार्थम्। अथशब्दो देवयज्ञानन्तर्यार्थः। तथाच कर्मान्तरत्वेऽप्यन्यकाले न भवति। एताभ्य उक्ताभ्यः सूर्यादिदेवताभ्यः चकारात् वक्ष्यमाणाभ्यश्च बलिहरणं कुर्यात्। एवकारः पुनरर्थे। तत्रायं क्रमः। भूमौ प्राक्संस्थां पङ्क्तिं करोति सूर्याय स्वाहेत्यादिदशभिर्मध्ये अन्तराले त्यक्त्वा अद्भ्यः स्वाहेति पञ्चभिः। गृहदेवताभ्यो वास्तुदेवताभ्य इति मन्त्रद्वयविधानम्। इन्द्रायेत्यादि अन्तरालदेशे प्रतिदिशं बलिदानम्। दिग्ग्रहणेन चतस्र एव दिशो गृह्यन्ते। यत्रैव प्रधानदेवतास्तत्रैव तासाम् उत्तरतः पुरुषेभ्यो बलिं हरेत्। मध्ये देवतानां मध्ये पूर्वोक्तान्तराले, ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्यः विश्वेभ्योदेवेभ्यः सर्वेभ्योभूतेभ्यः दिवाचारिभ्य इति स्वाहान्ताः पञ्च बलयः कार्याः। सायंवैश्वदेवे नक्तंचारिभ्य इति पञ्चमो बलिः। दिवाग्रहणं तु वैश्वदेवस्य दिवा प्रारम्भज्ञापनार्थम्। अन्यथा सायम्प्रातरित्युपक्रमात्सायमारम्भः स्यात्। अग्निहोत्रवत्। रक्षोभ्य इत्युत्तरतः, सर्वासां देवतानाम्। स्वधा पितृभ्य इति। अत्र प्राचीनावीतग्रहणं, श्रौतसूत्रे यज्ञोपवीतशौचे चेति यत्र प्राचीनावीतित्वं निवीतित्वं वा आचार्येण न विहितं तत्र यज्ञोपवीतित्वं प्राप्तम्, अतः प्राचीनावीतित्वविधानार्थम्। निनयेदिति तु बलिहरणात्क्रियान्तरत्वज्ञापनार्थम्। एवं च बलिहरणवत्स्वाहाकारो न भवति। अन्यथा प्रदानार्थत्वेन एककार्यकारिणोरपि स्वधानमःशब्दयोः पिण्डपितृयज्ञे समुच्चयदर्शनादत्रापि स्वाहास्वधाकारयोः समुच्चयः स्यात्। एतस्याश्च क्रियायाः स्वधाकारश्रवणेन पितृयज्ञत्वात्। अनयैव च पितृयज्ञस्य कृतत्वात्। नान्वहं पितृयज्ञार्थं ब्राह्मणभोजनं कर्त्तव्यम्। शेषग्रहणाद्बलिहरणानन्तरमेवेदं कार्यम्। अन्यथा कर्मान्तरत्वात्कालान्तरेऽपि स्यात्। दक्षिणा दक्षिणस्यां, सर्वबलिहरणस्य दक्षिणदेश इत्यर्थः। इदं च वैश्वदेवं न गृह्याग्नावेवेति

नियमः । विवाहात्पूर्वमपि विभक्तस्याग्निसंस्कारार्थतया ।

कुर्वीत स्नातकश्चेदं पृथक्पाकी भवेद्यदि ।

इति शौनकवचनेन प्राप्तत्वात् । विवाहोत्तरकालमपि—

यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तत्र होमो विधीयते ।

इत्यङ्गिरोवचनात् । यस्मिन्नेवाग्नौ पाकं तस्मिन्नेव वैश्वदेवं कर्त्तव्यमिति नियमः । इति वृत्त्यनुसारिणी व्याख्या ॥

## अथ कात्यायनोक्तवैश्वदेवप्रयोगः ।

तत्र वाजसनेयिगृह्यम्,

वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात् ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतयइति, भूतगृह्येभ्यो मणिके त्रीन् पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै, धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः, प्रतिदिशं वायवे दिशां च, मध्ये त्रीन् ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय, विश्वेभ्योदेवेभ्यो विश्वेभ्योभूतेभ्यस्तेषामुत्तरत उषसे भूतानां च पतये ऽपरं, पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः, पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेत् यक्ष्मैतत्तइति ॥

अस्यार्थः । वैश्वदेवादिति अन्नव्यपदेशो विश्वदेवदेवताकबलिसम्बन्धात् । यद्यपि अन्यासामपि देवतानां बलिसम्बन्धोऽस्ति अथाप्येकदेशेन व्यवहारः । यथा चातुर्मास्येषु वैश्वदेवपर्वणि सत्यप्यग्न्यादीनां देवतात्वे एकदेशे विश्वदेवसम्बन्धात् वैश्वदेवव्यवहारः तद्वत् । अन्नात्, गृहीत्वेति शेषः । पर्युक्ष्य, अग्निमिति शेषः । विष्ण्वादिस्मृतिषु दर्शनात् पर्युक्षणस्य । स्वाहाकारस्य च होमसामान्यधर्मतयोक्तस्यापि पुनरुपादानम् "एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम" इत्यन्तग्रन्थकथितेतरसामान्यधर्मनिषेधार्थम्। ब्रह्मणइत्यादिना होमदेवतानां निर्देशः।अनुमतयइति इतिकारो होमसमाप्त्यर्थः। भूतगृह्येभ्य इत्यस्य विवरणं पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्याइति। त्रीन्,

बलीनिति शेषः। तेन पर्जन्यादिपदेनैव पर्जन्याय नम इत्यादि-प्रत्येकं बलिदानमिति सिध्यति। अत्र नमःपदेन सागस्तु छन्दोगपरिशिष्टवाक्यात्। यथा—

अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते। इति।

द्वार्ययोः द्वारदक्षिणवामप्रदेशयोः धात्रे विधात्रे च बलिदानम्। प्रतिदिशं वायवइति। गृहस्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरासु वायवे बलि-चतुष्टयं दद्यादित्यर्थः। दिशाश्चेति चकारात् प्रतिदिशमिति सम्बध्यते। प्राच्यादिचतुर्दिक्षु प्राच्यादिदिग्भ्यो बलिं दद्यादित्यर्थः। गृहमध्ये ब्रह्मणइत्यादि बलित्रयम्। तेषां ब्रह्मादिबलीनामुत्तरतः उत्तरस्यां दिशि विश्वेभ्योदेवेभ्यो विश्वेभ्योभूतेभ्यश्च बलिदानम्। अपरम् अन्तिमं, तेन विश्वदेवादिबलेरुत्तरत उषसे भूतानां पतये च बलिदानम्। उत्तरापरा वायवी दिक् ॥

अत्र केचित्। अत्र मणिके त्रीनिति श्रवणान्निरग्नेश्च मणिकाभावात्साग्नेरेव वाजसनेयिनोऽयं प्रयोगः। निरग्नेस्तु—

अग्न्यादिर्गौतमेनोक्तो होमः शाकल एवच।
अनाहिताग्नेरेवैष युज्यते बलिभिः सह ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवाक्येन,

अन्नं व्याहृतिभिर्हुत्वा तथा मन्त्रैश्च शाकलैः।
भूतेभ्यश्च बलिं दत्त्वा ततोऽश्नीयादनग्निकः ॥

इति अग्निपुराणवाक्येन,

अनग्निकस्तु यो विप्रो ह्यन्नं व्याहृतिभिः स्वयम्।
हुत्वा शाकलहोमैश्च शिष्टात् भूतबलिं हरेत् ॥

इति वसिष्ठवाक्येन च विहितवैश्वदेवानुष्ठानमिति वदन्ति।

अन्ये तु—

स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं तु यः।

कर्त्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य चेष्टितम् ॥
इति छन्दोगपरिशिष्टीयसामान्यवाक्यात्,
वैश्वदेवं तु कुर्वीत स्वशाखाविहितं ततः ।

इति व्यासीयविशेषवाक्याच्च स्वशाखोक्तं विहाय परोक्तानुष्ठानस्यानौचित्येन स्वशाखोक्तमेवानुष्ठेयम्। मणिकपदं चोदकुम्भमात्रपरं न तु संस्कृतोदकुम्भपरम्। अत एव मुन्यन्तरेणापि उदकुम्भमात्रमभिहितम्। यथा अद्भ्य उदकुम्भे इति गौतमः। उदधानसन्निधौ नवमेनेत्यापस्तम्बः। छदोगपरिशिष्टवाक्यं तु छन्दोगविषयकम् । तत्संवादादग्निपुराणादिवाक्यमपि तत्परमेव इत्याहुः ।

### अथ छन्दोगपरिशिष्टोक्तप्रयोगः ।

सायम्प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च ।
अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥
अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते ।
बलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः कृतो यतः ॥
स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम् ।
स्वधाकारः पितॄणां तु हन्तकारो नृणां यतः ॥
स्वधाकारेण निर्वपेत् पित्र्ये बलिमतः सदा ।
तमप्येके नमस्कारैः कुर्वते नेति गौतमः ॥

नचात्वराध्या बलयो भवन्ति महामार्जारश्रवणप्रमाणात्। एकत्र चेत् कृत्स्ना भवन्तीतरेतरमसंसक्ताश्च । अथ तद्विन्यासो वृद्धिपिण्डानिवोत्तरोत्तरांश्चतुरो बलीन्निदध्यात् पृथिव्यै वायवे विश्वेभ्योदेवेभ्यः प्रजापतयइति । सव्यत एतेषामैकैकस्यैकैकमद्भ्य ओषधिवनस्पतिभ्य आकाशाय कामायेति । एतेषामपि मन्यवइन्द्राय वासुकये ब्रह्मणइति । एतेषामपि रक्षोजनेभ्य इति । सर्वेषां दक्षिणतः पितृभ्य इति । चतुर्दश नित्या आसत्यप्रभृतयः कम्याः।

सर्वेषामुभयतोऽद्भिः परिषेकः। पिण्डवच्च पश्चिमा प्रतिपत्तिः।

न स्यातां काम्यसामान्ये जुहोतिबलिकर्मणी।
पूर्वं नित्यविशेषोक्तं जुहोतिबलिकर्मणोः॥
काममन्ते भवेयातां न तु मध्ये कदाचन।
नैकस्मिन्कर्मणि तते कर्मान्यत्तायते यतः॥
अग्न्यादिर्गौतमेनोक्तो होमः शाकल एवच।
अनाहिताग्नेरेवैष युज्यते बलिभिः सह॥
स्पृष्ट्वाऽपो वीक्षमाणोऽग्निं कृताञ्जलिपुटस्ततः।
वामदेव्यजपात्पूर्वं प्रार्थयेत द्रविणोदसम्॥
आरोग्यमायुरैश्वर्यं धृतिं सत्त्वं बलं यशः।
तेजो वर्चः पशून् बीजं ब्रह्म ब्राह्मण्यमेवच॥
सौभाग्यं कर्मसिद्धिं च कुलज्यैष्ठ्यं सुकर्तृताम्।
सर्वमेतत्कर्मसाक्षिन् द्रविणोदो रिरीहि नः॥ इति।

अमुष्मै नम इति। इदं च बलिदानं वैश्वदेवानन्तरं बोध्यम्।

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात्तएव हि महामखाः॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवाक्यान्तरेऽनुक्रमादित्यनेन होमरूपदेवयज्ञानन्तरं बलिरूपभूतयज्ञाभिधानात्। याज्ञवल्क्येनापि—

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्।

इत्यनेन वैश्वदेवानन्तरमेव बलिराभिहितः। तत्प्रयोगस्तु सानीनामग्रे वक्ष्यते। गोभिलेनोक्तत्वान्नानेन नोक्तः। निरग्नेस्तु अन्यादिरित्यादिना स्वयं वक्ष्यते। अत्र बलिदाने यत्प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवति यद् द्वितीयं स वायव्यो यच्च तृतीयं स वैश्वदेव्यो यच्चतुर्थः स प्राजापत्य इति सूत्रेण तत्तद्देवतोद्देशेन बलिदानमुक्तं, मन्त्रस्तु नोक्तः, सोऽनेन प्रतिपाद्यते। नमस्कारः

कृतो यत इति। नमो ब्रह्मणइति वास्तुबलिप्रदानार्थं यतो गोभिलेन नमःशब्दरूपो मन्त्र उक्त इत्यर्थः। अत्र वास्तुबलौ नमो ब्रह्मणे इत्यत्र नमःशब्दस्य पूर्वदर्शनादत्रापि नमःशब्दस्य पूर्वनिपातेन नमः पृथिव्यै इत्यादिमन्त्रैर्बलिर्देय इति परिशिष्टप्रकाशः। वस्तुतस्तु अत्रामुष्मै नम इतिविशेषाभिधानाद्बहुनिबन्धेषु तथैव प्रयोगदर्शनाच्च पृथिव्यै नम इत्यादिरेव प्रयोग उचित इति। हेत्वन्तरमाह स्वाहाकारेत्यादि। पित्र्यबलिदानस्वधाकारे हेतुमाह स्वधाकार इत्यादि। बलीनां परिमाणमाह नचेति। अवराध्यर्याः अपकृष्टाः अल्पपरिमाणा इति यावत्। एकत्र चेदित्यादि। अथ बलीन् हरेद् बाह्यतो वाऽन्तर्वा सुभूमिं कृत्वेत्यनेन सूत्रेण अन्तर्वेत्यनेनाग्न्यगारमध्ये एकस्मिन्नेव स्थाने बलिदानमुक्तम्। तत्र यद्येकस्मिन् स्थाने बलयो दीयन्ते तदा वक्ष्यमाणविन्यासप्रकारेण परस्परमसंयुक्तबलयो देया इत्यर्थः। अथेत्यादि। एकत्र बलिदानपक्षे बलीनां विन्यास आरोपणप्रकारः, उच्यतइति शेषः। उत्तरोत्तरानुपर्युपरिक्रमेण चतुरश्चतुरो बलीन्निदध्यात्। वृद्धिपिण्डानिवेत्यनेन पुञ्जीभावेन नोत्तरोत्तरता किं तु पङ्क्तिक्रमेणेत्युक्तम्। बलीनां मन्त्रानाह पृथिव्याइत्यादि। नमःप्रयोगस्तु अमुष्मै नम इत्यादिना प्रागेवोक्तः। सव्यत एतेषामिति। एतेषां चतुर्णां वामतः स्वदक्षिणतः। नमोऽद्भ्य इत्यादिमन्त्रैरपरं बलिचतुष्कं दद्याद् इति परिशिष्टप्रकाशः। एकैकस्यैकैकमित्यनेन पृथिव्याः सव्यतोऽद्भ्यः वायोः सव्यत ओषधिवनस्पतिभ्य इत्यादि ज्ञेयम्। एवमग्रेऽपि एतेषामपीति। सव्यत इति शेषः। एवमग्रेऽपि। सर्वेषामिति। सर्वबलिदक्षिणतः स्ववामतः स्वधान्तेन पितृभ्य इति मन्त्रेण पित्र्यबलिं दद्यादित्यर्थः। स्वधान्तता च स्वधाकारेण निवपेदित्यादिना प्रागेवोक्ता। अत्र सकृदपो निनीय चतुर्दा बलिं निदध्यात्

सकृदन्ततः परिषिञ्चेदिति सूत्रात्सकृदपो निनीय तदुपरि चतुरो बलीन् दत्त्वा तदुपरि सकृत्सेकः कार्य इति क्रमः। अत्र च सूत्रे बलिमित्येकवचनाच्चतुर्धेति वचनाच्च बलिचतुष्टययोग्यमन्नं सकृद् गृहीत्वा चतुर्षु स्थानेषु निदध्यादिति गोभिलभाष्यम्।

अत्र प्रकारान्तरमपि गोभिलेनोक्तम्।

एकैकं वाऽनुविधानमुभयतः परिषिञ्चेदिति। अनेन च सूत्रेण एकैकस्य बलिनिधानस्याव्यवधानेन पूर्वं परतश्च सेकोऽभिहितः। स च सकृदन्नग्रहणे न सम्भवतीति प्रत्येकमेवान्नग्रहणमस्मिन् कल्पे। एतइत्यादि। एते पृथिव्यादिदैवतचतुर्दशबलयोऽहरहरवश्यं देयाः। आमस्यप्रभृतयस्तु काम्याः। आमस्यबलिस्तु यवेभ्योऽध्या-व्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः स त्वामस्यो नाम बलिर्भवति इति सूत्रकृतोक्तः। तदर्थस्तु यवसस्यपाकादारभ्य व्रीहिसस्यपाकपर्यन्तं यवैर्यवदेवताको बलिर्देयः। एवं व्रीहिसस्यपाकादारभ्य यवसस्यपाकपर्यन्तं व्रीहिभिर्व्रीहिदेवताको बलिर्देयः इति। इदं च बलिद्वयम् आमस्यसंज्ञं भवति इत्यर्थः। मन्त्रस्तु यवेभ्यो नमो व्रीहिभ्यो नम इति। इदं च बलिद्वयं प्रतिनिधिना न देयम्। स्वयं त्वेवामस्यं बलिं हरेदिति गोभिलसूत्रात्। प्रभृतिग्रहणाच्च यक्ष्मबलेः सायंकालीनरौद्रबलेश्च ग्रहणम्। तथाच गृह्यान्तरं,

यक्ष्मणे चोदकं दद्याद्यक्ष्मैतत्तइति ब्रुवन्।

आरोग्यमस्य तेन स्यात्सायं रौद्राद्यथेप्सितम्॥ इति।

रौद्रबलिश्च कणभक्तमण्डाद्भिरसितस्त्रिभिर्देय इत्यग्रे वक्ष्यते। सर्वेषामिति। सर्वेषां पार्थिवादिरौद्रान्तबलीनामुभयत आदावन्ते च। परिषेकश्च सकृत्प्रसेकं वेति प्रागुक्तम्। पिण्डवच्चेति। अस्यार्थः। देवतोद्देशेन त्यक्तानां बलीनां भूमौ निधानेन प्रथमा प्रतिपत्तिः। पित्रुद्देशेन त्यक्तानां पिण्डानामपि स्तरणनिधानेन प्रथमा प्रतिपत्तिः।

पश्चिमा तु—

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥

इति मनूक्ता, तद्वद्बलीनामपीति । न स्यातामिति । यच्च सामान्यं पुराणाद्युक्तं होमकर्म बलिकर्म वा तद्द्वयमपि नित्यस्यावश्यकस्य विशिष्योक्तस्य स्वशाखोक्तस्य होमकर्मणो बलिकर्मणश्च पूर्वं न भवेदित्यर्थः । तर्हि कदा भवतीत्यत्राह । काममिति। काममित्यनेन तयोरनावश्यकत्वमुक्तम् । अग्न्यादिरित्यादि । अग्नावग्निरित्यादिना गौतमेन होमा बलयश्चोक्ताः । गृह्यान्तरे काष्ठशाकलैरष्टभिर्देवकृतस्यैनस इत्यादिभिरष्टाभिर्मन्त्रैर्होमा उक्ता इत्यतो-देवकृतस्यैनस इत्यादयोऽष्टौ मन्त्राः शाकलाः । तत्करणको होमः शाकलहोमः ।इदं द्वयमपि अनाहिताग्नेरेव। आहिताग्नेस्तु प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरेति गोभिलोक्तमाहुतिद्वयं पार्थिवाद्याश्चतुर्दश बलय इत्येतावन्मात्रमिति । अत्र बलिभिः सहेत्यनेन गौतमकल्पे बलीनां प्राप्तत्वाच्छाकलकल्प एव बलीनां विधेत । ते च बलयोऽनुपदं स्वोक्ताः पार्थिवादयश्चतुर्दशैव । अन्नमित्यादिवाक्यं तु प्रयोगान्तरविधायकमिति केचित् । बहवस्तु—

अन्नं व्याहृतिभिर्हुत्वा तथा मन्त्रैश्च शाकलैः ।
भूतेभ्यश्च बलिं दत्त्वा ततोऽश्नीयादनग्निकः ॥

इति प्रणवपरिशिष्टवाक्ये,

अन्नं व्याहृतिभिः पूर्वं हुत्वा मन्त्रैश्च शाकलैः ।
भूतेभ्यश्च बलिं दत्त्वा ततोऽश्नीयादनग्निकः ॥

इति अग्निपुराणवाक्ये च भूतेभ्यश्चेति चकारादादौ भूतबलिः अन्ते पितृबलिः। तथाच सर्वेभ्यो देवेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यश्च बलिद्वयं पितृभ्यः स्वधेति पित्र्यविधिना अन्ते एकबलिरिति वच-

नस्वरससिद्धम् आचारप्राप्तं बलित्रयं बलिभिः सहेत्यनेन विधत्ते न तु पार्थिवादिचतुर्दशबलीन्स्वोक्तानपि। तस्य साग्निकर्त्तव्यप्रयोगान्तरावरुद्धत्वात्। एवं च अग्नमित्यादिवाक्यस्वरसात्पूर्वं व्यस्तसमस्तव्याहृतिभिश्चत्वारो होमाः, ततः शाकलैरष्टभिर्मन्त्रैरष्टौ होमाः, ततश्चाचारप्राप्ता अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्येकाहुतिरिति त्रयोदशाहुतयो बलयश्च प्रागुक्तास्त्रय इत्याहुः। एवं च गौतमशाकलकल्पौ परस्परनिरपेक्षौ विकल्पेनानुष्ठेयौ। परस्परनिरपेक्षतया गौतमेन अग्निपुराणादिना च विभिन्नकल्पाभिधानात्। नच अग्न्यादिरित्यादिवाक्ये शाकल एवचेत्यत्र समुच्चयार्थकचकारानुपपत्तिः। अनाहिताग्नेरित्यनेनोपस्थिते अनाहिताग्निप्रबन्धे उभयोः समुच्चयत्वात्। नत्वनुष्ठाने। तद्बोधकशब्दाश्रवणात्। बहूनामाचारोऽप्येवम्।

अन्येतु छन्दोगगौतमोक्तत्वाद्गौतमोक्तबलिसमेतो गौतमोक्तहोमः साग्निनिरग्निसाधारणश्छन्दोगानां पृथक्कल्पोऽस्तु अग्निपुराणाद्युक्तकल्पस्तु निरग्निशाखान्तरीयः। अयं च परिशिष्टोक्तो निरग्नेश्छन्दोगस्यापरः कल्पः। तथैव तद्वचनात्प्रतीतेः। तथाहि। गौतमोक्तो योऽग्न्यादिहोमस्तदुक्तबलिशून्यो यश्च शाकलमन्त्रकरणकोऽष्टाहुत्यात्मको होमस्तदुभयमपि पार्थिवादिचतुर्दशबलिसहितमनाहिताग्नेरित्यग्न्यादिरित्यादिवचनस्यार्थः। अतएव मिलित्वा एककल्पाभिप्रायेण एष इत्येकवचनम्। अन्यथा एताविति ब्रूयादित्याहुः।

गौतमकल्पो यथा,

अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वेदेवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमाः॥

दिग्देवताभ्यश्च यथास्वं द्वारि मरुद्भ्यो गृहदेवताभ्यः प्रविश्य ब्रह्मणे मध्येऽद्भ्य उदकुम्भआकाशायान्तरिक्षे नक्तञ्चरेभ्यः

सायमिति ।

अग्नाविति विभिष्योपादानादत्र कल्पे लौकिके वैदिकेऽपीत्यादिना शातातपोक्तजलाशित्यादिव्याप्तिः । स्विष्टकृतश्चाग्निविशेषणत्वेन देवतात्वम् । अन्यत्र तथा दर्शनात् । इतिकारेण होमसमाप्तिः सूचिता । होमा इति बहुवचनात्प्रत्येकमेव देवतात्वम् । दिग्देवताभ्यश्चेत्यादिषु बलिपदाभावेऽपि होमानन्तरं स्मृत्यन्तरे बलीनां दर्शनादेते बलय इत्यवगम्यते । दिग्देवताश्च इन्द्रयमवरुणसोमाः । चकारात्तदीयपुरुषाश्च ग्राह्याः । यथास्वमित्यनेन यस्या दिग्देवताया या दिक् तस्यां तस्यै तत्पुरुषेभ्यश्च बलिर्देय इति सिध्यति । अन्यत्र तथा दर्शनात् ।

यथा मनुः,

एवं सम्यग् हविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥

विष्णुरपि,

इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्य इति पूर्वार्द्धे यमाय यमपुरुषेभ्य इति दक्षिणार्द्धे इत्यादि ।

अत्र दशभ्यो दिग्देवताभ्य इति गौतमभाष्यमनादेयम् । अन्यत्र कुत्रापि तथाऽदर्शनात् । प्रविश्य, गृहमिति शेषः । उदकुम्भे कुम्भस्थजले । क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपीति मनौ तथा दर्शनात् । नक्तंचरेभ्य इति सायमधिकम् । पितृबलिस्तु गौतमानुक्तोऽपि ग्राह्यः ।

स्वधाकारेण निनयेत्पित्र्यं बलिमतः सदा ।
तमप्येके नमस्कारैः कुर्वते नेति गौतमः ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टवाक्ये गौतमेन तत्र नमस्कारमात्रनिषेधाद्बलौ तत्सम्मतिप्रतीतेरिति वदन्ति । शाकलकल्पश्च समन्त्रकः काशीखण्डे स्पष्टः । यथा,

भूराद्या व्याहृतीस्तिस्रः स्वाहान्ताः प्रणवादिकाः।
भूर्भुवः स्वः स्वाहेति च विप्रो दद्यात्तथाऽऽहुतिम् ॥
तथा देवकृतस्याद्या होतव्याश्चाहुतीः पृथक्।
दद्यादाहुतिमेकां च तथा स्विष्टकृदग्नये ॥
विश्वेभ्यश्चैवदेवेभ्यो भूमौ दद्यात्तथा बलिम्।
सर्वेभ्यश्चापिभूतेभ्यो नमो दद्यात्तथैवच।
तद्दक्षिणे पितृभ्यश्च प्राचीनावीतमाहरेत्।
निर्णेजनोदकान्नेन ऐशान्यां यक्ष्मणेऽर्पयेत् ॥ इति।

मन्त्राश्च, देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा १ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा २ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा ३ अस्मत्कृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा ४ यद्दिवाच नक्तंचैनश्चकृम तस्यावयजनमसि स्वाहा ५ यत्स्वपन्तश्च जाग्रतश्चैनश्चकृम तस्यावयजनमसि स्वाहा ६ यद्विद्वांसश्चाविद्वांसश्चैनश्चकृम तस्यावयजनमसि स्वाहा ७ एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा ८ इति।

स्पृष्ट्वाऽपइति।

वामदेव्यं गणस्यान्ते बल्यन्ते वैश्वदेविके।

इत्यनेन स्वयमेव बल्यन्ते कयानश्चित्रेत्यादिमन्त्रगानरूपं वामदेव्यगानमुक्तम्। तत्पूर्वं बल्यनन्तरमग्निं वक्ष्यमाणमन्त्रेण प्रार्थयेत्। द्रविणदामित्यर्थे द्रविणोदसमिति तच्छान्दसम्। रिरीहि देहि। प्रार्थनीयप्रकाशकं मन्त्रमाह आयुरित्यादि। तेजोऽधृष्यता। वर्चः शारीरकान्तिः। बीजं धान्यादि। ब्रह्म वेदः। ब्राह्मण्यं ब्राह्मणकर्मकर्तृत्वम्। सुकर्तृता शोभनकर्मकर्तृत्वम्।

गोभिलः,

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत्।

सायमश्यतइति सायमाशः। प्रातरश्यतइति प्रातराशः।

तस्मिन्सायमाशप्रातराशे, द्वन्द्वैकवद्भावोऽयम् । निःशेषे व्यञ्जनोपसेवनादिसहिते सिद्धे स्थिते सति, गृहपतिः पत्नीं भूतमिति प्रवाचयेत् । कथमित्याकाङ्क्षायामाह,

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा ।

ऋते गते ऋगतावित्यस्य निष्ठान्तं रूपम् । होमार्थमग्निसन्निधौ प्रकृतत्वादन्ने गते आसादितइत्यर्थः । भगया भजनीयया सेवनीययेति पूर्वान्वयि। शुचिर्भूत्वेत्येतस्य पत्न्या सह सम्बन्धः । अनेन पत्न्या आचमनमुक्तम् । गृहपतेस्तु "उदगग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेद् द्विः परिमृजेत्" इत्यनेन अग्निसाध्यं कर्म कुर्वतः कर्माङ्गतया शौचार्थतया चाचमनमुक्तम् । गृहपतिना भूतमिति ब्रूहीत्युक्ते पत्नी शुचिर्भूत्वा भूतमिति ब्रूयात् । पत्न्या असन्निधाने छन्दोगपरिशिष्टे उक्तम्,

भूतप्रवाचने पत्नी यद्यसन्निहिता भवेत् ।
रजोरोगादिना तत्र कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥
महानसेऽन्नं या कुर्यात्सवर्णा तां प्रवाचयेत् ।
प्रणवाद्यपिवा कुर्यात्कात्यायनवचो यथा ॥

रजसा रोगादिना वा पत्न्या असन्निधाने या सवर्णा भ्रातृजायादिरन्नं साधयेत् तां भूतमिति प्रवाचयेत् । भूतमिति वक्तुमसमर्था अनुमतिसूचकं प्रणवं वा बाढमिति प्रयोगं वा कुर्यादित्यर्थः । पत्न्या अन्यया वा सवर्णया भूतमिति प्रत्युक्ते—

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मै नमस्तन्माक्षायीत्युपांशु ।

ओमिति उच्चैः प्रतिजपति गृहपतिः तस्मै नम इत्यादि उपांशु जपति ।

अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात्तूष्णीं पाणिनैवेति ।

हविष्यं यवादि अन्नस्य अदनयोग्यस्य न कीटादिदोषदुष्टस्य अवयवं गृहीत्वा पाणिना जुहुयात् । कुतः,

होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः ।
पाणिनैवेतरस्मिंश्च स्रुचा चात्र न हूयते ॥

उभयविधेऽपि द्रव्येऽनादेशे स्रुचा होमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । पाणिनैवेति स्रुवादिहोमपात्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरेति ।

प्रजापतये स्वाहेति पूर्वाहुतिः अग्नयेस्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरा ।

प्राजापत्यां मनसा जुहोतीति वचनान्मनसा प्रजापतये स्वाहेति मन्त्रमुच्चार्य जुहुयात् । अग्नौ जुहुयादिति पुनरग्निग्रहणं सुसमिद्धेऽग्नौ होतव्यमित्येवमर्थम् ।

तथाचोक्तम्,

योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः ।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्च स जायते ॥
तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कदाचन ।
आरोग्यमिच्छताऽऽयुश्च श्रियमात्यन्तिकीं तथा ॥

अथ बलीन् हरेद्बाह्यतो वाऽन्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ।

अथेति पूर्वप्रकृतार्थः । तेनैव पूर्वप्रकृतेन हुतशेषेणान्नेन बलीन् हरेत् । बाह्यतो वा अग्न्यगाराद्बहिर्निष्क्रम्य यो यस्मिन्प्रदेशे बलिरुक्तस्तं तत्रैव निदध्यात् । अन्तर्वाऽग्न्यगारमध्ये वैकस्मिन्प्रदेशे सर्वान्बलीन् हरेदिति । सुभूमिंकृत्वेति । संमार्जनप्रोक्षणोपेलपादीनामन्यतमेन प्रकारेण शोभनां भूमिं कृत्वा ।

सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात् सकृदन्ततः परिषिञ्चेत् ।

सकृदेकवारम् उदकं निनीय निषिच्य बलिं निदध्यात् ।

बलिचतुष्टयमात्रस्य सकृद् गृहीत्वा चतुर्षु स्थानेषु निदध्यात्। बलिमित्येकवचनाच्चतुर्धेति वचनाच्च। तान्यथानिहितान्बली न्सकृदन्तत उपरिष्टात्परिषिञ्चेदिति।

एकैकं वाऽनुनिधानमुभयतः परिषिञ्चेत्।

एकैकं वा बलिमुभयतः पुरस्तादुपरिष्टाच्च परिषिञ्चेदिति। कथं परिषिञ्चेदिति। तत्राह अनुनिधानम्। प्रत्येकं निहितान्बली- न्प्रत्येकमेवोभयतः परिषिञ्चेदिति।

प्राक्संस्थाश्चैते बलयो भवन्ति अथ तद्विन्यासो वृद्धिपिंडा- निवोत्तरोत्तरांश्चतुरो बलीन्निदध्यादिति वचनात्। स यत्प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ द्वितीयं स वायव्योऽथ तृतीयं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः।

स यजमानो यत्प्रथममन्नदानं निदधाति स पार्थिवः पृथिवीदेव- ताको बलिर्भवति। एवं सर्वत्र। तथाच पृथिव्यै नम इति नमस्का- रान्तो बलिमन्त्रः।

तथाचोक्तं,

अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते।
बलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः कृतो यतः॥ इति।

प्रयोगस्तु पृथिव्यै नमः। वायवे नमः। विश्वेभ्योदेवेभ्यो- नमः। प्रजापतये नमः। अनिरुक्तं हि प्राजापत्यमिति वचनान्मा- नसः प्राजापत्यो बलिरिति।

अथापरान्बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्यान्देवतः प्रथमो बलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्यो द्वितीय आकाशाय तृतीयः।

यथा पूर्वबलिषूभयतः परिषेक एवं सर्वबलिषु। "उदकं य- स्मिन्धीयते तदुदधानं मणिक इत्यर्थः। षष्ठी सामीप्ये एवमग्रेऽ पि" इत्येतद्भाष्यम्। मध्यमस्य गृहमध्यस्य द्वारस्य च समीपे। तत्र

बलिर्भवति मन्यवे वा।

वाशब्दचतुष्टयं चशब्दार्थे द्रष्टव्यम्। अपरं बलिमित्येकवचना-ऽस्थानद्वयनिर्देशाच्च बलिद्वयमात्रं सकृद्गृहीतं द्विधा निदध्यात्। द्वितीया प्रतिशब्दाध्याहारार्था, शयनं प्रतीति। शयनं प्रसिद्धम्। अधिवर्चः मूत्रोच्चारप्रदेशस्तं प्रति। शयनं प्रति कामाय भवति, अधिवर्चं प्रति मन्यवे।

अन्ये तु वाशब्दान्विकल्पार्थानाहुः। एक एव शयनं वा प्रति देयोऽधिवर्चं वा। स च कामदेवत्यो वा भवति मन्युदेवत्यो वा।

अपरे तु विनिवेशमाहुः। शयनं प्रति कामाय रात्रौ, अधिवर्चं उदधानसमीपे यः सोऽद्भ्यः, गृहमध्यस्य समीपे यः स ओष-धिवनस्पतिभ्यो, द्वारस्य समीपे यः स आकाशाय।

अथापरं बलिं हरेत् शयनं वाऽधिवर्चं वा स कामाय वा प्रति अहनि मन्यवइति। तदेतदुभयमपि न युक्तम्। कुतः, अथ ताद्भ्यास इत्यादिना बलिद्वयस्यापि सायम्प्रातर्विधानात्। सर्वेषां दक्षिणतः पितृभ्य इति चतुर्दश नित्या इति संख्यावचनस्यार्थव-त्त्वाच्च।

अथ समूपं स रक्षोजनेभ्यः।

अथशब्दो विशिष्टमानन्तर्यं द्योतयति। प्रागुर्ध्वावाचीभ्यो ऽहरहर्नित्यप्रयोग इत्यतिदेशमाप्तं बलित्रयं दत्वा अथानन्तरं रक्षोज-नेभ्यो दद्यादिति। कुतः, ग्रन्थान्तरेऽप्येवमेव एतेषां विधानात्। एषामपि मन्यवइन्द्राय वासुकये ब्रह्मणइति। एवं च तन्त्रोक्त एव क्रमो द्रष्टव्यः। ततश्चैकत्र प्राक्संस्थाश्चैते बलयो भवन्तीतिवत् प्राक्संस्थास्त्रयो बलयो देयाः। प्रयोगस्तु इन्द्राय नमः वासुकये नमः ब्रह्मणे नमः। समूपः संमार्जनरेणुः। तं प्रति बलिर्निधेयः। स बलिः रक्षोजनेभ्यो भवति। प्रयोगस्तु रक्षोजनेभ्यो नम इति।

ततो बलिशेषं पितृतीर्थेन प्राचीनावीती दक्षिणस्यां दिशि दद्यात् पितृभ्यः स्वधेति ॥

पित्र्यत्वादन्ते स्वधाकारः स्यान्न नमस्कार इति प्रागेवोक्तम् । एकस्मिन्प्रदेशे सर्वबलिदानप्रकारस्तु छन्दोगपरिशिष्टे दर्शितः । स च प्राग्दर्शितः ॥

अथाप्युदाहरन्त्येतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रुवीत भवति हैवास्यात् ॥

एतस्यैव नित्यस्य बलिहरणस्य न काम्यस्य । अन्ते अवसाने कामम् अभीष्टं वस्तु प्रब्रुवीत प्रकर्षेण ब्रुवीत वाचा प्रार्थयेन्न मनसैवेति । काममित्येकवचनादेकस्मिन्काले न बहून्कामान्प्रब्रुवीतेत्यर्थः । एतच्च प्रार्थनं वामदेव्यजपात्पूर्वं भवति । कर्मप्रदीपोक्तमन्त्रजपस्याप्यत्रैव विधानात् ।

स्पृष्ट्वाऽपो वीक्षमाणोऽग्निं कृताञ्जलिपुटस्ततः ।
वामदेव्यजपात्पूर्वं प्रार्थयेत् द्रविणोदसम् ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यं धीर्धृतिः शं बलं यशः ।
ओजो वर्चः पशून्वीर्यं ब्रह्म ब्राह्मण्यमेवच ॥
सौभाग्यं कर्मसिद्धिं च कुलज्यैष्ठ्यं सुकर्तृताम् ।
सर्वमेतत्सर्वसाक्षिन्द्रविणोदो रिरीहि नः ॥ इति ।

एतच्चोभयमपि काम्यत्वादिच्छया स्यान्न तु नियमेन।

स्वयंत्वेवासस्यं बलिं हरेद्यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः स त्वासस्यो नाम बलिर्भवति दीर्घायुर्भवति स्वयमेवासस्यं नाम बलिं हरेत् प्रवासादावपि नान्येन हारयेत् रौः च वक्ष्यमाणं स्वयमेव हरेदिति ।

यवेभ्य इति चतुर्थीनिर्देशाद्देवतान्तरानुपदेशाच्च यवदेवत्योऽयं बलिः । एवं व्रीहिदेवत्योऽपि ।

यवेभ्यो यवेभ्य आवापो व्रीह्युत्पत्तेरथो बलिः ।
व्रीहिभ्यो व्रीहिभिः पूर्वं यवोत्पत्तेर्जिजीविषोः ॥

इति गृह्यान्तरवचनाच्च । एवं च यवान्नेन यवेभ्यो नम इति, एवं व्रीह्यन्नेन व्रीहिभ्यो नम इति बलिं हरेत् । अयं च बलिरासस्यो नाम भवति । तुशब्दः सुभूमिकरणोभयतःपरिषेकस्मरणार्थः । अस्माद् बलिदानाद्दीर्घायुर्भवति ।

विश्राणिते फलीकरणानामवस्रावस्यापामिति बलिं हरेत्स रौद्रो भवति ।

विविधं श्राणिते दत्ते, सर्वस्मिन्पाके क्षीणप्रायइत्यर्थः । एवं च रात्रावयं बलिर्भवति । फलीकरणानां कम्बुकानाम् ।

तदुक्तम्—

कम्बुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकुक्कुशाः । इति ।

अवस्रावस्य भक्तमण्डस्य । अपाम् उदकस्य । अवयवार्थे षष्ठी । त्रीण्येकीकृत्य बलिं हरेत् स रौद्रः रुद्रदेवताको भवति । रुद्राय नम इति प्रयोगः ।

## अथ आपस्तम्बोक्तः प्रयोगः ।

आर्याः प्रयता वैश्वदेवे अन्नसंस्कर्त्तारः स्युः । भाषां कासं क्षवथुमित्यभिमुखोऽन्नं वर्जयेत् । केशानङ्गं वासश्चालभ्याप उपस्पृशेत् । आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः अन्नसंस्कर्त्तारः स्युः । तेषां स एवाचमनकल्पोऽधिकमहरहः केशश्मश्रुलोमनखवापनम् । उदकोपस्पर्शनं च सह वाससा । अपि वाऽष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपेरन् । परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्रित्याद्भिः प्रोक्षेत् । तद्देवपवित्रमित्याचक्षते । सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रब्रूयात् । तत् सुभूतं विराडन्नं तन्मा क्षायीति प्रतिवचनम् । गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य होमा बलयश्च स्वर्गपुष्टिसंयुक्ताः । तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमधः

शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जनमुत्तमस्यैकरात्रमुपवासो बलीनां तस्य तस्य देशस्य संस्कारो हस्तेन परिमृज्यावोक्ष्य न्युप्य पश्चात्परिषेचनम्। औपासने पचने वा षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन जुहुयात्। उभयतः परिषेचनं यथा पुरस्तात् एवं बलीनां देशेदेशे समवेतानां सकृदन्ते परिषेचनम् । सति सूपसंसृष्टेन कार्याः । अपरेणाग्निं सप्तमाष्टमाभ्याम् उदगपवर्गम्, उदधानसन्निधौ नवमेन, मध्येऽगारस्य दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गम्, उत्तरपूर्वदेशेऽगारस्योत्तरैश्चतुर्भिः शय्यादेशे कामलिङ्गेन, देहल्याम् अन्तरिक्षलिङ्गेन, उत्तरेणापिधान्यम्, उत्तरैर्ब्रह्मसदने, दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिः कुर्यात् । रौद्र उत्तरतो यथादेवताभ्यः, तयोर्नानापरिषेचनं धर्मभेदात् । नक्तमेवोत्तमेन वैहायसम् । य एतान्यव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यं स्वर्गः पुष्टिश्च ।

वैश्वदेवस्य पाकसाध्यत्वात्प्रथमतस्तावत् पाकधर्माना आर्या इत्यादिना। आर्यास्त्रैवर्णिकाः। शूद्राणां पृथक् परिभाषणात् प्रयताः शुचयः । वैश्वदेवे वैश्वदेवसम्बन्धिनि गृहस्थस्य भोजनार्थे पाके। अशनीयस्यैव वैश्वदेवविधानात्। कल्पतरौ तु वैश्वदेवे कर्मणि अन्नं संस्कुर्युरिति व्याख्यानात् पाकधर्माणां वैश्वदेवार्थत्वमभ्यनुज्ञातम्। भाषा शब्दोच्चारणम्। कासो घुर्घुरस्वरः। क्षवथुः छिक्का अभिमुखोऽन्नं वर्जयेत् भाषादिकम् अन्नाभिमुखो वर्जयेत् इत्यर्थः संस्कर्त्तारः स्युरिति बहुवचने प्रकृते वर्जयेदित्येकवचनं प्रत्येकमुपदेशार्थम्। केशाङ्गवाससां प्रपतानामपि स्पर्शे चोदकोपस्पर्शं कुर्यात् । त्रैवर्णिकैरधिष्ठिताः अवेक्षिताः शूद्रा वा संस्कुर्युः शूद्रैश्च ब्राह्मणादिस्वामिके पाके क्रियमाणे यस्य ब्राह्मणादेः आचमनकल्पः स एव कर्त्तव्यः । शूद्रैश्चार्येभ्योऽधिकमहरहः केशादिवापनं कर्त्तव्यम्। सर्वैः परिहितैर्वासोभिः सहैव उदकोप

स्पर्शनं स्नानं शूद्राः कुर्युः। आर्याणां तु परिहितं वासो निधाय कौपीनाच्छादनमात्रेणापि स्नानं भवति। शूद्रस्यापि पाकादन्यत्र न वासोभिः सह स्नानमिति मनुना वस्त्रवद्धृतत्वस्य निषेधात्। अपिवाऽष्टमीषु पर्वसु वा वपेरन् इति। पर्व चात्र दर्शपूर्णमासौ मुख्यत्वात्। बहुवचनं तु अष्टमीष्विवेतिवत् व्यक्त्यभिप्रायम्। भार्या-वेक्षणासम्भवे च शूद्रेण पाके क्रियमाणे तदन्नम् आहृत्य स्वयम-ग्नावधिश्रित्याद्भिः प्रोक्षेत्। तद्देवपवित्रमित्याचक्षते इति। तद्दे-वेभ्योऽपि दीयमानं पवित्रं किं पुनर्मनुष्याणामित्यर्थः। पक्के चान्ने तिष्ठन्पाचकोऽन्नस्वामिने भूतमिति प्रब्रूयात्। तिष्ठन्निति च तच्छाखीयानाम्। अन्येषां तु गृह्ये विशेषानभिधानादासीनत्वमेवेति केचित्। तत्सुभूतमित्यादि च स्वामी प्रतिब्रूयात्। गृहमेधिनो यद-शनीयं तस्येति अभिधानाद्यदाऽनग्निपक्केन प्राणवृत्तिस्तदा तेनैव होमा बलयश्च कर्त्तव्याः। तेषां मन्त्राणामिति। तेषां होमबलीनां ये मन्त्रास्तेषामुपयोगे आद्यप्रयोगे कर्त्तव्ये पूर्वं द्वादशाहम् अधः शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्ज्जनाख्यं व्रतमित्यर्थः। स्वामित्वा-विशेषात्सपत्नीकः कुर्यादिति सुदर्शनभाष्यकारः। उज्ज्वलायां तु उपयोगे नियमपूर्वकविद्याग्रहणे उपयोक्तुरेव व्रतमित्युक्तम्। क्षा-रलवणम् उपरलवणमिति कल्पतरुः। उत्तमस्य वैहायसबलीं विनि-युक्तस्य ये भूताः प्रचरन्तीत्यस्य द्वादशरात्रानन्तरमुपवासोऽधिक इति कल्पतरुः। एवं व्रतं कृत्वा प्रशस्तेऽहनि वैश्वदेवारम्भः कार्यः। अत्र च बलिषु मार्जनावोक्षणयोर्देशभेदादेव भेदसिद्धेस्तस्य तस्येति वीप्सावचनम् एकदेशावस्थितानामपि पृथक् पृथक् मार्जनावोक्षणे कृत्वा बलिदानं कर्त्तव्यमित्येवमर्थम्। पाठक्रमादेव च परिषेचनस्य पश्चाद्भावे सिद्धे पश्चादिति ग्रहणं बल्युपरि गन्धमाल्यादिदानार्थ-मित्युज्ज्वलाकारः। होमप्रकारमाह औपासनइति। स्मार्त्ताग्न्यभावे

च पचनो द्रष्टव्यः । अन्ये तु समाविकल्पं मन्यन्ते। पचनश्चात्र यत्र पच्यते स इत्युज्ज्वलाकारः । यदि प्रयाणे गृहे वा अग्निरुपसमाधातव्यः स्यात्तदा स्थण्डिले कुण्डे वा प्राचीरुदीचीश्चतस्रो रेखा लिखित्वा अवोक्ष्याग्निं प्रतिष्ठाप्यावोक्षणशेषमुत्सिच्य प्राग्वोदग्वाऽन्यतोयमुपादद्यात् ।

तथाचापस्तम्बः, यत्र क्वचाग्निमुपधास्यन्स्यात्तत्र प्राचीरुदीचीश्चतस्रो रेखा लिखित्वाऽद्भिरवोक्ष्याग्निमुपसमिध्यादुत्सिच्यैतदुदकमुत्तरेण पूर्वेण वाऽन्यदुपदध्यादिति । षड्भिराद्यैर्विवाहमन्त्रेभ्यः प्राक् पठितेषु मन्त्रेषु आद्यैः षड्भिरित्यर्थः । न च तेषामेवग्रहणे मानाभावः । कामलिङ्गकान्तारिक्षलिङ्गकादिक्रामिकसमाम्नातस्य अन्यत्र असम्भवात् । ते च—अग्नये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ध्रुवायभूमाय स्वाहा ध्रुवक्षितये स्वाहा अच्युतक्षितये स्वाहा अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इति षट् । उज्ज्वलायां तु-सोमाय स्वाहेति षष्ठः सौविष्टकृतः सप्तमः, औपधहविष्केषु सर्वत्र तस्य प्रवृत्तिदर्शनादित्युक्तम् । तत्तु षड्भिराद्यैरितिषट्संख्यानिर्देशात्सोमस्य च श्रुतावनाम्नानात् उपेक्षणीयम्। हस्तेनादाय प्रतिमन्त्रं जुहुयात् । अत्र चाशनीयस्य सामान्यतो निर्देशेऽपि होमेषु हविष्यमेव मुख्यमिति प्रागुक्तम् । उभयत इति । षडाहुतिहोमात् पूर्वं षडाहुतिहोमानन्तरं च कुर्यात् । यथापुरस्तादिति । बलिदेशसंस्कारे यथा परिमार्जनादिपूर्वकं परिषेचनं प्रागुक्तं तद्वदत्रापीत्यर्थः। एवं बलीनामिति । यत्र नानादेशसमवेता अनेके बलयस्तत्र सकृदन्ते परिषेचनं कर्तव्यम् इत्यर्थः । सतीति । सति सूपे तेन संसृष्टा बलयः कार्या इति अर्थः इति केचित् । कल्पतरौ तु सत्यवकाशे सूपसंसृष्टे परस्परसंकीर्णदेशे बलयो न कार्या इत्युक्तम् । बलीनाह अपरेणाग्निमित्यादिना । अग्नेः पश्चात्सप्तमाष्टमाभ्यां धर्माय स्वा-

हा अधर्माय स्वाहेतिद्वाभ्याम् उदगपवर्गम् उत्तरस्यां समाप्तिर्यथा भवति । उद्धानम् उदकनिधानपात्रं तत्राद्भ्यः स्वाहेत्येनेन नवमेन । मध्येऽगारस्य गृहस्य मध्ये ओषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहेत्येताभ्यां दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गं प्राक्संस्थम्। उत्तरपूर्वदेशे ऐशान्यां गृहेभ्यः स्वाहा अवसानेभ्यः स्वाहा अवसानपतिभ्यः स्वाहा सर्वभूतेभ्यः स्वाहेति एतैश्चतुर्भिः । शय्यादेशे कामाय स्वाहेति अनेन कामलिङ्गेन । देहल्यामन्तरिक्षाय स्वाहेति अनेनान्तरिक्षलिङ्गेन । देहली च द्वारस्याधःस्थदारु । आपिधान्यां कपाटे "यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहा" इति अनेन उत्तरेण । ब्रह्मसदनं वास्तुविद्याप्रसिद्धं—तत्र पृथिव्यै स्वाहा अन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्रमसे स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहा इन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहेति एतैरुत्तरैः । ब्रह्मसदनं ब्रह्मणः स्थानमित्यन्ये । पितृलिङ्गेन स्वधा पितृभ्य इति मन्त्रेण । रौद्रमन्त्रो नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहेति । धर्मभेदात् उपवीतित्वप्राचीनावीतित्वादिधर्मभेदात् । उत्तमेन ये भूताः प्रचरन्तीत्यनेन वैहायसमेव बलिं दद्यान्नान्यं बलिमिति ।

## अथ बलिदानानन्तरं कृत्यम् ।

विष्णुपुराणम्,

ततो गोदोहमात्रं वै कालं तिष्ठेद् गृहाङ्गणे ।
अतिथिग्रहणार्थाय तदूर्ध्वं वा यथेच्छया ॥
अतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत्स्वागतादिना ।
हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही ॥
पित्रर्थं चापरं विप्रमेकमप्याशयेन्नृप ।
तद्देश्यं विदिताचारसम्भूतिं पाञ्चयज्ञिकम् ॥

गोदोहमात्रकालो मुहूर्त्तस्याष्टमो भागः ।

आचम्य च ततः कुर्यात् द्विजो द्वारावलोकनम् ।

मुहूर्त्तस्याष्टमं भागं प्रतीक्ष्यो ह्यतिथिर्भवेत् ॥ इति ।

कल्पतरूक्तमार्कण्डेयपुराणवाक्यैकवाक्यत्वात् । अपरम् अतिथेरन्यम् । अतिथेरविदिताचारसंभूतित्वेन श्राद्धपात्रत्वाभावात् ।

अत एवातिथ्याधिकारे **पराशरः**,

न पृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायं जन्म चैवहि ।

स्वं चित्तं भावयेत्तस्मिन् व्यासः स्वयमुपागतः ॥

अतएवाह तद्देश्यमित्यादि । एकमपीति बहूनामभावे । वैश्वदेवात्पूर्वमपि भिक्षुकोपस्थितौ तस्मै तदा भिक्षा देयेत्याह—

**व्यासः**,

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते ।

उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत् ॥

ब्रह्मचारी यतिश्चैव विद्यार्थी गुरुपोषकः ।

अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः ॥

**स्मृत्यन्तरे**,

देशं वाऽथ कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति ।

न स तत्फलमाप्नोति दत्त्वा स्वर्गं न गच्छति ॥

**यमः**,

देशं गोत्रं कुलं विद्यामन्नार्थं यो निवेदयेत् ।

वैवस्वतेषु धर्मेषु वान्ताशी स निरुच्यते ॥

## अथ नित्यश्राद्धम् ।

बलिदानानन्तरं **वसिष्ठः**,

श्रोत्रियाय दत्त्वा ब्रह्मचारिणे चानन्तरं पितृभ्यो दद्यात्ततोऽतिथीन् भोजयेत् ।

एवं च नित्यश्राद्धात्पूर्वं भिक्षुकोपस्थितौ तस्मै भिक्षादानं, ततो नित्यश्राद्धादि, ततोऽतिथिभोजनादीति क्रमः। नित्यश्राद्धात्पूर्वं भिक्षुकानुपस्थितौ तु अग्रेऽपि तदुपस्थितौ भिक्षा देया।

छन्दोगपरिशिष्टम्,

अप्येकमाशयेद्विप्रं पितृयज्ञार्थसिद्धये।
अदैवं नास्ति चेदन्यो भोक्ता भोज्यमथापि वा॥
अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किञ्चिदन्नं यथाविधि।
पितृभ्योऽथ मनुष्येभ्यो दद्यादहरहर्द्विजे॥
पितृभ्य इदमित्युक्त्वा स्वधाकारमुदीरयेत्।
हन्तकारं मनुष्येभ्यस्तदन्ते निनयेदपः॥

अप्येकं बहूनामभावे एकमपि। अदैवं वैश्वदेवश्राद्धवर्जितम्। अन्यः अतिथेरन्यः श्राद्धपात्रतायोग्य एकोऽपि भोक्ता नास्ति भोज्यं वा ब्राह्मणतृप्तिपर्याप्तं नास्ति तदा स्थाल्यां यथाशक्ति अन्नमुद्धृत्य पितृभ्यः—

अप्येकं भोजयेद्विप्रं षण्णामप्यन्वहं गृही।

इत्यादिपुराणवाक्यात्पित्रादिषड्भ्यः मनुष्येभ्यस्तर्पणप्रकरणोक्तेभ्यः सनकसनन्दनसनातनकपिलासुरिवोढुपञ्चशिखेभ्यश्च सम्प्रभ्यः सङ्कल्प्य कस्मिंश्चिद् द्विजे दद्यादित्यर्थः। एतेन मनुष्याणां नित्यश्राद्धं नास्तीति महार्णवप्रकाशकारोक्तं निरस्तम्।

अतएव कार्ष्णाजिनिः,

नित्यश्राद्धं पितॄणां तु मनुष्यैः सह गीयते। इति।

मनुष्यश्राद्धे ब्राह्मणाः प्राङ्मुखाः। "प्राङ्मुखमतिथिं भोजयेन्मनुष्यार्थम्" इति गृह्यान्तरात्। दाता तु प्रत्यङ्मुखः। मनुष्याणां वा एषा दिग्यत्प्रतीचीति श्रुतेः।

मार्कण्डेयपुराणं,

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पितॄनुद्दिश्य विप्रांस्तु भोजयेद्विप्रमेव वा ॥ इति ।

**मनुरपि,**

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
नचैवात्राशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ इति ।

पाञ्चयज्ञिके पञ्चयज्ञान्तर्गतपितृयज्ञे । अपिशब्दात्सति सम्भवे बहूनपि । वैश्वदेवं प्रति किञ्चिद्द्विजं नाशयेदित्यनेन नित्यश्राद्धे विश्वदेवश्राद्धं नाङ्गमित्युक्तं भवति । अतएव—

**भविष्योत्तरपुराणे,**

अहरहः क्रियते यत्तु तन्नित्यमिति कीर्त्यते ।
विश्वदेवविहीनं तदशक्तावुदकेन तु ॥
विश्वदेवविहीनं विश्वदेवश्राद्धहीनम् ।

**लघुहारीतोऽपि,**

नित्यश्राद्धमदैवं स्यादर्घपिण्डविवर्जितम् । इति ।
नित्यश्राद्धस्यावश्यकत्वमाहुः **मनुशातातपौ शङ्खश्च,**
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥

**तथा—**

**योगियाज्ञवल्क्यः,**

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पित्रर्थं वै पितॄणां च स्वात्मनः श्रेय इच्छता ॥

**प्रचेताः,**

नामन्त्रणं न होमं च नाह्वानं न विसर्जनम् ।
न पिण्डदानं न सुरान्नित्ये कुर्याद्द्विजोत्तमः ॥
उपवेश्यासनं दत्त्वा संपूज्य कुसुमादिभिः ।

निर्दग्धं भोजयित्वा तु किंचिद्दत्त्वा विसर्जयेत् ॥

होमोऽग्नौकरणहोमः। सुरान् विश्वान्देवान्। निर्दग्धम् अदग्धमन्नम्। अत्र च किंचिदिति यथाशक्ति दक्षिणाया विहितत्वात्,

व्यासेनापि—

नित्यश्राद्धेऽर्घगन्धाद्यैर्द्विजानभ्यर्च्य शक्तितः।
सर्वान् पितृगणान्सम्यक् सहैवोद्दिश्य भोजयेत् ॥
आवाहनस्वधाकारपिण्डाग्नौकरणादिकम्।
ब्रह्मचर्यादिनियमो विश्वेदेवास्तथैव च ॥
नित्यश्राद्धे त्यजेदेतान् भोज्यमन्नं प्रकल्पयेत्।
दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या नमस्कारैर्विसर्जयेत् ॥
एकमप्याशयेन्नित्यं षण्णामप्यन्वहं गृही।

इत्यत्र दक्षिणाविधानात्,

भविष्ये तु—

नित्यश्राद्धमदैवं स्याद्दक्षिणापिण्डवर्जितम्। इत्यत्र,

तथा पुराणान्तरेऽपि—

नित्यश्राद्धं तु यन्नाम दैवहीनं तदुच्यते।
तत्तु षाट्पौरुषं ज्ञेयं दक्षिणापिण्डवर्जितम् ॥

इत्यत्र च दक्षिणायाः पर्युदस्तत्वान्नित्यश्राद्धे दक्षिणाया विकल्पः।

## अथातिथ्यविधिः।

तत्र बलिदानानन्तरं अतिथिनिरीक्षणाय गृहाङ्गणे कश्चित्कालं तिष्ठेदित्युक्तम्—

**मार्कण्डेयपुराणे,**

आचम्य च ततः कुर्यात्प्राज्ञो द्वारावलोकनम्।
मुहूर्त्तस्याष्टमं भागमुदीक्ष्यो ह्यतिथिर्भवेत् ॥ इति।

विष्णुपुराणेऽपि,

ततो गोदोहमात्रं वा कालं तिष्ठेद् गृहाङ्गणे।
अतिथिग्रहणार्थाय तदूर्ध्वं वा यथेच्छया॥ इति।

मनुः,

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्यात् विधिवद्ब्रह्मचारिणे॥
यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा तु भिक्षवे॥
भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।
वेदतन्त्रार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्॥
नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।
भस्मभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः॥
विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात्॥
गोप्रदानसमं पुण्यं तस्याह भगवान्यमः।

पूर्वमाशयेत्, नित्यश्राद्धात्। इदं च तस्मिन्कालेऽतिथिमाप्तौ इति द्रष्टव्यम्। भस्मभूतेष्विति विद्यातपोरहितेषु।

हारीतः,

सर्वा अस्य देवता गृहानभ्यागच्छन्ति, यस्यैवं ब्राह्मणो विद्वान् गृहमभ्येति तमभ्युत्तिष्ठतः प्राणा देवता अपक्रामन्ति।

बृहस्पतिः,

प्रीयते स्वागतेनाग्निरशनेन शतक्रतुः।
पितरः पादशौचेन भोजनेन प्रजापतिः॥
सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सव्रताय च।

सव्रतो ब्रह्मचारी।

**शातातपः,**

भिक्षां वा पुष्कलं वापि हन्तकारमथापि वा।
असंभवे सदा दद्यादुदपात्रमथापि वा॥

भिक्षादिलक्षणं तत्रैवोक्तं,

ग्रासमात्रा भवेत् भिक्षा पुष्कलं च चतुर्गुणम्।
पुष्कलानि च चत्वारि हन्तकारं विदुर्बुधाः॥

**मार्कण्डेयपुराणे तु—**

ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम्।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः॥
भोजनं हन्तकारं वा अग्रं भिक्षामथापि वा।
अदत्त्वा च न भोक्तव्यं यथाविभवमात्मनः॥

यथाविभवं स्वशक्त्यनुसारेण। भोजनादिषु चतुर्षु मध्ये अन्यतरत् अदत्त्वा न भोक्तव्यम् इत्यर्थः। भिक्षुब्रह्मचारिणोर्भिक्षादानप्रकारो गौतमेन प्रदर्शितः,

स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्पूर्वमिति।

भिक्षमाणं ब्रह्मचारिणं भिक्षुं वा स्वस्तीति वाचयित्वा जलं दत्त्वा भिक्षां दद्यादित्यर्थः। भिक्षोः पुनः आद्यन्तयोरुदकदानं कार्यम्।

**तथाच व्यासः,**

यतिहस्ते जलं दद्याद्भैक्षं दद्यात्पुनर्जलम्।
भैक्षं पर्वतमात्रं स्यात् तज्जलं सागरोपमम्॥ इति।

अतिथिप्रत्याख्याने च दोष उक्त आपस्तम्बेन,

स्त्रीणां च प्रत्याचक्षाणानां समाहितो ब्रह्मचारी इष्टं दत्तं हुतं प्रजां पशून् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं वृङ्क्ते तस्मादुहवै ब्रह्मचारिसङ्घं न प्रत्याचक्षीतेति।

प्रत्याचक्षाणानामिति । प्रत्याख्यानं कुर्वतीनाम् । समाहितो वशीकृतान्तःकरणः । ब्रह्मचारीति यतेरप्युपलक्षणम् ।

तथाच व्यासः,

यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ।
तयोरन्नमदत्त्वा तु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

पुराणेऽपि,

अपूजयंश्च काकुत्स्थ तपस्विनमुपागतम् ।
दुःखाशी च परे लोके स्वानि मांसानि खादति ॥

वृक्के छिनत्ति ।

पराशरः,

दद्याच्च भिक्षात्रितयं परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम् ।
इच्छया च ततो दद्याद्विभवे सत्यवारितम् ॥

नृसिंहपुराणे,

भिक्षां च भिक्षवे दद्यात्परिव्राड्ब्रह्मचारिणे ।
संकल्पितान्नादुद्धृत्य सर्वव्यञ्जनसंयुताम् ॥
अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते ।
उद्धृत्य वैश्वदेवान्नं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत् ॥
वैश्वदेवकृतं दोषं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ।
नतु भिक्षुकृतं दोषं वैश्वदेवो व्यपोहति ॥

अनेन च वैश्वदेवात्पूर्वमागतस्य एकग्रामवासिनः यतेर्ब्रह्मचारिणो वा अतिथित्वाभावेऽपि वैश्वदेवार्थमुद्धृत्यावश्यं भिक्षा दातव्येत्युक्तं भवति ।

पद्मपुराणे,

यः पात्रपूरणीं भिक्षां यतिभ्यः संप्रयच्छति ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नासौ दुर्गतिमाप्नुयात् ॥

ब्रह्मपुराणे,

पूर्वं देवैर्जिता दैत्याः संग्रामाच्च पराङ्मुखाः ।
कपालपाणयो जग्मुः केचिन्नग्नव्रताः स्थिताः ॥
केचिन्मुण्डास्त्वजिनाढ्याः काषायवसनास्तथा ।
सात्वताश्च दुराचाराः शौचाचारविवर्जिताः ॥
नरास्थिकेशसंछिन्नाः केचिद् व्याजेन दानवाः ।
यज्ञेषु रक्षसां भागो देय इत्यत्र संस्मरन् ॥
विप्रेभ्यो मूर्त्तिमद्भ्यश्च देवेभ्यश्च गृहाद् बहिः ।
नित्यं सत्पुरुषः कुर्याद्दैतेष्वभ्यधिकं तथा ॥

तथा,

पाखण्डिनां चापि न यत्र भिक्षाम्
कुर्वन्ति निन्दां च बहिर्गतानाम् ।
वेदे सम्यक् संस्थितानां च शास्त्रे
शून्याटव्यां भिक्षया वर्त्ततां च
वेदान् पठेत्त्वग्निहोत्राणि सम्यक् व्रतोपवासांश्च चरन्तु किं तत् ।
स्पर्द्धां कृत्वा साधुजनेषु नित्यं घोराणि पापानि समाचरन्ति ॥
आस्तां किमेभिर्बहुभिः प्रलापैः पाषण्डिनां रोगिणां चाथ मध्ये ।
विकर्मिणो दुष्टतरा भवन्ति दुष्टासु नारीषु यथा पतिघ्नी ॥
दुःखाकुलं जगदेतद्विचार्य नमोऽस्तु धर्माय इति ब्रुवंश्च ।
दद्यादन्नं सर्वगतं च विष्णुं प्रणम्य वै द्वादशपर्वमात्रम् ॥

नमोऽस्तु धर्म्मायेति ब्रुवन् पूर्वोक्तपाखण्डिभ्यः विष्णुबुद्ध्या गृहाद् बहिः अवश्यं भिक्षां दद्यादिति समुदायार्थः। अतिथिं पूर्वमाशयेत् अतिथिं प्रतीक्षितेत्याद्युक्तं, तत्र कोऽसावतिथिरित्यपेक्षायां

शातातपः,

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।

प्राप्तस्तु वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ इति । अस्यार्थः ।

मनुना,

काममभ्यर्चयेन्नित्यं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।

द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥

इति द्वेष्यभोजनं निषिद्धम् ।

तथा स्मृत्यन्तरे,

नष्टशौचे व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते ।

दीयमानं रुदत्यन्नं किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥

इति मूर्खस्यान्नदानं निषिद्धम् । तदपवादार्थमाह यदि वा द्वेष्यो मूर्ख इति । वैश्वदेवान्ते प्राप्तोऽविचार्य भोजनीय एवेत्यर्थः । तत्र हेतुः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः स्वर्गप्राप्तिसाधनमित्यर्थः । अतिथिशब्दार्थमाह—

मनुः,

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

यमः,

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।

सोऽतिथिः सर्वभूतानां शेषानभ्यागतान् विदुः ॥ इति ।

शेषान् तिथिपर्वोत्सवमुद्दिश्यागतान् ।

मार्कण्डेयः,

न मित्रमतिथिं कुर्यान्नैकग्रामनिवासिनम् ।

अज्ञातकुलनामानं तत्काले समुपस्थितम् ॥

बुभुक्षुमागतं श्रान्तं याचमानमकिञ्चनम् ।

ब्राह्मणं प्राहुरतिथिं संपूज्यः शक्तितो बुधैः ॥ इति ।

ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियादिष्वुदासार्थम् ।

अत एव मनुः,

ब्राह्मणस्य त्वनतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ इति ।

अत्र च शातातपवाक्ये, प्रियो वा यदि वा द्वेष्य इत्यत्र प्रियस्यातिथित्वाभिधानात् मार्कण्डेयमनुवाक्ये च न मित्रमतिथिं कुर्यादिति सखाचैव ज्ञातयो गुरुरेवचेत्यादिना सख्यादीनामतिथित्वनिराकरणादेवं विज्ञायते, मत्प्रियस्य मद्द्विष्यस्य वा इदं गृहमिति सम्बन्धं पुरस्कृत्यागतस्य नातिथित्वम् अपुरस्कृत्य सम्बन्धं दैवादागतस्य तु तस्य अतिथित्वमिति ।

अत एव मार्कण्डेयपुराणे,

न पृच्छेद् गोत्रचरणं स्वाध्यायं नापि पण्डितम् ।

शोभनाशोभनाकारं तं मन्येत प्रजापतिम् ॥

वर्णमाचारः ।

विष्णुपुराणेऽपि,

स्वाध्यायगोत्रचरणमपृष्ट्वा च तथा कुलम् ।

हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही ॥ इति ।

धाता प्रजापतिः शुक्रो वह्निर्वसुगणो यमः ।

प्रविश्यातिथिमेतं वै भुञ्जतेऽन्नं नरेश्वर ॥ इति ।

एवं दात्रा गोत्रादि न प्रष्टव्यमित्युक्तम् ।

भोक्तुरपि गोत्रादिकथने निषेधमाह—

विष्णुः,

देशं गोत्रं कुलं विद्यामन्नार्थे यो निवेदयेत् ।

वैवस्वतेषु धर्मेषु वान्ताशी स प्रकीर्त्तितः ॥

आश्वमेधिके,

क्षुत्पिपासाश्रमार्त्ताय देशकालागताय च ।

सत्कृत्यान्नं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छता ॥ इति ।

तथा—

दूराच्चोपागतं श्रान्तं वैश्वदेवउपस्थिते ।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥ इति ।

**व्यासोऽपि,**

आदूरादाश्रमप्राप्तः क्षुत्तृष्णाश्रमकर्शितः ।
यः पूज्यतेऽतिथिः सम्यगपूर्वक्रतुरेवः सः ॥ इति ।

वैश्वदेवउपस्थितमिति तु दिवसाविषयम् ।

सायन्तु वैश्वदेवकालेऽन्यकाले वा प्राप्तोऽतिथिरेव ।

तथाच **मनुः,**

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ इति ।

सूर्योढ इति। अस्तं गच्छता सूर्येण देशान्तरगमनाशक्तिमुत्पाद्य गृहं प्रापित इत्यर्थः ।

**प्रचेता अपि,**

यः प्राप्तो वैश्वदेवान्ते सायं वा गृहमागतः ।
देववत्पूजनीयोऽसौ सूर्योढः सोऽतिथिः स्मृतः ॥ इति ।

तथा **याज्ञवल्क्योऽपि,**

अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः । इति ।

**वसिष्ठः,**

ततोऽतिथीन्भोजयेत् श्रेयांसं श्रेयांसमानुपूर्व्येण ।

यो यो जात्याद्युत्कृष्टस्तं तं प्रथमं पूजयेदित्यर्थः ।

**मनुर्विष्णुश्च प्रथमे,**

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

अन्नं हुत्वा विधानेन यत्पुण्यफलमश्नुते।
तेन तुल्यं विशिष्टं वा ब्राह्मणे तर्पिते फलम्॥
मन्त्रकर्मविपर्यासाद् दुरितात् दुर्गतादपि।
तत्फलं नश्यते कर्त्तुरिदं न श्रद्धया हुतम्॥
शिलादप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ इति।

संप्राप्ताय आमन्त्रणं विना स्वयम्। विधिपूर्वकम् अतिथिपूजोक्तप्रकारेण। अन्नंहुत्वेति। अग्नाविति शेषः। मन्त्रेति। मन्त्रकर्मविपर्यासाद्यद् दुरितं दुर्गतात्कर्त्तुर्व्यभिचाराच्च यद् दुरितं तस्मात्। तत्फलं होमफलम्। इदंनेति। अतिथये श्रद्धया यद्दत्तं दत्तम् इदम् आसनादि तत् न नश्यतइत्यनुषङ्गः। शिलात् लूनमस्यशेषात् क्षेत्रपतितान् उञ्छन् उच्चिन्वतः। अनेन दरिद्रेणाप्यतिथिपूजनं कर्त्तव्यमित्युक्तम्। सूनृता प्रिया सत्या।

आश्वमेधिके,

साङ्गोपाङ्गांस्तथा वेदान् पठतीह दिनेदिने।
नचातिथिं पूजयति वृथा स पठति द्विजः॥
पाकयज्ञैर्महायज्ञैः सोमसंस्थाभिरेवच।
ये यजन्ति न चार्चन्ति गृहेष्वतिथिमागतम्॥
तेषां यशोभिकामानां दत्तमिष्टं च यद्भवेत्।
वृथा भवति तत्सर्वमाशया हतया हतम्॥ इति।
अत्र सुकृतहान्यभिधानं दुष्कृतप्राप्तेरप्युपलक्षणम्।
अतएवोक्तं तत्रैव,
वैश्वदेवान्तिके प्राप्तमतिथिं यो न पूजयेत्।

स चण्डालत्वमाप्नोति सद्य एव न संशयः ॥

विष्णुरपि,

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहस्थस्य तु गच्छति ।

तस्मात्सुकृतमादाय दुष्कृतं तु प्रयच्छति ॥ इति ।

शङ्खलिखितावपि,

गोदोहनमात्रं कालमन्वाकाङ्क्षेदतिथिः श्रोत्रियो देवव्रती यतिधर्मा नैष्ठिकः समानवृत्तिर्योऽन्यो वा आगच्छेत् तस्मिन्काले तमर्चयित्वाऽश्नीयात् कृशवृत्तेरपि ब्राह्मणोऽनश्नन् सुकृतमादत्ते पर्य्यश्नतः पूजां कुर्वन्ति ।

अतिथिधर्ममाह । गोदोहनकालमिति । श्रोत्रियः एकशाखाया अध्येता । देवव्रती उपकुर्वाणकः । यतिधर्मा ब्रह्मचर्येणैव कालं नेष्यामीत्येवंसंकल्पवान् ब्रह्मचारी । समानवृत्तिः तुल्यजीवनोपायः । गृहस्थधर्ममाह । तमर्चयित्वाऽश्नीयात् । पर्यश्नतः अतिथिं परित्यज्याश्नतः कृशवृत्तेरपि । तस्मादतिथेः पूजां कुर्वन्तीति ।

तथा—

प्रार्थयन्ते यथा सर्वे निपानं मृगपक्षिणः ।

एवं गृहस्थं संपन्नं प्रार्थयन्तीह साधवः ॥

नावमन्येत विद्वांसं ब्राह्मणं ब्राह्मणो ह्यग्निरिवाप्रमेयः सर्व एव यथा प्रणीतश्चाप्रणीतश्चाग्निर्हि दैवतमेवं विद्वांश्चाविद्वांश्च ब्राह्मणः पूज्य एव सर्वेषां यत्र हि ब्राह्मणो न भुङ्क्ते तद्धुतमप्यहुतमेवास्य तद्धविस्तत्र देवा अपि न गृह्णन्ति स्वं भागम् । अतिदेवा हि ब्राह्मणाः ब्राह्मणानां प्रसादाद्देवा अपि स्वर्गमजयन् ।

प्रणीतो वैदिकसंस्कारसंस्कृतः । अतिदेवाः देवेभ्योऽप्यतिशयिताः ।

पुनः शङ्खलिखितौ,

वयोवर्णविद्यातपःसंपन्नाय पाद्यमर्घमाचमनीयमन्नविशेषांस्तस्मै शक्तितो दद्यात् सहासीत प्रदोषेऽनुज्ञाप्य शयीत पूर्वं प्रतिबुध्येत प्रस्थितमनुव्रजेत् । समेत्य न्यायतो निवर्त्तेत वेद्युद्यानारामसभाप्रपातडागदेवगृहमहागमस्थाननदीनामन्यतमस्मिंस्तं प्रदक्षिणं कुर्यात् वाचमुत्सृज्य पुनर्दर्शनायेति ।

न्यायतः समेत्य ज्येष्ठं पादसंग्रहणादिना समं कनिष्ठं वा आलिङ्गनादिना मिलित्वा । वेद्यादीनामन्यतमस्मिन्स्थाने पुनर्दर्शनायेत्युक्त्वा तं प्रदक्षिणं कुर्यादित्यर्थः । महागमस्थानं महाद्रुमस्थानम् ।

पराशरोऽपि,

अतिथिं तत्र संप्राप्तं पूजयेत् स्वागतादिना ।
तथाऽऽसनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥
श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च ।
गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही ॥

यमः,

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
उत्थाय चासनं दद्यात्स धर्मः पञ्चलक्षणः ॥

उत्थायेति श्रोत्रियातिथिविषयम् । ब्राह्मणायाधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयम् प्रत्युत्तिष्ठेदभिवाद्यश्चेदिति आपस्तम्बवचनात् । इतिशब्दोऽन्येषामुपचाराणां संग्रहार्थः । अभिवाद्यश्चेत् अभिवादनयोग्यः श्रोत्रियश्चेत्तदा प्रत्युत्तिष्ठेदिति योजना ।

आपस्तम्बः,

अग्निरिव ज्वलदतिथिरभ्यागच्छति धर्मेण वेदानामेकैकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति स्वधर्मयुक्तं कुटुम्बिनमभ्यागच्छति धर्मपुरस्कारो नान्यप्रयोजनः सोऽतिथिर्भवति तस्य पूजायां शान्तिः

स्वर्गः पुष्टिश्च । तमभिमुखोऽभ्यागम्य यथावयः समेत्य तस्याम- नमाहरेत् । शक्तिविषये नाबहुपादमासनं भवतीत्येके । तस्य पादौ प्रक्षालयेत् । शूद्रमिथुनाविसेके अन्यतरोऽभिषेचने स्यात्तस्योदकमा- हारयेन्मृन्मयेनेत्येके । नोदकमाहारयेदसमावृत्तोऽध्ययनात्संवृत्तिश्चा- न्वाधिका सान्त्वयित्वा तर्पयेत् रसैर्भक्ष्यैरद्भिरवरार्ध्येनेत्येव । आवसथं दद्यादुपरिशय्यामुपस्तरणमुपस्थानं सावस्तरणमभ्यञ्जनं चेति । अन्नसंस्कर्त्तारमाहूय व्रीहीन्यवान्वा तदर्थान्निर्वपेत् । उद्धृतान्यवेक्षेत इदं भूयो नेदमिति । भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् । द्विषतो वा नान्नमश्नी- यात् । दोषं दोषेण वा मीमांसमानस्य मीमांसितस्य वा । पाप्मानं हि स तस्य भक्षयतीति विज्ञायते । स एष प्राजापत्यः कुटुम्बिनो यज्ञः प्रततः, योऽतिथीनामग्निः स आहवनीयो यः कुटुम्बे स गार्हपत्यः यस्मिन्पच्यते सोऽन्वाहार्यपचनः । ऊर्जं पुष्टिं प्रजां पशूनिष्टापूर्तमिति गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति । पयउपसेचनमन्नमग्निष्टोमसं- मितं सर्पिषा षोडश्युक्थ्यसंमितं मांसेन द्वादशाहसंमितमुदकेन । प्रजा- वृद्धिरायुश्च प्रिया अप्रियाश्चातिथयः स्वर्गं लोकं गमयन्तीति विज्ञायते । स यत्प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति ददाति सवनान्येव तानि भवन्ति यदुत्तिष्ठत्युदवस्यत्येव तत् यत्सान्त्वयति सा दक्षिणा प्र- शस्ता यत्संसाधयति ते विष्णुक्रमाः यदुपावर्त्तते सोऽवभृथ इति ब्राह्मणम् । राजानं चेदतिथिरभ्यागच्छेत् श्रेयसीमस्मै पूजामात्मनः कारयेत् । आहिताग्निश्चेदतिथिरभ्यागच्छेत् स्वयमेत्य ब्रूयात्, व्रात्य क्वावात्सीरिति व्रात्योदकमिति व्रात्यं तर्पयंस्त्विति । पुराऽग्निहो- त्रस्य होमादुपांशु जपेद् व्रात्य यथा ते मनस्तथाऽस्त्विति व्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्त्विति व्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽस्त्विति व्रा- त्य यथा तेऽतिकामस्तथा तेऽस्त्विति यस्योद्धृतेष्वग्निषु अतिथि- रभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युपेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति । अति-

सृष्टेन होतव्यमनतिसृष्टश्चेज्जुहुयाद् दोषं ब्राह्मणमाह । एकरात्रं चेदतिथिं वासयेत्पार्थिवाँल्लोकानभिजयति। द्वितीययाऽऽन्तरिक्ष्यां स्तृतीयया दिव्यान् चतुर्थ्या परावतो लोकान्।अपरिमिताभिरपरिमितान् लोकानभिजयतीति विज्ञायते। असमुदितश्चेदतिथिर्ब्रुवाण आगच्छेदासनमुदकमन्नं श्रोत्रियाय ददामीत्येवं दद्यादेवमस्य समृद्धं भवति । येन कृतावसथः स्यादतिथिर्न तं प्रत्युत्तिष्ठेत् प्रत्यवरोहेद्वा पुरस्ताच्चेदभिवादितः।शेषभोज्यतिथीनां स्यान्न रसान्गृहे भुञ्जीतानवशेषमतिथिभ्यः। नात्मार्थमभिरूपमन्नं पाचयेत् इति ।

स्वधर्मयुक्तं स्ववर्णाश्रमविहिताचारयुक्तम्।धर्मपुरस्कारः धर्मं तीर्थयात्रादिकं पुरस्कृत्यैव आगच्छति न तु अन्नमात्रलोलुपतया। यथावयः समेत्य ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वानुसारेण पादोपसङ्ग्रहणादिना मिलित्वा। शक्तिविषयं नावद्रुपादमासनं भवति । शक्तौ सत्याम् अवद्रुपादं द्विपदपीठादि आसनं न देयम्।शूद्रमिथुनौ शूद्रद्वयम्।तयोर्मध्ये अन्यतरोऽभिषेचने पादप्रक्षालनार्थम् उदकाधाने व्याप्रियेत। तस्यातिथेरुदकमाहारयेदर्घार्थम्।मृन्मयेनेत्येके।नोदकमाहारयेत्,मृन्मयेनेत्यनुषङ्गः । अपितु तैजसेनेति स्वयं मन्यते । अध्ययनादसमावृत्तो ब्रह्मचारी चेदतिथिः समागच्छेत् तदा अर्घ्यदानानन्तरं संवृत्तिः कर्त्तव्या। यत् तस्य सदाभ्यस्तं तत् तेन सह किञ्चित् पठित्वा सान्त्वयित्वा पाठानन्तरम् अभिजनादिभिः स्तुतिं कृत्वा तं तर्पयेद्रसैर्भक्ष्यैः।अशक्तौ अद्भिरवरार्ध्येनेत्येव जघन्यकल्पेन।अद्भिरपि तर्पयेदित्यनुषङ्गः। आवसथं वसतिस्थानम्। उपरिशय्या खट्वादिका।उपस्तरणं तूलिकादि।उपधानं सावस्तरणम्। उपधानं गेन्दुकादि अवस्तरणम् तूलिकोपरिपटः। अभ्यञ्जनम् तैलादि। दद्यादित्यनुषङ्गः । व्रीहीन्यवान्वेति तृप्तिसाधनद्रव्योपलक्षणम् । उद्धृतानि भोजनपात्रेषु कृतानि अन्नानि। अवेक्षेत इदं भूयो नेदमिति। अस्मै

भोक्ते इदं पर्याप्तं नेदं भूय इत्यनुषङ्गः। भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् पुनः परिवेषयेत्येव ब्रूयात्। अन्नसंस्कर्त्तारमित्यनुषङ्गः। द्विषन् द्विषतो वा नान्नमश्नीयात्। स्वयं द्वेषकर्त्ता सन् द्वेषकर्मीभूतस्य द्वेषकर्त्तुर्वा स्वयं द्वेषकर्मीभूतः सन् अन्नं नाश्नीयात्। एवमेव दोषं स्तेयादि स्वस्मिन् मीमांसमानस्य सम्भावयतः आत्मना वा दोषेण दोषवत्तया मीमांसितस्यान्नं नाश्नीयादित्यनुषङ्गः। तत्र हेतुःपाप्मानं हीति। योऽतिथीनामग्निः औदर्यः। प्रिया अप्रियाश्चातिथयः प्रिया इष्टाः अप्रिया उदासीनाः। आत्मनः श्रेयसीम् आत्मनः उत्कृष्टाम्। व्रात्य क्वावात्सीरिति। व्रते साधुः व्रात्यः। क्वावात्सीरिति कुशलप्रश्नमन्त्रः। व्रात्योदकमित्युदकदानमन्त्रः। अग्निहोत्रहोमात्प्रागागतेऽतिथौ गार्हपत्यदेशे स्थित्वोपांशु जपेत् व्रात्य यथा तइत्यादिकान्मन्त्रान्। उद्धृतेष्वग्निषु होमात्पूर्वम् अतिथिप्राप्तौ। अतिसृज होष्यामि आज्ञापय होष्यामि। अतिसृष्टेन आज्ञप्तेन। ब्राह्मणं विधायको वेदभागः।परावतःसुखस्य परा मात्रा येषु तान् परावतः। अत्रच अतिथेर्बहुदिनं स्थापने पूजने च फलभूयस्त्वमुक्तम्। पूर्वं तु पूर्वस्मिन् दिने आगतस्य दिनान्तरे नातिथित्वमित्युक्तम्। तेनैवं विज्ञायते दिनान्तरे तस्य पूजने फलोत्कर्षः, अपूजने अतिथिर्यस्य भग्नाश इति निषेधविषयत्वं नास्ति। असमुदितः विद्यावित्तादिहीनः अतिथिरस्मीति ब्रुवाणश्चेदागच्छेत् तदा श्रोत्रियाय ददामीति भावयित्वा दद्यात्। येन गृहिणा। कृतावसथः दत्तवासः। तं दृष्ट्वा नाभ्युत्तिष्ठेत् खट्वादितो न प्रत्यवरोहेत्। अतिथिभ्य आगन्तुभ्योऽनवस्थाप्य रसान् लवणक्षीरादीन् साकल्येन न भुञ्जीत।

अतिथिवत् भिक्षुकयोर्यतिब्रह्मचारिणोरपि पूज्यतामाह—

मनुः,

अपूर्वः सुव्रती विप्रो ह्यपूर्वश्चातिथिस्तथा।
वेदाभ्यासरतो नित्यं त्रयोऽपूर्वा दिनेदिने॥ इति।

सुष्ठु व्रतं मोक्षसाधनीभूतो नियमो यस्य स सुव्रती यतिः। वेदाभ्यासरतो ब्रह्मचारी। तदर्थत्वात्तस्याश्रमस्य। तावुभावप्यपूर्वौ अतिथिवत्पूज्यावित्यर्थः। एवम्,

ब्राह्मणस्य त्वनातिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।

इति पूर्वोक्तमनुवचनाद्राजन्यस्य ब्राह्मणगृहेऽतिथित्वाभावेऽपि ब्राह्मणं प्रति सति वैभवे पूज्यतामाह—

पराशरः,

यस्य छत्रं हयश्चैव कुञ्जरारोहमृद्धिमत्।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीत तस्मात्तं न विचारयेत्॥ इति।

अत्र च पूर्वोत्तरवाक्ययोः आतिथ्यं कुर्वन् इति पदद्वयस्य श्रवणात्तदत्राप्यनुपज्यते। तथाच यस्य छत्रं हयश्च वर्तते तस्य, अनयोश्च राजचिह्नत्वाद्राज्ञ इत्यर्थः। आतिथ्यं कुर्वन् ब्राह्मणः। कुञ्जरस्यैरावतादेः आरोहणं यस्मिन्। ऋद्धिमत्समृद्धम्। ऐन्द्रं स्थानम् उपासीत तस्मात्तं न विचारयेत् जातिकुलाचारैर्हीनस्यास्य पूजा कर्त्तव्या वा नवेति न विचारयेदपि तु फलकामेन ईश्वरविभूतित्वात् पूजनीय एव। अत एवोक्तं भगवता,

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ इति।

एवं भिक्षुवदेव क्षीणवृत्त्यादीनामपि पूज्यत्वमाह—

व्यासः,

यतिश्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरुपोषकः।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः॥ इति।

विद्यार्थी स्नानोत्तरमपि विद्यापरायणः।

पुराणेऽपि,

व्याधितस्यार्थहीनस्य कुटुम्बात्प्रच्युतस्य च ।
अध्वानं वा प्रपन्नस्य भिक्षाचर्या विधीयते ॥ इति ।

आतिथ्याकरणे प्रत्यवायमाह—

पराशरः,

वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः ।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च ॥ इति ।

रौरवादिनरकं भुक्त्वा काकयोनिं व्रजन्ति । वैश्वदेवान्ते आगतस्य सर्वस्यापि भोज्यतां स एवाह,

पापो वा यदि चाण्डालो विप्रघ्नः पितृघातकः ।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥

पापो गोवधाद्युपपातकी । एतेषां भोजनीयत्वमेव न त्वशेषातिथ्यसत्कारार्हत्वम् । ब्राह्मणगृहे क्षत्रियादीनामप्यतिथित्वाभावप्रतिपादनात् ।

आश्वमेधिकेऽपि,

चाण्डालो वा श्वपाको वा कालेयः कश्चिदागतः ।
अन्नेन पूजनीयश्च परत्र हितमिच्छता ॥ इति ।

पूजनीयत्वं भोजनीयत्वमात्रम् । अत एव—

विष्णुधर्मोत्तरे,

चण्डालो वाथ पापो वा शत्रुर्वा पितृघातकः ।
देशे कालेऽभ्युपगतो भरणीयो मतो मम ॥ इति ।

भरणीयत्वमात्रमेवोक्तं न तु पूजनीयत्वम् ।

आपस्तम्बः,

अतिथिं निराकृत्य यत्रगते भोजने स्मरेत्ततो विरम्योपोष्य श्वोभूते यथामनसं तर्पयित्वा संसाधयेत् यानवन्तमायानं याव-

ऽनुजानीयादितरमप्रतिभायां सीम्नो निवर्त्तेत ।

अतिथिं निराकृत्य अतिथिधर्मेणागतं केन चिद्विस्मरणादिना निमित्तेन भोजनमकारयित्वा यत्र गते भोजने स्मरेत् स्वयं भोजनार्थम् उपविष्टः सन्यावति जाते भोजने अतिथिं स्मरेत् तत एव भोजनाद्विरमेत् । उपोष्य सायं भोजनमकृत्वा स्थातव्यम् । श्वोभूते यथामनसं तर्पयित्वा प्रभाते तमतिथिं यस्मिन्यस्मिन्नस्य रुचिर्भवेत्तेन तेन तर्पयित्वा संसाधयेत अनुव्रजेत । तत्र विशेषमाह यानवन्तम् अश्वादियानयुक्तमतिथिं यावद्यानमनुव्रजेत् । यावन्नानुजानीयादितरमयानवन्तं यावन्नानुजानीयात् न ज्ञापयेत् तावत् संसाधयेदित्यनुषङ्गः । अप्रतिभायामिति । यदित्वतिथेरनुज्ञातुं प्रतिभा न भवति तदा ग्रामसीमान्तं गत्वाऽननुज्ञातोऽपि निवर्त्तेत ।

हारीतः,

अतिथिश्च यदागच्छेद्यतिर्वैखानसः समानवृत्तिः स्नातको वा तस्य स्वागतमर्घ्यपाद्याचमनीयमासनं च प्रदाय याश्चौषधयः सन्निहितास्ताश्चोपहरेत् तं प्रयान्तमनुक्रामन् विष्णुक्रमाननुक्रामति मोदन्तेऽस्य पितरः पितामहाः प्रपितामहाः तेनानुज्ञातो निवर्त्तेत वसेच्चेद्विधिवत्परिचरणम् ।

वैखानसो वानप्रस्थविशेषः । स्नातकोऽकृतविवाहः । समानवृत्तिपदेन गृहस्थस्योक्तत्वात् । औषधयो व्रीह्यादयः ।

पुनः हारीतः,

विश्वरूपं ब्रह्म द्विविधमाहुः परं शब्दब्रह्म च ब्रह्म सर्वा देवता ब्रह्ममयत्वात् ब्रह्मसंभवाद्ब्रह्मण्यधिकाराच्च ब्राह्मणाः सर्वदेवत्या भवन्ति यस्यैयस्यै देवतायै ब्राह्मणस्तर्पयति तांतां प्रीणाति ब्राह्मणस्य वै तृप्तिं देवाः पितरोऽनु तृप्यन्ते स च स्कन्धतो न व्यथते न यातयामी भवति ब्राह्मणाः कारणं न हि ब्राह्मणाभिभाविना-

मग्निर्हव्यं वहति नचास्य देवताः पितरः प्रतिगृह्णन्ति ब्राह्मणाकारणाभिभाविनां नायं लोको न पर इत्याचार्याः । यज्ञोपवीतिनो देवाः प्राचीनावीतिनः पितरो विद्यास्नाता आग्नेया व्रतस्नाता ऐन्द्राः उभयस्नाता वैश्वानराः सर्वा अस्य देवता गृहमागच्छन्ति । यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो गृहमभ्येति तमनभ्युत्तिष्ठतः प्राणदेवता अपक्रामन्ति अतः प्राणैः पापीयान् यातयामत्वमुपैति तस्मै यदाह स्वागतमिति तेन गृहदेवताः प्रीणाति यदासनादिभिरर्चयति अग्नीन् यज्ञं च तेन प्रीणाति यत्पादाभिषेचनं कुरुते पितॄँस्तेन प्रीणाति यदन्नेनाभिपूजयति प्रजापतिं तेन प्रीणाति यदेनं यान्तमनुयाति श्रेयस्यो ब्रह्मवर्चस्यस्तेन सर्वान् कामानवाप्नोति ।

अनभ्युत्तिष्ठतः अभ्युत्थानमकुर्वतः । प्राणैः प्राणदेवताभि अपक्रान्ताभिः हेतुभूताभिः पापीयान् । यातयामत्वं जीर्णत्वम् ।

अतिथिप्राप्तौ अन्नाभावे आपस्तम्बेनोक्तम्,

काले स्वामिनावन्नार्थं न प्रत्याचक्षीयातामभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति ।

बह्वतिथिसमवाये—

मनुनोक्तम्,

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं ब्रूयाद्धीने हीनं समे समम् ॥ इति ।

अन्नादिकं तु सममेवैकपङ्क्तौ ।

यदाह हारीतः,

विद्यातपोधिकानां तु प्रथमासनमुच्यते ।
पङ्क्तौ सहास्थितानां तु भोजनादि समं स्मृतम् ॥ इति ।

विषमदाने दोषमाह—

वसिष्ठः,

यद्येकपङ्क्तौ विषमं ददाति स्नेहाद्भयाद्वा यदि वाऽर्थहेतोः ।
वेदेषु दृष्टामृषिभिश्च गीतां तां ब्रह्महत्यां मुनयो वदन्ति॥इति।

अदत्तभक्षणे दोष उक्तः—

मार्कण्डेयपुराणे,

मांसमन्नं तथा शाकं गृहे यच्चोपपादितम् ।
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं येन नार्चयेत् ॥ इति ।

मनुरपि,

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥ इति ।

विष्णुरपि,

यथा सर्वेषां वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः स्त्रीणां च भर्त्ता तथा गृहस्थस्यातिथिः तत्पूजायां स्वर्गमाप्नोति ।

तथा,

स्वाध्यायेनाग्निहोत्रेण यज्ञेन तपसा तथा ।
नावाप्नोति गृही लोकान्यथा त्वतिथिपूजनात् ॥

तथा,

ब्रह्मचारी यतिर्भिक्षुर्जीवन्त्येते गृहाश्रमात् ।
तस्मादभ्यागतमतिथिं गृहस्थो नावमानयेत् ॥ इति ।

अत्र वसिष्ठः,

अथापि ब्राह्मणाय राजन्याय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत् एवमस्यातिथ्यं कुर्वन्ति ।

अत्र यद्यपि गृहागतश्रोत्रियतृप्त्यर्थं गोवधः कर्त्तव्य इति श्रूयते तथापि कलियुगे नायं धर्मः, किंतु युगान्तरे ।

तथाचोक्तं ब्रह्मपुराणे,

दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं धारणं च कमण्डलोः ।
गोत्रान्मातुः सपिण्डाद्वा विवाहो गोवधस्तथा ॥
नराश्वमेधौ मद्यं च कलौ वर्ज्यं द्विजातिभिः । इति ।

बौधायनः,

सायंप्रातर्यदन्नः स्यात्तेनान्नेन विश्वदेवं बलिमुपहृत्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रानभ्यागतान्यथाशक्त्या पूजयेत् । यदि बहूनां न शक्नुयादेकस्मै गुणवते दद्याद्यो वा प्रथममागतः स्यात् ।

यदन्नः स्यात् यदन्नभुग्भवति तेन अन्नेन । विश्वदेवं विश्वे अनेके देवा यस्मिन् तं बलिमित्यर्थः । यदा बहूनां दातुं न शक्नुयात् तदा एकस्मै गुणवते दद्यात् । युगपत् आगमने गुणवते दानं क्रमागमने प्रथमागतायेति व्यवस्थितो विकल्पः ।

शङ्खलिखितौ,

नाब्राह्मणोऽतिथिर्ब्राह्मणस्य श्रोत्रियाय गुणवते आतिथ्यं राजन्यवैश्याभ्यां मित्रवत् शूद्रायानृशंस्यार्थमातिथ्यं यथावत् ।

आतिथ्यं कर्त्तव्यमिति शेषः । मित्रवत् अन्नमात्रं देयमित्यर्थः । आनृशंस्यार्थम् अनुकूलतार्थम् । ब्राह्मणस्य सर्वश्रेष्ठत्वमाह—

शातातपः,

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।
नमस्यः सर्वभूतानां वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ॥
नास्त्येषां पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु कश्चन ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥
अन्योऽन्यं गुरवो विप्रा अन्योन्यातिथयः स्मृताः ।
अन्योन्यमुपकुर्वन्ति तारयन्ति तरन्ति च ॥
यो हि यां देवतामिच्छेदाराधयितुं कथंचन ।
सर्वोपायप्रयत्नेन स तोषयतु ब्राह्मणान् ॥

देवता द्रव्यभूतेषु काचित्काश्चित्प्रतिष्ठिताः ।
ब्राह्मणो देवताः सर्वाः अतस्तं परिपूजयेत् ॥
आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितो भुवि ॥
पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

द्रव्यभूतेष्विति । ताम्रादिद्रव्यप्रभवेषु । काचित् केषुचित्स्थानेषु । काश्चिद्देवताः प्रतिष्ठिता इति सम्बन्धः । पाखण्डिनो वेदबाह्यागमार्थानुष्ठातारः। विकर्मस्थाः आश्रमस्था एव अनापदि आश्रमधर्मानुष्ठानत्यागिनः। वैडालव्रतिकाः "धर्मध्वजी सदा लुब्ध" इत्यादिना मनुना उक्ताः । शठाः समर्थाः अपि व्याजेन कर्मत्यागिनः । हैतुका वेदविरुद्धतर्कनिष्ठाः । बकवृत्तयः वस्तुतः शान्त्यादिरहिता अपि बहिः शान्त्यादिप्रदर्शकाः"अधोदृष्टिर्नैकृतिक"इत्यादिना मनुनोक्ताः । नार्चयेदित्यभिधानात्तेषाम् अतिथिवत् पूजनमात्रं निषिध्यते नतु भिक्षा। नमोऽस्तु धर्मायेति ब्रुवन् पाखण्डिभ्यः गृहाद्बहिः विष्णुबुद्ध्या दद्यादित्युक्तत्वात् ।

दक्षः,
आश्रमे तु यतिर्यस्य विश्राम्यति मुहूर्त्तकम् ।
किन्तस्यान्येन धर्मेण कृतकृत्यो हि स स्मृतः ॥
जन्मप्रभृति यत्पापं गृहस्थेन तु सञ्चितम् ।
निर्मार्जयति तत्सर्वमेकरात्रोषितो यतिः ॥

तथा,
नाग्निहोत्रेण दानेन नोपवासोपलेपनैः ।
देवताः परितुष्यन्ति यथाचातिथिपूजने ॥
अतिथिः पूजितो यत्तु ध्यायेच्च मनसा शुभम् ।

न तत्क्रतुशतैर्वापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥

**यमः,**

अपि शाकं पचानस्य शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
स्वदेशे परदेशे वा नातिथिर्विमना भवेत् ॥

**तथा,**

अतिथिं पूजयेद्यस्तु श्रान्तं चादृष्टपूर्वकम् ।
सवृषं गोशतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥

**याज्ञवल्क्यः,**

अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः श्रोत्रियो वेदपारगः ।
मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥

अध्वनीनः सततम् अध्वगामी ।

**गौतमः,**

आचार्यपितृव्यसखीनां निवेद्य वचनक्रिया ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरर्वाक् राज्ञश्च श्रोत्रियस्याश्रोत्रियस्यासनोदके ।

आचार्यपितृव्यसखीनाम्, आचार्यः उपनीय तु यः शिष्य मित्यादिना याज्ञवल्क्योक्तलक्षणः, एतेषां सिद्धमन्नादि निवेद्य वचनक्रिया ते यद् ब्रुवते तत्करणम् । ऋत्विगादीनां तूपस्थाने गृहागमने सति मधुपर्केण पूजा कर्तव्या । संवत्सरे प्रथमागमनापेक्षया अतीते सतीति शेषः । पुनःशब्दः मधुपर्कपूजाभ्यासविधानार्थः । यज्ञविवाहयोरर्वाक् अपि संवत्सरात् । पुनरित्यत्रापि सम्बध्यते । राज्ञश्च श्रोत्रियस्य मधुपर्केण पूजा कार्या । अश्रोत्रियस्य पुनः राज्ञः आसनोदके एव नतु मधुपर्कः ।

**तथाच मनुः,**

राजर्त्विक्स्नातकगुरुप्रियश्वशुरमातुलान् ।

अर्चयेन्मधुपर्केण ततः संवत्सरात्पुनः॥
राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थिते।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ नत्वयज्ञइति स्थितिः॥

**मनुविष्णू,**

स्ववासिनीः कुमारांश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा।
अतिथिभ्योऽग्रएवैतान्भोजयेदविचारयन्॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः॥
अग्रे प्रथमम्।

**गौतमः,**

भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविरान् जघन्यांश्चात्मनः पूर्वमेतान्भोजयेत्।

स्ववासिन्योऽविवाहितदुहितरः। स्थविराः वृद्धाः। जघन्याः भृत्याः। अत्रच यदतिथेः पूर्वमाम्नानं तदभ्यर्हितत्वप्रतिपादनार्थम्। यच्च मनुविष्णुवाक्ये स्ववासिन्यादिभोजनस्यातिथिभोजनात्पूर्वभावित्वमुक्तम्, तदपि क्षुधातुराणाम् अवश्यभोजनीयत्वार्थं नतु तत्रैव तात्पर्यम्। अदत्त्वा तु य एतेभ्य इति वाक्यशेषे दातुः पूर्वभोजननिन्दाश्रवणात्। तदनुरोधेन तस्य पुरस्ताद्भोजनविधानएव वाक्यस्य तात्पर्यमवगम्यते। तेजो वै घृतमिति घृतप्रशंसाश्रवणादिव अक्ताः शर्करा उपदधातीतिवाक्यस्य घृतविधाने। उभयपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तस्माद्वचनद्वयस्यापि तात्पर्यं दम्पत्योः शेषभोजनएव। अतिथिकुमारादीनां तु भोजने पौर्वापर्यमनियतम्।

**अतएव यमः,**

विद्वानग्निपरो नित्यमर्चयेत्पितृदेवताः।

गुरूनतिथिबालांश्च तर्पयेत्पूर्वमेव तु ॥
आत्मानं तर्पयेत्पश्चान्नियतो वाग्यतः शुचिः ।
स्त्रीशूद्रं तर्पयेत्पश्चादेष धर्मः सनातनः ॥

तथा,

अमृताशी भवेन्नित्यं विघसाशी तथा पुनः ।
अमृतं यज्ञशेषं तु हविष्यं भोजनं स्मृतम् ॥
भृत्यशेषं तु योऽश्नीयात् तमाहुर्विघसाशिनम् ।
भर्त्तुं योग्यो भृत्यः अवश्यपोषणीयः ।

मनुः,

भुक्तवत्सु च विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैवहि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥
देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄनाशाश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥
एवमतिथ्यादीन्पूजयतो गृहस्थस्य सर्वश्रेष्ठत्वमाह—

दक्षः,

देवैश्चैव मनुष्यैश्च तिर्यग्भिश्चोपजीव्यते ।
गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात्तस्मात् श्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥
त्रयाणामाश्रमाणां च गृहस्थो योनिरुच्यते ।
सीदमानेन तेनैव सीदन्तीहैव ते त्रयः ॥
मूलं प्राणो भवेत्स्कन्धः स्कन्धाच्छाखेति पल्लवाः ।
मूलेनैव विनष्टेन सर्वमेतद्विनश्यति ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन रक्षणीयो गृही सदा ।
राज्ञा चान्यैस्त्रिभिः पूज्यो माननीयश्च सर्वदा ॥

अन्यैः त्रिभिः ब्राह्मणवैश्यशूद्रैः । पूज्यो धनादिभिः । माननीयः आसनाभिवादनादिभिः ।

**बृहस्पतिः,**

आश्रमाणां समुत्पत्तिर्वर्धनं पालनं तथा ।
गृहस्थाज्जायते सम्यक् तस्मात्सोऽभ्यधिकः स्मृतः ॥

**मनुः,**

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठो गृहाश्रमी ॥

**वसिष्ठः,**

चतुर्णामाश्रमाणां तु गृहस्थस्तु विशिष्यते ।
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ॥
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
आतिथ्यादिकमकुर्वतो निन्दामाह—

**यमः,**

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
इन्द्रियप्रीतिजननं वृथापाकं विवर्जयेत् ॥

**मनुः,**

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येत सतामन्नं विधीयते ॥
यज्ञाः पञ्चमहायज्ञाः ।

**यमपैठीनसी,**

नात्मार्थं पाचयेदन्नं नात्मार्थं घातयेत् पशून् ।
देवार्थे ब्राह्मणार्थे च पचमानो न लिप्यते ॥

**जाबालः,**

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते अजपी पूयशोणितम् ।

अहुत्वा तु कृमीन्भुङ्क्ते अदत्त्वा विषभोजनम् ॥

अन्नदानं प्रकृत्य **व्यासः**,

ग्रासमप्येकमन्नस्य यो ददाति दिनेदिने ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति नरकं न च पश्यति ॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यस्योपरि तिष्ठतः ।
अन्नप्रदाता दुर्भिक्षे सुभिक्षे वस्त्रहेमदः ॥
अग्नौ हुत्वा विधानेन यत्पुण्यफलमाप्यते ।
तेन तुल्यं विशिष्टं वा ब्राह्मणे तर्पिते फलम् ॥
ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।
अन्नदानं हि शूद्रे च स्याद्विप्रे वा ऽविशेषतः ॥

अत्र **देवलः**,

अघृतं भोजयन्विप्रं स्वगृहे सति सर्पिषि ।
परत्र निरयं घोरं गृहस्थः प्रतिपद्यते ॥
मृष्टमन्नं स्वयं भुक्त्वा पश्चात्कदशनं नरः ।
ब्राह्मणान्भोजयेन्मूर्खो निरये चिरमावसेत् ॥

**विष्णुः**,

कृत्वाऽपि पातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन युज्यते ॥

**व्यासः**,

वेदविद्याव्रतस्नाते श्रोत्रिये गृहमागते ।
क्रीडन्त्योषधयः सर्वा यास्यामः परमां गतिम् ॥ इति ।

**महाभारते**,

घासमुष्टिं परगवे सान्नं दद्यात्तु यः सदा ।
अकृत्वा स्वयमाहारं स्वर्गलोकं स गच्छति ॥

स्वर्गलोकगमनकामः परगवे सान्नं घासमुष्टिं दद्यादित्यर्थः ।

तत्र मन्त्रः ब्रह्मपुराणे उक्तः,

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः ।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ॥
दद्यादनेन मन्त्रेण गवां ग्रासं सदैव हि ।
गवां कण्डूयनं ग्रासं ग्रासमाह्निकमेवच ।
दत्त्वा भवेन्महापुण्यं गोप्रदानसमं नृणाम् ॥

भविष्यपुराणे,

तृणोदकादिसंयुक्तं यः प्रदद्याद्गवादिकम् ।
कपिलाशतदानस्य फलं विद्यान्न संशयः ॥
पञ्चभूते शिवे पुण्ये पवित्रे सूर्यसंभवे ।
प्रतीच्छेदं मया दत्तं सौरभेयि नमोऽस्तु ते ॥

इत्यतिथिपूजा ॥

## अथ भोजनविधिः ।

तत्र दक्षः,

पञ्चमे च तथा भागे संविभागो यथार्हतः ।
देवपितृमनुष्याणां कीटानां चोपदिश्यते ॥
संविभागं ततः कृत्वा गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ।

संविभागः संविभज्य प्रतिपादनं, देवपित्रादियुक्तवैश्वदेवादिक्रियां कृत्वा भोक्तव्यमित्यर्थः । भोजनं चेत्थं कार्यमित्याह-

बौधायनः,

सुप्रक्षालितपाणिपादोऽप आचम्य शुचौ संवृते देशेऽन्नमुपसंगृह्य कामक्रोधलोभमोहानपहत्य सर्वाभिरङ्गुलीभिः शब्दमकुर्वन् प्राश्नीयात् । न पिण्डशेषं पात्र्यामुत्सृजेत् । मांसमत्स्यतिलमधुसंसृष्टं प्राश्याप उपस्पृश्याग्निमभिस्पृशेदिति ।

संवृते देशे वस्त्रादिना परिवेष्टिते देशइत्यर्थः । उपसंगृह्येति । उप-

नीतमन्नं समीपस्थे पात्रे सम्यक् प्रीतिपूर्वकं गृहीत्वेत्यर्थः। शब्दमकुर्वन् शीत्कारादिध्वनिमकुर्वन्। पिण्डशेषम् अशितुं गृहीतस्य ग्रासस्य शेषमित्यर्थः। मांसेति। मांसादिसंसृष्टान्नप्राशने शुद्धाचमनं कृत्वाऽग्निः स्प्रष्टव्य इति विशेषः।

**देवलोऽपि,**

स्नात्वा प्रक्षाल्य पादौ च स्रग्गन्धालंकृतः शुचिः।
पञ्चयज्ञावशिष्टं तु भुङ्क्ते यः सोऽमृताशनः॥
उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वाग्यतः।
प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत शुचिः पीठमधिष्ठितः॥ इति।

**स्मृत्यर्थसारे,**

गोमयं मृन्मयं वाऽऽश्वत्थं पालाशमार्क्कमयोबद्धं पीठं वर्जयेत्।

**ब्रह्मपुराणे,**

विशोद्धोजनभूमिं तु सुप्रक्षालितपाणिमान्।
आसनस्थस्तु यो दर्पात् पङ्क्तिमध्ये उपस्पृशेत्॥
स सर्वेषां तु यत्पापं तत् गृह्णाति नराधमः।
तस्माद्बहिरुपस्पृश्य आचान्तः प्रविशेत् गृहम्॥
उपलिप्य समे स्थाने शुचौ श्लक्ष्णासनान्विते।
चतुरस्रं त्रिकोणं तु वर्त्तुलं चार्द्धचन्द्रकम्॥
कर्त्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम्।
ब्रह्मरुद्रेन्द्रचन्द्रार्कवसवो मण्डलान्तरात्॥
निवेदितं नरैरन्नं तस्माद् गृह्णन्ति नान्यथा।
अकृत्वा मण्डलं ये तु भुञ्जते ऽधमयोनयः॥
तेषां तु यक्षरक्षांसि हरन्त्यन्नस्य तद्बलम्। इति।
उपस्पृशेत् आचामेत्। गृहं यत्र भुज्यते तदित्यर्थः।

**विष्णुपुराणे,**

नैकवस्त्रधरो नार्द्रपाणिपादो नरेश्वर ।
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि नचैवान्यमना नरः ।

विदिङ्मुखः आग्नेयादिकोणाभिमुखः ।

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ इति ।

आयुष्यम् आयुषे हितम् । यशस्यं यशसे हितम् । श्रियम् ऋतम् इत्यत्रोभयत्रेच्छन्नित्यध्याहारः । ऋतं सत्यं यज्ञं वा । एवं च प्राङ्मुखोदङ्मुखत्वयोः विष्णुपुराणस्थवचने फलासंयोगेन विधानात् मनुवचने च फलसंकीर्त्तनात् नित्यत्वं काम्यत्वं च । दक्षिणामुखत्वप्रत्यङ्मुखत्वयोस्तु फलार्थतयैव विधानात् केवलकाम्यत्वम् । एवंच-

भुञ्जीत नैवेह च दक्षिणामुखो नच प्रतीचीमभिभोजनीयः ।

इति वामनपुराणस्थनिषेधो निष्कामविषयः । सकामस्य आयुष्यं प्राङ्मुख इत्यादिना दक्षिणामुखत्वप्रत्यङ्मुखत्वयोर्विधानात् । अयं च दक्षिणामुखनिषेधो जीवन्मातृविषयः । पुष्टिकामं प्रकृत्य वाग्यतो दक्षिणाभिमुखो भुञ्जीत अनायुष्यं त्वेवंमुखस्य भोजनं मातुरुपदिशन्तीति आपस्तम्बवचनादिति कल्पतरुः । मातुरनायुष्यमित्यन्वयः ।

**स्मृत्यर्थसारे** भोजनं प्रकृत्योक्तं,

न विदिङ्मुखो न दुष्टपङ्क्तौ, जलतृणाग्निभस्मपथिस्तम्भैःपङ्क्तिर्भिद्यतइति ।

**हारीतः,**

नाधिशयने नासने वाऽश्नीयात् न कार्ष्णायसे न मृत्पात्रे न भिन्नावकीर्णे इति ।

अधिशयने उपरिशयने खट्वादौ । आसने पीठादौ । अन्न प-

कृत्येति शेषः । कार्ष्णायसे लोहपात्रे । भिन्ने स्फुटिते । अवकीर्णे शूद्रभोजनादिनाऽपवित्रिते ।

**यमः,**

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत पञ्चार्द्रो वाग्यतः शुचिः ।
भुञ्जीत आर्द्रपादस्तु नार्द्रपादः स्वपेन्निशि ॥

पञ्चार्द्रः पाणिद्वयं चरणद्वयं मुखं चेति पञ्चार्द्राणि यस्य सः। पञ्चार्द्रत्वम् अभिधाय पुनरार्द्रपादताभिधानमादरातिशयार्थम् ।

**आश्वमेधिके,**

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीयात् प्राङ्मुखश्चासने शुचौ ।
पादाभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा पादेनैकेन वा पुनः ॥

**विष्णुपुराणे,**

स्नातो यथावत्कृत्वा तु देवर्षिपितृतर्पणम् ।
प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ॥ इति ।

प्रशस्तरत्नानि गारुडादीनि ।

**मनुः,**

सायम्प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

अत्र सायम्प्रातः शब्दौ रात्रिदिवसपरौ।

**तथाच छंदोगपरिशिष्टे कात्यायनः,**

मुनिभिर्द्विरशनमुक्तं विप्राणामन्त्यवासिनां नित्यम् ।
अहनि च तथा तमस्विन्यां सार्धप्रहरयामान्तः ॥

अत्राहःशब्दः पञ्चमभागपरः । प्रागुक्तदक्षवाक्ये पञ्चमभागे भोजनविधानात् । दिवा रात्रौ च क्रियमाणत्वेन अग्निहोत्रसमत्वम् । अन्तराभोजननिषेधो मूलफलादेरन्यत्र ।

**तथाचापस्तम्बः,**

दिवा न भुञ्जीतान्यत्र मूलफलेभ्य इति ।

चकारः पुनःशब्दार्थे ।

**ब्रह्मपुराणे,**

पात्रेष्वन्नानुरूपेषु पुत्रभृत्यानुजैः सह ।
भूमौ पात्रं प्रतिष्ठाप्य मौनेनान्नं तु भोजयेत् ॥
पवित्रपाणिः पुण्यं च लभेत्तत्राघमर्षणम् ।

अन्नानुरूपेषु स्वविभवानुसारेण सौवर्णराजतादिषु । अघमर्षणम् अघमर्षणजन्यं फलम् । क्वचित् जपेदिति पाठः । तत्राघमर्षणतुल्यमेव ।

**तथा,**

वामेन पाणिना पात्रं गृहीत्वा तु भुवि स्थितम् ।
तेजोसीति जपंस्त्वन्नं प्रणमेनोदितं च यत् ॥

**मार्कण्डेयपुराणे,**

उपघातादृते दोषं नान्नस्योदीरयेत् बुधः ।

उपघातः श्वकाकादिस्पर्शरजस्वलादिदर्शनादिः ।

**ब्रह्मपुराणे,**

अपोशानं तु गृह्णीयात् सर्वतीर्थमयं हि तत् ।
अमृतोपस्तरणमसि विष्णोरन्नमयस्य च ॥
हस्तेन लङ्घयेन्नान्नं सोदकेन कदाचन ।
दम्भाद् यो लङ्घयेत् भुञ्जन् तेनान्नं निहतं भवेत् ॥
हतं चान्नमभक्ष्यत्वं तस्य याति दुरात्मनः ।
पञ्चग्रासांस्तु भुक्त्वाऽऽदौ क्वचित् वेश्मनि संकटे ॥
पात्रमुद्धृत्य शेषं तु भक्षयेत् संकरात् भयात् ।

अश्नीयानन्तरं स्वाहाकारः कार्य इति केचित् ।

**व्यासः,**

भूमौ पात्रं प्रतिष्ठाप्य यो भुङ्क्ते वाग्यतः शुचिः ।
भोजने भोजने नित्यं त्रिरात्रफलमश्नुते ॥
न्यस्तपात्रस्तु भुञ्जीत पञ्चग्रासान् महामुने ।
शेषमुद्धृत्य भोक्तव्यं श्रूयतामत्र कारणम् ॥
विप्रुषां दोषसंस्पर्शः पादचैलरजस्तथा ।
सुखेन भुङ्क्ते विप्रो ऽपि पित्र्यर्थे तु न लुप्यते ॥ इति ।

विप्रुषां मुखबिन्दूनां पादयोः पतनेन दोषसंस्पर्शः । तथा भोजनपात्रे पादयोः चैलस्य च रज उद्धृत्य भोजने न प्रसज्यतइत्यर्थः । अभुग्नपृष्ठतया च सुखेन भुङ्क्तइत्यर्थः । अत्र उद्धृत्य भोजने विप्रुषां दोषसंस्पर्श इत्यादिना कारणसंकीर्त्तनात् दोषाप्रसक्तौ न पात्रोद्धरणम्। स्मृत्यर्थसारे प्राणाहुत्यूर्ध्वमुद्धृत्य पात्रं यन्त्रे विनिक्षिपेदिति नित्यवदुद्धरणश्रवणादावश्यकमुद्धरणमिति केचित् ।पित्र्यर्थे तु न लुप्यतइति । पित्र्यर्थे भूमिपात्रप्रतिष्ठापनं न लोपनीयमित्यर्थः ।

तथाच ब्रह्मपुराणे,
पित्र्ये कर्मणि भुञ्जानो भूमौ चान्नं न चालयेत् । इति ।
**स्मृत्यर्थसारे,**
यदा प्राणाहुत्यूर्ध्वं पात्रमुद्धरेत् भूमौ निधाय गण्डूषं पिबेत्।
**ब्रह्मपुराणे,**
प्राणेभ्यस्त्वथ पञ्चभ्यः स्वाहाप्रणवसंयुताः ।
पञ्चाहुतीस्तु जुहुयात् प्रलयाग्निनिभेषु च ॥

प्राणाः प्राणापानव्यानोदानसमानाः । स्वाहाप्रणवसंयुताः स्वाहान्ताः प्रणवाद्याः ॐप्राणाय स्वाहेत्यादिरूपा इत्यर्थः । प्रलयाग्निनिभेष्विति। एवं ध्यातव्यम्भ्वित्यर्थः । भोजने च बलिदानमुक्तं भविष्यपुराणे,

भोजनात्किंचिदन्नाद्यं धर्मराजाय वै बलिम्।
दत्त्वाऽथ चित्रगुप्ताय प्रेतेभ्यश्चेदमुच्चरन्॥
यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृषोपहतात्मनाम्।
प्रेतानां तृप्तयेऽक्षय्यमिदमस्तु यथासुखम्॥ इति।
यत्रक्वचनेत्यादिवाक्यमुच्चरन् प्रेतेभ्यो बलिं दद्यादित्यर्थः।
**स्मृत्यर्थसारे,**
प्राणाहुतौ घृताभावे पश्चात् घृतं न भुञ्जीत।
**ब्रह्मपुराणे,**
भुक्त्वाऽमृतापिधानार्थं पिबेत्तोयं सकृत्सकृत्।
येनान्नं न भवेन्नग्नं जीवभूतं जगत्त्रये॥
एवं भुञ्जन् सदा विप्रो ज्ञातिप्राधान्यमाप्नुयात्।

गोभिलः, ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं, सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः।
अन्तश्चरासि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वं ब्रह्मा त्वं प्रजापतिः॥

आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोममृतोपस्तरणमसीत्यपः पीत्वा दशहोतारं मनसाऽनुस्मृत्य सत्वरं पञ्च ग्रासान् गृह्णीयात्। प्राणाय स्वाहेति गार्हपत्यमेव तेन जुहोति। अपानाय स्वाहेति अन्वाहार्यपचनमेव तेन जुहोति। व्यानाय स्वाहेति आहवनीयमेव तेन जुहोति। उदानाय स्वाहेति सभ्यमेव तेन जुहोति। समानाय स्वाहेति आवसथ्यमेव तेन जुहोतीति।

ऋतमिति। अनेन मन्त्रेण सायमन्नं परिषिञ्चेदित्यर्थः। एवमग्रेऽपि।

**स्मृत्यन्तरे,**
अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।

एवं ध्यात्वा तु यो भुङ्क्ते अन्नदोषैर्न लिप्यते ॥

हारीतः,

अथ ब्राह्मणानां भोजनविधिं प्रवक्ष्याम्यहं स्नातोऽहतवासाः पवित्रात्मा प्राङ्मुख आसीनः पाणी प्रक्षाल्य दशहोतारं निगद्येन्द्र गच्छ स्वाहेति, ध्यायेदव्यक्तं पुरुषम् ॐतेजोऽसीति, अन्नाद्यमाह्रियमाणमभिमन्त्रयेत् द्यौस्त्वा ददात्विति, दीयमानं भूस्त्वा प्रतिगृह्णात्विति प्रतिगृह्य, अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानो जस्रो घर्मोहविरस्मि नाम॥ अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः। यो मा ददाति स इ देवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि॥ इत्यन्नमभिमन्त्रयेत्।

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ॥

ब्रह्मभूर्भुवःस्वरोममृतोपस्तरणमसीत्यपः प्राश्य प्राणाय स्वाहेत्येकैकयाऽऽहुत्या सर्वान् प्राणान् प्रीणाति समस्ता निगिरेदथ मैत्रायमाणे प्रतिष्ठ आयुषे स्वाहेति दशैताः प्राणाहुतीरायुष्कामो भुञ्जीतैवं यथा ह्याह यथाकामं समश्नुते अन्तश्चरसीत्यभिधाय इदममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि परमात्मनि जुहोमि स्वाहेति प्राणा आत्मानं तेन प्राणानाप्यायस्वेति हृदयदेशमालभ्य जपति प्राणानां ग्रन्थिरसि इति प्राणदेशं विष्णोर्जठरमसीति नाभिदेशं यो देवानामसि श्रेष्ठ उदग्रस्तं पितरो मृषाऽमृतमस्मभ्यं रुद्रैतदस्तु हुतं ततः स्वाहेति पुनरपि हृदयदेशमालभ्य जपति सावित्रीं चानुभाष्य त्रिरापो वसाना बहून। च स भुक् सकर्मानुवाककर्मेषु प्रीयतां विश्वभुगिति स्वाध्यायेनाव्यक्तं पुरुषं मूत्रपुरीषे रथ्यामात्रस्य श्मशानं प्राचान्तः पुनराचामेत एवं यो ब्राह्मणो भुङ्क्ते स पुण्यतमो भवति पङ्क्तिपावनो भवति उभयतः पक्षाणि तर्पयति मनुष्यांश्च

र्पयति अभोज्यस्यान्नं पुनाति ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छत्येवं ह्याहेति ।

दशहोता चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यमित्यादिको मन्त्रः । इन्द्र गच्छ स्वाहेति मन्त्रान्तेन चित्तिः स्रुगित्यादि दशहोतृमन्त्रप्रदर्शनम् । एतं मन्त्रमुच्चार्य । अव्यक्तं पुरुषं जगत्कारणम् । प्राणानिति प्राणापान-व्यानोदानसमानानां ग्रहणम् आहुतिग्रहणमनामिकाङ्गुष्ठग्राह्यान्न-ग्रहणार्थम् । क्षिप्ताहुतिं निगिरेन्न दन्तभिन्नां कुर्यात् । अपरा दशाहुतयः आयुषे स्वाहेत्येवमाद्याः काम्याः । यथाकाममित्यनेनैतदुक्तं, शेषा-हुतिषु निगरणनियमो नास्ति । सावित्रीं त्रिरुच्चार्यापो वसानामि-त्यादिमन्त्रेणाव्यक्तं पुरुषं ध्यायेत् । एवंभूतेतिकर्त्तव्यताके भोजने वैश्वानरविदोऽधिकार इत्युपनिषद्विदः । अयं चार्थः पुण्यतमो भवतीत्याद्यनुवादेन सूचितः ।

भोजने पात्राण्याह पैठीनसिः,

सौवर्णे राजते ताम्रे पद्मपत्रपलाशयोः ।

भोजनेभोजने चैव त्रिरात्रफलमश्नुते ॥

एक एव तु यो भुङ्क्ते विमले कांस्यभाजने ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥ इति ।

ताम्रपात्रं गृहिव्यतिरिक्तविषयम् । गृहस्थस्य तन्निषेधात् ।

तथाच वृद्धमनुः,

ताम्रपात्रे न भुञ्जीत भिन्नकांस्ये मलाविले ।

पलाशपद्मपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं चरेत् ॥

ऐन्दवं चान्द्रायणम् । अत्र पलाशनिषेधो वल्लीपलाशविषयः । पद्मपत्रनिषेधस्तु स्थलपुष्करविषयः ।

वल्लीपलाशपत्रे च स्थलजे पौष्करे तथा ।

गृहस्थश्चेत्तु नाश्नीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति वचनात् ।

**तथा स्मृत्यन्तरेऽपि,**

कदलीगर्भपत्रे च पद्मपत्रे जलास्पृशि ।
वल्लीपलाशपत्रे च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

कांस्यपात्रं तु गृहस्थमात्रविषयम् । यत्यादेस्तन्निषेधात् ।

**यथाह प्रचेताः,**

ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रेऽन्नभोजनम् ।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत् ॥ इति ।

एक एव तु यो भुङ्क्ते इति । यदि तस्मिन्पात्रेऽन्यः कदाऽपि न भुङ्क्त इत्यर्थः । सौवर्णादिपात्रेषु विशेषो व्यासेनोक्तः,

सौवर्णं राजतं ताम्रं पात्रं शुक्तिजशङ्खजे ।
अश्मजं स्फाटिकं चैव न भेदाद् दोषमर्हति ॥ इति ।

निषिद्धपत्राण्याह व्यासः,

वटार्काश्वत्थपर्णेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः ।
कोविदारकरञ्जे च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

**प्रचेताः,**

मृन्मये पर्णपृष्ठे वा कार्पासे तान्तवे तथा ।
नाश्नीयान्न पिबेच्चैव न करे न तथा मणौ ॥ इति ।

**भविष्ये,**

न मुक्तकेशैर्भोक्तव्यं न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
सुप्तव्यं नैव नग्नेन नचोच्छिष्टस्तु संविशेत् ॥

**स्मृत्यन्तरे,**

अस्पृश्यस्पर्शनं कृत्वा यदा भुङ्क्ते गृहाश्रमी ।
अकामतस्त्रिरात्रं स्यात् षड्रात्रं कामतश्चरेत् ॥

**स्मृत्यन्तरे,**

पालाशे पद्मजे पत्रे स्वर्णरूप्ये तथैव च ।

यः करोत्यशनं तस्य प्राजापत्यं दिनेदिने ॥

भोजनकाले जलपात्रं दक्षिणतो निधातव्यम्। तदाह—

**बृहत्पराशरः,**

वामहस्ते धृते पात्रे दक्षिणे चाम्भसि स्थिते।
स्वाहान्तैः प्रणवाद्यैश्च स्वनाम्ना वायुभिः पुमान् ॥
जितात्मा योजितः षष्ठः षडाहुत्या हुतं चरेत्।

षष्ठः प्राणादिपञ्चकापेक्षया षष्ठ इत्यर्थः। षष्ठी आहुतिः ब्रह्मणे स्वाहेति।

**स्मृत्यन्तरे,**

दक्षिणं यः परित्यज्य वामे नीरं निधापयेत्।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं पानीयं सुरया समम् ॥

भोजने मौनं कर्त्तव्यमित्युक्तं **व्यासेन,**

स्नास्यतो वरुणः शक्तिं जुह्वतोऽग्निर्हरेत् श्रियम्।
भुञ्जतो मृत्युरायुष्यं तस्मान्मौनव्रतं चरेत् ॥

स्नानादिषु वरुणादयः शक्त्यादिकं हरन्ति। तस्मात् स्नानादिषु त्रिषु मौनं कर्त्तव्यम् इत्यर्थः। यत्तु अत्रिणा भोजनं प्रकृत्योक्तं,

मौनं व्रतं महाकष्टं हुंकारेण विनश्यति।
तथासति महादोषस्तस्मात्तं नियतं चरेत् ॥ इति,

तत् काष्ठमौनाभिप्रायम्। प्राणाहुतिषु तु काष्ठमौनमाचरेत्।

पञ्चग्रासान्महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत्।

इति विष्णुपुराणवचनात्। महामौनमिति सर्वथा ध्वनिनिवृत्तिरभिमता।

अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।
पञ्चग्रासान्महामौनं प्राणाद्याप्यायनं हि तत् ॥

इति वृद्धमनुस्मृतौ वाग्यममभिधाय महामौनकीर्त्तनात् ।

वाग्यमनेऽपवाद उक्तः **स्मृत्यन्तरे,**

यवीयान् सपिता चैव भुक्त्वा श्राद्धिकभोजनम् ।
प्राणाग्निहोत्रादन्यत्र नासौ मौनं समाचरेत् ॥

**स्मृतिमञ्जर्यां,**

पात्रस्य धारणं मौनं त्यजेच्च भ्रातृमान् गृही । इति ।

**आश्वमेधिके,**

मौनी वाऽप्यथवा ऽमौनी प्रहृष्टः संयतेन्द्रियः ।
भुञ्जीत विधिवद्विप्रो नचोच्छिष्टानि चर्वयेत् ॥

प्राणाहुतिषु विशेषमाह **शौनकः,**

तर्ज्जनीमध्यमाङ्गुष्ठलग्ना प्राणाहुतिर्भवेत् ।
मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैरपाने जुहुयात् बुधः ॥
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्व्याने तु जुहुयाद्बुधः ।
तर्जनीं तु वहिः कृत्वा उदाने जुहुयाद् बुधः ॥
समाने सर्वहस्तेन समुदायाहुतिर्भवेत् ।

सर्वाङ्गुलीभिरश्नीयादिति सामान्यविधेस्तु पञ्चग्रासस्यापि तथैवेतितु श्रीदत्तः । प्राणाहुतिषु प्राणापानव्यानोदानसमानानां क्रमेण पञ्चाहुतयः, पूर्वोक्तगोभिलात् ।

**विष्णुपुराणे तु,**

प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा ।

इति क्रमान्तरेणोक्ताः । पञ्चाहुतयश्च न दन्तभेद्याः । समस्ता निगिरादिति हारीतवचनात् ।

**अत्र बौधायनः,**

अथ शालीनयायावरात्मयाजिनां प्राणाहुतीर्व्याख्यास्यामः सर्वावश्यकावसानेषु प्रक्षालितपाणिपादोऽप आचम्य सं-

ष्टोपलिप्ते शुचौ संवृते देशे प्राङ्मुख उपविश्य ध्रुवाद्यौरिति ज-
न् पृथिवीमावाहयेत् घृतवतीमिति भूम्यां पात्रं प्रतिष्ठाप्य मूर्धानं
देव इति उद्धृतमाह्रियमाणं भूर्भुवः स्वरोमित्युपस्थाय वाचं यच्छेत्
यस्तं महाव्याहृतिभिः प्रदक्षिणमन्नमुदकं परिषिच्य सव्येन पा
णिना ऽविमुञ्चन् अमृतोपस्तरणमसीति पुरस्तादपः पीत्वा पञ्चान्ने
न प्राणाहुतीर्जुहोति श्रद्धायां प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो मा
विशा प्रदाहाय प्राणाय स्वाहा श्रद्धायाम् अपाने निविष्टोऽमृतं जुहोमि-
शिवो मा विशा प्रदाहाय अपानाय स्वाहा श्रद्धायां व्याने निविष्टो
ऽमृतं जुहोमि शिवो मा विशा प्रदाहाय व्यानाय स्वाहा श्रद्धायाम् उदा-
ने निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो मा विशा प्रदाहाय उदानाय स्वाहा
श्रद्धायां समाने निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो मा विशा प्रदाहाय समा-
नाय स्वाहेति पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्हुत्वा तूर्ष्णीं भूयो व्रतयेत् प्रजा-
पतिं मनसा ध्यायन् नान्तरा वाचं विसृजेत् यदन्तरा वाचं वि-
सृजेत् भूर्भुवः स्वरोमिति जपित्वा पुनरेव भुञ्जीताथाप्युदाहर-
न्ति त्वक्केशनखकीटाखुपुरीषाणि दृष्ट्वा तं देशं पिण्डमुत्सृज्य अ-
द्भिरभ्युक्ष्य भस्मावकीर्य पुनरद्भिः प्रोक्ष्य वाचा च प्रशस्तमुपयु-
ञ्जीताथाप्युदाहरन्ति,

आसीनः प्राङ्मुखोऽश्नीयात् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
अस्कन्दयंस्तन्मनाश्च भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत् ॥

इति सर्वभक्ष्यापूपकन्दमूलफलमांसानां दन्तैर्नावद्येत् नाति-
सुहितोऽमृतापिधानमसीत्युपरिष्टादपः पीत्वाऽऽचान्तो हृदयदेश-
मभिमृशति प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकस्तेनान्नेनाप्या-
यस्वेति पुनराचम्य दक्षिणे पादाङ्गुष्ठपाणिं निश्रावयति,

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।
ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुक् ॥ इति ।

अथ हुतानुमन्त्रणम् । ऊर्ध्वहस्तः समाचरेत् श्रद्धायां प्राणे निविश्यामृतं हुतं शिवो मा शिवमाविश प्राणमन्नेनाप्यायस्व श्रद्धायामपाने निविश्यामृतं हुतं शिवो मा शिवमाविश अपानमन्नेनाप्यायस्व श्रद्धायां व्याने निविश्यामृतं हुतं शिवो मा शिवमाविश व्यानमन्नेनाप्यायस्व श्रद्धायामुदाने निविश्यामृतं हुतं शिवो मा शिवमाविश उदानमन्नेनाप्यायस्व श्रद्धायां समाने निविश्यामृतं हुतं शिवो मा शिवमाविश समानमन्नेनाप्यायस्वेति । ब्रह्मणि मआत्माऽमृतत्वायेत्यनेनाक्षरेणात्मानं योजयेत् । सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते ।

अथाप्युदाहरन्ति । यथाहि तूलमैषीकमग्नौ प्रोतं प्रदीप्यते तद्वत्सर्वाणि पापानि दह्यन्ते ह्यात्मयाजिनः केवलाघो भवति केवलादी मोघमन्नं विन्दतइति च । स एवमेवाहरहः सायं प्रातर्जुहुयाद्द्विर्वा सायम् ।

शालीनः शालानिवासशीलः।यायावराश्च सर्वदाऽटनशीलाः गृहस्थविशेषाः । आत्मयाजी योऽग्निमेव ससाधनं परमात्मबुद्ध्या उपास्ते।आवश्यकं स्नानादिपञ्चयज्ञान्तम्। संमृष्टे संमार्जन्यादिना शोधिते।उपलिप्ते गोमयोदकाभ्याम् । उद्धृतम्,अन्नमिति शेषः । क्वचिद् भूतमिति पाठः।तत्र भूतं सिद्धमित्यर्थः । उपस्थानमत्र तत्संमुखत्वेन नम्रीभावः।न्यस्तं पात्रे निहितम्। प्रदक्षिणमन्नमुदकं परिषिच्येति । उदकं गृहीत्वा सर्वतोदिक्कं प्रदक्षिणमुदकसेचनम् अन्नस्य कुर्वेत्यर्थः। अविमुञ्चन् इति छेदः। पात्रमिति शेषः। पञ्च प्राणाहुतीरित्यन्वयः । वाचं यच्छेदित्यभिधाय तूष्णींग्रहणं पञ्चग्रासीपर्यन्तं महामौनमूर्ध्वं तु मौनमात्रमिति विशेषद्योतनार्थम् ।

**तथाच वृद्धमनुः,**

अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।

पञ्च ग्रासान्महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥ इति ।

व्रतयेत् अश्नीयात्। त्वक्केशनखेत्यादि।एतानि अन्नमध्ये दृष्ट्वा तत्संसृष्टमन्नैकदेशम् उत्सृज्य।पात्रस्थम् अन्नमद्भिरभ्युक्षणादिप्रोक्षणान्ते कृते प्रशस्तमिति ब्राह्मणवाचा च प्रशस्तमुपयुञ्जीतेत्यर्थः। अस्कन्दयन् अन्नमविकिरन्। अग्निमुपस्पृशेदिति। अग्न्युपस्पर्शनं च शालीनादीनां निस्रवत्।भोजनाङ्गतिलादिसंसृष्टान्नभक्षणरूपनिमित्तासंकीर्त्तनात्। सर्वभक्ष्यग्रहणादेवापूपादिप्राप्तौ तद्ग्रहणं दोषातिशयार्थम्।दन्तैर्नावद्येत् दन्तैःखण्डयित्वा न भक्षयेदित्यर्थः।ब्रह्मणि मआत्मा अमृतत्वायेत्यनेन मन्त्रेणाक्षरेण परब्रह्मणा आत्मानं जीवं योजयेत्। एकतया चिन्तयेदित्यर्थः। अद्भिर्वा सायमिति। सायं भोजनासंभवे अद्भिरेव प्राणाहुत्यादिकं सर्वं संपादनीयम्।

आपस्तम्बः,

पाणिग्रहणादधि गृहमेधिनोर्व्रतं कालयोर्भोजनमतितृप्तिश्चान्नस्य।

पाणिग्रहणादधि पाणिग्रहणोत्तरम्। गृहमेधिनोर्दम्पत्योः। कालयोः सायंप्रातःकालयोः। अन्नस्याशनेत्यर्थः। सुहितार्थयोगे षष्ठी।

बौधायनः,

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत्।
प्राणाग्निहोत्रलोपेनावकीर्णी च भवेत्तु सः ॥
अन्यत्र प्रायश्चित्तात् प्रायश्चित्ते तदेव विधानम्।
अथाप्युदाहरन्ति,
अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचन ॥
प्राणाग्निहोत्रमन्त्रांस्तु निरुद्धे भोजने जपेत्।

त्रेताग्निहोत्रमन्त्रान्वै द्रव्यालाभे यथा जपेत् ॥ इति ।
अत्र गृहस्थपदेनाहिताग्निर्विवक्षितः ।
आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।
अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥

इति वचनान्तरसंवादात् । अवकीर्णी अवकीर्णविहितप्रायश्चित्तार्हः । अन्यत्र प्रायश्चित्तात् उपवासरूपात् नक्ताच्च प्रायश्चित्तादन्यत्र । तत्र हेतुः प्रायश्चित्ते तु तदेव विधानम् अनशनमेव विशिष्य विहितम्।तेनेदमुक्तं भवति यत्राहिताग्न्युद्देशेन उपवासविधिः तत्रैवोपवासे कर्मणि तस्याधिकारो नान्यत्रेति । आहिताग्निरनड्वांश्चेत्यस्याप्ययमेवार्थ इति कल्पतरौ तात्पर्योपेतोऽर्थः ।

आपस्तम्बसूत्रव्याख्यायां हरदत्तेन तु एवं व्याख्यातं गृहस्थ इत्यादिवाक्यं नियमपरं, सायंप्रातःकालयोर्नियमेन भोक्तव्यमिति । आहिताग्निरित्यादिवाक्यं तु आहिताग्निविषये कालयोर्भोजनमित्ययमपि नियमो नास्तीति प्रतिपादयतीति ।

अन्ये तु गृहस्थपदे लक्षणामसहमाना एवं व्याचख्युः मरणान्तिकानशनादिरूपतपोविषयमिदं,प्राणाग्निहोत्रलोपेति प्राणलोपेनाग्निहोत्रोपलक्षितकर्मलोपेन चेत्यर्थः । तदयमर्थः । वानप्रस्थसंन्यासिनोः तादृशेन तपसा प्राणलोपस्तत्कृतश्च वानप्रस्थस्याग्निहोत्रलोपोऽपि नानुचितः। प्राणेषु विरक्तस्य कर्माशक्तस्यैः तदाश्रमविधानात् । गृहस्थब्रह्मचारिणोस्तु प्राणानामग्निहोत्रादीनां च लोपोऽत्यन्तमनुचितः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥ इति
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
इति वचनाभ्यां प्राणकर्मणामबाधनीयताप्रतिपादनादिति

अन्तरा प्रातराशमित्यादि। अन्तरा मध्ये । प्रातराशः प्रातर्भोजनम् । उपवासी उपवासफलभाक्। निरुद्धे भोजने इति। भोजनार्हत्वे सत्येवान्नाद्यसंभवादेर्भोजने निवृत्ते । त्रयोऽग्नयस्त्रेता, गार्हपत्यादयः । द्रव्यालाभे अग्निहोत्रहवनीयद्रव्यालाभे ।

पुष्टिकामाधिकारे आपस्तम्बः,

औदुम्बरश्चमसः सुवर्णलाभः प्रशस्तः नचान्येनापि भोक्तव्यं यावद्ग्रासं न स्कन्दयन्नापजहीत अपजहीत वा कृत्स्नं ग्रासं ग्रसेत्साङ्गुष्ठं नच मुखशब्दं कुर्यात् पाणिं च नावधुनुयात् आचम्यौष्ठौ पाणी धावयेत् आमोदकीभावात् ततोऽग्निमुपस्पृशेत् दिवा च न भुञ्जीत अन्यत्र मूलफलेभ्यः स्थालीपाकानुद्देश्यानि च वर्जयेत् सोत्तराच्छादनश्चैव यज्ञोपवीती भुञ्जीतेति ।

औदुम्बरस्ताम्रमयः।चमसो भोजनपात्रम्।सुवर्णलाभः सुवर्णबन्धः, पात्रस्येति शेषः । नचान्येनापीति। तत्पुत्रादिनाऽपि तत्पात्रे न भोक्तव्यमित्यर्थः। यावत् ग्रासं यावत् ग्रसितुं शक्यम् ।नापजहीत सव्येन पाणिना पात्रं न विमुञ्चेत् । अथवाऽपजहीत । अयं च व्यवस्थितो विकल्पः । यदि प्रथमं पात्रधारणम् उपक्रान्तं तदा धारणमेव, यदि न तदा अधारणमेवेति कपर्दीति कल्पतरुः।प्रोदकीभावः प्रचुरोदकत्वम्।बहुनोदकेनौष्ठादिप्रक्षालनं कुर्यादित्यर्थः। अग्न्युपस्पर्शनं तिलमांसादिभोजनविषयम् । मांसमत्स्यतिलमधुसंसृष्टं प्राश्याप उपस्पृश्याग्निम् उपस्पृशेदिति बौधायनसूत्रानुसारात्। दिवा च न भुञ्जीत, पुनरिति शेषः । चशब्दात् रात्रावपि पुनर्न भोक्तव्यम्। स्थालीपाकः पक्षादिचरुः। अनुद्देश्यानि च देवपित्राद्युद्देशेन असङ्कल्पितानि। सोत्तराच्छादनः सोपरिवस्त्र एव भुञ्जीत ।

विष्णुः,

न तृतीयमथाश्नीयान्नापथ्यं च कथञ्चन ।

नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥

अतिप्रगे अचिरोदितसूर्ये। अतिसायं सूर्यास्तमनसमये। प्रातराशितः प्रातस्तृप्तः सायं न भुञ्जीत।

मनुः,

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्।

उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि।

ब्रह्मपुराणे,

यस्तु पाणितले भुङ्क्ते यस्तु फूत्कारसंयुतम्।
प्रसृताङ्गुलिभिर्यश्च तस्य गोमांसवत्तु तत् ॥
नाजीर्णे भोजनं कुर्यात्स्याच्च नातिबुभुक्षितः।
हस्त्यश्वरथयानोष्ट्रप्रासादस्थो न भक्षयेत् ॥
श्मशानाभ्यन्तरगतो देवालयगतोऽपि वा।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥
न सन्ध्ययोर्न मध्याह्ने नार्धरात्रे कदाचन।
नार्द्रवासा नार्द्रशिरा नचायज्ञोपवीतवान् ॥
न प्रसारितपादस्तु पादारोपितपाणिमान्।
नावसक्थिकसंस्थश्च नच पर्यङ्किकास्थितः ॥
न वेष्टितशिराश्चापि नोत्सङ्गकृतभाजनः।
नैकवस्त्रो दुष्टमध्ये सोपानत्कः सपादुकः ॥
न चर्मोपरिसंस्थश्च चर्मवेष्टितपार्श्ववान्।
अन्नस्य जन्मकालुष्यं दुष्पक्तिं च न कुत्सयेत् ॥
ग्रासशेषं तु नाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्नच।
शाकमूलफलेक्ष्वादि दन्तच्छेदैर्न भक्षयेत् ॥
सञ्चयेन्नाम्नमन्नेन त्रिक्षिप्तं पात्रसंस्थितम्।
बहूनामश्नतां मध्ये न चाश्नीयात् त्वरान्वितः ॥

वृथा न विकिरेदन्नं नोच्छिष्टः कुत्रचिद्व्रजेत् ।
न स्पृशेत् स्वशिरो विप्रः सोच्छिष्टेनैव पाणिना ॥
तिलकल्के जलक्षीरं दधिक्षौद्रघृतानि तु ।
न त्यजेदर्धजग्धानि सक्तूंश्चाथ कदाचन ॥

प्रसृताङ्गुलीभिरसङ्कुचिताभिरङ्गुलीभिः। स्याच्च नातिबुभुक्षित
ते । अतिबुभुक्षयाऽऽत्मपीडा न कार्येत्यर्थः । यानं दोलादि।
न्मकालुष्यं निन्दितदेशोत्पत्त्या कालुष्यं मलिनत्वम्। सञ्चयेदि-
। । अन्नेन यूषादिना पात्रे विकीर्णमन्नं न राशीकुर्यात् । अर्ध-
ग्धानि किञ्चित् भुक्तानि ।

आपस्तम्बः,

न नावि भुञ्जीत तथा प्रासादे कृतभूमौ ।
आसीन इति शेषः । कृतभूमौ मृत्तिकाक्षेपेण संपादितभूमौ।

विष्णुपुराणे,

अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम् ।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकास्ततः ॥
प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयात् मध्ये तु कठिनाशनः ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी च बलारोग्ये न मुञ्चति ॥

ब्रह्मपुराणे,

सर्वाङ्गुलीभिरश्नीयात् नावधूयेत् करं क्वचित् ।
कुर्यात् क्षीरान्तमाहारं नच पश्चात् पिबेद्दधि ॥
जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन च ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

देवलः,

न भुञ्जीताघृतं नित्यं गृहस्थो भोजने स्वयम् ।
पवित्रमथ हृष्यं च सर्पिराहुरघापहम् ॥

वृष्यं पुष्टिकरम् ।

ब्रह्मपुराणे,

न चासन्दीस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर।
नाकाले नातिसङ्कीर्णे नादत्त्वाऽग्रं नरो ग्रसेत् ॥
नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते ।
मध्वन्नदधिसर्पिर्भ्यः सक्तुभ्यश्च विवेकवान् ॥

आसन्दी वेत्रादिनिर्मिता । अदेशे रथ्यादौ। अकाले संध्यादौ । अग्रम् अग्रं ग्रासचतुष्टयमिति प्रसिद्धम्। अन्यत्रेत्यस्य मध्वन्नदधिसर्पिर्भ्यः सक्तुभ्यश्चेत्युभयत्राप्यन्वयः ।

स्मृत्यर्थसारे,

ग्रहणे नाश्नीयात् तदा स्नानतर्पणश्राद्धदानादि कृत्वा मोक्षस्नानं कृत्वाऽश्नीयात् सूर्यग्रहे पूर्वचतुर्यामं नाद्यात् चन्द्रग्रहे त्रियामम् अमुक्तयोरस्तङ्गतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा परेऽहन्यद्यात् ।

हारीतः,

न क्रुद्धो नान्यमना नातिभाषणोऽश्नीयात् न शिशून् भर्त्सयन् नाप्रदाय प्रेक्षमाणेभ्यो नच तदश्नीयात् येन देवपितृमनुष्यार्थं न कुर्यात् । एवं ह्याह,

आत्मार्थं भोजनं यस्य रत्यर्थं यस्य मैथुनम् ।
वृत्त्यर्थं यस्य चाधीतिर्निष्फलं तस्य जीवितम् ॥

प्रेक्षमाणेभ्यः प्रकर्षेण साभिलाषमीक्षमाणेभ्यः । भोजनं भुज्यमानमन्नम् ।

मनुः,

स्वग्रामे ग्रामतो वापि सन्निकृष्टे मृते सति ।
न भुञ्जीताशनं धीमान् अधर्म्यं शोककारणात् ॥

स्वग्रामे स्वग्रामिणे। ग्रामतः सन्निकृष्टे एकग्रामान्तरे। अधर्म्यम-

धर्मसाधनम्।

**याज्ञवल्क्यः,**

न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्नैकवासा नच स्थितः।

भार्यादर्शने पश्यन्त्यां भार्यायामिति कल्पतरुः।

**मनुः,**

नाश्नीयात् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।

**अङ्गिराः,**

भार्यया सह योऽश्नीयात् उच्छिष्टं वा कदाचन।
न तस्य दोषं मन्यन्ते नित्यमेव मनीषिणः॥
उच्छिष्टमितरस्त्रीणां योऽश्नीयात् ब्राह्मणः क्वचित्।
प्रायश्चित्ती स विज्ञेयः सङ्कीर्णो मूढचेतनः॥

अत्र भार्याग्रहणं—

ब्राह्मण्या भार्यया सार्द्धं क्वचित् भुञ्जीत चाध्वनि।
असवर्णस्त्रिया सार्द्धं भुक्त्वा पतति तत्क्षणात्॥

इति ब्रह्मपुराणवचनानुसारात् भर्तृसवर्णोपलक्षणार्थम्।

**स्मृत्यर्थसारे,**

न शिशुभिः सह भुञ्जीत तथा न भार्यया सहाश्नीयात विवाहवर्जं, तथाऽन्यत्र भोजने केशकीटादिदूषिते तावन्मात्रमुद्धृत्य जलं भस्म मृदं वा क्षिप्त्वा शुद्धिः मुखे तद्दृष्टौ निष्ठीव्य जलं प्रोक्ष्य घृतं प्राश्याश्नीयात् पाके केशादिस्थितौ त्यागः तत्र किञ्चित् भुक्त्वोपवसेत्। तथा सन्दिग्धदोषं यत् द्रव्यं तद्विप्रवाक्यैः शुद्धम्।

**विष्णुः,**

यत्तु पाणौ दद्यात् न तदश्नीयात् न बालकं निर्भर्त्सयन् नैको मिष्टं नोद्धृतस्नेहं न दिवा धाना न रात्रौ तिलसम्बद्धं न

दधिसक्तून् कोविदारवदरपिप्पलशणशाकं नादत्त्वा नाहुत्वा नानार्द्रपादः नानार्द्रकरमुखश्च, नोच्छिष्टो घृतमद्यात् न चन्द्रार्कतारका निरीक्षेत न मूर्द्धानं स्पृशेत् न ब्रह्म कीर्त्तयेत् ।

नोच्छिष्ट इति उच्छिष्टतायामुपात्तं घृतं नाद्यादित्यर्थः ।

**आपस्तम्बः,**

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्यं षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्य ह्यमितं ब्रह्मचारिणः ॥

अन्नपरिवेषणविषये—

**शातातपः,**

हस्तदत्तानि चान्नानि प्रत्यक्षलवणं तथा ।
मृत्तिकाभक्षणञ्चैव गोमांसाशनवत् स्मृतम् ॥

**वृद्धवसिष्ठोऽपि,**

घृतं वा यदि वा तैलं विप्रो नाद्यान्नखच्युतम् ।
यमस्तदशुचि प्राह तुल्यं गोमांसभक्षणम् ॥

**पैठीनसिः,**

लवणं व्यञ्जनं चैव घृतं तैलं तथैवच ।
लेह्यं पेयं च विविधं हस्तदत्तं न भक्षयेत् ॥ इति ।

**मनुः,**

दर्व्या देयं कृतान्नं तु समस्तं व्यञ्जनानि च ।
उदकं यच्च पक्वान्नं न दातव्यं कदाचन ॥

न दातव्यमित्यत्र दर्व्येत्यनुषङ्गः ।

उदकं यच्च पक्वान्नं यो दर्व्या दातुमिच्छति ।
स भ्रूणहा सुरापश्च स स्तेनो गुरुतल्पगः ॥

इति वचनात् ।

**कात्यायनः,**

नृणां भोजनकाले तु यदा दीपो विनश्यति।
पाणिभ्यां पात्रमादाय भास्करं मनसा स्मरेत् ॥
पुनश्च दीपिकां कृत्वा तच्छेषं भोजयेन्नरः।
पुनरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा पापैर्विलिप्यते ॥
पुनरन्नमिति। गृहीत्वेति शेषः।
पात्रस्थं तु भोक्तव्यम्। तच्छेषं भोजयेन्नरः।
इत्यभिधानात्।

**गोभिलः,**

एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने।
यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं नाश्नीयुरितरेऽप्यनु ॥

**आदित्यपुराणे,**

अथैकपङ्क्त्यां नाश्नीयात् ब्राह्मणः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत् ॥ इति।

**बृहस्पतिरपि,**

एकपङ्क्त्युपविष्टानां दुष्कृतं यत् दुरात्मनाम्।
सर्वेषां तत्समं तावत् यावत् पङ्क्तिर्न भिद्यते ॥
परिवेषणकाले तु उच्छिष्टस्पर्शने कर्त्तव्यमाह—

**हारीतः,**

द्रव्यहस्तस्तु संस्पृष्ट उच्छिष्टेन कदाचन।
भूमौ निक्षिप्य तद् द्रव्यमपः स्पृष्ट्वा ततः शुचिः ॥
अद्भिरभ्युक्ष्य तद्द्रव्यं पुनरादाय दापयेत्।
भोक्तव्यमिति मन्यन्ते मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥
अपः स्पृष्ट्वा आचम्येत्यर्थः।

**स्मृत्यर्थसारे,**

अन्नपानादिहस्त उच्छिष्टश्चेत्तन्निधायाचम्य प्रोक्षेत्। परिवे-

पणं कुर्वन् उच्छिष्टस्पृष्टोऽन्नं निधायाचम्य परिविष्यात्। परिवेषणं कुर्यात् । मूत्राद्युच्छिष्टश्चेदन्नादिकं निधाय शौचाचमनं कृत्वा ऽन्नादिकं प्रोक्ष्याग्निमर्कं वा संस्पृश्य परिविष्यात्।परिवेषणे रजोदृष्टौ तत्संस्पृष्टान्नस्य त्यागः। अन्नाधारे चण्डालसूतिकोदक्यापतितस्पृष्टे त्याग एवेति ॥

**व्यासः,**

उदक्यामपि चाण्डालं श्वानं कुक्कुटमेवच ।
भुञ्जानो यदि पश्येत तदन्नं तु परित्यजेत् ॥

**कात्यायनः,**

चण्डालपतितोदक्यावाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तमः ।
भुञ्जीत ग्रासमात्रं चेत् दिनमेकमभोजनम् ॥ इति ।

**पराशरः,**

उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टः शुना शूद्रेण वा द्विजः ।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥
अनुच्छिष्टेन शूद्रेण स्पर्शे स्नानं विधीयते ।
तेनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ॥

रजनीमुपोष्येति रात्रिभोजनं परित्यजेदिति प्रयोगपारिजाते व्याख्यातम् । भोजनान्ते कर्त्तव्यमाह—

**देवलः,**

भुक्तोच्छिष्टं समादाय सर्वस्मात् किंचिदाचमन् ।
उच्छिष्टभागधेयेभ्यः सोदकं निर्वपेत् भुवि ॥

तत्र मन्त्रस्तु,

रौरवे पुण्यनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम् ।
प्राणिनां सर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥ इति ।

**गर्गव्यासोऽपि,**

ततस्तृप्तः सन् अमृतापिधानमसीत्यपः प्राश्य तस्माद्देशान्मनागपसृत्य विधिवदाचामेत्।

विशेषमाह व्यासः,

हस्तं प्रक्षाल्य गण्डूषं यः पिबेत्पापमोहितः।
स दैवे चैव पित्र्ये च आत्मानं चैव सादयेत्॥
अर्धं पीत्वा तु गण्डूषमर्धं त्याज्यं महीतले।
रसातलगतान्नागांस्तेन प्रीणाति नित्यशः॥

मरीचिरपि,

आचम्य यत्नतः कार्यं दन्तकाष्ठस्य भक्षणम्।
भोजने दन्तलग्नान्नं निर्हृत्याचमनं चरेत्॥
दन्तलग्नमसंहार्यं लेपं मन्येत दन्तवत्।
न तत्र बहुशः कुर्यात् यत्नमुद्धरणं प्रति॥
भवेदशौचमत्यर्थं तृणवेधाद्व्रणे कृते। इति।

गौतमः,

गण्डूषस्याथ समये तर्जन्या वक्त्रचालनम्।
कुर्वीत यदि मूढात्मा रौरवं नरकं व्रजेत्॥

गण्डूषसंख्यामाहाश्वलायनः,

कुर्यात् द्वादश गण्डूषान्पुरीषोत्सर्जने द्विजः।
मूत्रोत्सर्गे तु चतुरो भोजनान्ते तु षोडश॥

गौतमः,

आचान्तः पुनराचामेदायंगौरिति मन्त्रतः।
द्रुपदां वा त्रिरावर्त्य सर्वपापप्रणाशिनीम्॥
प्राणानां ग्रन्थिरसीत्यालभेद् हृदयं ततः।

पुराणे,

मा करेण करं स्राक्षीर्मा जङ्घे मा च चक्षुषी।

ऊरू संस्पृश कौन्तेय भर्त्तव्यस्ते महाजनः ॥

**ब्रह्मपुराणे,**

विप्रस्त्वेवमुपस्पृश्य पादाङ्गुष्ठे च दक्षिणे ।
हस्ताभ्यां मन्त्रवद्दद्यात् विधिवच्चावनेजनम् ॥

तथा—

संमार्ज्य बाहुं जानुं च गोप्रदानफलं लभेत् ।
भुक्त्वा नैव प्रतिष्ठेत न चाप्यार्द्रेण पाणिना ॥
आचान्तोऽप्यशुचिस्तावत् यावत् पात्रमनुद्धृतम् ।
उद्धृतेऽप्यशुचिस्तावत् यावन्नोन्मृज्यते मही ॥

**विष्णुपुराणे,**

भुक्त्वाऽऽचम्य तथा सम्यक् प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
आचान्तः पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ॥
सुस्थः प्रशान्तचित्तस्तु कृतासनपरिग्रहः ।
अभीष्टदेवतानां तु कुर्वीत स्मरणं नरः ॥
अग्निराप्यायतां धातून् पार्थिवान् पवनेरितः ।
दत्तावकाशो नभसा जरयन्नस्तु मे सुखम् ॥
अन्नं बलाय मे भूमेरपामग्न्यानिलस्य च ।
भवत्वेतत् परिणतौ ममास्त्वव्याहतं सुखम् ॥
प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा ।
अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममास्त्वव्याहतं सुखम् ॥
अगस्तिरग्निर्वड़वानलश्च भुक्तं ममान्नं जरयत्वशेषम् ।
सुखं च मे तत्परिणामसंभवं यच्छत्वरोगं मम चास्तु देहे ॥
विष्णुः समस्तेन्द्रियदेहदेही प्रधानभूतो भगवान् यथैकः ।
सत्येन तेनान्नमशेषमेतदारोग्यदं मे परिणाममेतु ॥
विष्णुरत्ता तथैवान्नपरिणामश्च वै तथा ।

सम्येव तेन यत् भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा ॥
इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमार्ज्य तथोदरम्।
अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यन्द्रितः ॥

आपस्तम्बः,

यत्र भुज्यते तत्समुह्य निर्हृत्यावोक्ष्य तं देशममत्रेभ्यो लेपान् संहृत्याद्भिः संश्रित्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय निनयेदेवं वास्तु शिवं भवति।

समूहनं वर्द्धन्यादिना शोधनम्। निर्हरणम् उच्छिष्टापनयनम्। अवोक्ष्य प्रसिच्य। समाचाराद्गोमयोदकेनेति कल्पतरुः। अमत्राणि भाण्डानि। उत्तरतो गृहात्। वास्तु गृहम्। शिवं भद्रम्।

हारीतः,

पश्चात्पत्नी शेषबलिं हरेत्।

एतच्च पाकभाण्डशिष्टेन रौद्रबलिहरणं कर्त्तव्यमिति जयस्वामीति कल्पतरुः। शुद्धाचमनानन्तरं ताम्बूलं भक्षणीयम्।

तथाच मार्कण्डेयः,

भूयोऽप्याचम्य कर्त्तव्यं ततस्ताम्बूलभक्षणम्।

वसिष्ठः,

सुपूगं च सुपत्रं च चूर्णेन च समन्वितम्।
अदत्त्वा द्विजदेवेभ्यस्ताम्बूलं वर्जयेत् बुधः ॥
एकपूगं सुखारोग्यं द्विपूगं निष्फलं भवेत्।
अतिश्रेष्ठं त्रिपूगं च अधिकं नैव दुष्यति ॥
पर्णमूले भवेद्व्याधिः पर्णाग्रे पापसंभवः।
चूर्णपर्णं हरेदायुः शिरा बुद्धिविनाशिनी ॥
तस्मादग्रं च मूलं च शिरां चैव विशेषतः।
चूर्णपर्णं वर्जयित्वा ताम्बूलं खादयेत् बुधः ॥

तथा,

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भिः पूगफलैः क्रमात् ।
लाभोऽलाभः सुखं दुःखमायुर्मरणमेवच ॥
ताम्बूलं चैव यो दद्यात् ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।
मेधावी सुभगः प्राज्ञो दर्शनीयश्च जायते ॥

प्रयोगपारिजाते वैद्यस्तु,

फलपत्रसुधाधीशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
ताम्बूलदानात्तुष्यन्ति तस्माद्दानं तदुत्तमम् ॥
ताम्बूलं यो नरो दद्यात् प्रत्यहं नियमान्वितः ।
देवेभ्योऽथ द्विजातिभ्यः स महाभाग्यमश्नुते ॥
इह संसारिणां काले मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ।
ताम्बूलदानात्तु नृणाम् अयत्नेनोपजायते ॥

स्मृतिमञ्जर्याम्,

पूगद्वयेन ताम्बूलं न दद्यान्नच खादयेत् ।
दानं तु निष्फलं प्रोक्तं खादनं पुण्यनाशनम् ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन द्विपूगं वर्ज्जयेत् सुधीः ।
एकपूगं त्रिपूगं वा दानं खादनमुत्तमम् ॥
वत्सरार्धात्परं पूगं कठिनं च सुपाचितम् ।
लाक्षावदन्तरं यस्मिन् तत्पूगं खादयेत्सुधीः ॥
वल्लीमध्ये च संभूतं पक्षात्प्राक् लूनपत्रकम् ।
चूर्णं पाषाणसंभूतं ताम्बूलं खादयेत्सुधीः ॥
प्रातः पूगस्य पर्णानि त्रीणि त्रीणि च खादयेत् ।
मध्यंदिने तु चत्वारि पर्णानि क्रमुकस्य च ॥
रात्रौ पूगस्य पर्णानि पञ्च पञ्च यथाक्रमात् ।
पूगं च शकलीकृत्य द्रवं संमृज्य पर्णकम् ॥

पिच्छिलं चूर्णसंयुक्तं ताम्बूलं खादयेत्सुधीः।
रसनिष्ठीवनं पूर्वं द्विवारं तु ततः पिबेत्॥ इति।
ताम्बूलरसस्य पूर्वं द्विः निष्ठीवनं ततः पानं कर्त्तव्यमित्यर्थः।

**तत्रैव भरद्वाजः,**

चतुर्वारमभुक्त्वा तु ताम्बूलं खादयेत्सुधीः।
भुक्त्वा चैव द्विवारं तु रात्रौ षड्वारमुत्तमम्॥

**तत्रैव वसिष्ठः,**

अकृत्वा च मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।
दशजन्म दरिद्रस्तु मरणे न हरिस्मृतिः॥

**तत्रैवाश्वलायनः,**

विद्याकामो ऽनिशं रात्रौ ताम्बूलं तु न भक्षयेत्।
अतिसेवने दोषमाह स एव,
पाण्डुत्वं दन्तदौर्बल्यम् अक्षिरोगं बलक्षयम्।
करोति मुखरोगांश्च ताम्बूलमतिसेवनात्॥
ताम्बूलं नैव सेवेत सुविरिक्तो बुभुक्षितः।
क्षतश्च पित्ती क्षीराशी क्षीणी रूक्षाक्षिरोग्यपि॥
विषमूर्छोपवासार्त्तो मेही पाण्ड्वामयी क्षयी।
भूतापस्मारकुष्ठातिसारी कृच्छ्री च हृद्गदी॥ इति।
ताम्बूलं च यत्यादिभिर्न भक्षणीयमित्याह—

**वसिष्ठः,**

यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च रजस्वला।
प्रत्येकं मांसतस्तुल्यं मेलनं सुरया समम्॥

क्रमुकादीनां प्रत्येकभक्षणं मांसभक्षणतुल्यं समुदितभक्षणं सुरापानसममित्यर्थः।

## अथ भोज्याभोज्यान्नाः।

तत्र गौतमः,

प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत।

प्रशस्तानां विहितकर्मानुष्ठातृत्वेन निषिद्धाननुष्ठातृत्वेन च स्तुतिविषयाणाम्। द्विजातीनां त्रैवर्णिकानाम्। द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीतेति नियमाद् द्विजातिभिन्नानां निवृत्तिः। क्षत्रियाद्यन्नभोजने कालनियममाह—

यमः,

ब्राह्मणस्य सदाऽश्नीयात् क्षत्रियस्य च पर्वसु।
प्राकृतेषु च वैश्यस्य शूद्रस्य न कदाचन॥
अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियस्य पयः स्मृतम्।
वैश्यस्य त्वन्नमेवान्नं शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम्॥
ब्राह्मणान्नं क्षत्रियान्नं वैश्यान्नं शौद्रमेवच।
तां तां योनिं व्रजेद्विप्रो भुक्त्वाऽन्नं यस्य वै मृतः॥

पर्वसु पौर्णमस्यादिषु। प्राकृतेषु प्रक्रमविशेषेषु वक्ष्यमाण-ब्रह्मपुराणसंवादात् गोमङ्गलादिषु। यस्य ब्राह्मणादेः। अयं च निन्दोन्नीतः शूद्रान्नप्रतिषेधोऽसच्छूद्रान्नविषयः सच्छूद्राच्च गवादि-प्राप्त्यसंभवे तदन्नविषयश्च।

तदुक्तं ब्रह्मपुराणे,

राज्ञां पर्वणि वैश्यानामश्नीयान्मङ्गले गवाम्।
गोभूमिरत्नहेमार्थं सच्छूद्रस्य गृहे तथा॥

आपस्तम्बः,

त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियप्रभृतीनां समावृत्तेन न भोक्तव्यम्। प्रकृत्या ब्राह्मणस्य भोक्तव्यम्। कारणादभोज्यम्। यत्राप्रायश्चित्तं कर्मासेवते प्रायश्चित्तवति चरितनिर्वेशस्य भोक्तव्यं सर्ववर्णानां

स्वधर्मे वर्त्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्जमित्येकइति ।

अत्र समावृत्तग्रहणाद्ब्रह्मचारिणः सर्व्ववर्णेषु भिक्षाचरणमनिषिद्धम् । तथाच ब्रह्मचारिप्रकरणे—

गौतमः,

सार्व्ववर्णिकं भैक्षचरणमभिशस्तपतितवर्ज्जमिति ।

प्रकृतिः स्वभावः तेन च तज्जन्यं कर्म विवक्षितं तेन, युक्तस्येति शेषः ।

तच्च भगवद्गीतायामुक्तं,

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्मं कर्म स्वभावजम् ॥ इति ।

ज्ञानं शास्त्रीयम् । विज्ञानमनुभवः।कारणात् अभोज्यान्नत्वनिमित्तात् । अप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तादितरत् । अनेन नित्यं नैमित्तिकं च कर्म विवक्षितम् । इदमेव च प्रकृत्येत्यनेनोच्यते । प्रायश्चित्तवति प्रायश्चित्तहेतुपापयोगिनि । चरितनिर्व्वेशस्य कृतप्रायश्चित्तस्येति कल्पतरुः ।

अन्ये तु—कारणं प्रदर्शयति यत्राप्रायश्चित्तमित्यादिना । प्रायश्चित्तवति आत्मनि सति अप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तरहितं कर्मामिवत् करोति, प्रायश्चित्तनिमित्ते सत्यपि प्रायश्चित्तमकृत्वा कर्म करोति तस्यान्नमभोज्यमित्याहुः । सर्व्ववर्णानामिति । शूद्रवर्जितानां सर्व्ववर्णानां स्वधर्मनिष्ठानामन्नं भोज्यमित्येके मन्यन्तइत्यर्थः । इदं च क्षत्रियवैश्यभोज्यान्नताभ्यनुज्ञानं यमवचनानुसारात् पर्व्वादिविषयं द्रष्टव्यम् ।

पुनः स एव,

तस्यापि धर्मोपनतस्य सुवर्णं दत्त्वा पशुं वा भुञ्जीत नात्यन्तमन्ध्वस्येद्वृत्तिं प्राप्य विरमेत् सुवर्णं पशुं वा दत्त्वा धर्मेणोप-

नतस्य शूद्रस्यापि भुञ्जीत वृत्त्यन्तरालाभेऽपि तदीयान्नभोजनरतिर्न स्यात्स्वविहितवृत्तिलाभे निषिद्धाया विरमेत् ।

**मनुः**,

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।

आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

श्राद्धशब्देन पाकयज्ञादिक्रिया शूद्रस्य विहिता लक्ष्यते तद्वान् श्राद्धी तदन्यस्य यत्पक्वमन्नं तन्नाद्यादिति मेधातिथिः ।

**कल्पतरौ** तु श्राद्धपदेन नित्यश्राद्धं व्याख्यातम् । क्वचिदश्राद्धिन इति पाठः । श्रद्धारहितस्येत्यर्थः । अवृत्तौ आपदि एकरात्रिकम् एकदिवसनिर्वाहयोग्यमामान्नं तण्डुलाद्येव गृह्णीयान्न पक्वान्नम् ।

**हारीतः**,

शूद्रान्नेन तु भुक्तेन जठरस्थेन यो मृतः ।

स वै खरत्वमुष्ट्रत्वं शूद्रत्वं चोपगच्छति ॥

**वसिष्ठः**,

शूद्रान्नेनोदरस्थेन यः कश्चिन्म्रियते द्विजः ।

स भवेच्छूकरो ग्राम्यस्तस्य वा जायते कुले ॥

शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गो ह्यधीयानोऽपि नित्यशः ।

जुह्वद्वाऽपि जपन्वाऽपि गतिमूर्ध्वां न विन्दति ॥

शूद्रान्नेन तु भुक्तेन मैथुनं योऽधिगच्छति ।

यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा न च स्वर्गार्हको भवेत् ॥

यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा अन्नाच्छुक्रं प्रवर्त्तते ।

इत्यपरार्के पाठः ।

**यमः**,

शूद्रान्नेनोदरस्थेन ब्राह्मणो यस्त्यजेत्तनुम् ।

आहिताग्निस्तथा यज्वा स शूद्रगतिमाप्नुयात् ॥
यश्चाहिताग्निर्विप्रस्तु शूद्रान्नान्न निवर्त्तते ।
पञ्च तस्य प्रणश्यन्ति आत्मा ब्रह्म त्रयोऽग्नयः ॥

अङ्गिराः,

षण्मासान् यो द्विजो भुङ्क्ते शूद्रस्यान्नं विगर्हितम् ।
स च जीवन्भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चैव जायते ॥

पैठीनसिः,

गृहमेधी न शूद्रान्नमश्नीयादायुर्बलं तेज इत्यपक्रामति ।

याज्ञवल्क्यः,

अग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि ।

अग्निहीनस्य श्रौतस्मार्त्ताग्न्यधिकाररहितस्य शूद्रस्येति विज्ञानेश्वरः । अपरार्के तु सत्यधिकारे श्रौतस्मार्त्ताग्निपरिग्रहमकुर्वतः अविधिना उत्सृष्टाग्नेश्चेति व्याख्यातम् ।

भविष्यपुराणे,

उपक्षेपणधर्मेण शूद्रान्नं यः पचेद् द्विजः ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं स च विप्रः पुरोहितः ॥
अभोज्यं ब्राह्मणस्यान्नं वृषलेन निमन्त्रितम् ।
तथैव वृषलस्यान्नं ब्राह्मणेन निमन्त्रितम् ॥
शूद्रान्नं शूद्रसम्पर्कः शूद्रेण च सहासनम् ।
शूद्रात् ज्ञानागमः कश्चित् ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥

उपक्षेपणधर्मः शूद्रस्वामिकान्नस्य पाकार्थं ब्राह्मणगृहे समर्पणम् ।

यत्तु,

यथा यतस्ततोऽप्यापः शुद्धिं यान्ति नदीं गताः ।
शूद्राद्विप्रगृहेष्वन्नं प्रविष्टं हि सदा शुचि ॥

इत्यङ्गिरोवचनं, तत्र शूद्राद्ब्राह्मणेन प्रतिग्रहादिना यल्लब्धमन्नं तद्विषयम् । यान्यपि—

तावद्भवति शूद्रान्नं यावन्न स्पृशति द्विजः ।
द्विजातिकरसंस्पृष्टं सर्वं तद्धविरुच्यते ॥
यथा जलं निर्गमनेष्वपेयं नदीगतं तत्पुनरेव पेयम् ।
तथाऽन्नपानं विधिपूर्वमागतं द्विजातिपात्रान्तरितं न दुष्यति ॥
सम्प्रोक्ष्यैव च गृह्णीयात् शूद्रस्यान्नं गृहागतम् ।

इति पराशरयमविष्णुपुराणवचनानि तानि अङ्गिरोवचनसमानार्थकानि । निर्गमनानि रथ्यादिपतितवारिप्रवाहप्रदेशाः ।

याज्ञवल्क्यः,

शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥

दासा गर्भदासादयः । गोपालो गवां पालनेन यो जीवति । यस्यैव गाः पालयति तस्यैव भोज्यान्न इति भर्तृयज्ञ इति कल्पतरुः। कुलमित्रं पितृपितामहादिक्रमायाता येन सह मैत्री । अर्धसीरी मिलित्वा कर्षक इति कल्पतरुः । अर्द्धसीरी कृषिफलभागग्राही, हलपर्यायसीरशब्दस्य तत्फलोपलक्षकत्वात् इति विज्ञानेश्वरादयः । नापितः क्षुरकर्मोपजीवी । सोऽपि स्वकीय एवेति कल्पतरुः । आत्मनिवेदनं कुलतः शीलतो दृष्टादृष्टप्रयोजनेनोपचारविशेषेण च स्वाभिप्रायकथनपूर्वकं तदाश्रयणम् ।

तथाच मनुः,

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥

देवलः,

स्वदासो नापितो गोपः कुम्भकारः कृषीवलः ।

ब्राह्मणैरपि भोज्यान्नाः पञ्चैते शूद्रयोनयः ॥

कृषीवलोऽत्र याज्ञवल्क्यवचनानुसारादर्धसीरी। पञ्चेत्यनुवादमात्रं नेतरनिवृत्त्यर्थम्। याज्ञवल्क्यवचनविरोधात्।

शूद्राधिकारे गौतमः,

पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसङ्गतकारयितृपरिचारका भोज्यान्ना वणिक्चाशिल्पी।

कारयिता नापित इति मस्करिभाष्यमिति कल्पतरुः। परिचारकः परिचारको दास इत्यर्थः। यः शूद्रो वणिक् स चेदशिल्पी तक्षादिको न भवति तदा भोज्यान्नः। अत्र च नाद्याच्छूद्रस्येत्यनेन मनुवचनेनासच्छूद्रपक्वान्ननिषेधात् सच्छूद्रस्य पक्वान्नमभ्यनुज्ञातम्। तच्च गोभूमिरत्नहेमार्थमिति ब्रह्मपुराणवचनैकवाक्यतया गवादिप्राप्तिसम्भवे एव भुञ्जीत तदसम्भवे तु आममेव गृह्णीयात्। सच्छूद्रातिरिक्तानामपि दासगोपालादीनामापदि पक्वान्नमपि ग्राह्यम्। अनापदि त्वाममेव। दासाद्यतिरिक्तानां त्वसच्छूद्राणामापद्येकरात्रिकमाममेव ग्राह्यमिति व्यवस्था। कल्पतरुस्वरसोऽप्येवम्। माधवमदनपारिजातयोस्तु दासादीनामपि सच्छूद्राणामेव भोज्यान्नत्वमुक्तम्। नाद्याच्छूद्रस्येति मनुवाक्यैकवाक्यत्वात्। योऽपि च शूद्रपक्वान्नभोजननिषेधः सोऽपि कतिपयपक्वान्नव्यतिरिक्तविषयः।

तदाह अङ्गिराः,

गोरसं चैव सक्तूंश्च तैलं पिण्याकमेव च।

अपूपान्भक्षयेत् शूद्राद्यच्चान्यत्पयसा कृतम् ॥

गोरसं दुग्धम्। सक्तवो भृष्टयवचूर्णम्। पिण्याकं तिलखलिः। अपूपा अस्नेहपक्वगोधूमादिविकारः। अत्र यच्चान्यादिति श्रवणादपूपाः पयसा कृता एव ग्राह्याः। अन्यथाऽन्यादित्यस्य वैयर्थ्या-

पत्तेः। पयसा दुग्धेन कृतं किलाटचूर्णिकादीति।

हारीतोऽपि,

कन्दुपक्वं स्नेहपक्वं पायसं दधिसक्तवः।
एतानि शूद्रान्नभुजो भोज्यानि मनुरब्रवीत्॥

कन्दुः स्वेदनी। कन्दुर्ना स्वेदनी स्त्रियामित्यमरात्। सा च अपूपादिसाधनं लोहादिपात्रं तत्र पक्वम् अपूपादि कन्दुपक्वम्। अतएव कान्दविकपदस्यापूपिकपर्यायत्वमुक्तममरकोशे, आपूपिकः कान्दविक इति। अतएवाङ्गिरसाऽप्यपूपानां भक्ष्यत्वमुक्तम्। यथा,

अपूपान् भक्षयेच्छूद्राद्यच्चान्यत्पयसा कृतम्। इति।

यत्तु कन्दुपक्वं भर्जनपात्रपक्वं पृथुकादीति व्याख्यानं, तन्मूलादर्शनादुपेक्षितम्। स्नेहो घृतादिः तत्पक्वं शष्कुल्यादि। पायसं पयःसिद्ध ओदनः। अत्र च शूद्रान्नभुज इति वचनादेतानि शूद्रान्नादनिवृत्तेनैव भोज्यानि। क्वचित्तु अशूद्रान्नभुज इति पाठः। तत्र शूद्रस्य जलाग्निपक्वं यो नाश्नाति तेनापि भोज्यमित्यर्थः।

अङ्गिराः,

स्वपात्रे यत्तु विन्यस्तं दुग्धं यच्छति नित्यशः।
पात्रान्तरगतं ग्राह्यं शूद्रात्स्वगृहमागतम्॥
शूद्रवेश्मनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं शूद्रान्नं तदपि स्मृतम्॥

मनुः,

नाश्रोत्रियकृते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्॥
अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।

अश्रोत्रियः अध्ययनरहितः ऋत्विग्यजमानो वा तेन तते प्रारब्धे। अग्नीषोमीयवपायागादूर्द्ध्वमपि। ततः पूर्वं, तस्मादाहुर्न दीक्षितस्याश्नीयादित्यादिश्रुत्या सामान्यतो दीक्षितान्नभोजननिषेधेन प्राप्त्यभावात्। ग्रामयाजी बहुयाजकः। स यस्य होमकर्त्ता तस्याप्यन्नं न भोक्तव्यम्। स्त्रिया हुते स्त्रिया यत्र वैश्वदेवादिकं कृतं तत्र। एतच्च ऋत्विगादिसम्भवविषयम्। असम्भवे स्त्रिया अपि सायं वैश्वदेवादिविधानात्। क्लीवः नपुंसकः। अश्लीलम् अश्रीकरम्। प्रतीपं प्रतिकूलम्। मत्तो धनादिना मद्येन वा। मत्तादीनां च यावन्मदादियोगस्तावदभोज्यान्नता। आतुरो महारोगोपसृष्टः।

तथा—

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा च जुगुप्सितम्॥
स्तेनगायनयोश्चैव तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च॥
अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च॥
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्॥
समासमाभ्यां विप्राभ्यां विषमं सममेव च।
पूजातो दीयमानं च न ग्राह्यं देयमेव च॥
अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्॥
पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयकस्य च।
शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च॥
कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च।

सुवर्णकर्त्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रायिणस्तथा ॥
श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेवच ॥

भुज्यतामत्र ये केचिद्भोजनार्थिन इत्याद्युद्दिश्य यदन्नं दीयते तत् घुष्टान्नम्। अन्यस्मै प्रतिश्रुत्य यदन्यस्मै दीयते तद्वा घुष्टान्नमिति मेधातिथिः। विशेषत इति दोषाधिक्यज्ञापनार्थम्। गणः सङ्घः। भ्रात्रादीनां त्वविभक्तानां न गणव्यपदेशः। गणिका वेश्या। विदुषा वेदार्थविदा मध्यस्थेन जुगुप्सितं निन्दितं जुगुप्सातोऽन्येन हेतुना दोषाज्ञानेऽपि। स्तेनः परस्वापहारी। गायनः गानेन यो जीवति। तक्षा तक्षणवृत्त्युपजीवी। वार्धुषिको निषिद्धवृद्ध्युपजीवी।

तथाच **मनुः**,

समर्घं पण्यमाहृत्य महार्घं यः प्रयच्छति।
स वै वार्धुषिको नाम यश्च वृद्ध्या प्रयोजयेत् ॥
आत्मस्तुतिपरनिन्दाकर्त्ता वा वार्धुषिकः।

तथाच **विष्णुः**,

यस्तु निन्देत्परं जीवं प्रशंसत्यात्मनो गुणान्।
स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥
दीक्षितः दीक्षणीयेष्ट्या संस्कृतः।
तस्यान्नं सोमक्रयात्प्राक् न भोक्तव्यम्।

अग्नीषोमीयवपायागाद्वा प्राक्। अग्नीषोमीयसंस्थाया वा प्राक् दीक्षितोऽक्रीतराजको ऽग्नीषोमीयसंस्थायामेव हुतायां वा वपायां दीक्षितस्य भोक्तव्यमित्यापस्तम्बवचनात्। अक्रीतराजकः अभोज्यान्न इति शेषः। एते पक्षा आपदनापद्भेदेन व्यवस्थिताः।

कदर्यः कृपणः ।

तथाच देवलः,

आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् ।

लोभाद्यः प्रचिनोत्यर्थान्स कदर्य इति स्मृतः ॥

बद्धस्य रज्ज्वादिना, वाङ्मात्रेण वा रुद्धस्य । निगडस्य निगडवतः मत्वर्थलक्षणया, अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तत्वेन वा । यद्वा निगडस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । तथाच निगडेन बद्धस्येत्यर्थः इति कल्पतरुः । अभिशस्तः पतनीयैः कर्मभिरभियुक्तः । षण्ढः क्लीबः स्त्रीपुंसव्यञ्जनरहितः । पुंश्चली व्यभिचारिणी । दाम्भिकः छद्मना धर्मचारी । शुक्तं यदन्यरसं द्रव्यान्तरसंसर्गादिनाऽत्यम्लीभवति । अत्यम्लं शुक्तमाख्यातमिति बृहस्पतिवचनानुसारात् । पर्युषितं रात्र्यन्तरितं तदशुक्तमपि । उदयास्तमयान्तरितं पर्युषितं, तच्च दिवा पक्वं रात्रौ रात्रिपक्वं दिवा अभोज्यमिति हरदत्तः । शूद्रस्योच्छिष्टं न भुञ्जीत । सामान्यत उच्छिष्टभोजनप्रतिषेधेऽपि दोषाधिक्यख्यापनार्थं पृथग्ग्रहणम् । यद्वा शूद्रभुक्तशिष्टं स्थालीस्थमपि न भोज्यम् ।

यथाहादित्यपुराणे,

शूद्रभुक्तावशिष्टं तु नाद्याद्भाण्डस्थितं त्वपि ।

यद्वा शूद्रस्य अन्नं न भुञ्जीत उच्छिष्टं च यस्य कस्यापि । चिकित्सको भिषग्वृत्त्युपजीवी । मृगयुर्मृगघाती स च इषुव्यतिरिक्तवागुरादिना यो मृगान्हन्ति । तथाच—

गौतमः, मृगयुरनिषुचारीति ।

क्रूरो दृढाभ्यन्तरकोपः । उच्छिष्टभोजी निषिद्धोच्छिष्टभोजी । उग्रो दारुणकर्मा, क्षत्रियाद्वैश्यायामुत्पन्नो वा ।

वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।

इति याज्ञवल्क्योक्तेः। उग्रो राजा वा। उग्रो मध्यमशीरिवेति श्रुतौ प्रयोगदर्शनात्। सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य यत्कृतं तत् तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम्। पर्याचान्तम् इतरानेकपङ्क्तिस्थान् परिभूय यत्रान्ने भुज्यमाने गुरुव्यतिरिक्तेन केनाप्याचम्यते तदन्नं पर्याचान्तम्। अगुरुभिराचमनोत्थाने चेत्युशनःस्मरणात्। यद्वा परिगतमाचान्तं गण्डूषग्रहणं यस्मिंस्तत् पर्याचान्तम्। आचमनात्प्राग्गण्डूषग्रहणादूर्ध्वं न भोक्तव्यम्। अनिर्दशं सूतकयन्नम्। विद्यादिना तुल्ययोर्विषमपूजया दीयमानमन्नमभोज्यम्। एवं विद्यादिना विषमयोः समपूजया दीयमानमग्राह्यम्। दात्राऽपि तथा न दातव्यमित्यर्थ इति कल्पतरुः। एवं च समाभ्यां सहितावसमाविति मध्यमपदलोपी समासः। अनर्चितं अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते। वृथामांसं देवपित्राद्युद्देशेन यन्न कृतम्। अवीरा पतिपुत्ररहिता। पतिपुत्रवतीति नियामकसम्बन्धेन पतिपुत्रान्यतरत्वावच्छिन्नाभाववतीति यावत्। केचित्तु अपरिणीताया अवीरात्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति पतिध्वंसकालीनपुत्राभाववती अवीरा। पुत्रपदं च पौत्रप्रपौत्रयोरप्युपलक्षणमित्याहुः। सा च असंबन्धिन्येव अभोज्यान्ना, तथैवाचारादिति शूलपाणिः। द्विषन्द्वेषकर्ता। नगरी नगराधिपः अराजाऽपीति मेधातिथिः। पतितो ब्रह्महादिः। अवक्षुतं क्षवथुसहितम्। पिशुनः सूचकः। अनृती कूटसाक्ष्यादिः। क्रतुविक्रयकः मदीयं क्रतुफलं तवास्तु इत्यभिधाय यो धनं गृह्णाति। शैलूषो नटवृत्त्युपजीवी। तन्तुवायः सूचीकर्मोपजीवी। कृतघ्नः उपकृतं यो न मन्यते। कर्मारो लोहकारः। निषादः सङ्कीर्णजातिभेदः। रङ्गावतारकः नटगायनव्यतिरिक्तो रङ्गावतरणकारी। प्रतिरङ्गं यो गच्छति कुतूहलात्स रङ्गावतारक इति मेधातिथिः। सुवर्णकर्ता सुवर्णस्य विकारान्तरकृत्। वैणो वेणुच्छेदनोपजीवी। वैणो वादित्रजीवन इति मेधातिथिः। शस्त्रवि-

क्रयी प्रसिद्धः। श्ववान् आखेटकाद्यर्थं शुनाम् पोषकः। शौण्डिको मद्यविक्रेता । चेलनिर्णेजकः वस्त्रप्रक्षालनजीवी । रजकः वाससां नीलादिरागकर्त्ता । नृशंसः निर्दयः । उपपतिर्जारो यस्य गृहे विदितस्तिष्ठति, यो वा उपपतिं मृष्यति सहते,तयोरन्नमभोज्यम् । सर्वशः सर्वकर्मसु स्त्रीजितानां स्त्रीपरतन्त्राणाम् । अनिर्दशं च प्रेतान्नं दशाहाभ्यन्तरे प्रेतमुद्दिश्य यत्त्यक्तं तद् अमृताकिनोऽप्यन्नं न भोक्तव्यम् । अतुष्टिकरं यस्यान्नस्य भोजने मनो न तुष्यति ।

याज्ञवल्क्यः,

क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम् ।

व्रात्यः पतितसावित्रीकः । अन्नं न भोक्तव्यमित्यनुषङ्गः ।

पुनः स एव,

नृशंसराजरजककृतघ्नवधजीविनाम् ।

वधजीवी प्राणिवधेन यो जीवति ।

तथा,

पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चाक्रिकबन्दिनाम् ।

एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥

चाक्रिकः शकटोपजीवी तैलिकश्च । सोमविक्रयी सोमलता-, विक्रेता ।

यमः,

नटनर्त्तकतक्षाणश्चर्मकारः सुवर्णकृत् ।

स्थाणुकाषण्ढगणिका अभोज्यान्नाः प्रकीर्त्तिताः ॥

गान्धर्वो लोहकारश्च सौनिकस्तन्तुवायकः ।

वस्त्रोपजीवी रजकः कितवस्तस्करस्तथा ॥

ध्वजी मानोपजीवी च शूद्राध्यापकयाजकौ ।

कुलालश्चित्रकर्मा च वार्धुषी चर्मविक्रयी ॥

रसाश्रयावस्थानुकृतिरूपनाट्यकर्त्ता नटः । भावाश्रयावस्थानुकृतिकर्त्ता नर्त्तकः । स्थाणुका अभ्रातृमतीति कल्पतरुः । स्थाणुपाषण्डगणिका इति पाठे तु स्थाणुपाषण्डाः पाशुपताः शिवसम्बन्धिवेदबाह्यलिङ्गधारिण इत्यर्थः । गान्धर्वः गान्धर्वशास्त्रोपजीवी । सौनिकः प्राणिवधकर्त्ता । चक्रोपजीवी शकटोपजीवी । कितवो द्यूतकृत् । ध्वजी शौण्डिकः । मानोपजीवी धान्यादिमानेन यो जीवति । कुलालोऽत्रास्वकीयः । शूद्रस्य चास्वभूतस्येति वसिष्ठवचनानुसारात् । यस्तु देवलेन कुम्भकारो भोज्यान्न उक्तः स स्वकीय एव ।

**सुमन्तुः**, अभिशस्तपतितपौनर्भवभ्रूणहपुंश्चल्यस्त्रविशस्त्रकारतैलिकचाक्रिकध्वजिसुवर्णकारलेखकपण्ढकबन्धकीगणकगणिकान्नानि चाभोज्यानि सौकरिकव्याधनिष्पचरजकरङ्गकारवरुडचर्मकारा अभोज्यान्ना अप्रतिग्राह्याः ।

पुनर्भूरन्यपूर्वा तस्यां जातः पौनर्भवः । अस्त्रं धनुः । विशस्त्रं विविधशस्त्रमनेकप्रकारं खड्गादि । लेखकश्चित्रकारः । षण्ढको नपुंसकः । बन्धकी अभिसारिणी । सौकरिकः सूकरोपजीवी निष्पचो यः पाकं न करोति यतिर्ब्रह्मचारी चेति कल्पतरुः । तन्न

द्वावेवाश्रमिणौ भोज्यौ ब्रह्मचारी गृही तथा ।
मुनेरन्नमभोज्यं स्यात् सर्वेषां लिङ्गिनां तथा ॥

इत्यपरार्कधृतापस्तम्बवचनविरोधात्।भोज्यौ भोज्यान्नौ। यथाश्रुतार्थत्वे मुनेरभोजनीयतापत्तेः । अतश्चैतद्वचनानुसारान्निष्पचपदं यतिपरमेव । वरुडो वैणः । अन्नं नाद्यमित्यनुवृत्तौ—

**वसिष्ठः**,

शूद्रस्य चास्वभूतस्य उपपतेर्यश्चोपपतिं मन्यते यश्च गृहाग्निं दहेत् यश्च वधार्हेणोपहन्यात् । को भोज्य इतिचाभिक्रुष्टं गणा

गणिकान्नं च ।

अथाप्युदाहरन्ति,

नाश्नन्ति श्वव्रतो देवा नाश्नन्ति वृषलीपतेः ।
भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्य चोपपतिर्गृहे ॥

वधार्हेण विषादिना । वृषली शूद्रा उशनसोक्ता वा । यथा,

वन्ध्या तु वृषली ज्ञेया वृषली च मृतप्रजा ।
अपरा वृषली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला ॥

अस्याः पतिर्वृषलीपतिः ।

गौतमः,

उत्सृष्टपुंश्चल्यभिशस्तानपदेश्यदण्डिकतक्षकदर्यबन्धनिकचिकित्सकमृगय्वनिपुचार्युच्छिष्टभोजिगणविद्वेषिणामपाङ्क्तानां प्राक् दुर्बलाद्वृथान्नाचमनोत्थानव्यपेतानि ।

उत्सृष्टः पितृभ्यां परित्यक्तः ।

गण्डस्योपरिजातानाम् परित्यागो विधीयते ।

इत्यादिना कारणेन प्रातिकूल्येन वा । अनपदेश्यः अविज्ञातकुलाचारः । स्त्रीत्वपुंस्त्वाभ्यामनिर्देश्य इत्यन्ये । दण्डिकः दण्डाधिकारे नियुक्तः । बन्धनिकः कारागाराध्यक्षः । मृगय्वनिपुचारीत्येकं पदम् । तेन पाशादिना मृगहन्तैवाभोज्यान्नो नेपुणेति सिद्धम् । न मृगयोरिपुचारिणः परिवर्ज्यमन्नमिति वसिष्ठोऽपि ।

प्राक् दुर्बलात् दुर्बलात्प्राक् श्राद्धप्रकरणे ये पठिता अपाङ्क्तेयाः स्तेनादयस्त्यक्तात्मपर्यन्तास्तेषामकृतप्रायश्चित्तानामन्नं न भोक्तव्यमित्यर्थः । दुर्बलो हीनप्रजननकोशः । ते च—

स्तेनक्लीबपतितनास्तिकतद्वृत्तिवीरहाग्रेदिधिषूदिधिषूपतिस्त्रीग्रामयाजकाजपालोत्सृष्टाग्निमद्यपकुचरकूटसाक्षिप्रातिहारिका उपपतिर्यस्य च स कुण्डाशी सोमविक्रय्यगारदाहिगरदावकीर्णिग-

णप्रेष्यागम्यागामिहिंस्रपरिवित्तिपरिवेत्तृपर्य्याहितपर्याधातृसक्तात्मे-
त्यनेनोक्ताः ।

नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी । तद्वृत्तिर्नास्तिकवृत्तिः प्रेत्यभा-
वमङ्गीकृत्यापि यस्तदनुकूलं न चेष्टते । वीरहा यो बुद्धिपूर्वमग्नी-
नुद्वासयति। वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयतइति श्रुतेः ।
अग्रेदिधिषूदिधिषूपतीति पतिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । ते च
मनुनोक्ते ।

ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा ।
सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूर्मता ॥ इति ।

क्वचित्तु अग्रेदिधिष्विति ह्रस्वोकारान्तः पाठः। तदाऽयमर्थः।
यस्य पुनर्भूरेव प्रधानभूता भार्या सोऽग्रेदिधिषुः । दिधिषूः पुनर्भूः
तस्याः पतिर्दिधिषूपतिः । अग्रेदिधिषोर्दिधिषूपतित्वेऽपि पृथग्-
ग्रहणं दोषाधिक्यख्यापनार्थम् । अमरकोशेऽप्ययमर्थः स्पष्टः ।

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।
स तु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥ इति ।

स्त्रीयाजकः स्त्रीप्रधानकर्मानुष्ठापयिता । अजपालः अजरक्ष-
णजीवनः । उत्सृष्टाग्निराशौचाद्यनुपपत्त्या प्रमादाद्वा विच्छिन्ना-
ग्निः। वीरहग्रहणं दोषाधिक्यख्यापनार्थम् । मद्यपः सुराव्यतिरिक्त-
मदजनकद्रव्यस्य पाता।सुरापस्य पतितत्वेनैव प्रतिषेधात् । कुचर
इति। चरति कर्म कुत्सितम् । कूटसाक्षी साक्ष्ये अनृतस्य वक्ता ।
प्रतिहारिको द्वारपालनवृत्तिः । उपपतिः जारः । यस्य च सः स
उपपतिर्यस्य भार्यायाः । कुण्डस्यान्नमश्नातीति कुण्डाशी । कुण्डग्र-
हणं गोलकस्याप्युपलक्षणम् । तौ च कुण्डगोलकौ मनुनोक्तौ,

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्त्तरि गोलकः ॥ इति ।

तयोस्तु प्रतिषेधोऽर्थादेव ज्ञेयः । यद्वा पाकपात्रं कुण्डं तत्रैव क्वचिद्देशे भुञ्जते तत्र सजन्ति ते कुण्डाशिनः । गरदो विषस्य दाता । अवकीर्णी यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात् । हिंस्रः प्राणिवधरुचिः । परिवेत्तृपरिवित्ती—

परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् ।

परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान्—

इत्यमरोक्तौ । ज्येष्ठेऽकृताधाने कृताधानः कनिष्ठः पर्याधाता ज्येष्ठः पर्याहितः । त्यक्तात्मा स्वोद्बन्धनादौ प्रवृत्तः इति ।

वृथाऽन्नं देवताद्यनुद्देशेन केवलं यदात्मार्थं पच्यते । आचमनोत्थानव्यपेते आचमनेन उत्थानेन वा व्यपेतम् अपेतादन्यत्र्यपेतं सहितमित्यर्थः । यद्भोजनमध्ये कोपादिना आचम्यते उत्थीयते वा ते अन्ने अभोज्ये, आचमननिमित्तोपनिपातेन । कृते त्वाचमने नायं निषेधः ।

अन्नमभोज्यमित्यनुवृत्तावापस्तम्बः,

सर्वेषां च शिल्पजीविनां ये च शस्त्रमाजीवन्ति ये चाधिं भिषग्वार्धुषिको दीक्षितोऽक्रीतराजकोऽग्नीषोमीयसंस्थायामेव हुतायां वा वपायां दीक्षितस्य भोक्तव्यं यज्ञार्थे वानिर्दिष्टे शेषाद् भुञ्जीरन्निति ब्राह्मणं क्लीबो राज्ञां प्रैषकरोऽहविर्याजी चार्यविधिना च प्रव्रजितो यश्चाग्नीनपास्यति यश्च सर्वान्नी च श्रोत्रियो निराकृतिर्वृषलीपतिर्मत्तः उन्मत्तो बद्ध ऋणिकः प्रत्युपविष्टो यश्च प्रत्युपवेशयते तावन्तं कालम् ।

शिल्पं चित्रनिर्माणादि । ये च शस्त्रमाजीवन्ति क्षत्रियवर्जम् । येचाधिं स्थावरं जङ्गमं वा बन्धकमुपजीवन्ति । अक्रीतराजक इत्यादि व्याख्यातार्थम् । राज्ञां प्रैषकरः राज्ञामिति बहुवचनाद्ग्रामादेर्यः प्रैषकरस्तस्यापि प्रतिषेधः । अहविर्याजी अहविषा नररुधिरादिना

यो यजतेऽभिचारादौ, यथा, यमभिचरेत्तस्य लोहितमवदानं कृत्वेति। चारी गृहचारी। अविधिना च प्रव्राजितः शाक्यादिः। यश्च सर्वान्विवर्जयते न कचिद् भुङ्क्ते न कञ्चिद्भोजयति। यश्च सर्वान्नी सर्वेषामन्नं भुङ्क्ते। श्रोत्रिय इत्युभयशेषः। श्रोत्रियोऽपीत्यर्थः। निराकृतिः निःस्वाध्यायः। निर्व्रत इति केचित्। उन्मत्तो भ्रान्तः। ऋणिक उत्तमर्णः। स चेत्प्रत्युपविष्टः अधमर्णं प्रति धनग्रहणार्थमनश्नन्नुपविष्टो, यश्चाधमर्ण उत्तमर्णमदानेन प्रत्युपवेशयते।

पुनरापस्तम्बः,

पुण्यस्येप्सतो भोक्तव्यं पुण्यस्यानीप्सतो न भोक्तव्यम्।

पुण्यस्य धार्मिकस्य ईप्सतः प्रार्थयतः।

शङ्खलिखितौ,

भीतरुदिताक्रन्दितावक्रुष्टक्षुतपरिभुक्तविस्मितोन्मत्तावधूतराजपुरोहितान्नानि वर्जयेत्।

भीतः त्रस्तः। रुदितः अश्रुपातवान्। आक्रन्दो दुःखितया संततशब्दकरणं तद्वान्। अवक्रुष्टो जुगुप्सितः। क्षुतः छिक्कावान्। परिभुक्तः सर्वतोभावेन भुक्तं शेषीकृतमन्नं येन, निःशेषान्नभोजनशील इति यावत्। विस्मितो विस्मयवान्। अवधूतः साधुभिर्बहिष्कृतः। भीतेत्यादौ सर्वत्रादिकर्मणि क्तः। तेन भयादयो वर्त्तमाना एव निमित्तमिति बोद्धव्यम्। राजा जनपदेश्वरः। पुरोहितो यस्य कस्यचित्।

पुनः शङ्खलितौ,

विद्विषाणस्य नाश्नीयाद्ब्रह्मच्छित्पापकारिणाम्।

श्राद्धसूतगणान्नानि परिभूतानि यानि च॥

विद्विषाणो विद्वेषणशीलः। ब्रह्म वेदस्तं छिनत्ति नाशयतीति ब्रह्मच्छित्। श्राद्धं प्रेतश्राद्धम्। सूतो ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः।

परिभूतानि तिरस्कृतानि ।

देवलः,

पतितान्नमभोज्यान्नमपाङ्क्त्यान्नमेवच ।
शूद्रान्नं कुत्सितान्नं च दूषितं परिवर्जयेत् ॥

अभोज्याः पुंश्चल्यभिशस्तादयः । दूषितं केशकीटादिभिः ।

वसिष्ठः,

आशौचे यस्तु शूद्रस्य सूतके वापि भुक्तवान् ।
स गच्छेन्नरकं घोरं तिर्यग्यौनौ च जायते ॥
अनिर्दशाहे परशवे नियोगाद्भुक्तवान् द्विजः ।
कृमिर्भूत्वा स देहान्ते तां विष्ठां समुपाश्नुते ॥

परशवे, यदीयमाशौचं यस्य नास्ति तस्य स परः, परस्य मृतकाशौचाभ्यन्तरे ।

यमः,

यस्तु प्राणान्विमुञ्चेत भुक्त्वा श्राद्धं नवं द्विजः ।
अयाज्यासु तु घोरासु तिर्यग्योनिषु जायते ॥
यस्तु प्रजायते गर्भो भुक्त्वा श्राद्धं नवं द्विजः ।
स न विद्यामवाप्नोति क्षीणायुश्चैव जायते ॥

नवश्राद्धमुक्तम् आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे,

नवश्राद्धं दशाहानि नवमिश्रं तु षड्ऋतून् ।
अतः परं पुराणं वै त्रिविधं श्राद्धमुच्यते ॥ इति ।

अयाज्याः याज्याश्छागादयस्तेभ्योऽन्याः ।

शङ्खः,

पराशौचे नरो भुक्त्वा कृमियोनौ प्रजायते ।
भुक्त्वाऽन्नं म्रियते यस्य तस्य योनौ प्रजायते ॥

आपस्तम्बः,

यस्य कुले म्रियेत न तत्रानिर्दशे भोक्तव्यं तथाऽनुत्थितायां सूतिकायामन्तःशवे च ।

अनिर्दशइत्याशौचकालोपलक्षणम् । सूतिकानुत्थानेनापि अशोचकालोपलक्षणाद्यावदाशौचमभोज्यम् । अन्तःशवे अशौचानधिकारिणोऽपि यस्य गृहमध्ये शवस्तद्गृहे तदन्नं, शवो यावद्ग्रामान्न निर्ह्रियते तावत्, अभोज्यमिति हरदत्तः ।

अङ्गिराः,

जन्मप्रभृतिसंस्कारे बालस्यान्नस्य भोजने ।
असपिण्डैर्न भोक्तव्यं श्मशानान्ते विशेषतः ॥

बालस्य जन्मप्रभृतिसंस्कारइत्यन्वयः । अन्नस्य भोजने, रागतः प्रसक्तइति शेषः ।

भविष्यपुराणे,

यो ऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ॥

शातातपः,

यत्र नाश्नन्ति वै देवाः पितरश्च तथाऽतिथिः ।
वृथापाकः स विज्ञेयो न तस्याद्यात् कथंचन ॥

अङ्गिराः,

अप्रजानां तु नारीणां नाश्नीयाज्जातु तद्गृहे ।
मोहाद्वा यस्तु भुञ्जीत स पूयनरकं व्रजेत् ॥

अप्रजाः अनपत्याः ।

यमः,

अधीत्य चतुरो वेदान्साङ्गोपाङ्गान् विशेषतः ।
नरेन्द्रस्य गृहे भुक्त्वा क्रिमियोनौ प्रजायते ॥
राजान्नं हरते तेजः शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।

वैश्यान्नं सूतिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ तथा,
राजभृत्यस्य यच्चान्नं चौरस्यान्नं तथैवच ।
सूतके मृतके चान्नं स्वर्गस्थमपि पातयेत् ॥
अस्यापवादमाह अङ्गिराः,
ब्रह्मक्षत्रविशां भुक्त्वा न दोषस्त्वग्निहोत्रिणाम् ।
सूतके शावआशौचे त्वास्थिसञ्चयनात्परम् ॥ इति ।
हारीतः,
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकानपि निकृन्तति ॥
य इच्छेच्छुद्धमात्मानं भोगाविष्टांश्च वेदितुम् ।
गणान्नं गणिकान्नं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥
वेदितुम् अनुभवितुम् ।
मनुः,
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्त्तिनः ॥
कारुकान्नं प्रजा हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥
पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्या अन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥
ये एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥
पैठीनसिः,

गणान्नं गणिकान्नं च दुष्कृतं वार्धुषेर्विष्ठा सांवत्सरघाण्टिकग्रामकूटान्नं विषं बन्धकीनां रेतो भिषक्शल्यकृतः पूयं परिवित्तिपरिवेविदानीवद्धप्रजनष्टपत्नीपतिदिधिषूपतिपुनर्भूपुत्राणां रुधिरं

पतितानां च ।

सांवत्सरो ज्यौतिषिकः। घाण्टिको वैतालिकः। ग्रामकूटः ग्रामे कपटव्यवहारशीलः। परिवेविदानः परिवेत्ता। विद्धप्रजननः छिन्नशिश्नचर्मा ।

**वसिष्ठः,**

श्रद्दधानस्य भोक्तव्यं चौरस्यापि विशेषतः ।
न त्वेव बहुयाज्यस्य यश्चोपनयते बहून् ॥

बहुयाज्यः बहूनां याजकः ।

**मनुः,**

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥
तान्प्रजापतिरेत्याह मा कृध्वं विषमं समम् ।
हतमश्रद्दधानस्य श्रद्धापूतं विशिष्यते ॥

**यमः,**

अवधूतमविज्ञातं सरोषं विस्मयान्वितम् ।
गुरोरपि न भोक्तव्यमन्नं सत्कारवर्जितम् ॥
अवधूतं यदुच्छिष्टं वाग्दुष्टमपि यद्भवेत् ।
अश्रद्धया हुतं दत्तमभोज्यं तद्द्विजातिभिः ॥
अवलिप्तस्य मूर्खस्य दुर्वृत्तस्य च दुर्मतेः ।
अन्नमश्रद्दधानस्य यो भुङ्क्ते भ्रूणहा तथा ॥
असुतान्नं च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
नृणामाहुर्मलं चान्नं सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥
दुष्कृतं हि मनुष्यस्य अन्नमाश्रित्य तिष्ठति ।
यो यस्यान्नमिहाश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम् ॥

अवधूतम् उज्झितम्। वाग्दुष्टं भक्ष्यमप्यभक्ष्याभिधायिशब्देनोक्तम् । अवलिप्तो गर्वितः ।

आदित्यपुराणे,

विष्णुं जामातरं मन्येत तस्य मन्युं न कारयेत् ।
अप्रजायां तु कन्यायां नाश्नीयात्तस्य वै गृहे ॥
ब्रह्मदेये विशेषेण दैवे भोज्यं सदैव तु ।
गान्धर्वे चैव राजन्ये कुर्याद्धि गमनागमम् ॥
ब्रह्मदेये न वै कन्यां दत्त्वाऽश्नीयात्कदाचन ।
अथ भुञ्जीत मोहात्मा स पूयनरकं व्रजेत् ॥

आपस्तम्बः,

द्विषन् द्विषतो वा नान्नमश्नीयाद्दोषेण वा मीमांस्यमानस्य मामांसितस्य पाप्मानं हि तस्य भक्षयतीति विज्ञायते ।

मनुयमवसिष्ठाः,

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥
किल्बिषमित्यन्नादादिभिः प्रत्येकं संबध्यते। मार्ष्टि संयोजयति ।

वसिष्ठः,

न मृगयोरिषुचारिणः परिवर्ज्यमन्नं विज्ञायते ह्यगस्त्यो वर्षसाहस्रिके सत्रे मृगयांचकार तस्यासंस्तरसमयाः पुरोडाशा मृगपक्षिणां प्रशस्तानाम् ।

अत्र इषुचारी द्विजातिरेव वृत्तिकर्शितो मृगयोपजीवी। तरसमया मांसमयाः ।

शातातपः,

वनस्पतिगते सोमे परान्नं ये तु भुञ्जते ।
तेषां मासकृतो होमो दातारमधिगच्छति ॥
वनस्पतिगते सोमे अमावास्यायाम् ।

मनुः,

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते पशुतां प्रेत्य व्रजन्त्यन्नाद्यदायिनाम् ॥
अन्नाद्यम् अन्नादिकम् ।

**यमः,**

स्वपाके वर्त्तमाने यः परपाकं निषेवते ।
सोऽश्वत्वं शूकरत्वं च गर्दभत्वं च गच्छति ॥
परपाकेन पुष्टस्य द्विजस्य गृहमेधिनः ।
इष्टं दत्तं तपोऽधीतं यस्यान्नं तस्य तद्भवेत् ॥
यस्यान्नेन तु भुक्तेन भार्यां समधिगच्छति ।
यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा अन्नाद्रेतः प्रवर्त्तते ॥

**याज्ञवल्क्यः,**

परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।

**हारीतजमदग्नी,**

ब्राह्मणान्नेन दारिद्र्यं क्षत्रियान्नेन प्रेष्यताम् ।
वैश्यान्नेन तु शूद्रत्वं शूद्रान्नैर्नरकं व्रजेत् ॥ इति ।

## अथाभक्ष्याणि ।

**तत्र मनुः,**

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥
लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥
लोहितान् वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

आलस्यं सामर्थ्ये सत्यप्यवश्यकर्त्तव्यकरणानुत्साहः । अन्नदोषो जात्यादिभिः ।

तथाच भविष्यपुराणे,

जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रयविदूषितम्।
संसर्गाश्रयदुष्टं च सहृल्लेखं स्वभावतः॥
लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
वार्त्ताकुनालिकालाबु उपेयाज्जातिदूषितम्॥
न भक्षयेत्क्रियादुष्टं यद् दृष्टं पतितैः पृथक्।
कालदुष्टं च विज्ञेयं ह्यस्तनं चिरसञ्चितम्॥
दधि भक्ष्यं विकाराश्च मधुवर्जं तदिष्यते।
सुरालशुनसंसृष्टं पेयूषादिसमन्वितम्॥
संसर्गदुष्टमेतद्धि शूद्रोच्छिष्टवदाचरेत्।
शूद्रोच्छिष्टं तु विज्ञेयं पूर्वं शूद्रे प्रदर्शितम्॥
विचिकित्सा तु हृदये अन्ने यस्मिन्प्रजायते।
सहृल्लेखं तु विज्ञेयं पुरीषं तु स्वभावतः॥
रसदुष्टं विकाराद्धि रसस्येति प्रदर्शितम्।
पायसक्षीरपूपादि तस्मिन्नेव दिने तथा॥

कालदुष्टमित्यादेरयमर्थः। ह्यस्तनं पर्युषितं सर्वमेवाभक्ष्यम्। भक्ष्यं पर्युषितं स्नेहाक्तं सद्यद्भक्ष्यत्वेनानुज्ञातं, विकाराश्च यवगोधूमप्रभवाः पर्युषिता अपि ये भक्ष्यत्वेनानुज्ञातास्तेऽपि चिरसञ्चिता अतिविकृतगन्धरसाः सन्तो न भक्षणीया इत्यर्थः। मधु पुनश्चिरसंस्थितमपि भक्ष्यं,तदुक्तं मधुवर्जमिति। लशुनं रसोनं सूक्ष्मपञ्चेतकन्दनालं, गृञ्जनं लशुनाकारि लोहितसूक्ष्मकन्दकम्। कवकं छत्राकसदृशं कुमुदमुकुलाकृति।

तथाच—

ब्रह्मपुराणे,

मधुकैटभदैत्यानां त्रिशीर्षस्यासुरस्य च।

विष्णुना हन्यमानानां यन्मेदः पतितं भुवि ॥
पिण्डोपमं तु कुंखुण्डं कवकं चैवसन्निभम् ।
छत्राकं छत्रसदृशं दैत्यदेहसमुद्भवम् ॥

अमेध्यप्रभवानि साक्षाद्विष्ठाजातानि तण्डुलीयकादीनि मनुष्यादिजग्धबीजपुरीषोत्पन्नानि च । विड्जानीति याज्ञवल्क्यवचनाद्ये साक्षाद्विड्जा न भवन्ति अमेध्याक्रान्तभूप्रभवा वृक्षास्तेषां पुष्पफलान्यदुष्टान्येव ।

तदुक्तम्—

**बौधायनेन,**

अमेध्येषु च ये वृक्षा उप्ताः पुष्पफलोपगाः ।
तेषामपि न दुष्यन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥

अत्र च वृक्षग्रहणाच्छाकादीनामेवंविधानां प्रतिषेधः । साक्षादमेध्यजातेषु वृक्षेषु यानि पुष्पफलानि तानि प्रतिषिद्धान्येव । वृक्षनिर्यासः वृक्षनिर्गतो रसः कठिनतां गतः । व्रश्चनं छेदनम् । तथा व्रश्चनप्रभवानलोहितानपि वर्जयेदित्यर्थः ।

तथाच—

**तैत्तिरीयकश्रुतिः,**

अथो खलु य एव लोहितो यो वा व्रश्चनाभिर्येषाति तस्य नाश्यं नान्यस्येति ।

तेन हिङ्गुकर्पूरादीनामप्रतिषेधः । शेलुः श्लेष्मातकः । पेयूषम् अभिनवप्रसूतायाः क्षीरं यदल्पाग्निसंयोगात्कठिनं भवति तद् गव्यं वर्ज्यम् ।

भविष्यपुराणवचने वार्त्ताकुः श्वेतवार्त्ताकः, अलाबूश्च वर्त्तुलाकारा ग्राह्या ।

अलाबूं वर्तुलाकारां वार्त्ताकुं कुन्दसन्निभम् ।

इति तन्निषेधकवाक्यान्तरैकवाक्यत्वात्। नालिका कलम्बिका।

यमः,

लशुनं गृञ्जनं चैव विलयं सुमुखं तथा।
कवकानि पलाण्डुं च वर्जयेत्तु सदा बुधः॥
वरं स्वयं विशस्यापि सर्वमांसानि भक्षयेत्।
नैव छत्राकमश्नीयाद् द्विजापसदोऽपि सन्॥
भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये।
ब्रह्मघ्नांस्तान्विजानीयात् ब्रह्मवादिषु गर्हितान्॥

विलयो घृतमलम्। सुमुखः सर्पविशेषः।

सुमुखस्तार्क्ष्यतनये फणिभेदे च पण्डिते।

इति विश्वकोशात्।

भुजङ्गोऽपि त्रिदोषघ्नो ह्यर्शोघ्नो दीपनः स्मृतः।

इत्यायुर्वेदाद्भक्ष्यत्वप्रसक्तिः। विशस्य विशसनं कृत्वा। मारयित्वेत्यर्थः। अपसदोऽपकृष्टः।

हारीतः,

छत्राकं विड्वराहं च पलाण्डुं लशुनं तथा।
भक्षयन्वै पतेद्विप्रो यदि स्यात्सर्ववेदवित्॥

विड्वराहो ग्रामशूकरः।

देवलः,

श्लेष्मातको व्रजफली कौसुम्भं नालमस्तकान्।
गृञ्जनं चेति शाकानामभक्ष्याणि प्रचक्षते॥
पलाण्डुं लशुनं शुक्तं निर्यासं चेति सर्वशः।
कुचुन्दं श्वेतवृन्ताकं कुम्भाण्डं च न भक्षयेत्॥

कौसुम्भं कुसुम्भसम्भवपत्रम्। नालं कलम्बिका। मस्तको वर्तुलालाबुः। श्वेतवृन्ताकं श्वेतवार्त्ताकुः। निर्यासो लोहितः।

कुम्भाण्डं दाडिमसदृशः फलविशेषः। नित्यमभोज्यमित्यनुवृत्तौ—

गौतमः,

किसलयक्याकुलशुनं निर्यासा लोहिता व्रश्चनाश्च।

किसलयः पल्लवाग्रप्ररोहः। क्याकु अहिच्छत्राकम्।

आपस्तम्बः,

कीलालौषधीनां च कलञ्जपलाण्डुपरारीका यच्चान्यत्परिचक्षते क्याकु अभोज्यमिति हि ब्राह्मणम्।

कीलालं सुरा तदर्थं स्थापिता ओषधयो व्रीहिश्यामाकादयस्तेषां, विकारमिति शेषः। कलञ्जं रक्तलशुनम्। परारीकः श्वेतपलाण्डुः।

स्मृतिमप्युदाहृतायुर्वेदे पठ्यते,

रसोनो दीर्घपत्रश्च पिच्छगन्धो महौषधम्।

हिरण्यश्च पलाण्डुश्च नवतर्कः परारिका॥

गृञ्जनो यवनेष्टश्च पलाण्डोर्दश जातयः।

यच्चान्यदेवंविधं कोविदारादि शिष्टाः परिचक्षते वर्जयन्ति, तदपि न भोज्यमिति शेषः।

उशना,

कुसुम्भनालिकाशाकं वृन्ताकं पौतिकं तथा।

भक्षयन्पतितस्तु स्यादपि वेदान्तगो द्विजः॥

वृन्ताकं श्वेतं, श्वेतवृन्ताकमिति देवलवचनात्। पौतिकं कण्टकिकरञ्जपत्रम्।

पैठीनसिः,

वृन्ताकनालिकापोतकुसुम्भाश्मन्तकाश्चेति शाकफलानामभोज्याः।

अश्मन्तको वृक्षविशेषः।

अश्मन्तकश्चन्द्रकस्तु कुशली चाम्लपत्रकः। इति निघण्टुः।

**विष्णुः**,

न कदाचन वटपिप्पलशाकम्।

वर्जयेदित्यनुवृत्तौ—

**याज्ञवल्क्यः**,

देवतार्थं हविः शिग्रुलोहितान्व्रश्चनांस्तथा।

अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च॥

देवतार्थं देवतार्थबल्युपहारनिमित्तं साधितम्। हविः होमार्थं चरुपुरोडाशादि। एतच्च प्राक् प्रदानादभक्ष्यम्। शिग्रुः शोभाञ्जनः। अनुपाकृतं, पशुयागे मन्त्रवद्दर्भाभ्यां प्लक्षशाखया च पशोः स्पर्शनमुपाकरणं, तद्रहितम्। तथा,

वृथाकृसरसंयावपायसापूपशष्कुलीः।

वृथा देवताद्यनुद्देशेन केवलमात्मार्थं यत्पच्यते कृसरादि। न पचेदन्नमात्मन इति वचनात्प्रतिषेधे सिद्धे कृसरादीनां पुनः प्रतिषेधः प्रायश्चित्तविशेषार्थः। कृसरस्तिलमुद्गसहित ओदनः। संयावो घृतक्षीरगोधूमचूर्णसिद्ध उत्कारिकाख्यः। शष्कुली स्नेहपक्वो गोधूमविकारः। मुद्गादिचूर्णसिद्धा सतिला स्नेहपक्वेति तु, कल्पतरुः।

**यमः**,

यवागूं कृसरं चैव पूपपायसशष्कुलीः।

ऋजीषपक्वं मांसं च मत्स्यानप्यनुपाकृतान्॥

वर्जयेत्सर्वशुक्तानि देवान्नानि हवींषि च।

[illegible] च समायुक्तं नैव सर्वं प्रयोजयेत्॥

ऋजीषपक्वं भ्रामोष्मपक्वम्।

**गौतमः**,

उद्धृतस्नेहविलयपिण्याकमथितप्रभृतीनि चात्तवीर्याणि नाश्नीयात् ।

मथितं घोलितं दधि । आत्तवीर्यं गृहीतसारम् । अश्नीयादित्यनुवृत्तौ—

**विष्णुः,**

नोद्धृतस्नेहं, न दिवा धाना, न रात्रौ तिलसम्बद्धं न दधिसक्तून् कोविदारवटपिप्पलशाकम् ।

**देवलः,**

न बीजान्युपभुञ्जीत रोगापत्तिमृते बुधः ।
फलान्येषामनन्तानि बीजानां हि विनाशयेत् ॥
नाश्नीयात्पयसा नक्तं भुक्तं चाग्निशि न स्वपेत् ।
न क्षीरमुत्सृजेत्प्राप्तं पवित्रं हि पयः स्मृतम् ॥

बीजानि अङ्कुरजननयोग्यानि । अत उपहतानां दलितानां पक्वानां वा न निषेधः ।

**यमः,**

भिन्नभाण्डे न भुञ्जीत न रात्रौ दधिसक्तुकान् ।
दिवा दधित्थधानासु रात्रौ तु दधिसक्तुषु ॥
कोविदारे च रजके तस्करे सूतके तथा ।
श्लेष्मातके तथाऽलक्ष्मीर्निसमेव कृतालया ॥

दधित्थः कपित्थः । सूतके जननमरणाशौचे ।

**ब्रह्मपुराणे,**

राजमाषाः स्थूलमुद्गास्तथा तृणयवासकौ ।
मसूराः शतपुष्पाश्च कुसुम्भं श्रीनिकेतनम् ॥
सस्यान्येतान्यभक्ष्याणि न च देयानि कस्यचित् ।

प्रादेशमात्रशिबिसम्बन्धिनः अलसान्द्रापरनामधेया राजमा-

पाः । स्थूलमुद्गा मोथीति प्रसिद्धाः । वृषो वासा । वृषो वासा च सिंहिकेत्यभिधानात् । यवासको दुरालभा । मसूरो मङ्गल्यः चिपिटाकृतिः शिम्बिधान्यविशेषः । शतपुष्पा शताह्वा ।

आपस्तम्बः,

विलयनं मथितपिण्याकमधुमांसं च विवर्जयेत् ।
कृष्णधान्यं च शूद्रान्नं ये चान्येऽनाश्यसम्मताः ॥
अहविष्यमनृतं क्रोधं येन च क्रोधयेत् परम् ।
इच्छन्स्वर्गं यशो मेधां द्वादशैतानि वर्जयेत् ॥

कृष्णधान्यं कलिङ्गकादि । अनाश्यम् अभक्ष्यं मण्डूकादि तेन संमितास्तुल्यत्वेन मताः । येन च व्यापारेण परस्य क्रोधो जायते तं व्यापारं स्वयमक्रुद्धोऽपि वर्जयेत् ।

वसिष्ठः,

उच्छिष्टमगुरोरभोज्यं स्वमुच्छिष्टमुच्छिष्टोपहतं च वमनकेशकीटोपहतं च ।

स्वमुच्छिष्टं स्वयमेव किञ्चिद् भुक्त्वा त्यक्तम् । वसनमिह परिहितं वासः ।

सुमन्तुः,

केशकीटवचोपहतं श्वभिराघ्रातं प्रेक्षितं चादधि पर्युषितं पुनः सिद्धचाण्डालावेक्षितमभोज्यमन्यत्र हिरण्योदकैः स्पृष्टात् ।

केशकीटवचोभिः अपहतं, केशोपहतं कीटोपहतं वचोपहतम् । वचोपहतं च यस्योपरि वागुच्चारिता तद्वचोपहतम् । प्रेक्षितं श्वभिरेव संनिधानात् । अदधि दधिव्यतिरिक्तं पर्युषितं रात्र्यन्तरितम् । सिद्धमन्नं पुनः सिद्धं द्विःपक्वादि । हिरण्योदकं हिरण्यस्पृष्टमुदकम् ।

मनुः,

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।

केशकीटावपन्नं च पादस्पृष्टं च कामतः ॥
भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥

कामत इत्युक्तत्वादकामतः पादस्पर्शे न दोषः । उदक्या रजस्वला। पतत्रिणा पक्षिणा अवलीढमास्वादितम्।

**याज्ञवल्क्यः,**

भुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम् ।
उदक्यास्पृष्टसंघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ॥

पर्यायान्नम् अन्यसंबन्धि यदन्नमन्यव्यपदेशेन दीयते ।

**यथा,**

ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् ।
उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

**यमः,**

काककुक्कुरसंस्पृष्टं भुक्तं वा कृमिसंयुतम् ।
अभोज्यं तद्विजानीयाद्धर्मराजवचो यथा ॥

**आपस्तम्बः,**

अप्रयतोपहतमन्नमप्रयतं न त्वभोज्यमप्रयतेन शूद्रेणोपहतमभोज्यं यस्मिंश्चान्ने केशः स्यात् अन्यद्वाऽमेध्यममेध्यैरवमृष्टं कीटो वाऽमेध्यसेवी मूषकलाऽङ्गं वा पदा वोपहतं सिचा वा शुना वाऽपपात्रेण वा दृष्टं गिरा वोपहतं दास्या वा नक्तमाहृतं भुञ्जानं वा यत्र शूद्र उपस्पृशेदनर्हद्भिर्वा समानपङ्क्तौ भुञ्जानेषु वा यत्रानुत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा कुत्सयित्वा च यत्रान्नं दद्युर्मनुष्यैरवघ्रातमन्यैर्वाऽमेध्यैः ।

अप्रयतोपहतम् अप्रयतेनाशुचिनोपहतं स्पृष्टमप्रयतमशुचि न त्वेवाभोज्यं किंत्वग्न्यवधिश्रयणादिना शुद्धिं कृत्वा भोज्यं भवति ।

अप्रयतेन तु शूद्रेण स्पृष्टं न कथञ्चन भोज्यम्। यस्मिंश्चान्ने पाकदशायां केशः पतितस्तेन सह यत्पक्वं तदप्यभोज्यम्। अन्यद्वा अभोज्यं नखादि यस्मिन्नन्ने पाककाले पतितं तदप्यभोज्यम् । भोजनकाले केशादिपाते तु—

**बौधायनः,**

केशकीटनखरोमाखुपुरीषाणि दृष्ट्वानि तावन्मात्रमन्नमुद्धृत्य शेषं भोज्यमिति ।

**वसिष्ठस्तु,**

कामं केशकीटानुद्धृत्याद्भिः प्रोक्ष्य भस्मनाऽवकीर्य वाचा प्रशस्तमन्नं भुञ्जीतेति ।

अमेध्यैः कलञ्जपलाण्ड्वादिभिरवमृष्टं संसृष्टमभोज्यम् ।

अमेध्यसेवी कृमिः कीटः यस्मिन्नन्ने, तदप्यभोज्यमिति शेषः। मूषकला मूषिकाविष्ठा, अङ्गं मूषिकपुच्छं पादादि वा यस्मिन्नन्ने तदप्यभोज्यम् । पदा पादेन बुद्धिपूर्वं स्पृष्टम् । सिचा परिहितवस्त्रप्रान्तेन प्रक्षालितेनापि स्पृष्टम्।शुना कुक्कुरेण अपपात्रेण पतितसूतिकादिना स्पृष्टं दृष्टं च। दास्या प्रेष्यया नक्तं रात्रौ उपहृतमानीतम्। स्त्रीलिङ्गनिर्देशाद्दासाहृते न दोष इति केचित्। स्त्रीत्वमविवक्षितमिति तु कल्पतरुः।नक्तमिति वचनात् दिवाऽऽहृते न दोषः।भुञ्जानं यत्र शूद्र उपस्पृशेत्, तदन्नमर्धभुक्तमप्यभोज्यमिति शेषः।अनर्हद्भिरभिजनविद्याचारशून्यैः समानपङ्क्तावन्नमभोज्यम्। अर्हद्भिर्वा समानपङ्क्तौ यदाऽर्धभुक्तेषु कश्चिदनुत्थाय भूत्यादेरुच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा तदेतरेषामर्द्धभुक्तमप्यभोज्यम् । कुत्सयित्वा विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिना निर्भर्त्स्य यदन्नं दद्युस्तदप्यभोज्यम् । मनुष्यैरवघ्रातं, प्रयत्नत इति शेषः । अन्यैर्वा अमेध्यैर्मार्जारगर्दभादिभिः ।

**शङ्खलिखितौ,**

तत्रापेयान्यभक्ष्याणि च वर्जयेदमेध्यपतितचण्डालपुष्कसरजस्वलाकुणपकुष्ठिस्पृष्टानि ।

पुष्कसो म्लेच्छजातिविशेषः । कुणपः शवः ।

बृहस्पतिः,

नाद्याच्छास्त्रनिषिद्धं तु भक्ष्यभोज्यादिकं द्विजः ।
मांसं विगर्हितं चैव शुक्तं बहुविधं तथा ॥
अत्यम्लं शुक्तमाख्यातं निन्दितं ब्रह्मवादिभिः ।
विगर्हितं शिष्टैर्विनिन्दितम् ।

देवलः,

अभोज्यं प्राहुराहारं शुक्तं पर्युषितं सदा ।
अन्यत्र मधुसक्तुभ्यां भक्ष्येभ्यः सर्पिषो गुडात् ॥
अवलीढं च मार्जारध्वाङ्क्षकुक्कुटवायसैः ।
भोजने नोपभुञ्जीत तदमेध्यं हि धर्मतः ॥
विशुद्धमपि चाहारं दूषितं कृमिजन्तुभिः ।
केशलोमनखैर्वापि दूषितं परिवर्जयेत् ॥

भक्ष्या लड्डुकादयः । ध्वाङ्क्षोऽत्र बकः । वायसस्य पृथगुपादानात् । अश्नीयादित्यनुवृत्तौ–

हारीतः,

न रजस्वलया दत्तं न पुंश्चल्या न क्रुद्धया ।

न मलवद्वाससा नापरया द्वाराऽऽपन्नं न द्विः पक्वं न शुक्तं न पर्युषितमन्यत्र गुडपिष्टसक्तुस्नेहगोरसतैलादिषुपक्वात् न तैलदध्यनुपानं नावक्षुतान्नं न जुगुप्सितम् ।

मलवद्वासाः अमेध्यलिप्तवस्त्रा । अपरया द्वारा मुख्यद्वारातिरिक्तद्वारेण । तैलादिषुपक्वादित्येकं पदम् । आर्षत्वाच्च सप्तम्यलुक् । तेन गुडपिष्टं सक्तवश्च स्नेहादिपक्वं चेति द्वन्द्वः । तैलादिष्वित्यत्र

आदिपदाद् घृतसर्षपस्नेहग्रहणम्। न तैलदध्यनुपानम् भोजनान्ते तैलं दधि वा यथा भवति तथा नाश्नीयात्। अभोज्यमित्यनुवृत्तौ—

गौतमः, पर्युषितमशाकभक्ष्यस्नेहमांसमधूनि।

शाकादीनि पर्युषितानि विहाय अन्यत्पर्युषितं नाश्नीयादित्यर्थः।

शङ्खलिखितौ,

नापणीयमन्नमश्नीयात् न द्विः पक्वं न शुक्तं न पर्युषितमन्यत्र रागचुक्रषाडवदधिगुडगोधूमयवपिष्टविकारेभ्यः।

आपणीयं हट्टात् क्रीतं तच्च कृतान्नम्। रागो मुद्गदाडिममांसादिरसा वस्त्रगालिताः प्रलेहाः। चुक्रं चूक इति प्रसिद्धम्। षाडवाः स्वाद्वम्लकटुकस्वादाः प्रलेहा एव।

वसिष्ठः,

अन्नं पर्युषितं भावदुष्टं सहृल्लेखं पुनःसिद्धमामसृजीषपक्वं, कामं तु घृतेन दध्नाऽभिघारितमुपभुञ्जीत।

आमं तण्डुलादि। कामं दध्ना घृतेनवाऽभिघारितमुपभुञ्जीतेत्यनेन भोज्यान्तरासंभवे एव भुञ्जीत।

आपस्तम्बः,

नापणीयमन्नमश्नीयात्तथा रसान् आममांसमधुलवणादीनि परिहार्य तैलसर्पिषी तूपयोजयेदुदकेऽवधाय कृतान्नं पर्युषितमखाद्यापेयानाद्यं शुक्तं चेत् फाणितपृथकृतण्डुलकरम्भभरुजसक्तुशाकमांसपिष्टक्षीरविकारौषधिवनस्पतिमूलवर्जं शुक्तं त्वपरयोगम्।

आपणः पण्यवीथिका तत्र क्रीतम् आपणीयं तच्च कृतं नाश्नीयात्। व्रीह्यादिषु न दोष इति हरदत्तः। रसाः रसप्रधानानि गुडादिद्रव्याणि तान्यपि आपणीयानि नाश्नीयात्, आममांसा-

दीनि वर्जयित्वा । तैलसर्पिषी उदकेऽवधाय उदपात्रे मणिकादौ निधाय उपयोजयेत् । कृतान्नं पक्वान्नम् अपर्युषितम् अखाद्यापेयानाद्यं खाद्यं कठिनं पिष्टकादि पेयं द्रव्यं पानकादि आद्यं मृदु भक्ष्यम् ओदनादि इदं त्रितयं अपर्युषितमपि शुक्तं चेत् क्रमेणाखाद्यम् अपेयम् अनाद्यं च भवतीत्यर्थः । फाणितम् इक्षुरसविकारविशेषः पाकजन्यो द्रवः । पृथकृतण्डुला भृष्टधान्यनिष्पन्नाश्चिपिटका इति प्रसिद्धाः । करम्भो दधिसक्तवः । भरुजा धानाः । फाणितादिषु पर्युषितत्वादिदोषो नास्तीत्यर्थः । शुक्तं त्वपरयोगमिति । न विद्यते परयोगो यस्येति यत् शुक्तमखाद्यापेयानाद्यमुक्तं तद् द्रव्यान्तरासंयुक्तम् । शुक्तं तु केवलमिति देवलवचनात् ।

बृहस्पतिः,

दधि भक्ष्यं शुक्तमपि तथैव दधिसम्भवम् ।
कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तासवं तु तत् ॥
अविकारि भवेन्मेध्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ।

कन्दमूलफलैरित्यादेरयमर्थः । यच्छुक्तं कन्दमूलादिभिः प्रशस्तैः कृतसन्धानं यदि मोहादिविकारकारणं भवति तदा न भक्षणीयम् ।

यमः,

शुक्तानि हि द्विजोऽन्नानि न भुञ्जीत कदाचन ।
प्रक्षालितानि निर्दोषाण्यापद्धर्मो यदा भवेत् ॥
मसूरमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत् ।
तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीताज्याभिघारितम् ॥

यच्छुक्तं पर्युषितं च मसूरमाषसंयुक्तं तत्प्रक्षाल्याज्येनाभिघार्य चापदि भोज्यमित्यर्थः ।

मनुः,

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च सर्वतः ॥
चिरस्थितमपि ह्याद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रियाः ॥

**याज्ञवल्क्यः,**

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ।
अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥

**यमः,**

अपूपाश्च करम्भाश्च धाना वटकसक्तवः ।
शाकं मांसमपूपं च सूपं कृसरमेवच ॥
यवा[illegible]यसं चैव यच्चान्यत्स्नेहसंयुतम् ।
सर्वं पर्युषितं भोज्यं शुक्तं च परिवर्जयेत् ॥
काञ्जिका सफला या तु गृहे सुस्थापिता भवेत् ।
काञ्जिका सैव भक्ष्या स्यान्नान्यथा तु कदाचन ॥ इति ।

मिताक्षरायां **वसिष्ठः,**

अपूपधानाकरम्भसक्तुवटकतैलपायसशाकानि च शुक्तानि वर्जयेत्, अन्यांश्च क्षीरपिष्टविकारान् ।

**देवीपुराणे,**

वृथाकृसरपूपानि पायसं मधुसर्पिषी ।
वृथामांसं च नाश्नीयात्पितृदेवविवर्जितम् ॥

**ब्रह्मपुराणे,**

चण्डालपतितामेध्यकुणपैः कुष्ठिना तथा ।
ब्रह्मघ्नसूतिकोदक्यापौंलेयककुटुम्बिभिः ॥
दृष्टं वा केशकीटाक्तं मृद्भस्मकरकाम्बुभिः ।
शुद्धमद्यात्सहल्लेखं प्रभूतं चोष्णमेवच ॥

कौलेयकाः श्वानः तएव कुटुम्बं पोष्यं तदस्त्येषाम् ।

तथा,

उच्छिष्टेन तु शूद्रेण संस्पृष्टः परिवेषकः ।

द्रव्यहस्तस्तु यत्किञ्चिद्दद्यात्तच्च न भक्षयेत् ॥

मार्कण्डेयपुराणे,

भिन्नभाण्डगतं तद्वन्मुखवातोपसेवितम् ।

तदूष्मपक्वं द्विः स्विन्नमवलीढमसंस्कृतम् ॥

पिष्टपाकेक्षुपयसां विकारा नृपनन्दन ।

तथा मांसविकाराश्च वर्ज्याश्चैव चिरोषिताः ॥

ब्रह्मपुराणे,

शूद्रभुक्तावशिष्टं तु नाद्याद्भाण्डस्थितं त्वपि

भविष्यपुराणे,

आयसेन तु पात्रेण यदन्नमुपनीयते ।

भोक्ता विष्ठासमं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अङ्गुल्या दन्तकाष्ठं च प्रत्यक्षलवणं च यत् ।

मृत्तिकाभक्षणं चैव तुल्यं गोमांसभक्षणम् ॥

ब्रह्मपुराणे,

एकेन पाणिना दत्तं शूद्रादत्तं न भक्षयेत् ।

घृतं तैलं च लवणं पानीयं पायसं तथा ॥

भिक्षा च हस्तदत्ता या न सा ग्राह्या तु कुत्रचित् ।

षट्त्रिंशन्मते,

दीपोच्छिष्टं च यत्तैलमभ्यङ्गे योजितं च यत् ।

रात्रौ रथ्याहृतं यच्च भुक्त्वा नक्तेन शुद्ध्यति ॥

यमः,

माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।

हस्तदत्तानि भुक्त्वा च भोक्ता सान्तपनं चरेत् ॥

षट्त्रिंशन्मते,

शणपुष्पं शाल्मलं च करनिर्मथितं दधि ।
बहिर्वेदि पुरोडाशं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

वेद्युपलक्षितकर्मासम्बद्धः बहिर्वेदिशब्देन विवक्षितः ।

अथाभक्ष्यदुग्धानि ।

तत्र मनुः,

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥

निर्दशा यस्याः प्रसूताया दश दिनानि अपगतानि । एकशफा एकखुरा अश्वादयः । आविकं मेषीक्षीरम् । सन्धिनी ऋतुमती।

तथाच हारीतः,

सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेदृतुमद्भवतीति ।

विवत्सा वत्सरहिता । आरण्यका मृगा रुरुमहिषपृषतादयः ।

गौतमः,

गोश्च क्षीरमनिर्दशायाः सूतकेऽजामहिष्योश्च नित्यमाविकमपेयम् औष्ट्रमैकशफं स्यन्दिनीयमसूसंन्धिनीनां च ।

स्यन्दिनी वत्सं विनैव प्रस्रवयुक्ता । यमसूर्यमलापत्या ।

बौधायनः,

अनिर्दशाहासंधिनीक्षीरमपेयं विवत्सान्यवत्सयोः ।

अन्यवत्सा अन्यस्या वत्सेन या दुह्यते ।

आपस्तम्बः,

अपेयं तथैकशफं पय उष्ट्रीक्षीरमृगीक्षीरसंन्धिनीक्षीरयम-

स्रुक्षीराणीति । धेनोश्चानिर्दशायाः ।

पयो न पिबेदित्यनुवृत्तौ हारीतः,

न विवत्सायाः स्तेययोगात् न हतवत्सायाः शोकाभिभूतत्वात् न निर्णिक्तायाः असत्त्वात्त्वान्यस्याच्छिद्यात्मनाऽश्नीयात् । एवं न नवसूतायाः सरजस्त्वात्सप्तरात्रादित्येके दशरात्रादित्यपरे मासेन पेयूषं भवतीत्यपरे एवं ह्याह द्वौमासौ पाययेद्वत्सं तृतीये द्विस्तनं दुहेत् चतुर्थे त्रिस्तनं दुह्याद्यथान्यायं यथाबलम् ।

विवत्सा विप्रकृष्टवत्सा । निर्णिक्ताया निःशेषेण दुग्धायाः ।

ब्रह्मपुराणे,

घृतात्फेनं घृतान्मण्डं पेयूषमथवापि गोः ।
सगुडं मरिचाक्तं च तथा पर्युषितं दधि ॥
दीर्णं तक्रमपेयं च नष्टस्वादं च फेनवत् ।
प्रमादाद्भक्षितैर्वापि वने पक्षव्रतं चरेत् ॥

भविष्यपुराणे,

कपिलां यः पिबेच्छूद्रो नरके स विपच्यते ।
हुतशेषं पिबेद्विप्रो विप्रः स्यादन्यथा पशुः ॥

ब्रह्मपुराणे,

अपि प्रयाणसमये रात्रौ न प्राशयेद्दधि ।
मधुपर्कप्रदानं तु वर्जयित्वा तु कामतः ॥
दिवा धानासु वसति रात्रौ च दधिसक्तुषु ॥
अलक्ष्मीः कोविदारेषु कपित्थेषु सदा स्थिता ।

अथ मांसभक्ष्याभक्ष्यनिर्णयः ।

तत्र मनुः,

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेवचात्यये ॥
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
जङ्गमं स्थावरं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥
चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणां चाप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥
नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एवच ॥
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥
क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपहृतमेववा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥

एतत्पूर्वोक्तं भक्ष्याभक्ष्यं द्विजातीनां न शूद्रस्य । तेन लशुनादिभक्षणे तस्यादोषः । तन्मध्यपतितकाकादिभक्षणं तु शिष्टविगानाद्दोषावहमिति कल्पतरुः । अत्र च द्विजातिग्रहणाद् वक्ष्यमाणमांसवर्जनविधानं चातुर्वर्ण्यसाधारणम् । वर्जने तु विधिः सूर्यानीक्षणवत्सङ्कल्परूपः । प्रोक्षितं यज्ञार्थं मन्त्रैः संस्कृतम् । असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैरित्यादिवाक्यशेषात् । ब्राह्मणानां च काम्ययेति । यथा ब्राह्मणाः केचित् प्रत्येकं कामयन्ते त्वया मांसं भोक्तव्यमिति तदा तेषामिच्छया एकवारं मांसं भक्षयतो न दोषः । सकृद् ब्राह्मणकाम्ययेति यमवचनात् । एवं च तस्यैव ब्राह्मणस्य कामनान्तरे न भोक्तव्यम् । एकब्राह्मणकामनया च भुक्तवता ब्राह्मणान्तरकामनायामपि न भोक्तव्यम् । सकृदिति च क्रियमाणभोजनाभिप्रायेण, न तु ग्रासपरम् । तथैव व्यवहारात् । यथाविधिनियुक्त इति । मधुपर्के श्राद्धे च नियुक्तः सन् अप्रोक्षितमपि भक्षयेत् । प्राणानामेवचा-

त्ययइति। यदा रोगेणान्नाभावेन वा मांसभक्षणव्यतिरेकेण प्राणा-त्ययः सम्भाव्यते तदा मांसं भक्ष्यमित्यर्थः। एषामेव पूर्वोक्ता-नामनुवादाः प्राणस्यान्नमित्यादयः। चराः हरिणादयः। अचराः तृणादयः। दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयः। अदंष्ट्रिणो हरिणादयः। स-हस्ताः मनुष्यादयः। अहस्ता मत्स्यादयः। क्रूराः अत्युत्साहिनः। भीरवः कातराः। यज्ञाय यज्ञार्थम्। जग्धिर्भोजनम्। अतोऽन्यथा पूर्वोक्तादन्यत्र। स्वयमुत्पाद्येति क्षत्रियविषयम्।

तथाच महाभारते,

क्षत्रियाणां तु यो दृष्टो विधिस्तमपि मे शृणु।
वीर्येणोपार्जितं मांसं यथा खादन्न दुष्यति॥
आरण्यास्सर्वदैवत्याः प्रोक्षिताः सर्वशो मृगाः।
अगस्त्येन पुरा राजन्मृगया येन पूज्यते॥
अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत।
लिप्यन्ते न च दोषेण नचैतत्पातकं विदुः॥ इति।

क्रीत्वा स्वयं चेत्यनेन देवपित्रर्चनपूर्वकं मांसभक्षणे दोषा-भाव उक्तः।

याज्ञवल्क्यविश्वामित्रौ,

प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षितं द्विजकाम्यया।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दोषभाक्॥

द्विजकाम्ययेति। ब्राह्मणभोजनार्थं यत्साधितं तदिति मि-ताक्षराकारः। अन्ये तु ब्राह्मणा यं प्रति कामयन्ते त्वया मांसं भक्षणीयमिति स भक्षयेदिति आहुः।

देवलः,

भक्षयन्नपि मांसानि शेषभोजी न लिप्यते।
औषधार्थमशक्तौ वा नियोगाद्यज्ञकारणात्॥

शेषभोजी देवपित्राद्यर्चनशेषस्य भोक्ता। अशक्तौ व्याध्यादिना अभिभवे। तेन यत्र मांसभक्षणं विना रोगापनयो न भवतीति वैद्यकशास्त्रविदो निश्चयः तत्र भक्ष्यमित्यर्थः। एवं च प्राणात्ययसम्भावनाविरहेऽपि तद्रोगापनुत्तये भक्षयतो न दोषः। नियोगः श्राद्धादौ निमन्त्रणम्। यज्ञकारणाद्यज्ञसिद्ध्यर्थम्।

यमः,

भक्षयेत्प्रोक्षितं मांसं सकृद्ब्राह्मणकाम्यया।
दैवे नियुक्तः श्राद्धे वा नियमे तु विवर्जयेत्॥

सकृदेकवारम्। अस्य च ब्राह्मणकाम्ययेति अनेन सम्बन्धः। नियमे मांसवर्जनसङ्कल्परूपे सति। एतच्च प्रोक्षितातिरिक्तैः सर्वैरेव संबध्यते। प्रोक्षिते तु प्रत्यक्षश्रुतिविरोधान्न सम्बध्यते। एवमन्यत्रापि बलवत्प्रमाणविषयं प्राणात्ययादिकं विहाय सम्बन्धनीयम् इति कल्पतरुः।

बृहस्पतिः,

रोगी नियुक्तो विधिना हुतं विप्रहृतस्तथा।
मांसमद्याच्चतुर्धैषा परिसंख्या प्रकीर्त्तिता॥
अतोऽन्यथा तु नाश्नीयाद्विधिं हित्वा पिशाचवत्।
यावन्ति पशुरोमाणि तावत्प्राप्नोति मारणम्॥

रोगी मांसभक्षणैकपरिहार्यरोगवान्। नियुक्तः श्राद्धादौ। विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण। हुतं हुतशेषम्। विप्रहृतः विप्राभ्यर्थितः। चतुर्धा परिसंख्या चतुष्प्रकारो नियम इत्यर्थ इति हेमाद्रिः।

कल्पतरौ तु परिसंख्या परिगणनं, न इतरवर्जनम्। स्मृत्यन्तरे देवान्पितॄन् समभ्यर्च्येति प्रकारान्तरेणापि मांसभक्षणाभ्यनुज्ञानादित्युक्तम्।

हारीतः,

वृथा मांसमभक्ष्यं तु प्राश्य कृच्छ्रं चरेद् बुधः ।
काम्यया ब्राह्मणानां तु यथाकामं समश्नुयात् ॥

मनुविष्णू,

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कथंचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥

प्रोक्षितं भक्षयेदिति सामान्योक्तस्यैवायमुपसंहारो मन्त्रैरिसनेन क्रियते।तेन मन्त्रवत्प्रोक्षणाभावात्सामयाचारिकेषु सीतायज्ञादिषु नेदं विधानं भवतीति मेधातिथिः । शाश्वतो नित्यवेदप्रतिपाद्यत्वात् । आस्थितः आश्रितः ।

यमः,

यजुषा संस्कृतं मांसं भक्षयेत्तु यथाविधि ।
न भक्षयेत् वृथा मांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥

पृष्ठमांसं पृष्ठसम्बन्धिमांसम् अनुज्ञातविषयेऽपि ।

पैठीनसिः,

श्राद्धे मांसं समश्नीयात्तथाऽतिथिनिमित्तके ।
यावन्ति पशुरोमाणि तावन्नरकमृच्छति ॥

श्राद्धे, निमन्त्रित इति शेषः। अतिथिनिमित्तके आतिथ्यं यदुपात्तं तदतिथिना भक्ष्यमित्यर्थः । यो नाश्नाति तं प्रति उत्तरार्धेन निन्दामाह । यावन्तीति । तावत् तावद्वर्षाणीत्यर्थः ।

मनुः,

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥

सम्भवान् जन्मानि ।

हारीतशातातपौ,

नियुक्तस्तु यथा श्राद्धे यस्तु मांसं न भक्षयेत् ।

यावन्ति पशुरोमाणि तावन्नरकमृच्छति ॥
क्षत्रियैस्तु मृगव्येन विधिना समुपार्जितम्।
श्राद्धकाले प्रशंसन्ति सिंहव्याघ्रहतं च यत् ॥
विपच्छद्महतं चैव व्याधतिर्यग्हतं च यत्।
न प्रशंसन्ति वै श्राद्धे यच्च मन्त्रविवर्जितम् ॥

मृगव्येन आखेटकेन विधिना। विपच्छद्मादिरहितशौर्येण सिंहव्याघ्रहतं च प्रशंसन्ति इत्यनुषङ्गः। तिर्यञ्चोऽत्र सिंहादेरन्ये पशवः।

**गौतमः,**

व्यालहतादृष्टदोषवाक्प्रशस्तान्यभ्युक्ष्योपयुञ्जीत।

व्यालाः सिंहादयः। अदृष्टदोषमनिश्चितदोषम्। वाक्प्रशस्तं शुच्यशुचि वेति सन्दिग्धं सद् यद् अन्येन शुचीत्युक्तं तदभ्युक्ष्योपयुञ्जीतेत्यर्थः।

**आपस्तम्बः,**

हिंसार्थेनासिना छिन्नं मांसम् अभोज्यम्।

हिंसार्थेन प्राणिवधाय निर्मितेन यत्पाकार्थं छिन्नम्। असिग्रहणं वधोपायस्योपलक्षणम्।

**मनुः,**

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यते च सः ॥
न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
इति मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति।

अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांश्च ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥

यमः,

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति ।
यत्रयत्राभिजायेत स भवेद्व्याधिपीडितः ॥
भुक्त्वा तु मोहान्मांसानि नरः पुष्ट्यर्थमात्मनः ।
अकृत्वेहात्मनः शुद्धिं तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥

आत्मनः शुद्धिः प्रायश्चित्तम् ।

हारीतः,

मातृकात्पैतृकाच्चैव किल्बिषाज्जन्तुसम्भवः ।
यो यस्य भक्षयेन्मांसं स तस्याश्नाति किल्बिषम् ॥
भक्षयित्वा तु यो मांसम् अद्भिः शौचं समाचरेत् ।
हसन्ति देवताः सर्वा अशुचेः शुचिदर्शिनः ॥

किल्बिषमत्र शुक्रशोणितं,तस्य मांसं तन्मयत्वात्किल्बिषमुच्यते।

देवलः,

आत्मार्थं स्वादुकामित्वाज्जीवघातं न कारयेत् ।
कष्टं हि व्यालधर्मत्वाज्जीविमांसोपजीवनम् ॥

कष्टं पापहेतुत्वात् ।

यमः,

यस्तु खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम् ।
हतानां च मृतानां च यथा हन्ता तथैव सः ॥
अनुमन्ता विशसता च निहन्ता क्रयविक्रयी ।
घातकाः सर्वएवैते संस्कर्त्ता षष्ठ उच्यते ॥
निर्देशेनानुमन्ता च विशसता शासनात्तथा ।
हननेन तथा हन्ता धनेन क्रायकस्तथा ॥
विक्रीय च धनादानात्संस्कर्त्ता तत्प्रवर्त्तनात् ।

धनेन चोपभोगेन वधबन्धेन चाप्यथ ॥
त्रिविधस्तु वधो ज्ञेयो भोक्ता तत्रातिरिच्यते।
घातकाः षट् समाख्याता भोक्ता तत्र तु सप्तमः ॥
षण्णां तेषां सकाशात्तु उपभोक्ताऽतिरिच्यते।
क्रेतारं भजते पादः पादो भोक्तारमृच्छति ॥
घातकं भजते पादः पादमृच्छन्त्यतस्त्रयः।
यदि तत्खादको न स्यात् घातको न तथा भवेत् ॥
खादको घातकः क्रेता त्रयस्तुल्या न संशयः।
न भूमेर्जायते मांसं न च वृक्षात् प्ररोहति ॥
घोरं प्राणिवधं कृत्वा तस्मान्मांसं विवर्जयेत्।
यस्तु खादति मांसानि ब्राह्मणो वेदवित्तमः ॥
स पच्यते निरालम्बे नरके तेन कर्मणा।

**मनुः,**

यस्तु भक्षयते मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके ऽप्रियतां याति व्याधिभिश्चैव पीड्यते ॥

अत्र च विधिं हित्वेति श्रवणान्निषिद्धमांसविषयेऽयं निन्दार्थवादः। एवं पूर्वतनेषु अपि बोद्धव्यम्।

**यमः,**

सर्वेषामेव मांसानां महान्दोषस्तु भक्षणे।
अभक्षणे तु धर्मः स्याद्विशिष्ट इति नः स्मृतम् ॥

अत्र च प्रोक्षिताद्यतिरिक्तानिषिद्धमांसविषये वर्जनसङ्कल्पविधिः। धर्मपदश्रवणात्।

**मनुरपि,**

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यं समं स्मृतम् ॥

फलमूलाक्षतैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥

अत्र च वर्षेवर्षे इत्यादिरर्थवादः न तु फलविधिः। अन्यानर्थक्यप्रसङ्गात् इति मेधातिथिः। तन्न। पूर्णाहुत्यादेर्हि अग्निसंस्कारत्वेन फलवत्त्वावगमात् "फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्"इति न्यायेन युक्तं यत् सर्वान्कामानवाप्नोतीत्यस्यार्थवादत्वम्। इह तु मांसवर्जनसङ्कल्पस्य फलवत्त्वानवगमाद्रात्रिसत्रन्यायेन फलपरत्वमेव युक्तम्। न चान्यानर्थक्यम् । सांवत्सरिकमांसवर्जनसङ्कल्पस्याश्वमेधफलसमानजातीयमपि अल्पमेव फलम् उत्पद्यते ।

तथाचोक्तं भट्टपादैः,

फलानामल्पमहतां कर्मणां च स्वगोचरे ।
विभागः स्नानसामान्यादविशेषेण चोदिते ॥

याज्ञवल्क्यः,

सर्वान्कामानवाप्नोति हयमेधफलं तथा ।
गृहेऽपि निवसन्विप्रो मुनिर्मांसविवर्जनात् ॥

सर्वान्कामान् तत्साधने प्रवृत्तो निर्विघ्नं प्राप्नोति शुद्धाशयत्वादित्यर्थः ।

यथाह मनुः,

यत् ध्यायति यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र वै ।
तदवाप्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ इति ।

एतच्चानुषङ्गिकं फलम् । मुख्यं तु, हयमेधफलं तथेति । गृहेऽपि निवसन् विप्रो मुनिवत् माननीयो भवतीत्यर्थः ।

नन्दिपुराणे,

रक्तोदि दुर्गन्धि विकृतं जुगुप्सास्पदमेवच ।
मांसं न भक्षयेद्विद्वान् नच स्वादुरसं च यत् ॥

यश्च सम्यक् स्वधर्मस्थो गुरुशुश्रूषणे रतः।
गच्छेल्लोकं शुभं मर्त्यो नित्यं देवनिवेदितम्॥
तमेव दिवसं मांसाद्विरतो लोकमाप्नुयात्।
यो मांसं वर्जयेन्मासं पुरुषः शुभमानसः॥
स याति स्वर्गमतुलं दिव्यलोके समृद्धिमान्।
यत्तपो घोरमतुलं पुष्करेषु शतं समाः॥
तप्त्वा फलमवाप्नोति तत्फलं मांसवर्ज्जनात्।
चन्द्रसूर्यग्रहे यस्तु दद्यात् पृथ्वीं चराचराम्॥
गयायां तु तपो घोरं यश्चाष्टशतमाचरेत्।
एवं विद्वान् स परमान् लोकान् संमाप्नुयान्नरः॥
लोकानिमान्समाप्नोति सर्वदा मांसवर्जनात्।
यश्चोपदेशं कुरुते परस्य तु महात्मनः॥
मांसस्य वर्जनफलं सोऽमांसादफलं लभेत्।
अत्र च क्लेदीत्यादिः सङ्कल्पविधिशेषभूतोऽर्थवादः।
**महाभारते,**
मासिमास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
न खादति च यो मांसं सममेव युधिष्ठिर॥
तथा वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत्सुदारुणम्।
यश्चैकं वर्जयेन्मांसं समं वा स्यान्न वा समम्॥
एकं, वर्षमिति शेषः। तथा,
कौमुदं तु विशेषेण शुक्लपक्षं नराधिप।
वर्जयेत्सर्वमांसानि धर्मो ह्येष विधीयते॥
चतुरो वार्षिकान्मासान्यो मांसं परिवर्जयेत्।
चत्वारि भद्राण्याप्नोति कीर्त्तिमायुर्यशो बलम्॥
अथवा मासमप्येकं सर्वमांसानि वर्जयेत्।

अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवेन्निरामयः ॥
ये वर्जयन्ति मांसानि मासशः पक्षशोऽपिवा ।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ॥
मांसं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं सर्वराजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतैश्च विज्ञातान्यपरापरैः ॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुषा चानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः ॥
कार्त्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विष्वक्सेनेन तथैव शतबिन्दुना ॥
युवनाश्वेन च तथा शिविनौशीनरेण च ।
मुचुकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वै विभो ॥
अजेन धुन्धुना चैव तथैवच सुबाहुना ।
हर्यश्वेन च राजेन्द्र क्षुपेण भरतेन च ॥
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्रैः पुरा मांसं न भक्षितम् ।
शारदं कौमुदं मासं ततस्ते स्वर्गमाप्नुवन् ॥
ब्रह्मलोके च तिष्ठन्ति ज्वलमानाः श्रिया वृताः ।
उपास्यमाना गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रैः समन्विताः ॥
तदेवमुत्तमं धर्ममहिंसालक्षणं शुभम् ।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठं वसन्ति ते ॥
मधुमांसं च ये नित्यं सर्वे ते मुनयः स्मृताः ।
कौमुदः कार्त्तिको मासः । मधुश्चैत्रः ।
बृहस्पतिः,
रोगार्त्तोऽभ्यर्थितो वापि यो मांसं नात्त्यलोलुपः ।
फलं प्राप्नोत्ययत्नेन सोऽश्वमेधशतस्य तु ॥
मधु मांसं मैथुनं च भूतानां लालनं स्मृतम् ।

तदेव विधिना ऽकुर्वन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥

मनुः,

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

मांसे अनिषिद्धे । मद्ये क्षत्रियादीनाम् । मैथुने निषिद्धातिरिक्त-मैथुने । निवृत्तिर्वर्जनसङ्कल्पः । महाफला पूर्वोक्तार्थवादिकस्वर्गादि-फला । यत्तु मेधातिथिना वर्जनसङ्कल्पस्य विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलमित्युक्तम् । तन्न । अर्थवादोपस्थिताश्वमेधादिफलस्यैव एतत्फ-लत्वकल्पनोपपत्तौ विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पने गौरवात् । अन्यथा रात्रिसत्रेऽपि स्वर्गस्यैव फलत्वापत्तेः ।

## अथ पशुहिंसाविधिप्रतिषेधौ ।

तत्र मनुः,

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।

भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थम् अगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।

पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥

भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमिति । प्रकारान्तरेण वर्त्तनासम्भवे भृत्य-भरणार्थमित्यर्थः । एतद्वचनाच्च भृत्यभरणावशिष्टस्यापि भक्षणे न दोषः । अस्यैवार्थवादो बभूवुरिति । यस्मात्पुरातनेषु ऋषिकर्तृक-यज्ञेषु भक्ष्याः मृगपक्षिणां पुरोडाशा अभवन् तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनै-रपि मृगपक्षिणो वध्याः । मृगपक्षिणां पुरोडाशत्वं च षट्त्रिंशत्सं-वत्सरे सत्रे अभिहितम् । तत्र हि संस्थिते अहनि गृहपतिर्मृगयां याति स तत्र यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसमयाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्तीति मृगवधः श्रुतः । संस्थिते समाप्ते । तरसमया मांसमयाः ।

मनुः,

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रृतीः पुरा ॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥
उच्छ्रृतीः उत्कर्षान् ।
तथा—
गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मने द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥
कुर्यात् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेवतु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥
यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

गृहे गुरावरण्ये वा वसन्नित्यनेन गृहस्थब्रह्मचारिवानप्रस्था विवक्षिताः । आपदि क्षुत्पीडादौ । प्राणात्ययसम्भावनायां तु विहितत्वात्कर्त्तव्यैव हिंसा । यत्र तु अविहिताऽपि हिंसा सीतायज्ञादावाचारतः प्रसक्ता तत्र सङ्गे लोकाचारप्राप्तसीतायज्ञादौ पशुवधसम्प्रयोगे घृतं पिष्टं वा पशुं कुर्यादित्यर्थ इति कल्पतरुः । सङ्गे आस-

क्तौ यदि मांसभक्षणेच्छा तदा घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वाऽपि भक्षयेन्न तु वृथा मांसं भक्षयेदित्यर्थ इति कुल्लूकभट्टः। मेधातिथिस्तु सङ्गे पशुवधप्रसङ्गे तेन चण्डिकायागादौ पशुवधोपयाचितेन सस्यसम्पत्तिदर्शनादाचारात्पशुवधोपस्थितौ तन्निवृत्त्यर्थं पशुस्थाने घृतं पिष्टं वा पशुं कुर्यान्न तु पशुहिंसामिति कल्पतरुसंवादिनमर्थमाह। केचित्तु—सङ्गशब्दस्य यज्ञवचनत्वम्। तथाच अग्नीषोमीयादौ पशुना सह विकल्पितः पिष्टमयः पशुरित्याहुः। तन्न। सङ्गशब्दस्य यागवचनत्वे मानाभावात्। किञ्च उत्पत्तिशिष्टश्रौतपश्ववरोधेन द्रव्यान्तरस्य स्मृत्या विधातुमशक्यत्वात्। तस्मादुक्तैव व्याख्या साध्वीयसी।

वसिष्ठः,

पितृदेवतातिथिपूजायामेव पशुं हिंस्यादिति। अपि ब्राह्मणाय राजन्याय चाभ्यागताय महोक्षं महाजं वा पचेत।

पितृदैवतं श्राद्धम्। उक्षा बलीवर्दः।

यमपैठीनसी,

नात्मार्थं पाचयेदन्नं नात्मार्थं घातयेत्पशुम्।
देवार्थे ब्राह्मणार्थे वा पचमानो न लिप्यते॥

याज्ञवल्क्यः,

वसेत्स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
संमितानि दुराचारी यो हन्त्यविधिना पशून्॥

मनुः,

यो बन्धनवधक्लेशं प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

हारीतः,

यथाऽऽत्मनस्तथाऽन्येषां यो विद्वान् स्वस्तिमिच्छति।

स सर्वलोकप्रवरे ब्रह्मलोके महीयते ॥

अथ निषिद्धाः पक्षिणः ।

तत्र मनुः,

क्रव्यादः शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफान् टिट्टिभंच विवर्जयेत् ॥
कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकसारिकम् ॥
प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
तथा निमज्ज्यमत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥
बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेवच सर्वशः ॥

क्रव्यादो मांसमाममेव ये भक्षयन्ति गृध्रादयः, न तूभयभक्षका मयूरादयः । ग्रामनिवासिनोऽक्रव्यादा अपि पारावतादयः । शकुनिपदं चोभयत्र संबध्यते ।एकशफाः अश्वादयः। अनिर्दिष्टाः श्रुतौ भक्ष्यत्वेन नोक्ताः।येतूक्तास्ते तत्रैव भक्षणीयाः।यथा त्वाष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य मांसमश्नीयादिति । टिट्टिभाः टीतिशब्दानुकारिणः पक्षिविशेषाः।कलविङ्कः चटकः।ग्रामवासित्वेनैव प्रतिषेधादेव प्रतिषेधसिद्धेः पुनर्वचनं नित्यनिषेधार्थम् । तेन चाषादीनां विकल्पेन भक्षणं गम्यते इति मेधातिथिः । ग्रामग्रहणादारण्यस्यानिवृत्तिः । सारसः पुष्कराह्वयः।स च दीर्घगलजङ्घो नीलाङ्गः पक्षी। रज्जुदालः काष्ठकुट्टकः।दात्यूहः कालकण्ठः। शुकः कीरः।सारिका नामतः प्रसिद्धा। प्रतुद्य भक्षयन्तीति प्रतुदाः। जालपादाः जालसदृशाः पादा येषां ते चाषादयः । कोयष्टिरारण्यपक्षिविशेषः। नखविष्किराः नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति। निमज्ज्यमत्स्यादाः निमज्ज्य ये मत्स्यान् भक्षयन्ति जलवायसप्रभृतयः । सूना वधस्थानं तत्र भवं सौ-

नम्। वल्लूरं शुष्कमांसम्। बकबलाके प्रसिद्धे। काकोलः द्रोणकाकः। खञ्जरीटकः खञ्जनः। मत्स्यादाः नक्रादयः। विड्वराहप्रतिषेधादारण्यस्याभ्यनुज्ञा। मत्स्याः मीनाः। सर्वशः सर्वप्रकारेण।

याज्ञवल्क्यः,

क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदटिट्टिभान्।
सारसैकशफान् हंसान् सर्वांश्च ग्रामवासिनः॥
कोयष्टिप्लवचक्राह्वबलाकाबकविष्किरान्।

तथा—

कलविङ्कं सकाकोलं कुररं रज्जुदालकम्।
जालपादान्खञ्जरीटानज्ञातांश्च मृगद्विजान्॥
चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव वा।
मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत्॥

कुररः उत्क्रोशकः। चाषः किकीदिविः। रक्तपादाः कादम्बप्रभृतयः।

देवलः,

बलाकाहंसदात्यूहभृङ्गराजकचित्रकाः।
उलूककुररश्येनगृध्रकुक्कुटवायसाः॥
चकोरः कोकिलो रज्जुदालकश्चाषमुद्गकौ।
कङ्कः सावरणो भासः शतपत्रप्लवङ्गमाः॥
उत्क्रोशो बर्हिणः क्रौञ्चश्चक्रवाकः शिलीमुखः।
पारावतकपोतौ च अभक्ष्याः पक्षिणः स्मृताः॥

भृङ्गराजस्तेनैव नाम्ना प्रसिद्धः। चित्रकश्चित्रकपोतः। उलूकः कौशिकः। मुद्गकः जलकाकः। कङ्कः लोहितपत्रः। भासः गृध्रविशेषः। प्लवङ्गमो मण्डूकः।

अभोज्यामिषमनुवृत्तौ वसिष्ठः,

शकुनीनां विधुनविष्किरजालपादाः कलविङ्कप्लवहंसचक्रवाकभासवायसपारावतकुक्कुरसारङ्गाः पाण्डुकपोतक्रौञ्चक्रकरबकबलाकामद्गुटिट्टिभमन्थाननक्तञ्चराः दार्वाघाटचातकचैलातकहारीतखञ्जरीटग्राम्यकुक्कुटशुकसारिकाकोकिलक्रव्यादो ग्रामोपचारिणश्च ।

विधुनः पक्षिविशेषः । क्रकरः कृकलासः । मन्थानो वागादः । नक्तञ्चरा उलूकादयः । दार्वाघाटः काष्ठकुट्टकः । हारीतो हरितपक्षः पक्षिविशेषः । ग्रामोपचारिणः ग्रामएव ये सदा वसन्ति ।

**गौतमः,**

कलविङ्कप्लवचक्रवाकहंसाः काककङ्कगृध्रश्येनजलजा रक्तपादतुण्डाः ग्राम्यकुक्कुटशूकराः ।

जलजा अपि पक्षिण एव । काकादिसन्निधानात् । तेषां च विशेषणं रक्तपादतुण्डा इति । ग्राम्य इति चोत्तरयोर्विशेषणम् । अभक्ष्या इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।

**यमः,**

छत्राकं विड्वराहं च जालपादांश्च कुक्कुटान् ।
भक्षयित्वा पतेद्विप्रो योऽपि स्यात्सर्ववेदवित् ॥

**अभक्ष्यप्रकरणे आपस्तम्बः,**

कुक्कुटो विष्किराणां प्लवः प्रतुदां क्रव्यादो हंसभाससारसचक्रवाकसुपर्णाश्च कुञ्चक्रौचा वार्ध्रीणसलक्ष्मणावर्जम् ।

विष्किराणां मध्ये कुक्कुटो न भक्ष्यः । सोऽपि ग्राम्य एव । प्रतुदां मध्ये प्लव एव । क्रव्यादश्चाभक्ष्याः हंसादयश्च । वार्ध्री चर्म, तदाकारा नासिका येषां ते एवम्भूतान् लक्ष्मणां सारसस्त्रियं च वर्जयित्वा कुञ्चक्रौञ्चाश्चाभक्ष्या इत्यर्थः ।

**गौतमः,**

निचुदारबकबलाकाशुकमद्गुटिट्टिभा मन्थाननक्तञ्चरा अभ-
ाः, भक्ष्याः प्रतुदाः विष्किरा जालपादाश्च ।

निचुदारः दार्वाघाटः । प्रतुदादीनाम् अभक्ष्यत्वेनोक्तानां
नर्भक्ष्यत्वेनाभ्यनुज्ञानम् आपद्विषयमिति हरदत्तः ।

भक्ष्या इत्यनुवृत्तौ बौधायनः,

पक्षिणस्तित्तिरिकपोतकपिञ्जललावकतृणमयूरचातकवर्जाः प-
 विष्किराः ।

णमयूरो मयूरविशेषः । अत्र कपोतो वनकपोतः इति रत्नाकरः ।

शङ्खः,

तित्तिरं च मयूरं च लावकं च कपिञ्जलम् ।
वार्ध्रीणसं वर्त्तकं च भक्ष्यानाह यमः स्वयम् ॥

कपिञ्जलो गौरतित्तिरः । अत्र मयूरस्तृणमयूर एव । बौधाय-
ैकवाक्यत्वात् ।

## अथाभक्ष्यपशवः ।

तत्र देवलः,

अभक्ष्याः पशुजातीनां गोखरोष्ट्राश्वकुञ्जराः ।
सिंहव्याघ्रर्क्षशरभाः सर्पाजगरकास्तथा ॥
आखुमूषिकमार्जारनकुलग्रामशूकराः ।
श्वशृगालकपिद्वीपिगोलाङ्गूलकमर्कटाः ॥

खरो गर्दभः । ऋक्षः भल्लूकः । शरभोऽष्टपदः ।

अजगरः सर्पविशेषः । आखुः स्थूलोन्दुरुः । मूषिकोऽत्र स्व-
ल्पमूषिकः । नकुलो बभ्रुः । शृगालो जम्बूकः । कपिः प्लवङ्गः । द्वीपी
महाव्याघ्रः । गोलाङ्गूलः कृष्णमुखो वानरः । मर्कटो गौरवानरः ।

कल्पतरौ नृमर्कटा इति पाठः । तदा ना मनुष्यः ।

यमः,

गवाश्वं गर्दभोष्ट्रं च श्वश्रृगालं तथैवच ।
विष्किरान् प्रतुदान् भुक्त्वा सद्यः पतति वै द्विजः ॥

नित्यमभोज्यमित्यनुवृत्तौ गौतमः,

उभयतोदत्केश्यलोमैकशफकलविङ्कप्लवचक्रवाकहंसाः ।

उभयतोदतो मनुष्यादयः। केशी चमरी। अलोमानः सर्पादयः।

पुनर्गौतमः,

अपन्नदद्वसन्नवृथामांसानि ।

अपन्नदन् यावत् स्वभावतो दन्ता न पतन्ति तावद्भक्ष्योऽप्यभक्ष्यः । अवसन्नो व्याधितः । वृथामांसं यत् देवपित्राद्युद्देशेन न पच्यते । अभक्ष्या इत्यनुवृत्तौ

वसिष्ठः,

गौरगवयशरभाजाश्वानुदिष्टाः तथा धेन्वनडुवाहौ अपन्नदन्ताश्च धेन्वनडुवाहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते खड्गे तु विवदेते अग्राम्यशूकरे चेति ।

गौरोऽश्वसदृश आरण्यपशुः। अजा छागी । मेध्यौ मेधो यज्ञस्तदङ्गभूतौ । खड्गाग्राम्यशूकरयोः केचिन्मुनयो भक्ष्यत्वं वदन्ति केचिच्चाभक्ष्यत्वं, ततश्च विकल्पः । स च श्राद्धनियुक्तानियुक्तत्वव्यवस्थितः ।

ब्रह्मपुराणे,

पशोश्च मार्यमाणस्य न मांसं ग्राहयेद् द्विजः ।
पृष्ठमांसं गर्भशय्यां शुष्कमांसमथापिवा ॥
भूमेरन्तरितं कृत्वा मृद्भिश्चाच्छादितं च यत् ।
पक्वमांसमजीवं तत्प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

मनुः,

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥

एकचरा एकाकिनः प्रायेण स्वभावतो ये चरन्ति सर्पादयः। अज्ञाता नामतो जातितश्च अज्ञाताः । सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिषेधानाक्रान्तत्वेन ये भक्ष्यवर्गमध्यपातिनोऽप्यज्ञाताश्चेन्न भक्षणीया इत्यर्थः । शशकाद्यतिरिक्तान् पञ्चनखांश्च न भक्षयेत् ।

अत्रापस्तम्बः,

पञ्चनखानां गोधाकच्छपश्वाविट्शल्यकखड्गशशपूतिखगवर्जम्।

पञ्चनखाः वानरादयः । तेषां मध्ये गोधादीन् वर्जयित्वा अन्ये पञ्चनखा अभक्ष्याः। गोधा कृकलासाकृतिर्महाकाया। कच्छपः कूर्मः।श्वाविट् वराहविशेषः। शल्यकः यस्य चर्मणा तनुत्राणं क्रियते इति उज्ज्वलाकारः। कल्पतरौ तु श्वाविच्छल्लक इति पाठः। तदा श्वावित् सेधा शल्लकस्तत्सदृशः प्राणिविशेषः । पूतिखगः हिमवति प्रसिद्ध इति कपर्दी ।

मनुः,

श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥

एकतोदतः एकतोदन्तान् ।

बौधायनः,

भक्ष्याः श्वाविड् गोधाशशशल्लककच्छपखड्गाः पञ्च पञ्चनखाः।

महाभारते,

आजं गव्यं च यन्मांसं मायूरं च विवर्जयेत् ।

हारीतः,

ग्राम्यारण्यानां पशूनामश्नन्ति यथाऽजमेषहरिणखड्गरुरुपृषतऋष्यन्यङ्कुमहारण्यवासिनश्च वराहांस्तथा । शशकशल्लकसेधागोधाकूर्मवर्त्तकातित्तिरिमयूरवार्ध्रीणसलावकुक्कुटकपिञ्जलान् स-

शल्कान् मत्स्यानन्यानपि समुपपन्नान् भक्षयेत् ।

रुरुर्बहुशाखश्रृङ्गो मृगः । पृषतो बिन्दुचित्रितो मृगः । ऋष्यः मृदुश्रृङ्गः रोझ इति प्रसिद्धः । न्यङ्कुः शम्बरसदृशः श्रृङ्गरहितः ।

**पैठीनसिः,**

ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश । गौरविरजोऽश्वोऽश्वतरगर्दभमनुष्या श्चेति सप्त ग्राम्याः पशवः । महिषवानरपक्षिसरीसृपरुरुपृषतमृगा श्चेति सप्तारण्याः पशवः ।

अथ मत्स्याः ।

**तत्र मनुयमौ,**

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।

मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥

पूर्वस्य मत्स्यप्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयं मत्स्यानेवच सर्वश इत्यस्य ।

**आपस्तम्बः,**

अभक्ष्यश्चेटो मत्स्यानां सर्पशीर्षो मुदरः क्रव्यादो ये चान्ये विकृतास्या यथा मनुष्यशिरसः ।

चेटो मत्स्यविशेषः । सर्पशीर्षः सर्पस्येव शीर्षं यस्य स इत्यर्थः । मुदरः मकरः । ये च क्रव्यमेवादन्ति शिशुमारादयः । ये चान्ये विकृतास्याः, तत्रोदाहरणं यथा मनुष्यशिरसः जलमनुष्याः ।

**यमः,**

अभक्ष्या मकरसर्पसरीसृपमद्गुमयूरचर्मिकनक्रकुक्कुटशिशुमाराः ये चान्ये हयकर्णकाः ये चान्ये अशल्काः मत्स्या उभयकास्याः ।

सर्पो जलसर्पः । सरीसृपः जलौकाः । मद्गुः जलकाकः मयूरो जलचरो मयूरसदृशः । चर्मिकः अल्पसर्पसदृशो मत्स्यः । उभ

यकास्या उभयतोमुखाः ।

तथा,

मत्स्यान् अशल्कान् सर्वान् वेदाध्यायी विवर्जयेत ।

वेदाध्यायी त्रैवर्णिकः ।

**पैठीनसिः,**

कुलीरवार्त्ताकपत्तनजलानर्त्तक्षिप्रगाश्चेत्यभक्ष्याः । शल्कैर्युक्ता मत्स्या भक्ष्या इतरे त्वभक्ष्याः सर्पशीर्षा विकृतमुखाश्च ।

अभक्ष्या इत्यनुवृत्तौ—

**वसिष्ठः,**

मत्स्यानां चेटगवयशिंशुमारनक्रकुलीरा विकृतरूपाः सर्पशीर्षाः ।

**देवलः,**

शम्बुशुक्तिनखशुक्तिशिशुमारप्लवङ्गममत्स्याश्च विकृताकारा नैव भक्ष्या जलौकसाम् ।

शम्बुकः प्रसिद्धः । नखशुक्तिर्दीर्घशुक्तिका । प्लवङ्गमो मण्डूकः ।

**मनुः,**

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।

राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥

श्राद्धाद्यर्थं विनियुक्तौ आद्यौ अदनीयौ । पाठीनश्चन्द्रकाख्यः । राजीवः पद्मवर्णः । सिंहतुण्डः सिंहमुखः । सह शल्कैः शुक्त्याकारैर्वर्त्तन्तइति सशल्काः ।

**हारीतः,**

मत्स्याश्चाविकृताः ।

**याज्ञवल्क्यः,**

भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्लकाः ।

शशश्च मत्स्येष्वपिच सिंहतुण्डकरोहिताः ॥

तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।

अथ मद्यानि ।

तत्र यमः,

मांसं शमलमन्नानां मांसानां च मलं सुरा ।
मलं हि सर्वपापानां सुरा धर्मेषु कथ्यते ॥
तस्माद् द्विजैर्न पेयैषा नैव ग्राह्या कथञ्चन ।

शमलं मलम् । धर्मेषु धर्मशास्त्रेषु ।

मनुः,

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥
गौडी माध्वी तथा पैष्टी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥
यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम् ।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥
अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥

गौडी गुडकार्यं मद्यं, पैष्टी पिष्टकार्यं, माध्वी मधुकार्यम् ।

यथा एका पैष्टी त्रिभिरपि द्विजातिभिर्न पातव्या तथा द्विजोत्तमैः ब्राह्मणैः सर्वा एव न पातव्याः । हारीते तु द्विजातिभिरिति पाठः । तत्र द्विजातिशब्दो ब्राह्मणपरः । तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यमिति वाक्यशेषात् । यक्षरक्षइति । पूर्वस्य मद्यनिषेधस्यार्थवादोऽयम् । यस्माद्यक्षरक्षःपिशाचान्नत्वेन एतन्मद्यं मांसं सुराऽऽस[...] च प्रसिद्धं तस्मात्तद्ब्राह्मणेन न भोक्तव्यमिति । म[...]

सुराव्यतिरिक्तं, मांसमविहितं प्रतिपिद्धम् आमं च, तस्यैव यक्षरक्षः-पिशाचान्नत्वात्। प्रोक्षितादिमांसानां तु देवाद्यर्थत्वेन भक्ष्यत्वमेव। अतएव देवानां हविरश्नतेत्युक्तम्। अतएव—

असंस्कृतान् पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कथञ्चन।

मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्यात्। इत्यादिना ब्राह्मणस्य प्रोक्षितादि-मांसभक्षणं विहितम्। ब्राह्मणग्रहणं तु दोषाधिक्यार्थम्। सुरा पैष्टी। आसवं मद्यावान्तरभेदः। गोबलीवर्दन्यायेन पृथक् ग्रहणम्।

यमः,

मद्यं पीत्वा तु यो विप्रो ब्रह्म व्याहरते क्वचित्।
घृताहुतिसहस्रेण न च किञ्चिदुपाश्नुते॥

तथा,

ब्राह्मण्यमीहते यस्तु यजमानः पुनः पुनः।
न तेन मद्यं पातव्यं दातव्यं न च कस्यचित्॥

उशना,

मद्यमपेयमनिर्ग्राह्यमिति।

अनिर्ग्राह्यम् अस्वीकार्यम्।

गौतमः, मद्यं नित्यं ब्राह्मणः।

वर्जयेदित्यनुषङ्गः।

बृहस्पतिः,

सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम्।

विष्णुः,

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न स्प्रष्टव्या द्विजोत्तमैः॥
माधूकमैक्षवं टाङ्कं कौलं खार्जुरपानसम्।
मृद्वीकारसमाध्वीकमैरेयं नालिकेरजम्॥

अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ।
राजन्यश्चैव वैश्यश्च स्पृष्ट्वा चैतानि दुष्यतः ॥

द्विजोत्तमैः ब्राह्मणैः । माधूकं मधूकपुष्पप्रभवम् । ऐक्षवम् इक्षुरससम्भवम् । टाङ्कं टङ्कः कपित्थविशेषस्तद्भवम् । कौलं कोलिफलभवम् । खार्जूरं खर्जूरजम् । पानसं कण्टाकिफलजम् । मृद्वीकारसं द्राक्षाद्रवजम् ।

## अथ भोजनोत्तरकालकर्म ।

तत्र दक्षः,

भुक्त्वा तु सुखमास्थाय तदन्नं परिणामयेत् ।
इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत् ॥
अष्टमे लोकयात्रा तु बहिः सन्ध्या ततः पुनः ।

सुखमास्थाय अन्नपरिणामानुकूलां सुखावस्थितिं कुर्यात् । पुराणाद्यैः पुराणश्रवणादिभिः ।

## तत्रायं पुराणश्रवणविधिः ।

भविष्यपुराणे,

शतानीक उवाच,

भगवन् केन विधिना श्रोतव्यं भारतं नरैः ।
चरितं रामचन्द्रस्य पुराणादि विशेषतः ॥
कथं च वैष्णवा धर्माः शिवधर्मा अशेषतः ।
सौराणां वापि विप्रेन्द्र उच्यतां श्रवणे विधिः ॥

सुमन्तुरुवाच,

हन्त ते कथयिष्येऽहं पुराणश्रवणे विधिम् ।
इतिहासपुराणानि श्रुत्वा भक्त्या विशांपते ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्विभो ।
सायम्प्रातस्तथा रात्रौ शुचिर्भूत्वा शृणोति यः ॥

तस्य विष्णुस्तथा ब्रह्मा तुष्यते शङ्करस्तथा ।
विधानं वाचकस्येह शृणु तात्विशाम्पते ॥
शुद्धवासा गृहादेत्य स्थानं यत्नमयान्वितम् ।
प्रदक्षिणं तथा कृत्वा या तस्मिन्देवतैवहि ॥
नात्युच्चमाह सर्वेषामशेषं गुरुवन्नृप ।
नमस्कारादथ श्राव्यं शिवमस्त्विति वा ततः ॥
नान्यतो नृप शार्दूल सर्वैर्वर्णैर्महीपते ।
शूद्राणां पुरतो वैश्या वैश्यानां क्षत्रियस्ततः ॥
क्षत्रियाणां तथा विप्रा शृण्वन्त्वेतेऽग्रतः सदा ।
मध्ये स्थितोऽथ सर्वेषां वाचको वाचयेन्नृप ॥
ये वाऽपि सङ्करा राजन्नरास्ते शूद्रपृष्ठतः ।
ब्राह्मणं वाचकं विद्यान्नान्यवर्णजमादरात् ॥
श्रुत्वाऽन्यवर्णजाद्राजन् वाचकान्नरकं व्रजेत् ।
इत्थं विशृण्वतां तेषां वर्णानामनुपूर्वशः ॥
मासिमासि भवेद्राजन् पारणं कुरुनन्दन ।
श्रेयोऽर्थमात्मनो राजन् पूजयेद्वाचकं नृप ॥
मासि पूर्णे नृपश्रेष्ठ दातव्यः स्वर्णमाषकः ।
ब्राह्मणेन महाबाहो द्वौ देयौ क्षत्रियेण तु ॥
वाचकस्य नृपश्रेष्ठ वैश्येनापि त्रयः सदा ।
शूद्रेणाथ तु चत्वारो दातव्याः स्वर्णमाषकाः ॥
प्रथमे पारणे राजन् वाचकं पूज्य शक्तितः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
कार्तिकादि महाबाहो कार्तिकं यावदेवहि ।
अग्निष्टोमं गोसवं च ज्योतिष्टोमं तथा नृप ॥
सौत्रामणीं वाजपेयं वैष्णवं च तथा विभो ।

माहेश्वरं तथा ब्राह्मं पुण्डरीकं च भूपते ॥
आदित्ययज्ञस्य तथा राजसूयाश्वमेधयोः ।
फलं प्राप्नोति राजेन्द्र मासैर्द्वादशभिः क्रमात् ॥
इत्थं यज्ञफलं प्राप्य याति लोकांस्तथोत्तमान् ।
समाप्ते पर्वणि तथा स्वशक्त्या तर्पयेन्नृप ॥
वाचकं ब्राह्मणांश्चैव सर्वकामैः प्रपूजयेत् ।
गन्धमाल्यानि दिव्यानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥
वाचकाय प्रदद्यात्तु ततो विप्रान्प्रपूजयेत् ।
हिरण्यं रजतं वस्त्रं गावः कांस्योपदोहनाः ॥
दत्त्वा तु वाचकायेह श्रुतस्य प्राप्नुते फलम् ।
वाचकः पूजितो येन प्रसन्नास्तस्य देवताः ॥
तस्माद्दानं सदा पूर्वं तस्य देयं विदुर्बुधाः ।
श्राद्धे यस्य द्विजो भुङ्क्ते वाचकः श्रद्धयाऽन्वितः ॥
भवन्ति पितरस्तस्य तृप्ता वर्षशतं नृप ।
विस्पष्टमद्भुतं शान्तं स्पष्टाक्षरपदं तथा ॥
कलस्वरसमायुक्तं रसभावसमन्वितम् ।
बुध्यमानः सदा यस्तु ग्रन्थार्थं कृत्स्नशो नृप ॥
य एवं वाचयेद्राजन्स विप्रो व्यास उच्यते ।
अतोऽन्यथा वाचमानो ज्ञेयोऽसौ पितृनामकः ॥
इत्थम्भूतो वसेद्यस्मिन् वाचको व्याससंम्मितः ।
देशेऽथ पत्तने राजन् स देशः प्रवरः स्मृतः ॥
प्रणम्य वाचकं श्रेष्ठं यत्फलं प्राप्यते नरैः ।
न तत् क्रतुसहस्रेण प्राप्यते कुरुनन्दन ॥
यथैकतो ग्रहाः सर्वे एकतस्तु दिवाकरः ।
तथैकतो द्विजाः सर्वे एकतस्तु स वाचकः ॥

दैवे कर्मणि पैत्रे च पावनं परमं नृप।
वाचकश्च यतिश्चैव तथा विप्रः षडङ्गवित्॥
एते सर्वे नृपश्रेष्ठ विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः।
त्रिविधं वाचकं विद्यात्सदा च गुणभेदतः॥
श्रावकश्च महाबाहो त्रिविधो गुणभेदतः।
द्वाविमौ कथ्यमानौ त्वं निबोध गदतो मम॥
अभिद्रुतं तथाऽस्पष्टं विस्वरं रसवर्जितम्।
अबुध्यमानो ग्रन्थार्थं लोभिष्ठो मोहवर्जितम्॥
ईदृशं वाचयेद्यस्तु वाचकस्तु नरेश्वर।
क्रोधनोऽप्रियवादी चाज्ञानाद्ग्रन्थविदूषकः॥
न बुध्यते च कष्टानि स ज्ञेयो वाचकाधमः।
विश्रान्तमद्भुतं शान्तं स्पष्टाक्षरपदं तथा॥
कलस्वरसमायुक्तं रसभावविमिश्रितम्।
अबुध्यमानो ग्रन्थार्थं वाचयेद्यस्तु वाचकः॥
स ज्ञेयो मध्यमो राजन्निदानीं सात्त्विकं शृणु।
यथार्थं बुध्यमानस्तु समग्रं कृत्स्नशो नृप॥
ब्राह्मणादिषु वर्णेषु अर्पयेद्विधिवन्नृप।
एवं यो वाचयेद्राजन्स ज्ञेयः सात्त्विको बुधैः॥
श्रद्धाभक्तिविहीनोऽसौ लोभिष्ठो दूषकस्तथा।
हेतुवादपरो राजन् तथाऽसूयासमन्वितः॥
नित्यां नैमित्तिकीं काम्यामददद्दक्षिणां नृप।
वाचकाय महाबाहो शृणुयाद्यस्तु मानवः॥
स ज्ञेयस्तामसो राजन् श्रावको वानरः सदा।
न तस्य पुरतो धीरो वाचयेत्प्रार्थितोऽपिहि॥
प्रसङ्गाच्छृणुयाद्यस्तु श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।

श्रोता कौतुकमात्रस्तु स ज्ञेयो राजसो बुधैः ॥

एवं पुराणोक्तविधिना श्रवणाद्यैः षष्ठसप्तमौ नीत्वा अष्ट सुहृद्दर्शनादिरूपा लोकयात्रा कर्त्तव्या ।

**ततो बहिः संध्यां समाचरेत् ।**

तत्र व्यासः,

सूर्येऽस्तशिखरं प्राप्ते पादशौचक्रियान्वितः ।

सायं संध्यामुपासीत कुशपाणिः समाहितः ॥ इति ।

तत्र विशेषमाहापस्तम्बः,

सन्ध्ययोश्च बहिर्ग्रामादासनं वाग्यतस्य विप्रतिषेधे श्रुतिल क्षणं बलीय इति ।

अहोरात्रसन्ध्ययोर्ग्रामाद्बहिर्वाग्यतस्य सन्ध्योपासनं भवति यस्य तु बहिः संध्याकर्मणि अनुष्ठीयमाने श्रुतिलक्षणविहरणाद् बाधस्तस्य गृहेऽपि सन्ध्याद्वयमविरुद्धमित्यर्थः ।

अतएवात्रिः,

सन्ध्यात्रयं तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविशुद्धये ।

उभे सन्ध्ये तु कर्त्तव्ये ब्राह्मणैश्च गृहेष्वपि ॥ इति ।

**अथ सन्ध्योत्तरकर्मविधिः ।**

तत्र याज्ञवल्क्यः,

उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां हुत्वाऽग्नींस्तानुपास्य च ।

भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातितृप्तोऽथ संविशेत् ॥ इति ।

तानग्नीनुपास्याराध्य संविशेत् शयीत । चकारो वैश्वदेवादेरां समुच्चयार्थः ।

सायंप्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च ।

अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥

इति कात्यायनस्मरणात् । एतच्च पाकान्तरमादाय कार्यम्

तथाच विष्णुपुराणम्,
पुनः पाकमुपादाय सायमप्यवनीपते।
वैश्वदेवनिमित्तं वै पत्न्या सार्द्धं बलिं हरेत्॥
तत्रापि श्वपचादिभ्यस्तथैवान्नापवर्जनम्।
अतिथिं चागतं तत्र स्वशक्त्या पूजयेत्ततः॥
दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप।
तदेवाष्टगुणं पुंसां सूर्योढे विमुखे गते॥
कृतपादादिशौचश्च भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेच्छय्यामस्फुटितामपि दारुमयीं नृप॥ इति।
तत्र दक्षः,
होमो भोजनकालश्च यच्चान्यद् गृहकृत्यकम्।
कृत्वा चैव ततः पश्चात्स्वाध्यायं किञ्चिदाचरेत्॥
प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासरतिर्भवेत्।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
अस्मिन्नेव प्रयुञ्जानो ह्यस्मिन्नेव च लीयते।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्त्तव्यं सुखमिच्छता॥
शर्वर्या मध्यमौ यामौ हुतशेषहविश्च यत्।
भुञ्जानश्च शयानश्च ब्राह्मणो नावसीदति॥
अस्मिन्निति प्रदोषपश्चिमयामद्वये प्रयुञ्जानो वेदं पठन् अस्मिन् ब्रह्मणि लीयते लीनो भवति। कर्त्तव्यं, वेदाध्ययनमिति शेषः। हुतशेषं वैश्वदेवसंस्कृतं हविष्यमन्नं भुञ्जानः सन् मध्यमौ यामौ शयानो नावसीदति।
शङ्खलिखितौ,
त्रयाणामपि वर्णानां पूर्वरात्रे प्रजागरः।
विष्णुपुराणे,

यदह्ना कुरुते पापं दृष्ट्वा तन्निशि मुच्यते ।
यावन्त्यश्चेह ताराश्च शिशुमाराश्रिता दिवि ॥
तावन्त्येव तु वर्षाणि जीवत्यभ्यधिकानि तु ।

अथ शयनविधिः ।

**विष्णुपुराणे,**

कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही ।
गच्छेदस्फुटितां शय्यामपि दारुमयीं नृप ॥
नाविशालां न वा लग्नां नासमां मलिनां न च ।
न च जन्तुमयीं शय्यामाधितिष्ठेदनास्तृताम् ॥
प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप ।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम् ॥

**विष्णुः,**

नार्द्रपादः स्वप्यात् नोत्तरापरशिराः न नग्नो नानुवंशं नाकाशे न पालाशे शयने न पञ्चदारुकृते न गजभग्नकृते न विद्युद्दग्धकृते न भिन्ने नापि प्लुष्टे न घटसिक्तद्रुमजे न श्मशानशून्यालयदेवतायतनेषु न चपलमध्ये न गोगुरुहुताशनसुराणामुपरि नोच्छिष्टे न दिवा स्वपेत् न सन्ध्यायां न भस्मनि देशे न चाशुचौ न चार्द्रे न च पर्वतमस्तके ।

उत्तरस्मिन् अपरास्मिन् पश्चिमे च देशे शिरो यस्येत्युत्तरापरशिराः । न स्वप्यादिति सर्वत्रानुषङ्गः । अनुवंशं वंशो गृहमूर्द्धन्यकाष्ठविशेषः तमनुगतः । आकाशे अनावृतदेशे । पालाशे पलाशकाष्ठनिर्मिते शयने । पञ्चदारुकृते पञ्चजातीयदारुकृते । प्लुष्टे दग्धे । चपला व्यसनिनः तेषां मध्ये । नोच्छिष्टे देशे । आर्द्रे, देशे इत्यनुषङ्गः ।

**हारीतः,**

न सन्धिवेलायां शयीत नान्यपूर्वे नानुवंशास्तीर्णे न पीठोपधाने न तिर्यगुदक्प्रत्यक्शिरा न नग्नो नाशुचिर्नचासने नोच्छिष्टो न युगे नोच्चैर्निशायां भाषेत।

अन्यपूर्वे पूर्वमन्येन भुक्ते शयने।

शङ्खलिखितौ,

न विशीर्णखट्वायां नान्यवर्णोपवेशितायाम् अनभ्युक्ष्य न भूतयक्षग्रहायतनेषु न श्मशानवृक्षशाखासु न पर्वणि रभसोत्सवे वा।

अभ्युक्ष्य अन्यवर्णोपवेशितायां शयीत। पर्व प्रतिपत्पञ्चदश्योः सन्धिः। रभसोत्सवे हर्षोत्पादकपुत्रजन्माद्युत्सवे।

उशना,

न तैलेनाभ्यक्तशिराः स्वपेत्।

पैठीनसिः,

नादीक्षितः कृष्णचर्मणि शयीत।

कथं शयीतेत्यपेक्षायामाह हारीतः,

सुप्रक्षालितचरणः सर्वतो रक्षां कृत्वोदकपूर्णघटादिमङ्गलोपेतः आत्माभिरुचितामनुपक्रान्तां सुत्रामाणमिति पठन् शय्यामधिष्ठाय रात्रिसूक्तं जप्त्वा विष्णुं नमस्कृत्वा सर्वाय सर्वभद्रं न' इत्येतच्छ्लोकद्वयं जप्त्वेष्टदेवतास्मरणं कृत्वा समाधिमास्थायान्यांश्च वैदिकान्मन्त्रान् जप्त्वा मङ्गलश्रुतिं शङ्खं च शृण्वन् दक्षिणशिराः स्वपेदिति।

रक्षाचात्र गारुडैर्मन्त्रैः।

मङ्गल्यं पूर्णकुम्भं तु शिरःस्थाने निधाय तु।
वैदिकैर्गारुडैर्मन्त्रैः रक्षां कृत्वा स्वपेत्ततः॥

इति पुराणस्मरणात्। सुत्रामाणमिति मन्त्रं पठन् आत्माभिरुचितां शय्यामधिष्ठाय। रात्रिसूक्तं रात्रीव्यख्यदायतीत्यष्टर्चम्।

दक्षिणशिरा इत्युपलक्षणार्थं प्राक्शिराश्च ।

अत एव **पराशरः**,

प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप ।

सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम् ॥ इति ।

अत्र **गोभिलः**,

स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्डमुपनिदधाति शयनस

मीपे सर्वां रात्रिं निश्चलं स्वस्त्ययनार्थमिति ।

**पुराणेऽपि**,

रात्रिसूक्तं जपेत् स्मृत्वा देवांश्च सुखशायिनः ।

नमस्कृत्वाऽव्ययं विष्णुं समाधिस्थः स्वपेन्निशि ॥ इति ।

सुखशायिनोऽपि गोभिलेन दर्शिताः,

अगस्तिर्माधवश्चैव मुचुकुन्दो महाबलः ।

कपिलो मुनिरास्तीकः पञ्चैते सुखशायिनः ॥ इति ।

अत्र **व्यासोक्तो** विशेषः,

शुचि देशं विविक्तं तु गोमयेनोपलेपयेत् ।

प्रागुदक्प्रवणे चैव संविशेत्तु सदा बुधः ॥ इति ।

**आपस्तम्बः**,

सदा निशायां दारान् प्रत्यलंकुर्वीत ।

दारान्प्रतीति वचनादुपगमनार्थमलङ्करणम् ।

**विष्णुपुराणे**,

स्नातः सुगन्धधृक् प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽथवा ।

सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत् ॥

व्यवायो मैथुनम् ।

अथ **मनुः**,

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।

पर्ववर्जं व्रजेदेनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषाः स्युः प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समे ऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणे चाल्पे विपर्ययः ॥
निन्द्यासु चान्यास्वष्टासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

ऋतुः स्त्रीणां गर्भग्रहणयोग्यावस्था, तदुपलक्षितः कालः ऋतुकालः,तत्र ऋतुकाले। अभिगमनमेव व्रतं यस्येति तद्व्रतः।एतच्च गमनं सकामाया रक्षणार्थम्। स्वाभाविकग्रहणाद्रोगादितोऽन्यथाऽपि भवतीति सूचितम्। एकादश्यादिरात्रयोऽत्र ऋतुपक्रमापेक्षया। अयुग्मासु विषमासु। संविशेदभिगच्छेत्। समइति। स्त्रीपुंसयोः शुक्रे तुल्ये। अपुमान् नपुंसकः। पुंस्त्रियौ वेति। द्विधाभूते तु समे एव स्त्रीपुंस-शुक्रे स्त्रीपुंसयुगलं जायते। क्षीणे निःसारे। अल्पे परिमाणतः। विपर्ययोऽत्र गर्भानुत्पत्तिः। निन्द्यासु षट्सु आद्याश्चतस्रः एकादशी त्रयोदशी चैतासु।अन्यासु अनिन्द्यास्वप्यष्टासु यासुकासुचिद्रात्रिषु स्त्रियो वर्जयन् रात्रिद्वये एवच स्त्रियोऽभिगच्छन् ब्रह्मचार्येव भवति। ब्रह्मचर्यफलं प्राप्नोतीत्यर्थः। यत्रतत्राश्रमइति। गृहस्थोऽपि सन्।

याज्ञवल्क्यः,

षोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।
शस्तइन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान् ॥
यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।

षोडश निशाः स्त्रीणाम् ऋतुः। तस्मिन्नृतौ। युग्मासु रात्रिषु। संविशेदभिगच्छेत्। पर्वाणि पौर्णमास्यमावास्याष्टमीचतुर्दशीसंक्रान्तयः। क्षामा अल्पबला। क्षामता च रजस्वलाव्रतैर्यदि न भवति तदाऽवश्यं लघ्वाहारादिना कर्त्तव्या। शस्तइन्दौ बलवति चन्द्रे। इन्दुग्रहणं ग्रहान्तरोपलक्षणार्थम्। सकृत् एकस्यां रात्रावेकवारं न द्विस्त्रिः, गच्छेत् इत्यध्याहारः। लक्षण्यं शुभलक्षणसम्पन्नम्।

**हारीतः,**

चतुर्थेऽहनि स्नातायां युग्मासु गर्भाधानरूपतो ब्रह्मगर्भं संदधाति।

**महाभारते,**

स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद्विचक्षणः।

एतद्वचनानुसाराच्च तासामाद्याश्चतस्र इति मानवीयचतुर्थदिननिषेधोऽपत्यगताल्पायुष्ट्वादिदोषख्यापनार्थः। चतुर्थीप्रभृत्युत्तरं प्रजानिःश्रेयसमृतुगमने इत्यापस्तम्बवचनात्।

**देवलः,**

अतीर्थगमनात्पुंसस्तीर्थसंगूहनात् स्त्रियाः।
उभयोर्धर्मलोपः स्याच्छेषेण तु विशेषतः॥
यौगपद्येन तीर्थानां विवाहक्रमशो व्रजेत्।
रक्षणार्थमपुत्रां वा ग्रहणक्रमशोऽपिवा॥

तीर्थम् ऋतुः। संगूहनं प्रच्छादनम्। शेषेण संगूहनेन। अपुत्रां वेति।

अन्यासु पुत्रवतीषु मध्ये ऋतुयौगपद्येऽपि अपुत्रामेव प्रथ-

मतो व्रजेत् ऋतुग्रहणक्रमेण वा।

**वृद्धशातातपः,**

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानमेव विधीयते।
अनृतौ तु सदा कार्यं शौचं मूत्रपुरीषवत्॥

स्नानं च कर्माधिकारसिद्ध्यर्थं न तु ऋतुगमनेन चाण्डाल-स्पर्शवदप्रायत्यं भवति। यच्च स्नानेनापनीयते। येन रात्रावपि स्यात्। अतः स्नानं प्रातरेवेति वृद्धाः इति श्रीदत्तः। तन्न। न मिथुनीभूय शौचं प्रति विलम्बेतेतिवक्ष्यमाणगौतमवचनविरोधात्।

**तथा,**

द्वावेतावशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ।
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्॥

शुचित्वं स्नानप्रोक्षणव्यतिरेकेणापि लेपप्रक्षालनाचमनमात्रात्।

**आपस्तम्बः,** इति मिथुनीभूय न तया सह सर्वां रात्रिं शयीत।

**गौतमः,**

न मिथुनीभूय शौचं प्रति विलम्बेत।

## अथ ऋतुकालानभिगमने दोषः।

**पराशरः,**

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां संनिधौ नोपगच्छति।
स गच्छेन्नरकं घोरं ब्रह्महेति तथोच्यते॥

**यमः,**

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां ब्रह्महत्यायां पच्यते नात्र संशयः॥
भार्यामृतुमुखे यस्तु सन्निधौ नोपगच्छति।
पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते॥

देवलः,

यः स्वदारान् ऋतुस्नातान्स्वस्थश्चेन्नोपसर्पति ।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भं प्राप्य विनाश्य सः ॥

स्वस्थो रोगादिरहितः ।

बौधायनः,

त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नोपगच्छति ।
सतुल्यं भ्रूणहत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥
ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति ।
तुल्यमाहुस्तयोर्दोषमयोनौ यश्च सिञ्चति ॥

अथ मनुः,

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥
रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्याभ्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो यशश्चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥
तां विपर्ययतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा लक्ष्मीर्यशश्चक्षुरायुश्चैव प्रवर्द्धते ॥

आद्यासु चतसृषु रात्रिषु मध्येऽभ्युगच्छतः प्रज्ञादीनां हानिः, विपर्ययतो वर्जयतः प्रज्ञादीनां वृद्धिरित्यर्थः । अत्र नानास्मृतिपर्यालोचनया अयमर्थो निर्णीयते, स्त्रियाः सकामत्वे तद्रक्षार्थमनृतावपि गमनं नोचेदृतावेवेति ।

आपस्तम्बः,

ऋतावेव सन्निपातो दारेणानुव्रतमन्तरालेऽपि दारएव ब्राह्मणवचनाच्च संवेशनं स्त्रीवाससैव सन्निपातः स्याद् यावत्सन्निपातं च सहशय्या ततो नाना उदकोपस्पर्शनम् अपि वा लेपान् प्रक्षाल्याचम्य प्रोक्षणमङ्गानाम् ।

सन्निपातः संयोगः दारेण कर्त्तव्यः । छान्दसमेकवचनम् । अनुव्रतं पर्वादिवर्जनरूपं व्रतमनुगम्येत्यर्थः। अन्तराले अनृतौ ब्राह्मणवचनाच्च संवेशनम्। यदिदं पूर्वोक्तं संवेशनं तत्र ब्राह्मणवचनं प्रमाणम्। ब्राह्मणमत्र वेदभागः, अब्रुवन्वरं वृणीम इत्यादिः तैत्तिरीये। स्त्रीवासः स्त्रीसंयोगार्थवासः, सन्निपातोऽभिगमः, स एव स्त्रीवाससा न तु तेन प्रक्षालितेनापि ब्रह्मयज्ञादि कुर्यादित्यर्थः। नाना भिन्ना शय्येत्यर्थः। उदकोपस्पर्शनं स्नानं द्वयोरपि। एतच्च ऋतुगमने। अपिवेत्यादिपक्षान्तरमनृतौ।

**विष्णुपुराणे,**

नास्नातां तु स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम्।
नानिष्टां न प्रकुपितां नाप्रशस्तां न गर्भिणीम् ॥
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम्।
क्षुत्क्षामामतिभुक्तां वा स्वयञ्चैभिर्गुणैर्युतः ॥
नान्ययोनावयोनौ वा नोपयुक्तौषधस्तु वा।
देवद्विजगुरूणां च व्यवायी नाश्रमे वसन् ॥
चैत्यचत्वरतीर्थेषु नचैवच चतुष्पथे।
नैव श्मशानोपवने सलिलेषु महीपते ॥
प्रोक्तं पर्वस्वशेषेषु नैव भूपाल सन्ध्ययोः।
गच्छेद्व्यवायं मतिमान् मूत्रोच्चारप्रपीडितः ॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याऽथ पूर्णिमा।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेवच ॥

**वामनपुराणे,**

बुधेषु योषां न समाचरेत्तथा पूर्णासु योषित्परिवर्जनीया।
तथा, योषिन्मघाकृत्तिकयोत्तरासु।

**याज्ञवल्क्यः,**

मघां मूलं च वर्जयेत् ।

**वसिष्ठः,**

न मलिनवाससा सह संवसेत् न रजस्वलया नायोग्यया ।

संवासो मैथुनम् । अयोग्या अप्राप्तयौवना ।

**विष्णुः,**

न श्राद्धं भुक्त्वा न दत्त्वा नामन्त्रितः श्राद्धे न व्रती न दीक्षितो न देवायतनश्मशानशून्यालयेषु न वृक्षमूले न दिवा न संध्ययोः न मलिनां नाभ्यक्तां नाभ्यक्तो न रोगार्त्तो न रोगार्त्तां न हीनाङ्गीं नाधिकाङ्गीं तथैवच न वयोधिकाम् ।

नोपेयात् गर्भिणीं नारीं दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।

दीक्षितः दीक्षाख्यसंस्कारवान् । अवभृथेष्टिं यावत् ।

तत्र दीक्षोन्मोचनात् । रोगार्त्तो रोगपीडितः । स्त्रियाः पुरुषस्य वा उपगमनजन्यः तत्संवर्द्धनीयो वा रोगो विवक्षितः । वयोधिकाम् उपरतरजस्काम् ।

**वसिष्ठः,**

आपि च काठके प्रवचने विज्ञायते अद्य श्वो वा विजानिष्यमाणाः पतिभिः सह शयीरन् इति स्त्रीणामिन्द्रदत्तो वर इति ।

अद्य श्वो वा विजनिष्यमाणाः आसन्नप्रसवा इत्यर्थः । इदं तु सकामपरम् ॥

प्रत्याशं परिवर्द्धतेऽर्थिजनतादैन्यान्धकारापहे
श्रीमद्वीरमृगेन्द्रदानजलधिर्यद्वक्त्रचन्द्रोदये ।
राज्ञाऽऽदेशितमित्रमिश्रविदुषस्तस्योक्तिभिर्निर्मिते
ग्रन्थेऽस्मिन्परमाह्निकोक्तिभणितः पूर्त्तिं प्रकाशोऽगमत् ॥

इति श्रीमत्सकलसामन्तचक्रचूडामणिमरीचिमञ्जरीनीराजित-

चरणकमल-

श्रीमन्महाराजाधिराजप्रतापरुद्रतनूज-
श्रीमन्महाराजाधिराजमधुकरसाहसूनु-
श्रीमन्महाराजाधिराजचतुरुदधिवलयवसुन्धराहृदयपुण्डरीक-
विकासदिनकर-
श्रीवीरसिंहदेवोद्योजित-
श्रीहंसपण्डितात्मज
श्रीपरशुराममिश्रसूनुसकलविद्यापारावारपारीणधुरीणजग-
द्दारिद्र्यमहागजपारीन्द्रविद्वज्जनजीवातु-
श्रीमन्मित्रमिश्रकृते वीरमित्रोदयाभिधनिबन्धे आह्निकप्रकाशः
पूर्तिमगमत् ॥ शम् ।